रूसी क्रांति का विकास मार्ग

('रूसी क्रांति के सौ साल' श्रृंखला की पहली कड़ी)

रूसी क्रांति का विकास मार्ग

(‘रूसी क्रांति के सौ साल’ श्रृंखला की पहली कड़ी)

डॉ० राम कवीन्द्र

-: प्रकाशक :-
नवजनवादी लोकमंच
(नजलोम)

प्रथम संस्करण - मई 2015

प्रकाशक :

नवजनवादी लोक मंच

(नजलोम)

C/o. बी. के. शर्मा (एडवोकेट)

11, हलधर महतो कॉलोनी

रोड नं० 17, जवाहर नगर

पो० आजाद नगर, मानगो

जमशेदपुर - 832 110

मुद्रक :

कल्याणी प्रिंटर्स

9, मातृ भवन

न्यू कालीमाटी रोड, साकची

जमशेदपुर - 831 001

सहयोग राशि - 35/-

प्रस्तावना

7 नवंबर 2017 को रूस की अक्तूबर क्रांति के सौ साल पूरे हो जायेंगे. उसी साल वसंत के वज्रनाद के रूप में विख्यात भारत के नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के पचास साल पूरे होंगे. ये दोनों घटनायें एक साथ याद की जायेंगी. लकिन दोनों में बुनियादी फर्क है. रूसी क्रांति विश्व सर्वहारा की विजय का प्रतीक बनकर उभरी थी और उसके प्रभाव में भारत सहित कई देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन की नींव पड़ी थी. लेकिन नक्सलबाड़ी विद्रोह दबा दिया गया था और उसके गर्भ से उपजी पार्टी टुकड़ों में बिखर गयी थी. फिर भी, दोनों में गहरा संबंध है. नक्सलबाड़ी विद्रोह से उपजी पार्टी भाकपा (माले) रूसी क्रांति के राजनीतिक संदेश का वारिस बनकर उभरी थी जबकि भाकपा व माकपा उस विरासत को छोड़कर संशोधनवाद के राही बन गये थे. आज टुकड़ों में बंटे नक्सलवादी ग्रुप अपनी मूल विरासत छोड़कर संशोधनवाद की दिशा में तेजी से कदम बढ़ा रहे हैं. इसलिए इन दोनों ऐतिहासिक घटनाओं को याद करने का मतलब महज इतिहास को याद करना नहीं, बल्कि भविष्य को संवारने का प्रयास करना है.

बीसवीं सदी में मानव समाज जितना गतिशील रहा, उतना शायद ही कभी रहा होगा. इसमें क्रांति के उत्थान के साथ-साथ प्रतिक्रांति की पतनशील दास्तान तक भरी पड़ी है. दुनिया ने इस दौर में दो-दो विश्वयुद्ध देखे, इन विश्वयुद्धों के अंतराल में यूरोप से एशिया तक सर्वहारा क्रांति की विभिन्न मंजिलों के सफल प्रयोग देखे, तो भितरघात के फलस्वरूप इन क्रांतियों के गर्भ से उत्पन्न समाजवाद के विध्वंस का काला अध्याय भी देखा. इस चक्र के पूरा हो जाने के बाद आज दुनिया का मजदूर वर्ग वैसे ही चौराहे पर खड़ा है, जहां इस क्रांति के पहले था. पराजय के इस दौर में रूसी क्रांति का अध्ययन व विश्लेषण विश्व सर्वहारा के लिए प्रेरणा और संबल का स्रोत बन सकता है.

ब्रिटिश सर्वहारा समाजवादी क्रांति के ऐतिहासिक अवसर का पहला हकदार था. लेकिन वह इस सुयोग का लाभ नहीं उठा सका. फ्रांसीसी सर्वहारा पेरिस कम्यून (1871) की स्थापना के बावजूद शासक वर्ग बने रहने की प्रतिष्ठा बरकरार नहीं रख सका था. लेकिन रूस जैसे पिछड़े पूंजीवादी देश के सर्वहारा ने ऐतिहासिक विकास की उस मंजिल को न सिर्फ हासिल किया, बल्कि उसे विकास व विस्तार की नयी ऊंचाई तक पहुंचा दिया था. यह कैसे हुआ?

क्रांति की विजय बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का सच है. उत्तरार्द्ध का सच इसके विपरीत है. स्तालिन की मृत्यु के बाद पतन की शुरूआत हुई और 1960 का दशक आते-आते ख्रुश्चोव के नेतृत्व में सोवियत संघ की राजसत्ता और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के बड़े

हिस्से पर ख्रश्चोव के नेतृत्व में सर्वहारा खेमे में बैठे पूंजीवादी भितरघातियों का कब्जा हो गया. हालांकि इसकी शुरुआत उनके जीवन काल में ही युगोस्लाविया के टीटो की गद्दारी से हो चुकी थी, लेकिन ख्रुश्चोव के भितरघात ने स्थिति उलट दी थी. चीन और अल्बानिया की पार्टियां ख्रुश्चोव की संशोधनवादी नीतियों के खिलाफ खड़ा तो जरूर हुईं, लेकिन उसके बढ़ते कदमों को रोक नहीं पायीं. उन दिनों दुनिया के तेरह देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथों में (कहीं अकेले, तो कहीं गठबंधन के साथ) सत्ता की बागडोर थी जिनमें ग्यारह सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में खड़ी हुईं. इस ध्रुवीकरण का आधार क्या था? जिस स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सफलताओं और उपलब्धियों का अंबार खड़ा किया था, उसी स्तालिन के खिलाफ वे रातों-रात कैसे चले गये !

भितरघात और पराजय का चक्र यहीं नहीं रूका. 1980 का दशक आते-आते उपर्युक्त दोनों गढ़ भी ढह गये और पूरी दुनिया में सर्वहारा राज और समाजवाद का खात्मा हो गया. इसका प्रभाव सोवियत संघ और चीन के आभामंडल में कार्यरत सभी देशों की कम्युनिस्ट पर्टियों पर पड़ा. फलस्वरूप दुनिया भर में मजदूर वर्ग की राजनीति पर संशोधनवाद की एकछत्र पकड़ कायम हो गयी. इस दौर में पली-बढ़ी मजदूरों की पीढ़ियां संशोधनवाद और हर किस्म के अवसरवाद को ही मार्क्सवाद समझने की आदी हो गयी हैं.

यही कारण है कि मजदूरों के बड़े हिस्से में 1991 में सोवियत संघ के विखंडन को समाजवाद का पतन व विखंडन समझा गया जबकि चीन और अल्बानिया की राजनीति से प्रभावित पार्टियों ने यह समझ लिया था कि सोवियत संघ में 1960 के दशक में ही समाजवाद राजकीय पूंजीवाद में पतित हो चुका था, 1991 में जो हुआ, वह राजकीय पूंजीवाद का निजी पूंजीवाद में और सामाजिक साम्राज्यवाद का साम्राज्यवाद में संक्रमण था. लेकिन अपनी समझ को मजदूर वर्ग की आम समझ बनाने में वे सफल नहीं हो पायीं.

मजदूर वर्ग की राजनीति एक बार फिर चौराहे पर खड़ी है. क्रांति की विजय के दौर में इतिहास के जितने प्रश्न सुलझ गये थे, आज वे उतने ही उलझाव के साथ फिर सामने आने लगे हैं .पूंजीवादी विचारकों ने तो मार्क्सवाद को अप्रासंगिक तथा सर्वहारा क्रांति के विचार को अव्यावहारिक घोषित कर ही दिया है, मार्क्सवादी कहलाने वाले कुछ लोगों ने भी रूसी क्रांति के चरित्र तथा मार्क्सवादी चिंतन के विकास-पथ पर प्रश्न-चिह्न खड़ा करना शुरू कर दिया है. त्रॉत्स्कीपंथियों की पराजय के लंबे अंतराल के बाद ख्रुश्चोव और उसके अनुयायियों ने सर्वहारा अधिनायकत्व के स्तालिन के प्रयोगों की निंदा करते हुए मार्क्सवाद पर हमला शुरू किया था.

अब बात इससे आगे बढ़ गयी है. त्रॉत्स्कीपंथियों का नया अवतार यह कहने लगा है कि

लेनिन ने एक देश में समाजवाद की विजय की संभावना की बात सोची तक नहीं थी, यह सब स्तालिन की देन है. यह सफेद झूठ है और ये लोग लेनिन और स्तालिन की नीतियों में बनावटी भेद पैदा कर मार्क्सवाद को पथभ्रष्ट करना चाहते हैं. अब तो ऐसे लोगों का समूह भी पैदा हो गया है, जो लेनिन के मार्क्सवादी होने पर संदेह पैदा करता है और स्तालिन व माओ को लेनिन की गलत नीतियों का उत्तराधिकारी मानता है.

यह सब न तो अचानक हो रहा है और न अकारण. मार्क्सवाद के जन्म काल से ही यह देखा गया है कि पूंजीवाद /साम्राज्यवाद जब-जब संकट के दौर से गुजरे हैं, मार्क्सवाद पर बाहरी और भीतरी हमले तेज हुए हैं. लेकिन तब और अब की परिस्थितियों में जमीन-आसमान का फर्क है. मार्क्स-एंगेल्स के जमाने में पूंजीवादी विचारक मजदूर राज और समाजवाद की अवधारणा को कल्पना की हवाई उड़ान बताकर इसे खारिज करते थे. लेकिन रूसी क्रांति के बाद उनकी जुबान बंद हो गयी थी. फिर समाजवाद की सफल उड़ान ने सबकी जुबान बंद रखी. तब दुनिया भर के मजदूर वर्ग में यह समझ बन गयी थी कि बाल्शेविक सत्ता पर हमला मजदूर वर्ग के प्रति पूंजीवादी घृणा का परिणाम है.

आज स्थिति उलट गयी है. समाजवाद की विफलता के कारण पूंजीवादी हमले पहले से काफ़ी तेज हो गये हैं. पूंजीवादी विचारकों के समाजवादविरोधी प्रचार और संशोधनवादियों के भितरघात ने मजदूर वर्ग को समाजवाद की अवधारणा से विमुख कर दिया है. वे यह साबित करने के लिए एड़ी-चोटी का प्रयास कर रहे हैं और सफल भी हो रहे हैं कि समाजवाद संभव नहीं है, वह साम्राज्यवाद/पूंजीवाद का विकल्प नहीं हो सकता. यह हमला लेनिन स्तालिन पर किये गये हमलों से ज्यादा घातक है. इस तरह के सारे हमले अंततः मार्क्सवाद पर हमला हैं और इनकी जड़ें बर्न्सटीन और काउत्स्की से लेकर त्रॉत्स्की, ख्रुश्चोव और देंग की नीतियों में तलाशने की कोशिश की जानी चाहिए. यह तलाश हमारे सामने बड़ी चुनौती है.

लेकिन साम्राज्यवादी खेमे में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चल रहा है. साम्राज्यवाद के सामने कोई बाहरी चुनौती भले न हो, लेकिन आंतरिक संकट इतने गंभीर हैं कि वह सुलझा नहीं पा रहा है. इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है कि उत्पीड़ित देशों से लेकर साम्राज्यवादी देशों तक में जनता का असंतोष व प्रतिरोध बढ़ रहा है. मध्यपूर्व से लेकर एशिया के इस्लामी देशों में तो हशियारबंद प्रतिरोध ऐसी ऊंचाई पर पहुंच गये हैं कि उनका दमन साम्राज्यवादी ताकतों के लिए दुरुह हो गया है. क्रांतिकारी आंदोलन में अवसरवाद की लंबी जकड़न के कारण वह आंतरिक क्षय की अवस्था में लंबे समय से फंसा हुआ है. ऐसी स्थिति में साम्राज्यवाद के खात्मा की पूर्व शर्त है क्रांतिकारी आंदोलन के भीतर कुंडली मार कर बैठे अवसरवाद का खात्मा.

वर्तमान अगर इस तरह की उलझन में फंसा हो, तो आगे बढ़ने का रास्ता इतिहास में

खोजना पड़ता है और वह बताता भी है. इतिहास की भूमिका दोहरी होती है. प्रतिक्रियावादियों के हाथ में वह समाज को पुनरूत्थानवाद के दलदल में गिराने का साधन बन जाता है, तो क्रांतिकारियों के हाथ में अतीत से सीख कर भविष्य को संवारने का. इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमलोगों ने रूसी सर्वहारा क्रांति को तीन प्रश्नों के इर्द-गिर्द समझने का संकल्प लिया है. पहला प्रश्न है कि दुनिया की पहली सर्वहारा क्रांति रूस में ही क्यों सफल हो पायी? दूसरा प्रश्न है कि इस क्रांति ने रूसी समाज (बाद में सोवियत समाज) में इतनी ऊर्जा कहां से पैदा की कि वह विकास के नये कीर्तिमान पैदा करते हुए दूसरे विश्वयुद्ध की अजेय शक्ति बन गया? और तीसरा प्रश्न यह कि सोवियत संघ की समाजवादी संरचना में वह कौन सी कमजोर कड़ी थी, जो टूट गयी? इन तीनों सवालों पर चिंतन करते-करते चौथा सवाल सामने आ गया कि यह अध्ययन भावी क्रांति के लिए क्या सबक छोड़ता है?

ऐसा नहीं है कि पहले इस विषय पर कोई काम नहीं हुआ. इस पर काफी बहस हुई है और बड़ा ही सतही निष्कर्ष निकाला गया कि स्तालिन की गलतियों के कारण सोवियत संघ में खुश्चोव का उदय हुआ और समाजवाद पूंजीवादी विकास की राह पर चल पड़ा. लेकिन इस निष्कर्ष से हम न तो कहीं पहुंच पाये हैं और न पहुंच सकते हैं. इसलिए इस पुस्तिका में हम एंगेल्स की हिदायत पर अमल करते हुए रूसी क्रांति की विजय के कारणों को लेनिन के विलक्षण व्यक्तित्व में ढूंढने के बजाय रूस की सामाजिक स्थिति में तथा उसके अस्तित्व की अवस्थाओं में ढूंढने की कोशिश करेंगे. लेनिन अपने समकालीन नेताओं में सबसे विलक्षण और मेधावी इस अर्थ में थे कि उन्होंने सही समय पर परिस्थिति का सही विश्लेषण किया, उसे राजनीतिक सूत्र में निरूपित किया और उस पर अडिग रहते हुए उसे व्यवहार में उतारने में बोल्शेविक पार्टी को नेतृत्व देने का साहस किया.

03.04.2015 डॉ० राम कवीन्द्र

पुस्तिका के बारे में

विश्व राजनीति के ऐसे दौर में जब रूस, चीन एवं अन्य समाजवादी देशों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी है और भारत, नेपाल, पेरू एवं फिलीपीन्स में क्रांतिकारी आंदोलन गंभीर धक्कों का सामना कर रहे हैं, रूसी क्रांति के विकास मार्ग को महिमामंडित करना जरूरी हैं. खासकर, राजनीतिक विमर्श के ऐसे मुकाम पर जहां उत्तर आधुनिकतावादी एवं अन्य पूंजीवादी विचारक 'इतिहास के अंत' और 'विचारधारा के अंत' का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, डॉ० राम कवीन्द्र द्वारा प्रथम समाजवादी क्रांति के सैद्धान्तिक-राजनैतिक के रणनीतिक तथा कार्यनीतिक पहलुओं को उजागर करना सराहनीय कदम है. रूसी क्रांति के उक्त पहलुओं को जानना समझना न केवल भारत, बल्कि दुनिया की कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिए अत्यावश्यक है.

हमारे देश में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के 90 साल पूरे हो चुके हैं और अगले दो सालों में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के 50 साल पूरे हो जायेंगे. इस अवधि में आये भटकाव और बिखराव के कारण भारतीय क्रांति और मजदूर वर्ग की राजनीति उहापोह की स्थिति में है. हमारे देश के कई क्रांतिकारी ग्रुप मानते हैं कि अखिल भारतीय स्तर पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी का गठन होना अभी बाकी है, जबकि कुछ अपने आप को ही एकमात्र कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी समझते हैं. उनके बीच के मतभेद न केवल भारतीय क्रांति के कार्यक्रम एवं रणनीति-कार्यनीति के स्तर पर है, बल्कि सैद्धांतिक मामलों में भी है. कुछ ग्रुप मार्क्सवाद-लेनिनवाद में विश्वास करते हैं, तो कुछ मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा में. कुछ मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को वैचारिक आधार बनाते हैं तो कुछ इसमें स्तालिनवाद एवं लिन पियाओवाद को भी शामिल करते हैं. अपने को क्रांतिकारी कहने वाले कुछ ऐसे भी समूह हैं जो त्रॉत्सकी, देंग सियाओ पिंग या अनवर होजा के दर्शन में अपना ठिकाना ढूंढते हैं.

भारतीय राज्य के चरित्र निर्धारण में भी उनके बीच मतभेद हैं. कुछ इसे स्वतंत्र पूंजीवादी देश मानते हैं तो दूसरे इसे अर्द्ध सामंती-अर्द्ध औपनिवेशिक. कुछ इस देश को नव उपनिवेश तक मानते हैं, जबकि कुछ अन्य साम्राज्यवादी देश का दर्जा देने से भी नहीं हिचकते. उक्त मतभेदों के आधार पर वे भारतीय क्रांति के दोस्तों व दुश्मनों को चिह्नित करने एवं उसकी मंजिल को तय करने में भी भिन्न विचार रखते हैं. कुछ ग्रुप क्रांतिकारी गठबंधन में राष्ट्रीय पूंजीपति एवं धनी किसान को भी शामिल करते हैं, जबकि दूसरे राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के अस्तित्व को नकारते हैं और धनी किसान को दुश्मन की पांत में रखते हैं. यहां तक कि कुछ ग्रुप मध्यम किसानों को भी क्रांतिकारी वर्ग मानने में काफी ना-नुकुर करते हैं. हलांकि,

अधिकांश ग्रुप मजदूर वर्ग (शहरी एवं ग्रामीण मजदूर समेत) को भारतीय क्रांति की मुख्य ताकत मानते हैं तो कुछ रूस के नरोदवादियों की तरह किसानों को ही मुख्य ताकत के रूप में चिह्नित करते हैं. सभी अपने को मजदूर वर्ग की पार्टी/पार्टी का हिस्सा मानते हैं और सर्वहारा को भारतीय क्रांति का अगुआ दस्ता भी कहते हैं, लेकिन विडंबना यह है कि भारतीय मजदूर वर्ग पर उनकी पकड़ काफी कमजोर है.

जहां तक भारतीय क्रांति के मंजिल का प्रश्न है, कुछ 'नवजनवादी क्रांति' के पक्षधर हैं तो कुछ 'समाजवादी क्रांति' के. क्रांति के रास्ते के सवाल पर भी उनके बीच काफी मतभेद हैं. कुछ मूलतः रूसी क्रांति के रास्ते, यानी 'जन विद्रोह' पर अमल करते हैं तो कुछ चीनी क्रांति के रास्ते यानी 'दीर्घकालीन जनयुद्ध' पर. कुछ ऐसे भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी समूह हैं जो भारतीय क्रांति के भारतीय रास्ते में विश्वास करते हैं.

कार्यनीतिक सवालों यानी संगठन एवं संघर्ष के रूपों पर भी उनकी राय अलग-अलग है. कुछ कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुप/दल पूरी तरह भूमिगत होकर काम करते हैं तो अन्य पूरी तरह खुले रहकर. उनमें से कुछ अर्द्ध खुला एवं अर्द्ध गुप्त रहकर काम करना पसंद करते हैं. कुछ खुले एवं कानूनी अवसरों का क्रांति के हित में उपयोग करने से भी हिचकते हैं तो कुछ अपने को पूरी तरह खुली एवं कानूनी जन कार्रवाईयों के प्रति ही समर्पित कर देते हैं. इसी तरह कुछ संसदीय चुनाव प्रक्रिया का बहिष्कार करते हैं तो दूसरे इस प्रक्रिया में जमकर भाग लेते हैं. हालांकि, इनमें से अधिकांश गैर संसदीय संघर्षों को भूमिका पर जोर देते हैं. माओवादी तो 'सशस्त्र संघर्ष' को अपना तात्कालिक कार्यभार बनाये हुए हैं, जबकि दूसरे इसकी तैयारी में 'प्रतिरोध संघर्ष' को तेज करना चाहते हैं.

इस तरह भारतीय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच क्रांति के प्रायः सभी महत्वपूर्ण मसलों पर गंभीर मतान्तर है, लेकिन खेद है कि इन मतभेदों को जनवादी तरीके से हल करने की कोई कारगर प्रक्रिया नहीं अपनायी जा रही है. ऐसी स्थिति में हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच एकता या यहां तक कि किसी प्रकार के अखिल भारतीय समन्वय की संभावना दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ती. जाहिर है कि इस विभाजन का लाभ भारतीय क्रांति के दुश्मनों को मिलता है और क्रांतिकारी समूह एक दूसरे को 'अवसरवादी' 'दक्षिणपंथी' 'संशोधनवादी' 'अराजकतावादी' या 'आतंकवादी' घोषित कर अपना आक्रोश ठंडा करते हैं तथा अपने राजनैतिक दिवालियापन का परिचय देते हैं. सैद्धांतिक अव्यवस्था एवं सांगठनिक विखराव के ऐसे माहौल में रूसी क्रांति के दौर में लेनिन एवं स्तालिन के नेतृत्व में हल किये गये वैचारिक, राजनीतिक, रणनीतिक एवं कार्यनीतिक मसलों से सबक लेना हमारी फौरी जरूरत है.

डॉ0 राम कवीन्द्र ने 'रूस क्रांति का विकास मार्ग' में रूसी क्रांति के दौरान चले तमाम

वैचारिक, राजनैतिक, रणनीतिक एवं कार्यनीतिक बहसों को सार-संकलित करने का प्रयास किया है. उन्होने बताया है कि किस तरह लेनिन ने 'साम्राज्यवाद एवं सर्वहारा क्रांति के युग में साम्राज्यवाद की सबसे कमजोर कड़ी' को तोड़कर रूस में समाजवाद को विजयी बनाया और बदली हुई परिस्थिति में 'मार्क्सवाद के इस विकास ने विश्व के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के समक्ष 'लेनिनवाद' की ठोस बुनियाद रखी. रूसी क्रांति का मजाक उड़ाते हुए त्रॉत्सकीवादी अब कहते हैं कि वहां कोई क्रांति नहीं हुई थी, सिर्फ सत्ता परिवर्तन हुआ था.

इस पुस्तिका में यह भी दर्शाया गया है कि कितनी गंभीरता एवं दृढ़ता के साथ लेनिन ने अराजकतावादियों, निम्न पूंजीवादी एवं पूंजीवादी समाजवादियों और मेंशेविक अवसरवादियों के खिलाफ निर्णायक संघर्ष किया था. हालांकि, रूस में मार्क्सवादी साहित्य को प्रवेश दिलाने का श्रेय अराजकतावादी नेता बकूनिन को जाता है, लेकिन उनके गलत विचारों से संघर्ष करने में उन्होंने कोई कोताही नहीं बरती. उन्होने साफ शब्दों में कहा कि अराजकतावाद मजदूर वर्ग को क्रांतिकारी राजनीति से अलग-थलग करता है और कुल मिलाकर पूंजीवाद की सेवा करता है. इसी प्रकार लेनिन ने एक ओर प्लेखानोव (जिन्होंने नरोदवादियों का पाँत से निकलकर मार्क्सवाद को अपनाया और रूस में सबसे पहले 'श्रम मुक्ति दल' का गठन किया) की दार्शनिक रचनाओं का अध्ययन करने की सलाह दी तो दूसरी ओर उनकी लासालपंथी एवं नरोदवादी भटकावों की आलोचना भी की. जब प्लेखानोव ने रूस की पूंजीवादी जनवादी क्रांति में पूंजीपति वर्ग से सहयोग लेने की धारणा पेश की तो लनिन ने उनका तीखा विरोध किया. लेनिन का मानना था कि रूस की पूंजीवादी जनवादी क्रांति मजदूर वर्ग के नेतृत्व में मजदूर किसान गठजोड़ की ताकत पर संपन्न होगी. आज भी हमारे देश की क्रांति में किसानों की भूमिका पर गंभीर बहस जारी है.

रूसी क्रांति के दौर में बोल्शेविकों को नरोदवादियों (आतंकवादियों) एवं अर्थवादियों से काफी संघर्ष करना पड़ा था. नरोदवादी क्रांति में नायक की भूमिका को मुख्य मानते थे जबकि बोल्शेविक जनता की. वे व्यक्तिगत हत्या की राजनीति में विश्वास करते थे और उन्होंने रूसी जार अलेक्सांद्र की हत्या भी की थी. लेकिन बोल्शेविक व्यक्तिगत हत्या के विरोधी थे और जनकार्रवाई एवं जन विद्रोह में विश्वास करते थे. रूसी क्रांति जैसे-जैसे आगे बढ़ती गयी, इन नरोदवादियों के राजनीतिक वारिस कुलकों के पक्षधर होते गये और 'समाजवादी क्रांतिकारियों' ने तो 1917 की समाजवादी क्रांति के बाद लेनिन पर जानलेवा हमला भी किया. हमारे देश के अराजकतावादी समूहों का लगभग यही हश्र होना तय है.

हमारे देश के मजदूर आंदोलन पर अर्थवाद एवं सुधारवाद का व्यापक प्रभाव है एक समय रूस में भी ऐसी ही स्थिति थी. अर्थवादी मजदूर आंदोलन को केवल आर्थिक दायरे तक सीमित रखना चाहते थे. लेनिन ने उनसे काफी संघर्ष किया और कहा कि मजदूरों को

न केवल आर्थिक बल्कि राजनैतिक-सैद्धांतिक संघर्ष भी करना चाहिए. उन्हें ट्रेड यूनियन के कामकाज तक ही अपने को सीमित नहीं करना चाहिए, बल्कि सर्वहारा वर्ग की पार्टी बनाने की पहल करनी चाहिए. उन्होने आतंकवादियों एवं अर्थवादियों के बीच समानता को उजागर करते हुए कहा कि दोनों जनता की स्वतः स्फूर्तता की पूजा करते हैं और मजदूर आंदोलन को क्रांतिकारी रास्ते से भटकाते हैं.

जिस तरह हमारे देश में राज्य के चरित्र एवं क्रांति की मंजिल की व्याख्या करने में क्रांतिकारी जमातों के बीच मतभेद हैं, उसी तरह की स्थिति का सामना रूस के बोल्शेविकों को भी करना पड़ा था. 1860 से 1890 के बीच रूस में तेजी से पूंजीवादी विकास हुआ और औद्योगिक मजदूरों की संख्या भी बढ़ी. लेकिन फिर भी व पश्चिमी यूरोप के देशों से काफी पिछड़ा हुआ था और वहां की करीब 80 प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर थी. इसके बावजूद रूस एक 'निम्न पूंजीवादी देश' बन चुका था. रूसी राज्य के चरित्र के बारे यह विश्लेषण न केवल लेनिन का था, बल्कि एंगेल्स ने भी 1894 में निष्कर्ष निकाला था कि रूसी राज्य किशोर पूंजीपति वर्ग की मजबूत पकड़ में है. हम सभी जानते हैं कि इसके बाद रूस में पूंजीवाद और विकसित हुआ और राज्य पर पूंजीपतियों की पकड़ काफी मजबूत हुई. फलस्वरूप, लेनिन की बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी क्रांति की मंजिल तय करनी पड़ी. ध्यान देने की बात है कि रूस में जब समाजवादी क्रांति को सफल करने का आह्वान किया गया, उस वक्त वहां के ग्रामीण इलाके में सामंती उत्पादन संबंध काफी मजबूत थे.

रूस की क्रांति के दौरान रणनीति एवं कार्यनीति के सवाल पर भी मतभेद उभर कर सामने आये थे. वहां के क्रांतिकारी संग्राम में मजदूरों, किसानों एवं सेना के जवानों की व्यापक भागीदारी हुई, लेकिन मूलतः उन्होने सत्ता और व्यवस्था के खिलाफ जन विद्रोह का रास्ता ही अपनाया. संगठन एवं संघर्ष के क्या रूप हों, इस पर भी वहां मतभेद देखे गये. क्रांतिकारी पार्टी के निर्माण के बारे में लेनिन ने प्रस्थापना दी कि इसका निर्माण मुख्यतः पेशेवर क्रांतिकारियों को लेकर किया जाना चाहिए और इस पार्टी को ज्यादा से ज्यादा गुप्त होना चाहिए. हालांकि उनकी यह भी राय थी कि क्रांतिकारी पार्टी को संघर्ष के सभी रूपो और खुले मंचों के उचित उपयोग में महारत हासिल करनी चाहिए. इसके विपरीत मेंशेविक पार्टी के भूमिगत ढांचे को खत्म करने और उसे एक कानूनी पार्टी में तब्दील कर देने के पक्षधर थे. यही कारण है कि 1905 की क्रांति की पराजय का मूल्यांकन करते हुए मेंशेविकों निष्कर्ष निकाला था कि मजदूरों को हथियार नहीं उठाना चाहिए था जबकि बोल्शेविकों की समीक्षा थी कि 1905 की हथियारबंद क्रांति की तैयारी और भी व्यवस्थित तरीके से करनी चाहिए थी.

डॉ0 राम कवीन्द्र ने अपनी पुस्तिका में उपर्युक्त महत्वपूर्ण बिन्दुओं के अलावा रूस में

क्रांतिकारी पार्टी के गठन की प्रक्रिया एवं उसके विभिन्न कांग्रेसों में चली राजनैतिक-सैद्धांतिक बहसों पर प्रकाश डाला है. साथ में 1905 की क्रांति की तैयारी एवं उसमें मिली पराजय का भी विश्लेषण किया है. उन्होंने इस विफल क्रांति के बाद स्तॉलिपिन प्रतिक्रिया के दौर में (1908-12 के बीच) मजदूर वर्ग एवं बोल्शेविक पार्टी के समक्ष जो चुनौतियां आयीं और लेनिन स्तालिन की अगुआई में बोल्शेविकों ने जिस सूझ-बूझ एवं बहादुरी के साथ उनका सामना किया, उसका भी अच्छा खासा जिक्र किया है. इस बीच रूस में दुमा का भी गठन हो गया था. बोल्शेविकों ने क्यों 1904 की बुलिमिन दुमा का बहिष्कार किया और क्यों 1905 की विधायी दुमा के बहिष्कार करने की कार्रवाई को अपनी गलती माना, इस पुस्तिका में इसकी भी चर्चा की गयी है. इसके बाद तीसरी और चौथी दुमा में बोल्शेविकों की जो भागीदारी हुई और कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर मेंशेविकों, त्रुदोविकों एवं ब्लैक हंड्रेड्स व अक्तूबरवादियों से उनकी जो टक्कर हुई, उसकी भी संक्षिप्त चर्चा है.

1912 के बाद एक ओर साम्राज्यवादी ताकतों ने दुनिया को बांटने के लिए युद्ध की तैयारी शुरू कर दी और दूसरी ओर रूस में औद्योगिक मजदूरों ने हड़तालों की झरी लगा दी. खासकर, जब जारशाही ने हड़ताली मजदूरों पर दमन अभियान चलाया और सोना खान के 500 से ज्यादा हड़ताली मजदूरों की हत्या कर दी, तो मजदूरों का आक्रोश उबल पड़ा. प्रायः सभी बड़े औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों ने इस जघन्य हत्याकांड के खिलाफ जोरदार आवाज उठायी. प्रथम विश्व के दौरान दूसरे इन्टरनेशनल की अधिकांश पार्टियों ने अपने-अपने देश की सरकार का समर्थन किया. रूस के मेंशेविकों ने भी अंधराष्ट्रवादी एवं आत्म समर्पणवादी भूमिका अदा की.

लेनिन ने इस 'साम्राज्यवादी युद्ध को गृह युद्ध में बदलने' का नारा दिया उनके नेतृत्व में बोल्शेविकों ने दुमा एवं अन्य कानूनी खुले मंचों से युद्ध का विरोध किया. साथ ही मजदूरों का आह्वान किया कि वे जारशाही द्वारा युद्ध के लिए बनायी गयी उद्योग कमिटी का विरोध करें. इसका मजदूरों पर व्यापक असर पड़ा. बोल्शेविकों ने सेना के अंदर भी युद्ध विरोधी प्रचार किये.

1916 के अंत एवं 1917 शुरूआत में रूस का क्रांतिकारी संकट काफी गहरा हो गया और जनता के सभी हिस्सों में 'हमें युद्ध नहीं, रोटी चाहिए' के नारे की गूंज सुनाई पड़ने लगी. फरवरी 1917 के अंतिम सप्ताह में जारशाही सेना ने भी संघर्षरत मजदूरों पर गोली चलानी बंद कर दी. 27 फरवरी को दसियों हजार सैनिक मजदूरों के संघर्ष में शामिल हो गए और उन्होंने जार के मंत्रियों एवं जनरलों का गिरफ्तार कर लिया. इस तरह मजदूरों एवं सैनिकों की संयुक्त भागीदारी से रूस में 1917 की फरवरी क्रांति संपन्न हुई.

इस क्रांति के बाद मेंशेविकों एवं समाजवादी क्रांतिकारियों से मिलकर अस्थायी सरकार

का गठन किया गया. मजदूरों की व्यापक भागदारी के बावजूद रूस में पूंजीवादी सरकार का गठन हुआ. डॉ0 राम कवीन्द्र ने अपनी पुस्तिका में इसके राजनैतिक कारणों पर भी प्रकाश डाला है.

बोल्शेविकों ने इस पूंजीवादी सरकार में शामिल नहीं होने का निर्णय लिया और लेनिन ने रूसी जनता के समक्ष 'समाजवादी क्रांति की अगली मंजिल' की रूपरेखा पेश की, जिसे 'अप्रैल थीसिस' के नाम से जाना जाता है. इस संघर्ष के क्रम में अस्थायी सरकार ने लेनिन के खिलाफ गिरफ्तारी का वारंट जारी किया और उन्हें फिनलैंड में शरण लेनी पड़ी. उनकी अनुपस्थिति में ही बोल्शेविकों ने अपनी पार्टी की छठी क्रांग्रेस संपन्न की जिसमें रूसी जनता को 'नये युद्ध के लिए तैयार हो जाने' का आह्वान किया गया. इसके बाद अस्थायी सरकार ने समाजवादी क्रांति के हर प्रयास को कुचलने की योजना बनायी और 24 अक्तूबर (6 नवंबर 1917) को बोल्शेविक पार्टी के मुखपत्र के कार्यालय पर हमला बोल दिया. उसी दिन लेनिन ने रूस लौटकर क्रांति की कमान अपने हाथ में ले ली. उन्होने केरेंस्की सरकार के मुख्यालय पर कब्जा जमाने का निर्देश जारी किया और बोल्शेविकों एवं उनके नेतृत्व में संचोलित सशस्त्र सेनाओं ने इस काम को बखूबी अंजाम दिया. इस तरह 25 अक्तूबर (7नवंबर) 1917 को विश्व की प्रथम समाजवादी क्रांति संपन्न हो गयी और 'सारी सत्ता सोवियतों को' सुपुर्द हो गयी.

इस पुस्तिका का अंत डॉ0 राम कवीन्द्र इसी विजय घोषणा के साथ करते हैं. रूसी क्रांति के बारे में यह उनकी पहली सम्पुष्ट रचना है. आगे उनकी योजना रूस में समाजवादी निर्माण के दौरान उत्पन्न चुनौतियों पर कलम चलाने की है. मुझे विश्वास है कि उनकी यह रचना भारत के क्रांतिकारी दलों/ग्रुपों को दिशा निर्देश देने में कारगर भूमिका अदा करेगी.

20.4.2015

अर्जुन प्रसाद सिंह
संयोजक, पीडीएफआई
(पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रंट ऑफ इंडिया)

रूसी क्रांति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

'हमें यह देखकर और अनुभव कर अत्यंत दुख होता है कि जार के जल्लाद, कुलीन और पूंजीपति हमारी शानदार मातृभूमि पर कितना अत्याचार कर रहे हैं, उसे कितने दमन की चक्की में पीस रहे हैं, उसका कितना अपमान कर रहे हैं. हमें इस बात पर गर्व है कि हमारे बीच, रूसियों के बीच इन ज्यादतियों ने प्रतिरोध पैदा किया है, कि इन्हीं लोगों में से रदीश्चेव, दिसंबरवादी और आठवीं दशाब्दी के राज्नोचिन्त्सी क्रांतिकारी निकले हैं, कि 1905 में रूसी मजदूर वर्ग ने जनता की एक शक्तिशाली क्रांतिकारी पार्टी की स्थापना की, कि इस काल में रूसी किसान जनवादी होने लगा और पादरियों तथा जमींदारों का तख्ता पलटने लगा.' - लेनिन

रूस की अक्तूबर क्रांति पहले विश्वयुद्ध के दौर में सर्वहारा के नेतृत्व में राजसत्ता की स्थापना की अभूतपूर्व और अद्भूत मिसाल थी. इससे सर्वहारा राज कायम होने का मार्क्स-एंगेल्स का विश्लेषण तो सच साबित हो गया था, लेकिन उनके पुराने सूत्र खंडित हो गये थे कि समाजवादी क्रांति सबसे पहले उन्नत पूंजीवादी देशों में होगी तथा कई देशों में एक साथ संपन्न होगी. इसके साथ ही लेनिन के दो मूल्यांकन सच साबित हो रहे थे : साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के युग में साम्राज्यवाद की सबसे कमजोर कड़ी पहले टूटेगी और समाजवाद एक देश में विजयी हो सकता है और टिका भी रह सकता है. सतही तौर पर देखने से यह बदलाव मार्क्सवाद का खंडन लग सकता है, लेकिन अंतर्वस्तु में यह उसका विकास था. इसके बाद ही मार्क्सवाद में नया अध्याय जुड़ा और यह सिद्धांत मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नाम से जाना जाने लगा.

आज एक ओर यह प्रचारित करने की कोशिश हो रही है कि यह क्रांति संयोगवश घटी एक चमत्कार थी, कि रूस की अक्तूबर क्रांति समाजवादी क्रांति नहीं थी, कि उसने समाजवाद की दिशा में कदम उठाने की जगह राजकीय पूंजीवाद की स्थापना की और लेनिन ने मार्क्सवाद की दिशा उलट दी आदि-आदि. ये प्रचार भावी क्रांति के लिए अत्यंत घातक हैं. क्रांतियां न तो नियति द्वारा निर्धारित होती हैं और न ही संयोगवश संपन्न होती हैं. हर क्रांति के साथ उसकी ऐतिहासिक व वैचारिक पृष्ठभूमि होती है, उस विचारधारा के प्रभाव में संगठित वर्गीय शक्ति होती है, संगठन के पास राजनीतिक कार्यक्रम होता है और हथियारबंद ताकत के साथ-साथ उसे विशाल आबादी का समर्थन प्राप्त होता है. दूसरी ओर सत्तासीन वर्ग का जनाधार विखंडित हो चुका होता है, सत्ता संरचना में ऊपर से नीचे तक सड़ांध का बोलबाला बन जाता है, स्वयं सत्तासीन वर्ग में फूट पड़ जाती है और जनता पर दमन करनेवाली मशीनरी बिखरने लगती है. इन्हीं परिस्थितियों के मिलन से क्रांति

विजय की मंजिल तक पहुंच पाती है.

रूसी सर्वहारा (बोल्शेविक) क्रांति की विजय के समय ये सारे तत्व मौजूद थे. इस क्रांति ने न सिर्फ दिसंबरवादी विद्रोहियों से प्रेरणा लेकर उस चिंगारी को दावानल में बदल दिया था, बल्कि क्रांतिकारी कवि पुश्किन के वर्ष 1818 के उस सपने को साकार कर दिया था कि 'रूस नींद से जागेगा ही, तानाशाही के खंडहर पर लोग लिखेंगे नाम हमारा'. इस परिस्थिति का निर्माण अचानक नहीं हुआ था. इसके विपरीत यह लगभग एक शताब्दी के क्रांतिकारी संघर्षों का संचित परिणाम था. 1825 के दिसंबरवादियों के विद्रोह से बोल्शेविकों ने काफी प्रेरणा ली थी. 1902 में प्रकाशित पत्रिका 'ईस्क्रा' का नाम उस विद्रोह की याद के साथ जुड़ा था. इस पत्रिका के प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर यह सूक्ति छपी थी: 'यह चिंगारी अग्नि ज्वाला भड़का देगी(द स्पार्क विल काइंड्ल द फ्लेम)'. ये शब्द क्रांतिकारी कवि पुश्किन के बधाई पत्र के जवाब में निर्वासित दिसंबरवादियों के पत्र से लिये गये थे.

बोल्शेविक क्रांति और दिसंबरवादी विद्रोह में जमीन आसमान का फर्क था. दिसंबरवादी कुलीन लोग थे और उनका विद्रोह कुलीनों के दायरे में सीमित था. वे भूदास प्रथा का उन्मूलन तथा जारशाही की निरंकुशता पर अंकुश के पक्षधर थे. इसके विपरीत बोल्शेविक मजदूरों किसानों के प्रतिनिधि थे तथा जारशाही-पूंजीशाही का खात्मा उनका कार्यभार था. दिसंबरवादी जन-विद्रोह तथा जनसंगठन की व्यापक नीति का अनुसरण करने के बजाय गुप्त सोसायटियों और सैन्य विद्रोह की नीति अपनाते थे. दरअसल वे लोग जनसाधारण के विद्रोह से डरते थे जबकि बोल्शेविक जनविद्रोह में यकीन रखते थे. जारशाही की सेना ने उस विद्रोह को कुचल दिया और इसमें भाग लेनेवालों को या तो मौत की सजा दी या साइबेरिया में निर्वासित कर दिया.

क्रांतिकारियों की पराजय से क्रांति तात्कालिक रूप से पराजित हो जाती है, परंतु उसका अंत नहीं होता. पराजित क्रांति समाज के गर्भ में भविष्य की क्रांति का भ्रुण छोड़ देती है जो धीरे-धीरे पल बढ़ रहा होता है और अनुकूल परिस्थिति मिलने पर एक खास अंतराल के बाद नया समाज पैदा होता है. इसी अंतराल में सदियों के काम घड़ियों में होने लगते हैं और इसे ही क्रांतिकारी उभार का काल कहते हैं. इसी अवधि में क्रांतिकारी ताकतों की ओर से बल प्रयोग अनिवार्य हो जाता है और उसकी भूमिका वैसी ही होती है, जैसी बच्चा पैदा करते समय दाई की.

जारशाही दिसंबरवादियों की आवाज घोंटने में सफल रही, लेकिन उनकी दोनों मांगें - भूदास प्रथा का अंत और जारशाही पर अंकुश - रूसी समाज के गर्भ में पलने लगी थी. उनकी आकांक्षाएं 1861 में पूरी हुई. उस समय तक रूसी समाज की भीतरी और बाहरी परिस्थितियां इसके अनुकूल बन चुकी थीं

वे परिस्थितियां क्या थीं? क्रीमिया युद्ध (1853-56) में रूस की पराजय से पूरे यूरोप पर जारशाही की धाक की नींव चरमरा गयी थी. वर्ष 1812 में नेपोलियन बोनापार्ट को हराकर अजेय होने का जो तमगा उसे मिला था, वह इस पराजय के बाद छीन गया. फ्रांस, इंग्लैंड, तुर्की, सार्डिनिया के गठबंधन के हाथों पराजित होकर जारशाही अभिजातों की नजर में भी गिर चुकी थी. नेपोलियन को पराजित कर पेरिस को रौंदने का जो गौरव कज्जाक हासिल कर चुके थे, इस पराजय के बाद उस गौरव का मान-मर्दन हो चुका था. इतिहास अपनी दिशा बदल चुका था.

निस्संदेह, यह पराजय आंतरिक कमजोरियों का परिणाम थी और बाद में पूंजीवादी सुधार का कारण बनी. अभिजातों से लेकर व्यापारियों और किसानों के सामने यह सच उजागर हो चुका था कि रूस की पराजय कमजोर सेना के कारण नहीं, बल्कि उन्नत हथियारों और गोला बारूद की कमी के कारण हुई थी. रूस के शासक हलकों में पहली बार यह अनुभूति पैदा हुई कि रूसी सेना (एक पिछड़ी हुई सेना) का सामना अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित उन्नत सेना से हो रहा था. इस पराजय ने उन्हें पहली बार महसूस कराया कि रूस उन्नत यूरोपीय देशों की तुलना में हर क्षेत्र में पिछड़ रहा है. इन विचारों का वाहक रूस के सामंती समाज के गर्भ में पल-बढ़ रहा पूंजीपति वर्ग था और अभिजातों का एक हिस्सा उसके साथ खड़ा होने को तैयार था.

यह थी ऊपर से बदलाव की परिस्थिति. नीचे की स्थिति इससे भी बदतर थी. पूरे देश में किसानों का विद्रोह निरंतर चलनेवाली परिघटना का रूप धारण कर चुका था. उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के विद्रोह के स्वर उभरने लगे थे तथा पोलैंड उबल रहा था. तत्कालीन सम्राट अलेक्जेंडर के छोटे भाई कौंतास्तीन निकोलाविच ने रूस की तुलना स्टीम व्वायलर (पानी से भाप बनाने वाला संयंत्र) से की थी जिसमें रहना असंभव हो गया था.

कुलीनों के विद्रोह (1825) के दौर से तुलना करें, तो रूसी समाज लंबी छलांग मार चुका था. दिसंबरवादियों ने जो सपना देखा था, वह रूसी किसानों के मन में कुलबुलाने लगा था. स्थानीय जागीरदारों और भूदासों के बीच संघर्ष तीखा होता जा रहा था. महान रूसी साहित्यकार दोस्ताव्यस्की की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए इगोर वोल्गिन लिखता है कि उनके पिता की हत्या उनके भूदास ने कर दी थी और तत्कालीन रूस में ऐसी घटनाएं अक्सरहां हुआ करती थीं. 1830 के दशक की घटनाएं 1860 के दशक में ज्यादा मुखर हो गयी थीं.

रूस के पूंजीवादी पथ पर कदम बढ़ाने से उसका सामाजिक-राजनीतिक जीवन त्रिकोणीय संघर्ष में उलझ गया था. एक तरफ जारशाही थी, दूसरी तरफ पूंजीपतियों और उदारवादी सामंतों का खेमा था और तीसरी तरफ क्रांतिकारी आतंकवादी थे. जारशाही का प्रतिनिधित्व

उसकी निरंकुश नौकरशाही और शरीफजादे करते थे, पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व जेम्स्त्वो निकाय करता था और क्रांतिकारी आतंकवादी रूस की भावी सर्वहारा क्रांति के पूर्वज की भूमिका निभा रहे थे. इस त्रिकोणीय संघर्ष का अंतिम फैसला 1917 की दोनों क्रांतियों ने कर दिया. फरवरी क्रांति ने जेम्स्त्वो को फलने-फूलने का अवसर दिया, जारशाही पर समझौतावादी रूख अपनाया था, लेकिन अक्तूबर क्रांति ने इन दोनों को रौंदकर सर्वहारा राज्य की स्थापना की.

रूस की सर्वहारा क्रांति की राजनीतिक पृष्ठभूमि का आरंभ 1861 के पूंजीवादी सुधारों से होता है. लेकिन रूस सामंती बंधनों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ था. किसानों को मिलनेवाली जमीन का एक हिस्सा काट-छांटकर जमींदारों को दे दिया गया था, जिसे वहां के किसान ओत्रेज्की कहा करते थे. उसके अलावा अपनी मुक्ति के लिए किसानों को 200 करोड़ रूबल का मुआवजा चुकाना पड़ा था और भूदासता खत्म होने के बावजूद किसान जमींदारों की जमीन काफी कठोर शर्त्तों पर लेकर जोतने के लिए बाध्य किये जाते थे. जमीन जोतने के एवज में नगदी भुगतान के अलावा उन्हें जमींदरों की जमीन का एक हिस्सा अपने साधनों से बेगार (बिना मजदूरी लिये) के रूप में जोतना पड़ता था. इसे ओत्राबोत्की या बार्शचिना कहा जाता था. अधिकांश मामलों में तो किसान जमींदार की जमीन जोतते थे और पैदा आधा-आधा बांट देना पड़ता था. यह थी भूदासता से मुक्ति की सच्ची तस्वीर. तो भी इतना फर्क जरूर पड़ा था कि किसान व्यक्ति के तौर पर स्वतंत्र हो गये थे, अब उन्हें खरीदा और बेचा नहीं जा सकता था.

इस सुधार का दूसरा पक्ष था निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में स्थानीय स्वशासन. किसानों और उत्पीडित राष्ट्रीयताओं के प्रतिरोध आंदोलन के दबाव में जारशाही ने महसूस किया कि उसकी केंद्रीकृत मशीनरी द्वारा प्रशासन का सुचारू संचालन संभव नहीं है. फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय की उक्ति थी - दिशा निर्देश दूर देश से भी हो सकता है, लेकिन प्रबंधन बहुत दूर से नहीं हो सकता. यह बात अब रूसी शासकों को समझ में आने लगी थी. इस प्रकार जारशाही के कठोर कदमों के नीचे स्थानीय मामलों की देख-भाल के लिए ऊपर से नीचे तक-गुबर्निया (सर्वोच्च राज्य), यूएज्द (मध्यम स्तर, जिला) तथा वोलोस्त (प्राथमिक स्तर, ग्राम पंचायत) - स्थानीय निकायों के गठन का राज्यादेश जारी हो गया. लेकिन यह राज्यादेश था, इसका जमीन पर उतरना बाकी था.

किसी समाज की राजनीतिक व्यवस्था और उसके कानून व राज्यादेश उस समाज की आर्थिक व सामाजिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकते. जमीन पर आते-आते या तो वे बिखर जाते हैं या विकृत होकर समाज की आर्थिक-सामाजिक सीमाओं के अंतर्गत आ जाते हैं और यह सीमा तत्कालीन समाज में संघर्षरत विभिन्न वर्गों के शक्ति संतुलन की

अवस्था से तय होती है. तत्कालीन रूस के अभिजात इस कल्पना से ही कांप उठते थे कि जनसाधारण के साथ उन्हें सत्ता में हिस्सेदारी करनी होगी.

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सन 1864 में जारी राज्यादेश में जेम्स्त्वो को बुनियाद और शीर्ष दोनों से वंचित रखा गया. स्थानीय प्रशासन की सबसे नीचली इकाई (वोलोस्त) में इसकी व्यवस्था नहीं की गयी और सर्वोच्च शिखर (राष्ट्रीय स्तर) पर भी इसका गठन नहीं किया गया. इसका कारण बहुत साफ था : सबसे नीचली इकाई की गरीब जनता को प्रबंधन का काम-काज से दूर रखना और सर्वोच्च व्यवस्था को उदारवादी तत्वों की पहुंच से बाहर रखना. इन दोनों कदमों का उद्देश्य था कुलीन सत्ता की मूल संरचना को अक्षुण बनाये रखना.

जारशाही अपना लक्ष्य हासिल करने में सफल रही. निर्वाचन की पद्धति अभिजातों के अनुरूप बनायी गयी. चुनाव सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं होना था, विभिन्न वर्गों का अलग-अलग निर्वाचन मंडल होता था-जमींदारों का, शहरियों का तथा किसानों का. पहली श्रेणी में वे लोग आते थे जिनके पास 200 देसियातां (एक देसियातां -2.7 एकड़ या 1.1 हे.) से अधिक जमीन थी या 15000 रूबल से ज्यादा की अचल संपति या 6000 रूबल से ज्यादा वार्षिक आय. दूसरी श्रेणी में मिल मालिक उद्योगपति और व्यापारी आते थे जिनकी वार्षिक आय 6,000 रूबल से ज्यादा थी और साथ ही जो बड़े शहरों में 4,000 रूबल तथा छोटे शहरों में 500 रूबल की अचल संपति के मालिक थे.

किसान प्रतिनिधियों की निर्वाचन पद्धति अप्रत्यक्ष और जटिल थी. गांवों के किसान वोलोस्त कन्वेंशन में अपना प्रतिनिधि भेजते थे, वहां से निर्वाचक मंडल का चयन होता था और उनमें से एक निश्चित संख्या में लोग यूएज्द सम्मेलन के लिए चुने जाते थे. जेम्स्त्वो की निर्वाचन प्रणाली किस हद तक अभिजातों के अनुकूल थी, इसका खुलासा वर्ष 186 5-67 के पहले जेम्सत्वो चुनाव से हो जाता है. इसमें 75% अभिजात थे, 11% व्यापारी व उद्योगपति थे, 4% पादरी तथा 10.6% किसान थे.

जनवरी 1863 में पोलैंड की जनता ने विद्रोह कर दिया था जिसे दबाने के लिए जार को बिस्मार्क की मदद लेनी पड़ी थी. इससे जारशाही की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को गंभीर झटका जरूर लगा था, लेकिन यूरोप में क्रांतिकारी आंदोलन के विस्तार और विकास के लिए यह उससे भी बड़ा झटका था. एंगेल्स की नजर में क्रांतिकारी आंदोलन के विकास के लिए पोलैंड की विजय अपरिहार्य थी. एंगेल्स इस पराजय के लिए जर्मन उदारवादियों को जिम्मेवार मानते थे क्योंकि उन्होने प्रशियाई संसद में बुद्धि और हिम्मत से काम नहीं लिया. परिणाम यह हुआ कि बाहरी समर्थन के बावजूद लंबे अंतराल के बाद भी पोलैंड का फिर से उठ पाना संभव नहीं रहा. ✦✧✦

यह थी रूसी समाज की आर्थिक और राजनीतिक तस्वीर. 1870 में शहरी निकायों का गठन हुआ. इसके अनुसार भूमि कर और बिक्री कर चुकानेवाले सभी शहरवासी वोट देने के अधिकारी थे. इनके मताधिकार से निर्वाचित नगर दुमा आर्थिक मामलों की निगरानी करती थी. इन निकायों पर कठोर नियंत्रण बनाये रखने के लिए उसे गृह मंत्रालय, खासकर इसकी आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी शाखा के अधीन रखा गया था.

इससे अलग अंतःतल में क्रांतिकारी बेचैनी फैल रही थी, जिसको संगठित आवाज दे रहे थे उस समय के क्रांतिकारी आतंकवादी. उनमें सबसे प्रमुख थे हर्जेन. उन्होने 1854 में अंग्रेज समाजशास्त्री लिंटन को लिखे पत्र में रूसी क्रांति का खाका खींचा था :

'ऐतिहासिक-विकास के इस मोड़ पर जब यूरोप समाजवादी क्रांति की दहलीज पर खड़ा है और रूस में पूंजीवाद का विकास भी नहीं हुआ है, रूस पूंजीवाद की पीड़ा से गुजरे बिना सामुहिक भू-स्वामित्व के बल पर समाजवाद में प्रवेश कर सकता है.'

इन्हीं क्रांतिकारियों की गतिविधियों के आधार पर उस समय के सर्वहारा क्रांतिकारी रूसी समाज के विघटन तथा एक नये समाज के निर्माण का पूर्वानुमान कर रहे थे. इन बुद्धिजीवियों में विश्व सर्वहारा के पुरोधा मार्क्स-एंगेल्स अग्रणी थे. यह सामान्य बात नहीं है कि उस समय रूस की मेहनतकश अवाम की दशा, खासकर किसानों की जीवन दशा को समझने के लिए तथा रूस की आर्थिक स्थिति पर तत्कालीन क्रांतिकारी चेर्निशेव्स्की की रचनाओं को पढ़ने के लिए मार्क्स ने रूसी भाषा सीखने का कष्ट उठाया था. यह वही चेर्निशेव्स्की थे, जिनका नाम रूसी क्रांति के इतिहास में बड़े आदर के साथ लिया जाता है और जिन्हें क्रांतिकारी होने के पुरस्कारस्वरूप साइबेरिया की खानों में लंबा जीवन गुजारना पड़ा था.

रूस के क्रांतिकारी जीवन का यह वह काल था, जब क्रांतिकारी बुद्धजीवियों के मस्तिस्क क्रांतिकारी विचारों से झनझना रहे थे, लेकिन रूस की जनता गहरी नींद में सो रही थी. इस परिस्थिति की पीड़ा को चेर्निशेव्स्की ने इन शब्दों में व्यक्त किया था : 'एक दयनीय राष्ट्र, गुलामों का राष्ट्र - ऊपर से नीचे तक सभी गुलाम'. बाद में लेनिन ने इसे उस क्रांतिकारी के अवसाद की अभिव्यक्ति के रूप में पेश किया.

मार्क्स रूस की घटनाओं को बड़ी आशा भरी नजर से देख रहे थे : 'रूस में आजकल चल रहा बौद्धिक आंदोलन इस बात की तसदीक करता है कि सतह से काफी नीचले तल में किण्वन की प्रक्रिया जारी है, दिमाग जनता की काया के साथ असंख्य धागों के सहारे सदा-सर्वदा जुड़े रहते हैं' (न्यूयार्क में सिग्फ्रिड मेजर के नाम मार्क्स का पत्रः जनवरी 21, 1871). सचमुच रूस के क्रांतिकारी जीवन के लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण काल था. 1825के दिसंबरवादियों के विद्रोह ने 1860 के बदलाव की जैसी जमीन तैयार की थी, 1860-80 के वैचारिक संघर्ष ने 1905 और 1917 की क्रांतियों के लिए लगभग वैसी ही जमीन तैयार की.

1880 का दशक आते-आते रूस की स्थिति काफी बदल चुकी थी. इस बदलाव को सबसे अच्छे ढ़ंग से मार्क्स-एंगेल्स के इन शब्दों से समझा जा सकता है :

'1848-1849 की क्रांति के दौरान यूरोपीय राजाओं ने ही नहीं वरन यूरोपीय पूंजीपतियों ने भी सर्वहारा वर्ग से जो अभी जाग ही रहा था, अपनी मुक्ति का मार्ग रूसी हस्तक्षेप में पाया. जार-यूरोपीय प्रतिक्रियावाद का सरदार घोषित कर दिया गया. आज वह गातचिना में क्रांति का युद्धबंदी और रूस यूरोप में क्रांतिकारी कार्यकलाप का हरावल है.' (कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र).

रूसी जनता (खासकर किसानों और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं) पर दमन उत्पीड़न का सर्वोच्च प्रतिनिधि जार क्रांतिकारी आतंकवादियों के निशाने पर आ गया था. मार्च 1881 को तत्कालीन जार अलेक्सान्द्र द्वितीय की हत्या नरोदनाया वोल्या के आतंकवादियों ने कर दी थी. इससे भयभीत जार ने गातचीना के राज प्रासाद में शरण ली थी.

जिस समय रूस में क्रांतिकारी आतंकवाद उभार पर था, उस समय जेम्स्त्वोपंथी भी अपना राजनीतिक स्वरूप अख्तियार करने के संघर्ष में नयी ऊँचाई तक पहुंचने का प्रयास कर रहे थे. 1879 में मास्को में आयोजित कांग्रेस में जेम्स्त्वो यूनियन का गठन हुआ. 1881 में जार की हत्या के बाद इस यूनियन ने अपने मौलिक राजनीतिक सिद्धांत की घोषणा की : सरकारी और क्रांतिकारी आतंक की अस्वीकृति, राज्य व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, केंद्रीय जन प्रतिनिधि संस्था (दुमा) का निर्माण तथा निरंकुशता का खात्मा. स्थिति बिल्कुल साफ थी. 1881 की आतंकवादी घटना से जार और उसकी निरंकुश अफसरशाही जिस हद तक डरी और घबरायी थी, रूस का उदीयमान पूंजीवाद भी उतना ही (या उससे ज्यादा भी) आतंकित था. उसे उम्मीद थी कि जेम्त्स्वो आंदोलन की बदौलत वह रूसी जनता को अपने पक्ष में खड़ा करने में सफल होगा, लेकिन उसकी उम्मीदों पर पानी फिरने लगा था.

इसी दौर में रूस के राजनीतिक जीवन में बड़ा उलट फेर हो रहा था. त्रिकोणीय संघर्ष में क्रांतिकारी आतंकवाद (नरोदवाद) की धारा बिखरने लगी थी और इसके साथ ही मजदूर वर्ग की वैचारिक जमीन तैयार हो रही थी. जार्जी प्लेखानोव जो खुद सक्रिय नरोदवादी थे, मार्क्सवाद के प्रभाव में आने लगे थे. उन्हें यह आभास हो चुका था कि जारशाही का अंत आतंकवाद के रास्ते नहीं हो सकता. उसका खात्मा अनिवार्यतः सर्वहारा वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में सशस्त्र जनकार्रवाई के द्वारा ही संभव हो सकता है. इस सच को समझने के बाद प्लेखानोव ने मार्क्सवाद को रूस के मजदूर वर्ग की राजनीतिक गतिविधियों को दिशा निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्थापित करने का प्रयास शुरू किया. एक तरफ उन्होने रूस के राजनीतिक घटनाक्रम की व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर करने का प्रयास किया

और दूसरी तरफ मार्क्सवादी साहित्य का रूसी भाषा में अनुवाद कर पाठकों को मार्क्सवादी सिद्धांत से परिचित कराने का. ऐसे ही कामों का नतीजा था कि लगभग दो दशकों के बाद रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी की स्थापना संभव हो सकी.

इस विकासक्रम में रूसी की जनता (मजदूरों और किसानों) को ऐसा विलक्षण संयोग मयस्सर हुआ था, जो पूरे यूरोप में किसी देश की जनता को नहीं मिला था. रूस पूरे यूरोप का अकेला देश था, जहां किसानों और मजदूरों की पार्टी (समाजवादी क्रांतिकारी तथा सामाजिक जनवादी मंजदूर पार्टी) पूंजीपतियों की पार्टी से पहले बन चुकी थी. इसका नतीजा हुआ कि मजदूर व किसान जनता पूंजीवादी पार्टियों के प्रभाव में आने के पहले ही अपने वर्ग की राजनीति से परिचित होने लगी थी. 1905 में जब अक्तूरवादी और कैडेट पार्टी का गठन हुआ, उस समय तक रूसी मजदूर व किसान क्रांतिकारी तेवर के साथ मैदान में उतरने को तैयार थे.

दिसंबरवादी विद्रोहियों ने जारशाही की निरंकुशता पर अंकुश लगाने का जो सपना देखा था, वह सच होने लगा था और पुश्किन ने रूस के नींद से जागने का जो विश्वास व्यक्त किया था, वह पूरा हो रहा था. इतिहास उस दिशा में कदम बढ़ा चुका था, जहां न सिर्फ जारशाही बल्कि रूसी पूंजीवाद का खातमा निश्चित था और तानाशाही के खंडहर पर जनवादी इतिहास के शहीदों और विचारकों के नामों को स्वणक्षरों में लिखे जाने की परिस्थिति परिपक्व होने लगी थी. ✦✧✦

रूसी क्रांति की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

पूंजीवादी क्रांति और सर्वहारा क्रांति में बुनियादी फर्क है. पूंजीपति वर्ग जब राजसत्ता पर कब्जा करता है, उस समय तक पूंजीवादी उत्पादन पद्धति अन्य प्राक् पूंजीवादी उत्पादन पद्धतियों पर हावी हो जाती है. इस अर्थ में उसका काम पूरा हो चुका होता है और शेष रह जाता है उसे उत्तरोत्तर सुदृढ़ और उन्नत बनाने का काम. इसके विपरीत सर्वहारा क्रांति में राजसत्ता पर कंब्जा करने के बाद क्रांति का असली काम यानी समाजवादी उत्पादन पद्धति की बुनियाद रखने काम शुरू होता है. इस फर्क के बने रहने का कारण है कि उसका कार्यभार निजी संपति के स्वरूप में बदलाव नहीं होता. इसके विपरीत उसका काम होता है- निजी संपति का खात्मा. नपे-तुले वैज्ञानिक शब्दावली में बात करें तो सर्वहारा क्रांति का काम निजी संपति के सबसे उन्नत रूप पूजीवादी संबंध का खात्मा होता है. इस क्रम में उसे निम्नपूंजीवादी प्रतिक्रियावादी समाजवादियों से लेकर पूंजीवादी समाजवादियों और कल्पनावादी समाजवादियों से वैचारिक स्तर पर टकराना पड़ता है. टकराव की इन परिस्थितियों से बच पाना असंभव है.

विभिन्न किस्मों के ये समाजवादी मार्क्सवादी लिबास धारण कर क्रांतिकारी खेमे में बैठे रहते हैं. इसलिए पूंजीवादी राज्य को तहस-नहस करने के उद्देश्य से जनता को संगठित करने लिए जितना सैद्धांतिक ज्ञान की जरूरत पड़ती है, उससे ज्यादा ज्ञान की जरूरत पड़ती है कम्युनिस्ट समाज की निचली मंजिल से ऊपरी मंजिल में संक्रमण के हर मोड़-पड़ाव पर. यही कारण है कि सर्वहारा क्रांति के शिक्षकों ने हमेशा इस तथ्य पर जोर दिया कि क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना कोई क्रांति नहीं हो सकती तथा क्रांति का नेतृत्व वही पार्टी कर सकती है, जो सबसे उन्नत सिद्धांतों से निर्देशित होती है.

इस सूत्र को लागू करने के लिए उन्नत पूंजीवादी समाज सबसे आदर्श अवस्था है, क्योंकि वहां पूंजीपति और सर्वहारा दोनों परिपक्व अवस्था में पहुंच चुके होते हैं. लेकिन रूस का क्या, जहां पूंजीवादी विकास अभी-अभी शुरू ही हुआ था और प्राक पूंजीवादी संबंध काफी मजबूत थे. दूसरी ओर सर्वहारा उतना ही नवजात था और किसान मेहनतकश आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा थे. वैसे राज्य में क्रांतिकारी सिद्धांत का प्रवेश कैसे हुआ और उसने अपना विस्तार कैसे पाया? यह काफी जटिल प्रक्रिया है.

इस प्रक्रिया की स्पष्ट समझ हासिल करने के लिए रूस के क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास को तीन खंडों में बांटा जा सकता है - आतंकवादी आंदोलन का दौर, रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के निर्माण का दौर और मजदूर वर्ग के नेतृत्व में क्रांति के उत्थान-पतन का दौर. पहला दौर 1860-70 के दो दशकों में हावी रहा. इस दौर में

अलेक्सांद्र इवानोचि हर्जेन (1812-70), निकोलाई अलेक्सांद्रोविच द्रोब्रोल्यूबोव (1836-61) और निकोलाई गाब्रिलोविच चेर्नीशेव्स्की (1828-89) का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है. हर्जेन रूस के ख्यातिप्राप्त क्रांतिकारी जनवादी और भौतिकवादी दार्शनिक थे. 1847 में वे विदेश चले गये. इंग्लैंड में रहकर उन्होने 'पोल्यार्नाया ज्वेज्दा' (ध्रुवतारा) और 'कोलोकोल' (घंटा) नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया. चेर्नीशेव्स्की भी इसी श्रृंखला की अगली कड़ी थे. उन्हें रूस में सामाजिक जनवादी आंदोलन का अग्रदूत माना जाता है. प्लेखानोव ने तो उन्हें जर्मन भौतिकवादी फायरबाख का रूसी उत्तारधिकारी तक माना था. दूसरा दौर आतंकवादी हमले में रूसी जार अलेक्सांद्र द्वितीय की हत्या (1881) के बाद राजकीय दमन के फलस्वरूप आतंकवादी धारा के विखंडन के साथ शुरू हुआ. इस दौर का सबसे बड़ा नाम प्लेखानोव का था और तीसरा दौर 1905 की क्रांति के साथ शुरू हुआ और इसके नेता लेनिन थे.

रूस में मार्क्सवादी साहित्य के प्रवेश का पहला श्रेय अराजकतावादियों को जाता है. 'घोषणा पत्र' का रूसी अनुवाद सबसे पहले प्रख्यात रूसी अराजकतावादी बकूनिन ने 1860 के दशक के प्रारंभ में किया और वह 'कोलोकोल' के मुद्रण कार्यालय से प्रकाशित हुआ था. इस प्रेस के संस्थापक हर्जेन थे.

यह वह समय था जब रूस में मार्क्सवाद को व्यवहार में उतारने की भौतिक परिस्थितियां बनने तो जरूर लगी थीं, लेकिन पर्याप्त रूप से मजबूत नहीं हुई थीं. इसी सच को उजागर करते हुए मार्क्स-एंगेल्स ने 'घोषणापत्र' के 1882 के दूसरे रूसी संस्करण की भूमिका में लिखा - 'उस समय पश्चिम घोषणापत्र के रूसी संस्करण में केवल साहित्यिक अनोखापन ही देख सकता था.' लेकिन 1882 में जब दूसरे संस्करण का अनुवाद ज्यार्जी प्लेखानोव की सहयोगी वेरा जेसुलिच ने किया तो उस समय तक रूस की स्थिति काफी बदल चुकी थी. उन दोनों का राजनीतिक जीवन नरोदवादी (आतंकवादी) के रूप में शुरू हुआ था, लेकिन वे मार्क्सवाद से इस कदर प्रभावित हुए कि नरोदवाद से संबंध तोड़कर उसके प्रचार-प्रसार में लग गये. रूस में इस सिद्धांत को स्थापित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है. जैसा कि हम देख चुके हैं, 1870 के दशक में ही मार्क्स-एंगेल्स की दिलचस्पी रूस के क्रांतिकारी आंदोलन में काफी गहरी हो गयी थी.

यह मामला एकतरफा नहीं था. रूसी क्रांतिकारी भी बड़ी गहराई से उनके सिद्धांत का अध्यंयन कर रहे थे. उन्हीं के शब्दों में-

'रूस में जहां पूंजी किसी भी जगह से ज्यादा पढ़ी जा रही है और प्रशंसा पा रही है, हमारी सफलता इससे भी बड़ी है. एक तरफ हमारे आलोचक (अधिकांशतः यूनिवर्सिटी के युवा प्रोफेसर और साथ ही कुछ अंतर्राष्ट्रीय विधिवेता) हैं और दूसरी तरफ आतंकवादी केंद्रीय

कमिटी. इस कमिटी का कार्यक्रम हाल ही में गोपनीय ढंग से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित हुआ था और इसने स्वीट्जरलैंड के उन रूसी अराजकतावादियों के बीच क्रोधोन्माद पैदा कर दिया है जो जेनेवा में दी ब्लैक रिडिस्ट्रिब्यूशन का प्रकाशन करते हैं...... ये महानुभाव किसी तरह की राजनीतिक कार्रवाई के खिलाफ हैं.'

मार्क्स ने ये बातें 15 नवंबर 1880 को एडोल्फ सोर्ज के नाम पत्र में लिखी थी. यहां इस बात का उल्लेख प्रासंगिक होगा कि 'पूंजी' के पहले खंड का रूसी भाषा में अनुवाद निकोलाई दानियल्सन ने किया था और वे नरोदवादी थे. इस पुस्तक के अध्ययन के बाद उनके बीच बहस तेज हो गयी थी और विभाजन की लकीर खींचने लगी थी. बहस का मुद्दा था :- रूस में भूमि के सामूहिक स्वामित्व की अवस्था समाजवादी विकास का आधार बनेगी या पूंजीवादी विकास इसे नष्ट करेगा और रूस का यह भूमि संबंध पूंजीवादी विकास की पीड़ा से गुजरकर समाजवाद की जमीन तैयार करेगा? इस प्रश्न पर मार्क्स का विचार जानने के लिए वेरा इवानोव्ना जेसुलिच ने उन्हें पत्र लिखा था. इसके जवाब में मार्क्स ने उन्हें 8 मार्च 1881 को लिखा कि पूंजी में उन्होने जिस पद्धति का वर्णन किया है, वह इंग्लैंड और पश्चिमी यूरोप पर लागू होता है यानी विकसित पूंजीवादी देशों पर. रूस की ठोस परिस्थिति में उनके विचार इस प्रकार थे :

'पूंजी में दिया गया विश्लेषण रूसी ग्रामीण समुदाय की जीवन क्षमता के पक्ष या विपक्ष में कोई तर्क पेश नहीं करता. इस विषय पर मैंने अलग से छानबीन की है और इसकी सामग्री मैंने मूल स्रोतों से हासिल की है. मैं इस बात का कायल हूँ कि यह समुदाय रूस के पुनरूद्धार का अवलंब बन सकता है. लेकिन ऐसा हो इसके लिए उस पर चारों तरफ से हमला करने वाले विनाशकारी प्रभावों को दूर करना होगा और उसके बाद स्वतः स्फूर्त विकास के लिए सामान्य परिस्थितियां सुनिश्चित करनी होंगी'.

'घोषणा पत्र' के रूसी संस्करण की भूमिका में मार्क्स-एंगेल्स ने उन परिस्थितियों का खुलासा इन शब्दों में किया था :

'यदि रूसी क्रांति पश्चिम में सर्वहारा क्रांति के लिए इस तरह का संकेत बन जाये कि वे दोनों एक दूसरे के परिपूरक बन सकें, तो भूमि का वर्तमान रूसी सामुदायिक स्वाभित्व कम्युनिस्ट विकास के लिए प्रस्थान बिंदु बन सकता है'.

दोनों विचारकों ने इस स्थिति को एक सशर्त संभावना के रूप में व्यक्त किया था. इसके साथ ही उन्होने 1861 के बाद रूस में पूंजीवादी विकास की स्थिति को रेखांकित करते हुए इस सच की ओर इशारा किया था कि रूस इस विलक्षण अवसर को गंवा देगा और इस सामुदायिक स्वाभित्व को पूंजीवादी विकास की पीड़ादायक प्रक्रिया से गुजरना ही होगा. इस लंबी चर्चा के निचोड़ को एंगेल्स ने 1894 में इन शब्दों में व्यक्त कियाः-

'रूस में कोई क्रांति नहीं हुई है. जारशाही ने आतंकवाद पर विजय प्राप्त कर ली है जिसने फिलहाल तमाम व्यवस्थाप्रेमी संपतिधारी वर्गों को जारशाही की बाहों में पहुंचा दिया है. मार्क्स के पत्र के 17 साल बाद रूस में पूंजीवाद के विकास तथा ग्राम समुदाय के विघटन दोनों ने भीम के डग भरे हैं".

इस निष्कर्ष पर पहुंचना रूस के नीति-निर्धारण के लिए बहुत महत्वपूर्ण था. लेकिन आज इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है उन तथ्यों व प्रक्रियाओं को समझना जिन्होंने इस निष्कर्ष पर पहुंचने में मदद की. आतंकवादी व अराजकतावादी मार्क्सवादी साहित्य में पूंजीवाद की निंदा पढ़कर गदगद हो जाते थे और कानूनी मार्क्सवादी पूंजीवाद की सामंतवाद विरोधी भूमिका की प्रशंसा पर. लेकिन दोनों एकांगी थे. इस एकांगी प्रशंसा के बावजूद दोनों मार्क्सवाद विरोधी थे.

अराजकतावादियों के साथ मार्क्सवादियों का विवाद मुख्यतः चार बिदुओ पर केंदित था, रूसी राज्य का वर्गीय आधार, रूसी क्रांति के संदर्भ में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व का मूल्यांकन,पूंजीवादी विकास की संभावना और रूसी क्रांति में मजदूर वर्ग की भूमिका.

अप्रैल 1875 में एंगेल्स के 'रूस में सामाजिक संबंधों के विकास में' शीर्षक लेख तथा 1894 के पूर्वार्द्ध में लिखित उसके परिशिष्ट में इन बिंदुओं पर विस्तृत चर्चा मिलती है. यह आलेख नरोदवादी नेता व विचारक प.त्काचोव के साथ विवाद के क्रम में लिखा गया था. नरोदवादियों का मत था कि रूसी राज्य का कोई सामाजिक आधार नहीं है, वह अत्यंत कमजोर है तथा इसीलिए यहां तख्ता पलट यूरोप की तुलना में ज्यादा आसान है.

एंगेल्स ने तथ्यों के आधार पर इस अवधारणा का खंडन करते हुए साबित किया कि रूसी राज्य अभिजातों, नौकरशाहों, व्यापारियों और उभरते पूंजीपतियों का है और वह पूंजीपतियों पर आश्रित होता जा रहा है. इस विकासमान प्रक्रिया की चर्चा करते हुए एंगेल्स 1894 में इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि 'राज्य किशोर रूसी पूंजीपति वर्ग की मजबूत पकड़ में हैं". राज्य जमींदारों-पूंजीपतियों के हाथ में मजदूरों-किसानों के दमन-उत्पीड़न का हथियार था. फिर भी, अगर रूसी पूंजीपति वर्ग किशोरावस्था में था, तो यूरोप की तुलना में रूसी क्रांति अपेक्षाकृत आसान थी. लेकिन क्रांति पराजित हो चुकी थी, तो इसलिए कि रूसी सर्वहारा भी लगभग उसी अवस्था में था और किसान जिनको आतंकवादी क्रांति की मुख्य शक्ति मानते थे, चेतना के स्तर पर बहुत पिछड़ा था. क्रांति के विचार से बहुत दूर, बहुत पीछे.

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें. भूमि के सामुदायिक स्वामित्व को रूस के आतंकवादी क्रांति के लिए अद्भूत वरदान और रूस की विलक्षण विशिष्टता मानते थे. उनकी इस अवधारणा के विपरीत एंगेल्स ने यह साबित किया कि सामुदायिक स्वामित्व रूसी समाज की अद्भूत परिघटना नहीं है, बल्कि यह रूस के पिछड़ापन का सबूत है. उन्होंने यह

दिखाया कि 'भूमि का सामुदायिक स्वाभित्व स्वयं एक ऐसा संस्थान है जो भारत से लेकर आयरलैंड तक तथा विकास के निचले स्तर वाले तमाम भारोपीय जनगण के बीच, यही नहीं भारत के प्रभाव में विकसित हो रहे मलयों के बीच-उदाहरण के लिए जावा में-पाया जाता है'. तब रूस के साथ अद्भूत स्थिति यह थी कि वहां सामुदायिक स्वामित्व की अवस्था मौजूद थी और क्रांति उस के दरवाजे पर दस्तक देने लगी थी. इसीलिए वह प्रश्न इतना प्रासंगिक बन गया था. अगर क्रांति विजयी हो जाती और बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों को मिटा पाने में सक्षम हो जाती जिनका जिक्र मार्क्स-एंगेल्स ने किया था तो रूस दुनिया का अद्भूत देश बन जाता, जहां सामंती संबंध पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरे बिना समाजवाद में प्रवेश करता.

रूस के नरोदवादी क्रांति की जीत के बाद समाजवाद का सपना देख रहे थे और उनके सपने का सबसे बड़ा आधार था वही भूमि का समुदायिक स्वामित्व. हर्जेन से लेकर बकूनिन और त्काचोव तक यह समझते थे कि रूसी किसान जन्मजात, परंपरागत रूप से कम्युनिस्ट है. वह अज्ञानता के बावजूद पश्चिम यूरोप के जनगण की तुलना में समाजवाद के समीप है. जाहिर है कि वे वर्ग चेतना का महत्व नहीं समझते थे और क्रांतिकारी सिद्धांत को हिकारत की नजर से देखते थे.

एंगेल्स ने तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर दिखा दिया कि सामुदायिक स्वामित्व के भीतर निजी स्वामित्व और पूंजीवाद के विकास के तत्व मौजूद थे. इसके लिए उन्होंने त्काचोव के तथ्यों का ही सहारा लिया-किसानों के बीच से सूदखोरों का एक वर्ग-किसान अभिजात वर्ग पैदा हो रहा है जो किसानों और जमींदारों की जमीन खरीदता और उसे लगान पर उठाता है. यह प्रकृति थी, लेकिन इसने विकसित होकर ठोस वर्ग विभाजन का रूप नहीं लिया था. इसलिए इसके विकास की दोनों संभावनायें मौजूद थीं और उनकी दिशा अंततः बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर करनेवाली थी. पहला इस पर कि रूस में क्रांति संपन्न होती है या नहीं और दूसरा इस पर कि वह क्रांति यूरोप में क्रांति का संवेग पैदा करती है या नहीं.

इसके साथ ही रूस की क्रांति का एक कमजोर पक्ष भी था. वहां समाजवाद के पहले के दोनों अनिवार्य वर्ग-पूंजीपति और सर्वहारा नहीं थे. किसानों का विशाल समुदाय था, लेकिन उसके बीच क्रांतिकारी चेतना-राजसत्ता विरोधी चेतना, जारशाही को नष्ट कर देने की चेतना नहीं थी. जैसा कि एंगेल्स ने कहा 'जार रूसी किसान के लिए पार्थिव ईश्वर है, ईश्वर बहुत ऊपर तथा जार बहुत दूर है, किसान संकट की घड़ी में उसका ही नाम लेता है'. किसानों की राजभक्ति की चर्चा करते हुए एंगेल्स यह दिखाते है कि 'रूसी जनता के इस सहज क्रांतिकारी समूह ने अभिजातों के खिलाफ अनेक अलग-अलग संघर्ष किये, लेकिन जार के खिलाफ कभी नहीं, सिवाय उन मौकों के जब नकली जार जनता का अगुआ

बनकर सिंहासन पर दावा करने लगते' ! लेकिन क्रांति की विजय के लिए जरूरी था कि किसानों की चेतना इस स्तर पर जाय कि जार (सिर्फ स्थानीय जमींदार और नौकरशाह नहीं) उनका कट्टरतम शत्रु है, मजदूर उनके घनिष्ठतम मित्र हैं और जारशाही को मेटियामेट कर मजदूरों के नेतृत्व में राजसत्ता स्थापित कर ही वे अपना भला कर सकते हैं. रूसी किसानों के बीच इस तरह की चेतना का विकास 1905 की क्रांति के दौर में शुरू हुआ और सच्चे अर्थ में रूस में क्रांतिकारी आंदोलन का उभार उसके बाद ही हो सका.

इस दौर में भी रूसी समाज स्थिर नहीं था. समाज के भीतर ही भीतर वैचारिक मंथन और विकास की प्रक्रिया चल रही थी और इसका परिणाम आतंकवादी आंदोलन के दो नेताओं- हर्जेन और चेर्निशेव्स्की के विचारों के अंतर में दिखाई पड़ रहा था. हर्जेन की राय थी कि ग्राम समुदाय को कायम रखना तथा व्यक्ति को स्वतंत्रता देना, राष्ट्रीय एकता बरकरार रखते हुए ग्राम तथा वोलोस्त का स्वशासन शहरों तथा पूरे राज्य तक फैलाना-ऐसा है रूस के भविष्य का प्रश्न. निश्चय ही ग्राम समुदाय को कायम रखने से उनका तात्पर्य सामूहिक स्वामित्व को कायम रखने से था. बकूनिन और त्काचोव हर्जेन के इस विचार के कायल रहे. त्वकाचोव तो 1875 तक यही राग अलपाते रहे कि साझे स्वामित्व का सिद्धांत .... हमारी जनता की विशाल बहुसंख्यक के रग-रग में है, कह सकते है कि वह अपने स्वभाव से ही परंपरागत रूप से कम्युनिस्ट है.

चेर्निशेव्स्की इस विचार से आगे बढ़ गये थे. वे महसूस करने लगे थे कि रूसी समाज में पूंजीवादी विकास की प्रगति सामाजिक जड़ता के उस प्रतीक को ध्वंस कर देगी. न सिर्फ इतना, वे यह भी महसूस करने लगे थे कि इस यातना की राह से गुजरकर ही समाज प्रगति कर सकता है. मार्क्स ने उनके विचारों को इन शब्दों में निरूपित किया था- क्या रूस को, जैसा कि उसके उदारवादी अर्थशास्त्री चाहते हैं ग्राम समुदाय को नष्ट कर काम शुरू करना चाहिए ताकि वह पूंजीवादी व्यवस्था में प्रवेश कर सके अथवा क्या वह अपनी ऐतिहासिक अवस्थाओं का विकास करते हुए इस व्यवस्था के फलों को उसकी यातनाएं झेले बिना प्राप्त कर सकता है?

इस सवाल में ही जवाब भी छुपा हुआ है.चेर्निशेव्स्की समझने लगे थे कि रूस को पूंजीवादी विकास की यातना झेलनी पड़ेगी. इस समझ पर पहुंच जाना ही उनकी विलक्षण मेधा का परिचायक था, क्योंकि रूसी सेंसरशिप और जारशाही ही यातना के कारण वे यूरोप की गतिविधियों और मार्क्स की रचनाओं से सर्वथा दूर थे. इसलिए एंगेल्स ने उनके बारे में ठीक ही टिप्पणी की थी कि उनके विश्लेषण की भूलों को देखकर आश्चर्य होता है कि इतनी कम भूलें कैसे हैं ! रूस के विकास की प्रक्रिया की इसी विलक्षण समझ के कारण उन्हें रूसी सामाजिक जनवादी आंदोलन का अग्रदूत माना जाता है.

एंगेल्स ने उनका विवरण इन शानदार शब्दों में दिया था- 'रूसी ग्राम समुदाय ने उनलोगों का ध्यान आकृष्ट किया, उन लोगों से मान्यत प्राप्त की जो हर्जेनों तथा त्काचोवों से कहीं ऊंचे हैं. उनमें एक थे निकोलाई चेर्नोशेव्स्की. वह महान चिंतक जिनका रूस इतना ऋणी है और साइबेरिया में याकूतों के बीच निर्वासन के कारण जिनका शर्नै : क्षय अलेक्सांद्र द्वितीय की 'मुक्तिदाता' की स्मृति पर हमेशा के लिए कलंक का टीका बना रहेगा'.

1860-70 के दशक में रूस के वैचारिक संघर्ष की कहानी बकूनिन की भूमिका के बिना पूरी नहीं हो सकती. पहले हम देख चुके है कि कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र का रूसी भाषा में अनुवाद सबसे पहले बकुनिन ने किया था. इस तरह मार्क्सवादी साहित्य से रूसी बुद्धिजीवियों को परिचित कराने का पहला श्रेय उन्हें ही जाता है. लेकिन दूसरा सच इससे ज्यादा खतरनाक है. पहले इंटरनेशनल (1864-74) में मार्क्स (और मार्क्सवाद) के सबसे मुखर विरोधी होने और उनके खिलाफ राजनीतिक तिकड़म कर इंटरनेशनल को छिन्न-भिन्न करने का कलंक भी बकुनिन के माथे पर ही है. बात सिर्फ रूस और बकूनिन तक नहीं है. जर्मनी में लासाल और फ्रांस में प्रूदों भी मार्क्स के अच्छे मित्र हुआ करते थे और प्रारंभिक दिनों में उनके विचारों के प्रचार-प्रसार में इन लोगों ने सकारात्मक भूमिका भी निभायी थी. लेकिन यह भी सच है कि बाद के दिनों में सैद्धांतिक विकास की प्रक्रिया में वे मार्क्स और मार्क्सवाद के विरोधी हो गये. इन विरोधियों ने मार्क्स-एंगेल्स और मार्क्सवाद के खिलाफ कैसी मोर्चाबंदी की थी, इसका अंदाजा एंगेल्स के इन शब्दों से लग जाता है - जनता के राज्य के बारे में अराजकतावादियों ने हमारी इतनी ताड़ना की है कि इससे हम उब गये हैं (अगस्त बेबेल के नाम एंगेल्स का पत्र 18-28 मार्च 1875)

मार्क्सवाद के खिलाफ अराजकतावादी प्रहार की इस स्थिति को जानने के बाद हमें एक बार फिर बकूनिन पर लौटें.उन दिनों वे अराजकतावाद के केंद्र बन गये थे. इसलिए यह समझना जरूरी है कि मार्क्स-एंगेल्स और अराजकतावादियों (बकूनिन) के बीच मतभेद किन बिंदुओं पर थे. बकूनिन पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच की शत्रुता को मुख्य खतरा नहीं मानते थे, वे राज्य को मुख्य खतरा समझते थे. वे यह नहीं मानते थे कि पूंजीपतियों और मजदूरों का अंतर्विरोध सामाजिक विकास की उपज है, वे नहीं मानते थे कि राज्य पूंजीपति वर्ग व अन्य संपतिधारी वर्गों की रक्षा का साधन है, उनका मानना था कि राज्य ने पूंजी और पूंजीवाद को जन्म दिया है. मार्क्सवादी विचार है कि पूंजीवादी उत्पादन संबंध खत्म होने से राज्य खत्म होगा. बकूनिन इस विचार के कायल थे कि राज्य के खत्म होने से पूंजीवाद खत्म हो जायेगा. इससे साफ हो जाता है कि मार्क्स-एंगेल्स और बकूनिन एक दूसरे के उल्टे वैचारिक धरातल पर खड़े थे. एंगेल्स की नजर में बकूनिन का सिद्धांत कम्युनिजम के सिद्धांत और प्रूदों के सिद्धांत का घालमेल था. और वे खुद सैद्धांतिक ज्ञानविहीन व्यक्ति थे.

चूंकि बकूनिन की नजर में राज्य मुख्य खतरा था, इसलिए राज्य का हर रूप-राजतंत्र से लेकर जनतंत्र तक मिटा दिया जाना चाहिए था. उनकी नजर में मजदूर वर्ग का राज्य भी निंदनीय था. इसलिए बहुत बारीकी से विचार किया जाय तो सर्वहारा राज्य को निंदनीय घोषित कर अराजकतावाद अंततः पूंजीवाद की सेवा करता है. इससे अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि मजदूर राजनीति से अलग रहें. खास तौर पर चुनावों में भागीदारी इस सिद्धांत के विरूद्ध है.

इस सिद्धांत को संगठन पर लागू किया जायं तो अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सांगठिनिक सिद्धांत में भी अल्पमत पर बहुमत का प्राधिकार नहीं लागू होगा और हर व्यक्ति मन-मानी करने को स्वतंत्र होगा. इसका मतलब यह कि संगठन में अनुशासन नहीं होगा, कोई किसी के मातहत नहीं होगा और संगठन (पार्टी) एक दूसरे से पूरी तरह स्वतंत्र, व्यक्तियों का जमघट बनकर रह जायेगा. फ्रांस में प्रूदों इसी सिद्धांत के जनक थे और इसी का प्रभाव था कि पेरिस कम्यून एक दूसरे से इर्ष्या करने वाले समतुल्य परमाणुओं का जमघट बनकर रह गया था.

जैसा कि हम कह चुके हैं कि बारीक विश्लेषण करें तो ये अराजकतावादी अतंतः पूंजीवाद की सेवा करते हैं. इसलिए उन दिनों भी बकूनिन और उनके सहयोगियों के खोखले नारों का लाभ बिस्मार्क और मैज्जिनी जैसे पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी मजदूरों के खिलाफ उठाते थे. मजदूर वर्ग की राजनीति के हर मोड़ पर इस बारीक अंतर को समझना जरूरी है, अन्यथा भटकाव का खतरा बरकरार रहेगा. फ्रांस में यह प्रवृति दिखाई पड़ रही थी कि जिन लोगों ने बकूनिन के सिद्धांत को तौबा कर दिया था, वे संघर्ष के उनके रास्ते को अपनाये हुए थे.

इसी सैद्धांतिक बहस की गहमागहमी में और इन्हीं आतंकवादियों और अराजकतावदियों को बीच से प्लेखानोव निकले जिन्होने अराजकतावाद को खारिज कर मार्क्सवाद का झंडा उठाया.1883 में 'श्रम मुक्तिदल' के कार्यक्रम की घोषणा करते हुए उन्होने उसके दो उद्देश्य घोषित किये : समाजवादी विचार धारा का प्रसार तथा समाजवादी पार्टी के गठन के लिए आवश्यक शक्तियों का निर्माण. इस दिशा में कदम बढ़ाने के क्रम में प्लेखानोव ने रूस की तत्कालीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए तीन कदम उठाये.

उस समय मजदूर वर्ग की राजनीतिक गतिविधियों पर आर्थिक मुद्दे हावी रहा था, उन्होंने वर्गीय चेतना को ऊपर उठाने का कार्यभार तय किया. इसके लिए उन्होने मार्क्स-एंगेल्स की रचनाओं जैसे 'घोषणा पत्र', 'मजदूरी-श्रम और पूंजी' 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' आदि का रूसी भाषा में अनुवाद किया और जेनेवा से प्रकाशित कर गुप्त रूप से उन्हें रूस में बांटा गया.

उनकी इन उपलब्धियों के साथ कुछ कमजोरियां भी मौजूद थीं. अपने पहले ड्राफ्ट

प्रोग्राम में वे कृषि, खनन तथा उत्पादन से जुड़े उद्योगो में राजकीय सहायता की वकालत करते हैं. यह लासालपंथी भटकाव के सिवाय और कुछ नहीं था. साथ ही निरंकुश जारशाही के खिलाफ आतंकवादी कार्रवाईयों को भी मान्य कियो जाने की वकालत करते हैं. यह निश्चित तौर पर नरोदनाया वोल्या की कार्यपद्धति का प्रभाव था. ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं था. फ्रांस का उदाहरण देते हुए एंगेल्स यह बता चुके थे कि सैद्धांतिक तौर पर बकूनिन से छुटकारा पा लेने के बावजूद उनकी कार्यपद्धति से छुटकारा नहीं पाया जा सका था. प्लेखानोव ने अपने दूसरे ड्राफ्ट प्रोग्राम में इस नीति को बदलते हुए संघर्ष के हितों के अनुसार, अगर जरूरत पड़े, तो उचित समय पर आतंकवाद का रास्ता अपनाने का कार्यक्रम पेश किया.

इन खामियों और कमजोरियों के बावजूद प्लेखानोव का योगदान असीम था. इस बात को समझने के लिए हमें मार्क्सवाद के प्रति नरोदवादियों के आकर्षण के कारण पर गौर करना होगा. वे इस लिए प्रभावित थे कि मार्क्स-एंगेल्स ने पूंजीवाद की पहचान मनुष्य को पतित बनानेवाली व्यवस्था के रूप में की. उनका नजरिया इसलिए एकांगी था कि वे मार्क्स-एंगेल्स के विश्लेषण के दो पक्षों की अनदेखी कर जाते थे. वे यह नहीं देख पाते थे कि सामंतवाद को ध्वंसकर मानव इतिहास को अग्रगति देने के लिए इन दोनों विचारकों ने पूंजीवाद की कितनी तारीफ की ! साथ ही वे मार्क्स-एंगेल्स की इस बात की भी अनदेखी करते थे कि समाजवाद की स्थापना के लिए जितना जरूरी सर्वहारा वर्ग है, उतना ही जरूरी है पूंजीपति भी.

प्लेखानोव ने यह साबित किया कि रूस में पूंजीवाद का विकास हो रहा है और जिस रफ्तार में उसका विकास हो रहा है, उसी अनुपात में गांवों में सामुहिक भूमि स्वाभित्व की संरचना की टूट रही है, उसी अनुपात में सर्वहारा आबादी बढ़ती जा रही है और उसका संकेन्द्रण औद्योगिक केंद्रों में होता जा रहा है. नरोदवादियों के खिलाफ तत्कालीन बहस पर प्रकाश डालते हुए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास बड़ी साफगोई से कहता है :

'क्रांतिकारियों का काम रूस में पूंजीवाद के विकास में अवरोध खड़ा करना नहीं था- किसी भी हालत में वे ऐसा नहीं कर सकते थे. उनका काम था कि पूंजीवाद के विकास की बदौलत उत्पन्न शक्तिशाली क्रांतिकारी वर्ग (मजदूर वर्ग) का समर्थन हासिल करें, उसकी वर्ग चेतना का विकास करें, उसे संगठित करें और उसकी अपनी पार्टी (मजदूर वर्ग की पार्टी) बनाने में मदद करें'.

नरोदवादियों से सैद्धांतिक संघर्ष करते हुए प्लेखानोव इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे कि रूसी क्रांति का नेता औद्योगिक सर्वहारा होगा. इससे उपजे कार्यभार को पूरा करने के लिए अपने संगठन 'श्रम मुक्ति दल' के ड्राफ्ट प्रोग्राम में उन्होंने बुद्धिजीवियों से आग्रह किया कि उनके बीच मजदूर वर्ग की राजनीतिक चेतना पैदा करें ताकि वे पूंजीवादी और विभिन्न

किस्मों के प्राक् पूंजीवादी विचारधारा के प्रभाव में न फंसे.

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास प्लेखानोव के योगदान को इन बिंदुओं के रूप में स्वीकार करता है : 'नरोदवादी मानते थे कि रूस में पूंजीवाद का विकास नहीं होगा, इसलिए सर्वहारा का भी उद्भव और विकास नहीं होगा. प्लेखानोव ने तथ्यों से इसका खंडन किया. नरोदवादी मानते थे कि रूस में समाजवाद का विकास सर्वहारा अधिनायकत्व के रास्ते नहीं होगा, बल्कि ग्रामीण कम्यून के रास्ते होगा. प्लेखानोव ने साबित किया कि कम्यून एक वर्ग के रूप में मजबूत नहीं हो रहा है, बल्कि शोषक और शोषित वर्गों के बीच टूट रहा है'.

इन दोनों की चर्चा हो चुकी है. तीसरी महत्वपूर्ण बात है कि नरोदवादी क्रांति में नायक की भूमिका सर्वोपरि और जनता को निष्क्रिय कारक मानते थे. प्लेखानोव ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण पैदा किया कि किसी देश की जनता ही क्रांति का मुख्य कारक होती है और वही नेता पैदा करती है.

इन सब का मिला जुला असर था कि रूस में मार्क्सवाद प्रथम प्रचारक 1917 की अक्तूबर क्रांति के खिलाफ खड़ा था. कई आलोचक उनके इस भटकाव का अध्ययन करते समय मामले को इस रूप में रखने की कोशिश करते है कि सही सिद्धांत की समझ रखते हुए भी वे उसे व्यवहार में उतारने में विफल रहे. लेकिन विश्लेषण का यह तरीका गलत है. जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि उनके विचारों में लासलपंथ और नरोदवाद का प्रभाव मौजूद था. बाद के दिनों में विश्व परिस्थिति में आ रहे बदलावों को समझने, साम्राज्यवाद के युग के अनुसार मार्क्सवाद को विकसित करने तथा तदनुसार क्रांति का दिशा निर्देश करने में वे विफल रहे. स्थिति यह हो गयी कि समाजवादी क्रांति के बिगुल बजने तक वे पूरी तरह अप्रासंगिक हो गये थे.

मार्क्स-एंगेल्स के पहले के काल्पनिक समाजवादियों का मूल्यांकन प्लेखानोव ने इन शब्दों में किया था - 'काल्पनिक समाजवादियों ने एक महान विचार को सामाजिक प्रचलन में धकेल दिया और मजदूरों के मन में पैठ जाने के बाद यही विचार 19 वीं सदी की सबसे जोरदार सांस्कृतिक शक्ति बन गया. इस विचार का प्रचार प्रसार काल्पनिक समाजवाद द्वारा की गयी संभवतः सबसे बड़ी सेवा है (19वीं सदी का काल्पनिक समादवाद)'.

1918 में प्लेखानोव की मृत्यु के बाद लेनिन ने नौजवान पार्टी सदस्यों को उनके बारे में इन शानदार शब्दों में परिचित कराया-

'प्लेखानोव की तमाम दार्शनिक रचनाओं का अध्ययन -और मेरा मतलब है अध्ययन किये बगैर आप एक सच्चे प्रबुद्ध कम्युनिस्ट बनने की आशा नहीं कर सकते, क्योंकि दुनिया में कहीं भी मार्क्सवाद के बारे में उनसे बेहतर कुछ नहीं लिखा गया है'. ✦✧✦

पार्टी निर्माण का दौर

रूसी समाज में मार्क्सवाद के बीज आतंकवादियों और अराजकतावादियों ने बोये थे. यह सच है. लेकिन यह भी उतना ही सच है कि बाद में इस विचारधारा के प्रचार-प्रसार में और रूसी क्रांति को जीत की मंजिल तक पहुंचाने की राह में बहुत बड़ी बाधा वे लोग ही बने. इसलिए प्लेखानोव, अक्सेल्रोद तथा जेस्युलिच जैसे लोग जब उस धारा से अलग होकर 'श्रम मुक्ति दल' (वर्ष 1883) नामक मार्क्सवादी संगठन के निर्माण की प्रक्रिया में आगे बढ़े, तो उन्हें पहला लोहा इन्हीं अराजकतावादियों और आतंकवादियों से लेना पड़ा, क्योंकि आगे बढ़े हुए मजदूरों और बुद्धिजीवियों के बीच नरोदवादियों की पैठ जमी हुई थी और उन्हें परास्त कर ही मार्क्सवाद की स्थापना की जा सकती थी.

01 मार्च 1881 को नरोदवादियों ने रूसी जार अलेक्सांद्र की हत्या बम मारकर कर दी. थोड़े से नायक इतिहास का निर्माण करते हैं और विशाल जनता सिर्फ मूक दर्शक होती है- इस सिद्धांत के तहत इन शूरवीरों ने लंबे समय तक जार की हत्या के प्रयास किये और अंततः वह मारा गया. उसके मारे जाने के बाद नया जार सत्तासीन हुआ. लेकिन मजदूरों-किसानों के जीवन में कोई खास सुधार नहीं हुआ, उल्टे उनकी स्थिति बदतर होती चली गयी. इस घटना से जनमानस में भी यह भावना पैदा हुई कि व्यक्तिगत हत्या की राजनीति सनसनी तो पैदा कर सकती है, बदले की भावना का क्षणिक संतोष तो पैदा कर सकती है और शासक निकाय में आतंक तो पैदा कर सकती है , लेकिन प्रतिक्रियावादी व्यवस्था को मिटाकर क्रांतिकारी व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकती.

इसके बाद उन्हें दूसरा झटका जारशाही के दमन से लगा और उनके संगठन का आतंकवादी ढांचा तहस-नहस हो गया. उसके बाद भी बुद्धिजीवियों का एक खेमा इसी विचारधारा से चिपका रहा, जिसे अंतिम रूप से समाप्त करना मार्क्सवादियों का सबसे बड़ा वैचारिक कार्यभार बन गया था.

नरोदवादियों को तीसरा झटका रूसी अर्थव्यवस्था के विकास से लगा. पिछले अध्याय में हम एंगेल्स और त्काचोव के बीच बहस तथा नरोदवादियों और मार्क्स के बीच पत्राचार की चर्चा कर चुके हैं. इसी प्रक्रिया में रूस की धरती पर मार्क्सवाद की वैचारिक जीत की इमारत खड़ी हो रही थी. रूसी सामाजिक जनवादियों के दूसरे ड्राफ्ट प्रोग्राम में प्लेखानोव ने आर्थिक विकास की हकीकत को इन शब्दों में चिह्नित किया : 'भूदास प्रथा के उन्मूलन के बाद से पूंजीवाद ने सफलता की राह पर विशाल डग भरे हैं. नैसर्गिक अर्थव्यवस्था की पुरानी व्यवस्था माल उत्पादन की जमीन तैयार कर रही है और इस प्रकार वह बड़े उद्योगों के लिए विशाल आंतरिक बाजार का दरवाजा खोल रही है. पितृसत्तात्मक भूमि स्वामित्व के

सामूहिक स्वरूप तेजी से बिखर रहे हैं, ग्रामीण समुदाय किसान जनता को राज्य का गुलाम बनाने का साधन मात्र बनकर रह गया है और कई क्षेत्रों में तो वह अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण का औजार भी बन गया है'.

इस बदलाव ने 1870 के दशक में जारी बहस का अंत कर दिया और यह सुनिश्चित हो गया कि रूस पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरकर समाजवाद में प्रवेश करेगा. संक्षेप में यह जान लेना भी जरूरी है कि नरोदवादियों की स्थिति क्या हुई? सामूहिक स्वामित्व में बिखराव के बाद किसानों के बीच वर्ग विभाजन हुआ और नरोदवादियों के राजनीतिक उत्तराधिकारी 'समाजवादी क्रांतिकारी' कुलकों (ग्रामीण पूंजीपतियों) के प्रतिनिधि बन गये और गांव के गरीबों की विशाल आबादी के शोषण-उत्पीड़न में मशगुल हो गये. बाद के दिनों में लेनिन ने इस खेमे की क्रांतिकारी ऊर्जा को पहचाना और रूसी सर्वहारा के सबसे विश्वस्त सहयोगी के रूप में चिह्नित कर उनकी क्रांतिकारी शिक्षा-दीक्षा को संगठित रूप दिया. यह भी उल्लेखनीय है कि अक्तूबर क्रांति के बाद इन्हीं समाजवादी क्रांतिकारियों ने लेनिन पर जानलेवा हमला किया था. जिन्होने कभी जार पर हमला कर क्रांतिकारी प्रतिष्ठा अर्जित की थी और अंततः जारशाही के दमन का शिकार हुए थे, उन्हीं के राजनीतिक वंशज सर्वहारा सत्ता केंद्र पर हमला का अपराधी बने और अततः रौंद डाले गये. कालचक्र की इस गति को समझना क्रांति के लिए निहायत जरूरी है.

1865-90 तक का काल जारशाही के इतिहास में तेज पूंजीवादी विकास का काल था. इसलिए यह देखना ज्यादा जरूरी है कि उस समय रूसी मजदूर वर्ग की अवस्था कैसी थी? जिस रफ्तार में पूंजीवाद का विकास हो रहा था, उसी रफ्तार में औद्योगिक मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही थी और सस्ते मजदूर का सबसे बड़ा स्रोत ग्रामीण समुदाय बन गया था. भूदास प्रथा के उन्मूलन के बावजूद उसके अवशेष बच गये थे-ओत्रो की (जमीन की कटौती), ओत्राबोत्की (बेगार) तथा इस्पोलू (अधिया बटाई) के रूप में.

इस सामंती अवशेष की मार के साथ-साथ कर के भारी बोझ और जमींदारों का भुगतान कई बार किसानों की आय से ज्यादा हो जाता था और उन्हें अकिंचन बना देता था. ये दरिद्र किसान अंततः गांवों को छोड़कर शहर में भागते और औद्योगिक मजदूर बनते.

रूस का पूंजीवादी विकास बहुत तेजी से हो रहा था. लेकिन उसकी एक अंतर्निहित कमजोरी थी. वह पश्चिम यूरोप के देशों से काफी पिछड़ा था. गांवों से भारी पलायन के बावजूद 1890 के दशक में कुल आबादी के छठा हिस्सा ही बड़े और छोटे उद्योगों में कार्यरत था. शेष आबादी कृषि पर निर्भर थी. इसीलिए निष्कर्ष के तौर पर कहा गया है कि रूस आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ निम्न पूंजीवादी देश था. मजदूरों का जीवन बड़ा कठिन था. उन्हें 12 से 15 घंटों तक काम करना पड़ता था, मजदूरी बहुत कम मिलती थी तथा

श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कोई कानून नहीं था. बहुसंख्यक मजदूरों को 7-8 रूबल प्रतिमाह में गुजारा करना पड़ता था और अधिकतम मजदूरी 35 रूबल प्रतिमाह तक थी. इस जीवन से ऊबे मजदूरों के लिए संगठित होने और संघर्ष में उतरने के अलावा कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था.

1870-80 के दशक में हड़तालें मजदूरों पर अत्यधिक दण्ड, मजदूरी भुगतान में धोखाधड़ी और कटौती के खिलाफ गुस्से के इजहार के रूप में होती थीं. ऐसे ही संघर्षों के क्रम में मजदूरों के आगे बढ़े हुए तबकों ने महसूस किया कि पूंजीपतियों के शोषण के खिलाफ निरंतर आवाज बुलंद करने के लिए उन्हें संगठित होना ही होगा. इस प्रकार 1875 में दक्षिण रूस के मजदूरों का ट्रेडयूनियन ओडेसा में बना जो महज आठ-नौ महीनों तक अस्तित्व में रहा और जारशाही ने उसे कुचल डाला. उसके बाद ट्रेडयूनियन गठन का दूसरा प्रयास 1878 (नार्दर्न यूनियन ऑफ रसियन वर्कर्स) सेंट पीटर्सवर्ग में हुआ. इसके नेता खाल्तुरिन (बढ़ई) और ओब्र्नोस्की (फिटर) थे. उसके कार्यक्रम में कहा गया था कि इसका उद्देश्य पश्चिमी यूरोप के सामाजिक जनवादी पार्टी के कार्यक्रम के समान है. यह दीर्घकालिक उद्देश्य था. तात्कालिक उद्देश्य में जनता के लिए राजनीतिक आजादी तथा राजनीतिक अधिकार हासिल करना था. तात्कालिक मांगों में काम के घंटे कम करने की मांग भी शामिल थी. थोड़े ही दिनों में जारशाही ने इस यूनियन को भी कुचल दिया. लेकिन मजदूरों के बीच असंतोष बढ़ता रहा और आंदोलन की चिंगारियां फूटती रहीं.

मजदूर हड़तालों की शृंखला में मोरोजोवी मिल की हड़ताल ऐतिहासिक मानी जाती है. इस कारखाने में कार्यरत 8,000 मजदूरों का जीवन नारकीय था. मजदूरी घटा देना तथा मजदूरों पर दण्ड लगाना आम बात हो गयी थी. 1882 और 1884 में दो बार मजदूरी घटायी गयी थी और 1885 में तो एक ही झटके में 25% मजदूरी घटा दी गयी. हड़ताल के बाद मजदूरों पर चले मुकदमों के दौरान उजागर हुआ कि मजदूरों की एक रूबल की कमाई में 30-50 कोपेक तक की राशि आर्थिक दंड के रूप में पूंजीपतियों की जेब में चली जाती थी.

इस हड़ताल की तैयारी पहले से कर ली गयी थी. इसके नेता प्योत्र मोइसियेन्को थे. वे नार्दर्न यूनियन के सदस्य रहे थे और उन्होने क्रांतिकारी आंदोलन का कुछ अनुभव हासिल कर लिया था. इसका लाभ उठाते हुए प्योत्र और हड़ताल के अग्रेणी नेताओं ने गुप्त बैठक में अपना मांग पत्र भी तैयार कर लिया था जिसमें सर्वोपरि मांग थी-दंड लगाने की खूंखार प्रथा का खात्मा. सैन्य बल के हस्तक्षेप से इस हड़ताल को दबा दिया गया. 600 से अधिक मजदूर गिरफ्तार किये गये और बीसियों पर मुकदमा चलाया गया.

इसके बावजूद उसी साल अन्य कारखानों में भी हड़तालों का विस्फोट हुआ. इन सबके दबाव में जारशाही एक कानून बनाने को मजबूर हुई कि मजदूरों पर अर्थदंड से प्राप्त राशि

पूंजीपतियों की जेब में नहीं जायेगी, मजदूरों की भलाई के लिए उसे खर्च किया जायेगा- यह मजदूरों की जीत थी. अत्यंत छोटी जीत, लेकिन काफी महत्वपूर्ण.

जिस समय मजदूरों का संघर्ष नयी-नयी ऊंचाइयां छू रहा था, जारशाही के हर दमन का मुकाबला कर रहा था, उसी समय क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों का निर्वासित खेमा इन संघर्षशील मजदूरों के बीच मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार का हर संभव प्रयास कर रहा था. इसमें प्लेखानोव की भूमिका की विस्तृत चर्चा हम कर चुके हैं. इस कार्यभार को आगे बढाते हुए मार्क्सवाद को मजदूरों की राजनीतिक गतिविधियों के दिशा-निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्थापित करने तथा रूसी क्रांति को विजय की मंजिल तक पहुंचाने का काम लेनिन ने पूरा किया.

लेनिन जिस समय (1890 के दशक में) रूस की क्रांतिकारी राजनीति में प्रवेश कर रहे थे, उस समय देश के औद्योगिक विकास की रफ्तार बहुत तेज थी, मजदूरों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही थी और यह वर्ग देश के राजनीकिक जीवन में उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण होता जा रहा था. 1880 के दशक में नरोदवाद की पराजय का जो दौर शुरू हुआ था, वह पूरा हो चुका था तथा सैद्धांतिक स्तर पर प्लेखानोव मार्क्सवाद को भावी क्रांति के मार्ग दर्शक सिद्धांत के रूप में स्थापित कर चुके थे.

इसलिए लेनिन ने थोड़े से मजदूरों के बीच मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार से आगे बढ़कर इसे आंदोलन के माध्यम से मजदूरों की विशाल आबादी के बीच ले जाने का कार्यभार स्वीकार किया. इसकी शुरूआत 1895 में उन्होने सेंटपीटर्स वर्ग से की. मजदूरों के बीच संगठित सभी मार्क्सवादी अध्ययन मंडलों को एकजुट कर उन्होने लीग ऑफ स्ट्रगल फॉर इमेनसिपेशन ऑफ वर्किंग क्लास का गठन किया. रूस में यह पहला संगठन था जिसने समाजवाद और मजदूर आंदोनल को एक साथ जोड़ने का काम शुरू किया.

1896 में लीग ऑफ स्ट्रगल के नेतृत्व में 30,000 टेक्सटाइल मजदूरों ने हड़ताल की. उनकी मुख्य मांग काम के घंटे कम करने की थी. इन हड़तालों के दबाव में ही जारशाही ने 2 जून 1897 को 11½ घंटों के श्रम दिवस का कानून बनाया. लेनिन और उनके महत्वपूर्ण सहयोगी 1895 में गिरफ्तार कर लिये गये थे. उनकी गिरफ्तारी के बाद लीग के नेतृत्व में महत्वपूर्ण बदलाव आया. नया नेतृत्व इस विचार का प्रचारक था कि मजदूरों को अपना संघर्ष सिर्फ आर्थिक मुद्दों पर केंद्रित रखना चाहिए. राजनीतिक मुद्दों पर संघर्ष करना मजदूरों का काम नहीं है, यह काम उदारवादी पूंजीपतियों का है. बाद में ऐसे ही लोगों को अर्थवादी के रूप में चिह्नित किया गया. रूस के मजदूर वर्ग के राजनीतिक आंदोलन में ये लोग पहले समझौतापरस्त और अवसरवादी लोग थे. अर्थवाद रूस में जन्म ले रही सामाजिक जनवादी धारा में दिखाई पड़ने वाली कोई अलग थलग परिघटना नहीं थी. इसकी जड़े अंतरराष्ट्रीय सामाजिक जनवादी आंदोलन में थी. इसके खिलाफ लेनिन के सुसंगत सैद्धांतिक संघर्ष की चर्चा हम बाद में करेंगे.

पार्टी निर्माण की प्रक्रिया

रूस में मजदूरों की बढ़ती आबादी, राज-ब रोज के संघर्ष में उनकी बढ़ती भागीदारी और क्रांतिकारी सिद्धांत के रूप में उनके बीच मार्क्सवाद की बढ़ती लोकप्रियता के माहौल में रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी (आरएसडीएलपी) की पहली कांग्रेस मार्च 1898 में मींस्क में हुई. इस ऐतिहासिक काम का श्रेय लेनिन द्वारा स्थापित लीग ऑफ स्ट्रगल (पीटर्सवर्ग, मास्को, कीव आदि) तथा बुंद को जाता है. बुंद यहुदियों का सामाजिक जनवादी संघ था. इस क्रांग्रेस ने कीव से प्रकाशित 'राबोचाया गाजेता' को अपना मुखपत्र स्वीकार किया. 1897 में इस पत्रिका के दो अंक प्रकाशित हुए थे-अगस्त और दिसंबर में. तीसरा अंक नहीं निकल पाया. जार की पुलिस ने इस पत्रिका के मुद्रण कार्यालय को बंद कर दिया . नवगठित पार्टी की केंद्रीय कमिटी के सभी सदस्यों को भी गिरफ्तार कर लिया गया.

इस कांग्रेस में छह संगठनों के मात्र नौ प्रतिनिधि शामिल हुए थे. इनमें लेनिन नहीं थे. वे उन दिनों साइबेसिया में निर्वासन का दण्ड भोग रहे थे. रूस में सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी बनाने का यह पहला प्रयास था. ऐतिहासिक कार्यकलाप के लिहाज से तथा पार्टी निर्माण की सतत प्रक्रिया की समझ हासिल करने के लिहाज से इस कांग्रेस का चाहे जो महत्व हो, लेकिन उस समय के रूस के क्रांतिकारी आंदोलन को दिशा देने और आगे बढ़ाने के लिहाज से इसका कोई खास महत्व नहीं बन पाता. वास्तविक पार्टी का निर्माण हुआ 1903 की दूसरी कांग्रेस और 1905 की तीसरी कांग्रेस में. फिर भी इस कांग्रेस ने वह परिस्थिति पैदा की और उन सैद्धांतिक कमजोरियों को उजागर किया जिनके खिलाफ संघर्ष कर वास्तविक पार्टी निर्माण की जमीन तैयार की गयी. और यह काम लेनिन ने किया.

इस संगठन की कई कमजोरियां थीं. इसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी कि मजदूर वर्ग द्वारा राजसत्ता पर कब्जा के सवाल को नजरअंदाज कर दिया गया था. उसकी दूसरी कमजोरी थी कि पार्टी पर मजदूर वर्ग के वर्चस्व की कोई चर्चा नहीं थी और तीसरी कमजोरी थी कि इसमें जारशाही तथा पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष में मजदूर वर्ग के सहयोगी वर्गों को चिह्नित नहीं किया गया था. इनके साथ ही दूसरी कमजोरियां भी थीं. कई मार्क्सवादी अध्ययनमंडल इसके बाहर रह गये थे, जिन्हें संगठन में समेटा जा सकता था. संगठन के काम करने के लिए एक रूप नियम तय नहीं किये जा सके थे.

इन कमजोरियों का नतीजा था कि नीचले स्तर पर संगठन में वैचारिक उहापोह की स्थिति पैदा हुई और मजदूर आंदोलन में अवसरवाद की जमीन तैयार होने लगी.

रूसी सर्वहारा वर्ग के इतिहास में 1884-94 का काल नरोदवाद पर मार्क्सवाद की जीत और सामाजिक जनवादी पार्टी के निर्माण की तैयारी के लिए जाना जाता है, तो 1898 के तुरंत बाद की अवधि उहापोह अर्थवादी भटकाव और आंतरिक टूट-फूट के

लिए इसलिए पहली अवधि में प्लेखानोव के सामने सबसे महत्वपूर्ण काम था, ऐसे लोग व ऐसी स्थिति तैयार करना जहां मार्क्सवादी पार्टी की संरचना खड़ी की जा सके, दूसरी अवधि में युवा लेनिन के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी अर्थवाद की उभरती धारा के खिलाफ वैचारिक संघर्ष करना, अवसरवाद और मार्क्सवाद के बीच सुस्पष्ट रेखा खींचना तथा अवसरवादियों को निकालकर मार्क्सवादी तत्वों को एक अनुशासित पार्टी में संगठित करना.

आज उस प्रक्रिया पर गौर करना जरूरी है जिसे अपनाकर लेनिन अवसरवाद पर विजय पाने में सफल हुए, क्योंकि हम उस समय से भी कठिन दौर से गुजर रहे हैं.

अर्थवाद सिर्फ रूसी सामाजिक जनवाद की समस्या नहीं थी. इसकी उत्पति का केंद्र खुद इंटरनेशनल था और उसके जनक जर्मनी के एडुअर्ड बर्न्सटीन और फ्रांस के अलेक्सांद्र मिलेरां थे. इनमें मुख्य सिद्धांतकार बर्न्सटीन थे. उनकी ख्याति का आकलन इस तथ्य से किया जा सकता है कि एंगेल्स की मृत्यु के बाद उनकी साहित्यिक (वस्तुतः राजनीतिक) विरासत को सहेजने और प्रकाशित करने का कार्यभार अगस्त बेबेल के साथ उन्हीं को सौंपा गया था. लेकिन 1897-98 में ही उन्होने पासा पलट दिया. 1899 में उनकी पुस्तक **'समाजवाद की पूर्वापेक्षाएं और सामाजिक जनवाद के कार्यभार'** प्रकाशन के बाद उनका असली चेहरा सामने आया.

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि 'कम्युनिसट पार्टी का घोषणापत्र', 'पूंजी' और अन्य रचनाओं में मार्क्स-एंगेल्स के कई विचार या तो गलत हैं या पुराने पड़ चुके हैं. इसलिए उनके सिद्धांतों को सुधारने और विकसित करने का काम उनकी आलोचना के साथ शुरू होना चाहिए. उनके इस विश्लेषण के फलस्वरूप मार्क्सवादियों के बीच एक खेमा पैदा हुआ जो रूस में 'आलोचना की स्वतंत्रता' का बहुत बड़ा हियायती बन गया. ये लोग मार्क्सवाद की कैसी आलोचना चाहते थे, इसकी व्याख्या लेनिन ने अपनी पुस्तक (क्या करें) में विस्तार से की.

उस आलोचना की दिशा की एक झलक बर्नस्टीन की रचना में भी मिलती है. उन्होने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के मार्क्स के सिद्धांतो को खारिज किया और कांट के दर्शन की ओर लौट जाने की सलाह दी. वे यह कहने की हद तक गये कि बेशी मूल्य का सिद्धांत महज परिकल्पना पर आधारित है और इसे प्रमाणित कर पाना मुश्किल है. आज यही बात लोहियावादी और किस्म-किस्म के अन्य समाजवादी इस तरह दोहराते हैं, मानो उन्होने कोई अनुपम खोज कर डाली है. मार्क्सवाद की आत्मा 'सर्वहारा अधिनायकत्व' को खारिज करते हुए उन्होने कहा कि यह गलत और लुप्त हो जाने वाली अवधारणा है.

पूंजीवादी राजसत्ता को नष्ट करने की मार्क्सवादी अवधारणा के विपरीत बर्न्सटीन की सलाह थी कि मजदूर वर्ग को वर्तमान राजसत्ता को इतना सक्षम बनाना चाहिए कि वह

सामाजिक सुधार का लीवर बन जाय और इसके बाद ही वे उसके विलोप की कल्पना कर सकते हैं. पूंजीवादी राज्य के विलोप का सिद्धांत गढ़ने वाले बर्न्सटीन ने हिंसात्मक गतिविधियों और जनता की कार्रवाइयों को विध्वंस की श्रेणी में रखते हुए मजदूरों को पूंजीपतियों के साथ मिलकर सुधार आंदोलन चलाने का गुर सिखाया.

चलते-चलते यह भी समझ लिया जाय कि इस बर्न्सटीनवादी बकवास का स्रोत क्या था? इसका स्रोत पूंजीवादी जगत में 1890 के दशक का तात्कालिक उछाल था. इससे उन्होने निष्कर्ष निकाला कि गांव से शहर तक मालदार तबकों की संख्या बढ़ रही है, कार्टेल और ट्रस्ट की स्थापना के बाद से अति उत्पादन और संकट बीते दिनों की बात हो गये हैं, सर्वहारा की दरिद्रता के दिन लद गये हैं, वर्ग अंतर्विरोध मिटने लगे हैं तथा वर्ग संघर्ष अतीत की चीज बन गया है. अंतिम निष्कर्ष के तौर पर देखा जाय तो उनका निष्कर्ष था - 'जिस बात को समाजवाद का अंतिम लक्ष्य कहा जाता है, वह मेरे लिए कुछ भी नहीं है, जबकि आंदोलन ही सब कुछ है'. इसका मतलब है कि आंदोलन की दिशा कुछ भी नहीं, गति सब कुछ है.

बर्न्सटीन के इस पतन के खिलाफ़ लगभग सारे ख्याति प्राप्त नेता, काउत्स्की, बेबेल, लिब्नेख्त, प्लेखानोव, मेहरिंग पूरी दृढ़ता के साथ खड़े हुए. आज एक बार फिर मार्क्सवादी नामधारी कई संगठनों के कार्यकलापों पर बर्न्सटीनवाद हावी है और इसी चाल-चलन और संस्कृति में पली-बढ़ी मजदूरों और बुद्धिजीवियों की पीढ़ी इसे ही असली मार्क्सवाद समझने की आदी हो चुकी है.

यह था रूसी अर्थवाद का अंतर्राष्ट्रीय स्रोत. लेकिन सिर्फ इतना ही जान लेने से बात खत्म नहीं होती. हमें यह समझना पड़ेगा कि रूस में अर्थवाद की जड़ें कहां थीं और उन्हें खुराक कहां से मिल रहा था.

1890 के दशक में मार्क्सवाद की एक और एकांगी व्याख्या हुई जिसमें उस पक्ष को उजागर किया गया जहां मार्क्स-एंगेल्स ने पूंजीवाद की भरपूर तारीफ की थी. इन दोनों विचारकों ने यह काम सामंतवाद को ध्वस्त कर समाज को अग्रगति देने में पूंजीवाद की भूमिका को लेकर किया था और समाज के एतिहासिक विकास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को समझने के लिए यह जरूरी भी था. जिन बुद्धिजीवियों ने इस काम को अंजाम दिया उन्हें रूस के इतिहास में 'कानूनी मार्क्सवादी' के रूप में जाना जाता है. आगे चलकर वे लोग 'संवैधानिक जनवादी पार्टी' (पूंजीवादी पार्टी) के मुख्य स्तंभ बने और इसके नेता पीटर स्त्रूवे थे. स्त्रूवे इस सोच के कायल थे कि रूस सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा देश है और आगे बढ़ने के लिए उसे पूंजीवादी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने की जरूरत है.

जिस समय जारशाही का ध्यान पूरी तरह नरोदवादियों से निबटने में था, उस समय

'कानूनी मार्क्सवादी' अखबारों में खुला लेख लिखकर अपना प्रचार-प्रसार किया करते थे. इस मंच का उपयोग उस समय लेनिन जैसे सच्चे मार्क्सवादियों ने भी किया था. ऐसा करना लाभप्रद था, लेकिन इसी से मार्क्सवादी खेमे में घाल-मेल की स्थिति पैदा हुई. सैद्धांतिक रूप से कमजोर तत्व उधर आकर्षित हुए तथा अर्थवाद की धारा को मजबूत आधार मिला. 1899 में रूस के अर्थवादियों के एक समूह ने (प्रोपोकोविच के नेतृत्व में) एक घोषणा पत्र जारी करते हुए अपील की कि सर्वहारा वर्ग की स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी बनाने की बात त्याग दी जानी चाहिए. यह बात बर्न्सटीन की बात से कितना मेल खाती है ! बाद में ये लोग संवैधानिक जनवादी बन गये.

लेनिन ने अर्थवादियों से जमकर संघर्ष किया और क्रांतिकारी पार्टी बनाने पर जोर दिया. इस काम की शुरूआत उन्होंने 'इस्क्रा', नामक रूसी अखबार से की. इसका काम 'सामाजिक जनवाद' की विचारधारा का प्रचार करना तथा उसके इर्द-गिर्द क्रांतिकारियों को इकट्ठा करना था. लेनिन की शिक्षा के आधार पर अर्थवाद की कुछ खास विशिष्टताओं को इस प्रकार चिह्नित किया जा सकता है :

✦ अर्थवादी मजदूरों के बीच राजनीतिक चेतना पैदा करने के सजग व सचेत प्रयास के विपरीत उनके स्वतः स्फूर्त विकास की वकालत करते हैं.

✦ वे मजदूरों को पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों के विरोध में सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक पार्टी बनाने की जगह ट्रेड यूनियन संघर्ष तक सीमित रखने की कोशिश करते हैं.

✦ अर्थवादी आर्थिक संघर्ष पर ज्यादा जोर देते है और राजनीतिक संघर्षों की अवहेलना करते हैं. ऐसा कर वे मजदूरों को पूंजीवाद का पिछलग्गू बना देते हैं.

✦ अर्थवादी संघर्ष के स्थानीय मुद्दों को ज्यादा तरजीह देते है और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों की उपेक्षा करते हैं.

लेनिन ने मजदूरों के बीच मार्क्सवादी सिद्धांत के महत्व को स्थापित करते हुए दो बातों पर जोर दिया. पहली बात यह कि आर्थिक व राजनीतिक संघर्षों के साथ ही सैद्धांतिक संघर्ष निहायत जरूरी है और क्रांति का नेतृत्व वही पार्टी कर सकती है जो सबसे उन्नत सिद्धांत से निर्देशित होती है. तब यहीं से अहम सवाल पैदा होता है कि मजदूरों और किसानों के बीच यह सिद्धांत जाये कैसे और ले जाये कौन? इन्हीं सवालों के जवाब के क्रम में लेनिन ने दूसरी बात पर जोर दिया कि मजदूरों के बीच सैद्धांतिक ज्ञान हमेशा बाहर से जाता है यानी ट्रेडयूनियन के दिन ब दिन चलने वाले आर्थिक संघर्षों के बाहर से और उनके बीच इस ज्ञान को ले जाने का काम क्रांतिकारी बुद्धिजीवी करते हैं. उन्नत पूंजीवादी देशों में यह संभव था कि मजदूर वर्ग के बीच से भी ऐसे बुद्धिजीवी पैदा हो जायें, लेकिन रूस जैसे पिछड़े पूंजीवादी देश में मजदूर वर्ग को इस काम के लिए निम्नपूंजीवादी बुद्धिजीवियों पर ही निर्भर रहना पड़ा था.

इस बहस के माध्यम से लेनिन क्रांतिकारी पार्टी के निर्माण के बुनियादी सूत्रों व शर्तों की रचना कर रहे थे. इस क्रम में उन्होने दो सवालों का बेबाक उत्तर देकर सभी दुविधाओं का अंत कर दिया. वे सवाल थे-मजदूरों के ट्रेडयूनियन और मजदूर वर्ग की पार्टी में क्या फर्क है तथा अर्थवाद और आतंकवाद में क्या समानता है? इन दोनों सवालों के जवाब लेनिन के शब्दों में ही जान लेना ज्यादा बेहतर होगा. पहले सवाल के जवाब में उनका कहना था कि : 'मजदूरों के संगठन को एक तो व्यावसायिक संगठन होना चाहिए; दूसरे उसे अधिक से अधिक व्यापक होना चाहिए, और तीसरे, उसके लिए जरूरी होता है कि वह कम से कम गुप्त हो'. इसके विपरीत 'क्रांतिकारियों के संगठन को सबसे पहले और मुख्यतया ऐसे लोगों का संगठन होना चाहिए जिन्होने क्रांति कार्य को अपना पेशा बना लिया हो. और चूंकि ऐसी विशेषता ऐसे संगठन के सभी सदस्यों में होनी चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि न केवल मजदूरों और बुद्धिजीवियों का भेद बल्कि अलग- अलग व्यवसायों तथा पेशों का सारा अंतर एकदम खत्म कर दिया जाये . ऐसे संगठन के लिए यह जरूरी है कि वह बहुत फैला हुआ न हो तथा अधिक से अधिक गुप्त हो'.

इसी कार्यभार को केंद्र में रखते हुए लेनिन ने पेशेवर क्रांतिकारियों के संगठन की वकालत की. इन पेशेकर क्रांतिकारियों के संगठन की मुख्य विशेषता होती है कि इसमें यह विभेद नहीं रहता कि वे मजदूर वर्ग से आये हैं या बुद्धिजीवियों के बीच से. इस जरूरत को लेनिन ने निम्नसूत्रों में निरुपित किया.

✦ नेताओं के एक स्थायी और आंदोलन का क्रम बनाये रखने वाले संगठन के बिना कोई भी क्रांतिकारी आंदोलन टिकाऊ नहीं हो सकता.

✦ जितने अधिक व्यापक पैमाने पर जनता स्वतःफूर्त ढंग से खिंचते हुए आंदोलन का आधार बनेगी और उसमें भाग लेगी, ऐसा संगठन बनाना उतना ही जरूरी होता जायेगा और इस संगठन को उतना ही ज्यादा मजबूत बनाना होगा.

✦ इस प्रकार के संगठन में मुख्यतया ऐसे लोगों को होना चाहिए जो अपने पेशे के रूप में क्रांतिकारी कार्य करते हों

✦ निरंकुश राज्य में इस प्रकार के संगठन की सदस्यता को हम जितना ही अधिक ऐसे लोगों तक सीमित रखेंगे जो अपने पेशे के रूप में क्रांतिकारी कार्य करते हों और जो राजनीतिक पुलिस को मात देने की विद्या सीख चुके हों.

✦ मजदूरों वर्ग तथा समाज के अन्य वर्गों के उतने ही अधिक लोगों के लिए यह संभव हो सकेगा कि वे आंदोलन में शामिल हों और उसमें सक्रिय काम करें.

इस संदर्भ में लेनिन की एक उक्ति याद करने लायक है. भौतिक विज्ञानी आर्कमीदिज ने कहा था कि तुम मुझे एक लीवर दे दो, जिसका केंद्र आसमान में हों तो मैं धरती को उलट

दूंगा. इसी तर्ज पर लेनिन की उक्ति है कि क्रांतिकारियों का संगठन दे दो, मैं किसी भी सरकार का तख्ता पलट दूंगा. लेकिन इसके साथ ही हिमालय पहाड़ की तरह विशाल प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसी शक्तियां आयेंगी कहां से, पैदा होंगी कैसे?

इस समस्या के समाधान के लिए हम फिर लेनिन के दूसरे सवाल की ओर लौटते हैं- आतंकवादियों और अर्थवादियों में क्या समानता है? लेनिन का जवाब है कि दोनों जनता की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने की दृष्टि से एक दूसरे के समान हैं. 'अर्थवादी और आतंकवादी स्वयंस्फूर्ति के दो अलग-अलग छोरों की पूजा करते हैं : अर्थवादी ''शुद्ध मजदूर आंदोलन''की स्वयंस्फूर्ति की पूजा करते हैं, जबकि आतंकवादी उन बुद्धिजीवियों के प्रज्जवलित क्रोध की स्वयंस्फूर्ति की पूजा करते हैं जिनमें क्रांतिकारी कार्य को मजदूर आंदोलन से जोड़ने की या तो क्षमता नहीं होती या इसका अवसर नहीं मिलता. जो लोग इस बात की संभावना में विश्वास खो चुके हैं या जिन्होने कभी इस पर विश्वास नहीं किया उनके लिए क्रोध या क्रांतिकारी क्रियाशीलता को व्यक्त करने के लिए आतंक के सिवाय कोई दूसरा मार्ग ढूंढ़ना सचमुच कठिन है.'

लेनिन का यह संघर्ष मार्क्सवाद में बड़ा योगदान बन गया. इसने अवसरवाद की वैचारिक और राजनीतिक जड़ों को लोगों के सामने ला दिया और क्रांतिकारी संगठन का नया मानदंड स्थापित कर दिया. मार्क्स की उक्ति थी : मजदूर वर्ग या तो क्रांतिकारी है या कुछ भी नहीं. लेनिन ने इस सूत्र को आगे बढ़ाया और उन तरीकों को स्थापित किया जिनकी बदौलत 'कुछ भी नहीं", को क्रांतिकारी गढ़ में बदला जा सकता है, शून्य से शुरू कर सर्वहारा क्रांति की विजय तक पहुंचा जा सकता है.

रूस की तत्कालीन सामाजिक स्थिति उस प्रक्रिया के शुरू किये जाने के अनुकूल बन गयी थी. बर्न्सटीन ने विश्व पूंजीवाद के आदमखोर चेहरे पर मानवप्रेमी होने का जो सुनहरा लेप चढ़ाया था, उसकी परतें चार-पांच वर्षों में ही छुटने लगी थीं. यूरोप 1902-03 के बीच औद्योगिक संकट में फंस गया, जिसका प्रभाव रूस पर भी पड़ा. इस संकट में एक लाख से ऊपर मजदूर बेरोजगार होकर सड़क पर आ गये और जो लोग नौकरी बचाने में सफल रहे उनके वेतन में कटौती की गयी. इससे मजदूरों में असंतोष फैला और सेंट पीटर्सबर्ग में मई 1901 में तथा बातुम में मार्च 1902 में जबर्दस्त हड़तालें हुईं. कई जगहों पर मजदूरों और पुलिस में टकराव की स्थिति पैदा हुई और मजदूरों के बीच से 'निरंकुश जारशाही मुर्दाबाद' के नारे लगने लगे. 1902 में यूक्रेन और बोल्गा क्षेत्र में किसान भी सड़कों पर आकर मजदूरों से हाथ मिलाने लगे, वे जमींदारों के महल फूंकने लगे,उनकी जमीन दखल करने लगे और मरने-मारने पर उतारू हो गये. विद्रोह की यह चिंगारी छात्रों-नौजवानों तक पहुंची और जारशाही को विश्वविद्यालय बंद करने पड़े तथा हजारों विद्यार्थी जेलों में ठूंस दिये गये. ✦✧✦

रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस

जुलाई 1903 में संपन्न सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस तथा 1905 की तीससी कांग्रेस रूसी क्रांति के इतिहास में मील का पत्थर बन गयी. इन्हीं दोनों कांग्रेस में पार्टी की मजबूत नींव रखी गयी और क्रांति की बुनियादी रणनीति तय की गयी थी. दूसरी कांग्रेस की शुरुआत ब्रसेल्स में हुई. लेकिन बाद में बेल्जियम की पुलिस ने प्रतिनिधियों से शहर छोड़ देने का आग्रह किया, इसलिए उसके बाद की बैठकें लंदन में हुईं. इसमें 26 संगठनों के 43 प्रतिनिधि शामिल हुए थे. इस कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य 'इस्क्रा' द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत व कार्यक्रम के आधार पर वास्तविक पार्टी का निर्माण करना था. कांग्रेस अपने मूल उद्देश्य को हासिल करने में सफल भी रही. इस कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम क्रांति के पूरे दौर में दिशा निर्देशक तत्व बने रहे. क्रांति के बाद संपन्न आठवीं कांग्रेस में ही इस कार्यक्रम और दिशा निर्देशक तत्वों को बदलकर नया कार्यक्रम स्वीकार किया गया.

ऐसा इसलिए संभव हो सका कि क्रांति से जुड़े सभी मसलों पर इस सम्मेलन में भरपूर बहस हुई. दूसरे शब्दों में कहें, तो 1898 की पहली कांग्रेस ने जिन प्रश्नों को अनछुआ छोड़ दिया था, इसमें उन सबको हल कर लिया गया. लेकिन इन सभी प्रश्नों पर कांग्रेस दो भागों में बंटी. उस समय विभाजन की जो रेखा खींची, वह बाद में खाई बनती चली गयी और 1917 की दोनों क्रांतियों में दोनों खेमों के नेता एक दूसरे के खिलाफ युद्धरत नजर आये. अक्तूबर क्रांति की विजय के बाद तो पूरी दुनिया में 'बोल्शेविक' शब्द क्रांतिकारी का पर्याय बन गया और 'मेंशिविक' अवसरवाद का. इस कांग्रेस की पूरी बहस मूलतः चार मुद्दों पर आधारित थी-सर्वहारा अधिनायकत्व, क्रांति में सर्वहारा वर्ग के सबसे विश्वस्त सहयोगी, पार्टी संचालन के नियम और तौर-तरीके तथा राष्ट्रीयता का प्रश्न.

रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी और तीसरी कांग्रेस एक दूसरे की पूरक थीं. दूसरी कांग्रेस ने पार्टी कार्यक्रम, सर्वहारा अधिनायकत्व की जरूरत, मजदूर वर्ग के सबसे विश्वस्त सहयोगी की पहचान तथा पार्टी की नियमावली जैसे मुद्दों पर तो निर्णय लिये, लेकिन कार्यनीति का सवाल हल नहीं हो सका था. 1905 की क्रांति में पार्टी की भूमिका तय करने के क्रम में यह प्रश्न इतना फौरी बनकर उभरा कि उसे टाला नहीं जा सकता था. अपने विरोधियों के साथ लेनिन की बहस के क्रम में यह स्थापित हुआ कि पार्टी की एकता के लिए सिर्फ सिद्धांत और कार्यक्रम के स्तर पर एकता काफी नहीं है (जैसा कि आजकल समझा जाता है). इसके लिए यह भी जरूरी है कि कार्यनीति के स्तर तक एकता हो. दूसरी कांग्रेस में पहले दो सवालों पर असहमति के बावजूद फूट को तत्काल टालते हुए एकता की कोशिश की गयी थी, तीसरी कांग्रेस में वह पक्की हो गयी.

मजदूर-किसान गठबंधन के प्रश्न पर लेनिन का नजरिया मार्क्सवाद में नया अध्याय

जोड़ने जैसा था. 'इस सिद्धांत के अनुसार कृषक समुदाय से सर्वहारा का गठबंधन बन जाने से पूंजीवादी क्रांति में सर्वहारा का नेतृत्व समाजवादी क्रांति में सर्वहारा के नेतृत्व में विकसित हो जायेगा. तब सर्वहारा अन्य मेहनतकश और शोषित जन समुदाय के साथ गठबंधन बनाकर मजदूरों-किसानों के जनवादी अधिनायकत्व पर अमल करते हुए सर्वहारा के समाजवादी अधिनायकत्व की जमीन तैयार करेगा'. यह था लेनिन का दृष्टिकोण.

इस दृष्टिकोण के अनुसार रूस की क्रांति विकसित यूरोपीय देशों में प्रचलित क्रांति की अवधारणा से अलग राह अपनाने जा रही थी. उन देशों में यह अवधारणा प्रचलित थी कि पूंजीवीदी जनवादी क्रांति पूंजीपति वर्ग पूरा करेगा और इसमें मजदूर वर्ग सहायक भूमिका निभायेगा. फिर एक लंबे अंतराल के बाद जब पूंजीवादी विकास एक खास मंजिल पर पहुंच जायेगा और जब मजदूर वर्ग देश की आबादी की बहुसंख्या हो जायेगा, तब वह समाजवादी क्रांति को अंजाम देगा. इसके विपरीत लेनिन इस धारणा पर बल दे रहे थे कि रूस की पूंजीवादी क्रांति पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में नहीं होगी, वह मजदूर वर्ग के नेतृत्व में मजदूर किसान संश्रय के बल पर संपन्न होगी तथा पूंजीवादी जनवादी कार्यभारों को पूरा कर समाजवाद के दौर में प्रवेश कर जायेगी.

इसके ठीक उलट प्लेखानोव का विचार था कि पूंजीपति और सर्वहारा से अलग हमारे देश में ऐसा कोई सामाजिक ताकत नजर नहीं आती जहां विपक्षी या क्रांतिकारी गठबंधन को समर्थन मिल सके.इन दोनों विचारों का अंतर बहुत स्पष्ट है. लेनिन के अनुसार रूस की पूंजीवादी जनवादी क्रांति में जारशाही के खिलाफ संघर्ष में रूसी सर्वहारा को अपना सहयोगी किसान समुदाय में खोजना था और प्लेखानोव के अनुसार पूंजीपति वर्ग में. इसी सूत्रीकरण में भावी क्रांति में इन दोनों नेताओं की परस्पर विरोधी भूमिका के बीज पड़ गये थे.

प्लेखानोव रूस के बदलते वर्गीय समीकरण की तस्वीर नहीं समझ पा रहे थे. वे तब भी एंगेल्स के विश्लेषण - जार रूसी किसानों का पाशिव ईश्वर है - की दुनिया में जी रहे थे, जबकि बीसवीं सदी के किसान मजदूरों से हाथ मिलाने को आतुर हो रहे थे. इस बदलाव को लेनिन ने परखा और उसे राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया.

कांग्रेस में बहस का तीसरा महत्वपूर्ण बिंदु था - पार्टी संगठन का स्वरूप. बहस इसी बिंदु से शुरू हुई कि पार्टी का सदस्य किसे बनाया जाये? लेनिन का मानना था कि पार्टी का सदस्य उसे होना चाहिए जो :

✦ पार्टी की नीति और कार्यक्रम को स्वीकार करता हो

✦ पार्टी कोष में आर्थिक सहयोग करता हो

✦ पार्टी के किसी संगठन में सक्रिय रूप से काम करता हो

मेंशेविक नेता मार्तोव को पहली दो बातें तो स्वीकार्य थीं, लेकिन अंतिम नहीं.

यह विवाद आकस्मिक नहीं था. इसके पीछे एक राजनीति थी. इसके अनुसार संगठन का स्वरूप देखकर समझा जा सकता है कि वह क्रांतिकारी सिद्धांतों और सूत्रों की लफ्फाजी कर रहा है या सचमुच उन्हें जमीन पर उतारने के प्रति गंभीर है. इससे यह बात भी तय होती है कि कोई व्यक्ति मार्क्सवाद का अध्ययन करने और उस पर भाषण देने तक को इच्छुक है या उसे सक्रिय रूप से लागू करने को भी.

लेनिन ने क्रांतिकारियों के संगठन और मजदूरों के संगठन में जिस तरह के अंतर की चर्चा अपनी पुस्तक 'क्या करें' में की थी, उसको व्यवहार में उतारने का सांगठनिक सिद्धांत यही हो सकता था. इस पर ध्यान दें तो एक बात साफ है कि लेनिन के सिद्धांत, राजनीतिक कार्यक्रम तथा उसे लागू करने के लिए संगठन के स्वरूप तय करने की समझ में एकरूपता थी. इसके विपरीत प्लेखानोव की समझ में न तो एकरूपता थी और न दृढ़ता. वे संगठन के स्वरूप के मामले में लेनिन की समझ के साथ थे, लेकिन मजदूर-किसान संश्रय और सर्वहारा अधिनायकत्व के मामले में नहीं.

इन दोनों कांग्रेसों का अगर संक्षिप्त मूल्यांकन किया जाय, तो वे रूसी क्रांति की बुनियादी प्रस्थापनाओं को रचने-गढ़ने और लागू करने की दिश में महत्वपूर्ण कदम साबित हुईं. लेकिन टूट-फूट और उहापोह का जो दौर 1898 के बाद शुरू हुआ था, उसका अंत नहीं कर सकीं. इसी कांग्रेस में रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी दो धड़ों में बंट गयी - बोल्शेविक और मेंशेविक - और कुछ लोग दोनों के बीच दोलन करते रहे. ऐसे लोगों में प्लेखानोव के साथ-साथ त्रॉत्स्की भी शामिल थे. ✦✧✦

1905 की क्रांति

दिसंबर 1905 की क्रांति रूसी क्रांति के इतिहास का अत्यंत महत्वपूर्ण पड़ाव थी. अक्तूबर क्रांति का रिहर्सल. इसलिए अक्तूबर क्रांति को याद करते समय यह समझना है कि उतना ही जरूरी है कि यह क्रांति किन परिस्थितियों में हुई और क्यों पराजित हो गयी? जैसा कि हम देख चुके हैं, बीसवीं सदी का आगमन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट के साथ हुआ था और रूस उसकी भंवर में फंस गया था. मजदूरों, किसानों से लेकर विश्वविद्यालय के छात्र और पूंजीपतियों का एक हिस्सा भी इसकी चपेट में आ गया था. यह थी भीतरी उबाल की स्थिति और रूस जापान युद्ध में रूस की पराजय ने इस स्थिति को और विस्फोटक बना दिया था.

क्रीमिया युद्ध में रूस की पराजय ने रूसी शासकों के एक खेमे को भी इस बात का एहसास करा दिया था कि जारशाही की पकड़ को ढीला किये बगैर रूस का विकास संभव नहीं है. इस पराजय ने इस भावना को दो कदम आगे बढ़ा दिया. क्रीमिया युद्ध में रूस की हार यूरोपीय देशों से हुई थी और उसका रूतबा यूरोप में घटा था, लेकिन इस युद्ध में उसकी हार एक एशियाई देश से हुई थी और उसमें एशिया पर यूरोप की श्रेष्ठता का मिथक टूटा था. वस्तुतः यह युद्ध साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध था और उसका उद्देश्य प्रशांत क्षेत्र पर कब्जा और चीन का बंटवारा था.

इस युद्ध की आधारशिला 1900 के पहले ही रखी चुकी थी. इसी वर्ष चीन में साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ चीनी जनता के विद्रोह को दबाने के लिए साम्राज्यवादी देशों (ब्रिटेन, जापान, जर्मनी, फ्रांस और रूस) ने संयुक्त सैन्य अभियान चलाया था. यह विंद्रोह तत्कालीन चीनी सामंती राज्य व्यवस्था व साम्राज्यवाद के गठजोड़ से दबा दिया गया और 1901 में एक संधि हुई जिसके तहत चीन को इस विद्रोह का हर्जाना भरना पड़ा और सैन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर सैनिक अड्डा बना दिया गया. इस युद्ध के पहले ही रूस ने पोर्ट आर्थर सहित चीन के महत्वपूर्ण भूखंड पर कब्जा जमा लिया था. उत्तरी मंचुरिया में रूस की रेलवे लाइन बिछ चुकी थी और उसकी देखभाल के लिए रूसी सेना अड्डा जमाये रहती थी. अब जार की नजर कोरिया पर थी और इस दिशा में उसने कदम बढ़ाया. यही जापान के साथ टकराव का कारण बना.

युद्ध की पहलकदमी जापान ने ली. जनवरी 1904 में उसने अचानक पोर्ट आर्थर में रूसी सैन्य अड्डा पर हमला कर दिया. साम्राज्यवादी शक्तियों का तत्कालीन सरगना ब्रिटेन गुप्त रूप से जापान को सहयोग कर रहा था. वह नहीं चाहता था कि उस क्षेत्र में रूस का दबदबा बढ़े. इस युद्ध में भारी बर्बादी हुई और रूस को हार पर हार झेलना पड़ा. जार और उसके सहयोगी ऐसा सोच रहे थे कि इस युद्ध की आड़ में अंधराष्ट्रवाद को हवा देकर वे

क्रांति का दमन करने में सफल हो जायेंगे. लेकिन नतीजा उल्टा हुआ और इस शर्मनाक हार ने क्रांति की ज्वाला भड़काने में घी का काम किया.

इस युद्ध के दौरान मेंशेविकों ने 'पितृभूमि की रक्षा' की नीति अपनायी और बोल्शेविकों ने जारशाही का विरोध किया. पितृभूमि का रक्षा की आड़ में मेंशेविक जारशाही (बड़े पूंजीपति और बड़े जमींदारों की सत्ता) का समर्थन कर रहे थे और बोल्शेविक जनता को यह समझा रहे थे कि इस युद्ध से उनका कोई लाभ नहीं होने वाला है और जारशाही की पराजय से बड़े पूंजीपतियों और भूस्वामियों की प्रतिष्ठा गिरेगी, वे कमजोर होंगे और उनकी कमजोरी मजदूरों-किसानों की मुक्ति के पक्ष में जायेगी. जारशाही की हार पर लेनिन की अत्यंत छोटी प्रतिक्रिया सब कुछ साफ-साफ कह देती है - पोर्ट आर्थर की हार निरंकुशता के पतन की शुरूआत है. यहां मेंशेविक पूंजीवादी (अंध) राष्ट्रवाद की वकालत कर रहे थे और बोल्शेविक सर्वहारा नीति की.

दिसंबर 1904 में बाकू तेल क्षेत्र के मजदूरों की सुसंगठित विशाल हड़ताल हुई. इस हड़ताल का नेतृत्व बोल्शेविकों की बाकू कमिटी कर रही थी. इसमें मजदूरों की जीत हुई और मालिकों और मजदूरों के बीच सामूहिक समझौता हुआ. रूस के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ था. इस विजय के ऐतिहासिक महत्व को रेखांकित करते हुए स्तालिन ने कहा - 'बाकू की हड़ताल पूरे रूस में जनवरी और फरवरी की शानदार कार्रवाइयों का संकेत थी'.

इस हड़ताल ने सचमुच एक चिंगारी का काम किया था. 3 जनवरी 1905 को सेंट पीटर्सबर्ग के कारखाने में हड़ताल शुरू हो गयी. यह हड़ताल चार मजदूरों की बर्खास्तगी के खिलाफ थी. उसके बाद जो हुआ, वह इतिहास में अजुबा था. मजदूरों के बीच काम करने वाला जार का एजेंट अनजाने ही क्रांति का वाहक बन गया. व्यवस्था के संचालकों ने क्रांति को भ्रमित करने के लिए जिस संरचना का निर्माण किया था, वही क्रांति का उत्प्रेरक बन गयी.

संकट का दौर शुरू होने के साथ ही दो प्रवृतियां समानांतर ढंग से बढ़ने लगीं. एक तरफ मजदूरों का ध्रुवीकरण सामाजिक जनवादी आंदोलन के पक्ष में होने लगा, तो दूसरी तरफ राजसत्ता ने मजदूरों को पथभ्रष्ट करने के प्रयास तेज कर दिये. इसके दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं - पहला जुबातोव मजदूर सोसायटी जिसका गठन 1902 में किया गया और जिसे रूसी इतिहास में 'पुलिस समाजवाद' के नाम से जाना जाता है और दूसरा 1904 में फादर गेपोन के नेतृत्व में 'असेम्बली ऑफ रसियन फैक्ट्री वर्कर्स ऑफ सेंट पीटर्सबर्ग'. इन दोनों संगठनों का हश्र इनके नेताओं की आशा के विपरीत हुआ. जुबातोव जारशाही का बड़ा पुलिस अधिकारी था और उसका उद्देश्य मजदूरों में इस विचार का प्रचार करना था कि जारशाही मजदूरों की सभी समस्याओं के समाधान में सक्षम है और ऐसा करने को इच्छुक भी, तब क्रांति की तरफ क्यों मुड़ना? लेकिन उसके विचार और संगठन क्रांति की आंधी में तिनके

की तरह बिखर गये. उसी तरह फादर गेपोन मजदूरों को यह समझाना चाहते थे कि जार जनता के पिता समान और करूणा का अवतार है. लेकिन इसी जार ने प्रजा को खून में डुबोकर साबित कर दिया कि शोषक वर्ग की सत्ता करूणा का प्रतीक नहीं होती और याचना की भाषा नहीं समझती, वह सिर्फ रणक्षेत्र और संघर्ष की भाषा समझती है.

अब इस फादर की भूमिका पर गौर करें. हड़ताल जब शुरू हुई, तो इस व्यक्ति ने अपने संगठन की बैठक में घातक योजना बनायी. इस योजना के अनुसार 9 जनवरी (रविवार) को सभी मजदूरों को जुटना था और चर्च के बैनर में जार की तस्वीर लेकर शांतिपूर्ण जुलूस में शरद प्रासाद (जार के निवास) की ओर प्रस्थान करना था जहां जार लोगों के सामने आकर दुख-दर्द सुनता. इस जुलूस में मजदूर और उनके परिवार के बच्चे-बूढ़े सभी शामिल हुए और सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर करीब डेढ़ लाख लोग जमा हो गये. जार ने दुख दर्द सुनाने आयी ''अपनी संतानों'' का स्वागत गोलियों से किया. जो जारशाही जापानी हमले में पीठ दिखाकर भाग रही थी, वही निरीह-निहत्थे मजदूरों पर गोलियां बरसा रही थी. जारशाही की इस राक्षसी कार्रवाई में हजार से ऊपर लोग मारे गये और दो हजार से ज्यादा लोग घायल हो गये. सेंट पीटर्सबर्ग की सड़कें मजदूरों के खून से लथपथ हो गयीं और वह दिन रूस के इतिहास में 'खूनी रविवार' के रूप में कुख्यात हो गया. इस जुलूस में सेंट पीटर्सबर्ग के बोल्शेविक मजदूर भी शरीक थे और उनकी जानें भी गयी थीं. उन्हीं का प्रभाव था कि इस मांग पत्र में कई राजनीतिक मुद्दे जोड़े गये थे. जब मजदूरों की खुली सभा में मांग पत्र पढ़ा जा रहा था, तब उस मंच से बोल्शेविक मजदूरों ने भी अपनी बातें रखीं, हालांकि संगठन की अपनी पहचान का खुलासा नहीं किया. इस प्रभाव में मांग पत्र में निम्नलिखित राजनीतिक मांगें शामिल की गयीं :

प्रेस की आजादी, बोलने और संगठन बनाने की आजादी, रूस की राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव के लिए संविधान सभा का गठन, कानून के सामने सबकी समानता का अधिकार, राज्य से चर्च का अलगाव, युद्ध का खात्मा और किसानों के हक में जमीन का हस्तांतरण.

यह फादर गेपोन की उदारता का परिचायक नहीं था. उल्टे, यह मजदूरों की राजनीतिक चेतना का परिचायक था. जारशाही का वह एजेंट भलीभाँति जानता था कि ये मांगे उस व्यवस्था में पूरी नहीं हो सकतीं, लेकिन मजदूरों की भड़ास जरूर निकल सकती है.

इस जनसंहार के बाद मजदूर आंदोलन का विस्फोट पूरे रूस में फैल गया. 'खूनी रविवार' की शाम को ही सेंट पीटर्सबर्ग के मजदूर इलाकों में बैरिकेड खड़े होने लगे. मजदूरों का कहना था 'जार ने यह हमें दिया, अब हम उसे देंगे'. रूसी जनता के खिलाफ जारशाही के जघन्य अपराध की खबरें आग की लपटों की तरह फैल गयीं. इसके फलस्वरूप मजदूरों के मन में जारशाही के गुस्सा और घृणा का ऐसा संचार हुआ कि पूरे देश में खलबली मच

गयी. शायद ही कोई शहर बचा हो जहां मजदूरों ने जारशारी के खिलाफ किसी न किसी रूप में राजनीतिक आंदोलन न खड़ा किया हो. उनका नारा था - निरंकुशता का नाश हो ! सिर्फ जनवरी के महीने में लगभग 4,40,000 मजदूर हड़ताल में शामिल हुए. दशाब्दी का काम एक महीने में हुआ, आर्थिक संघर्ष ने राजनीतिक विस्फोट का रूप धारण कर लिया और इस प्रकार रूस में क्रांति का बिगुल बज गया.

मजदूरों की यह आवाज गाँवों तक पहुंची. किसानों ने बड़ी-बड़ी जमींदारियों पर धावा बोलना शुरू कर दिया. मजदूर-किसान गठबंधन की बोल्शेविक नीति व्यवहार में सही साबित हुई. किसानों की मांग थी - जमींदारियों को जब्त कर किसानों के हवाले किया जाय. वे सिर्फ मांग करने तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उनपर धावा बोलना भी शुरू कर दिया. किसान विद्रोह को दबाने के लिए सेना के जवानों और कज्जाकों के दल भेजे गये. गोलियां चलीं, आंदोलन के नेता गिरफ्तार किये गये और उन्हें यातनायें दी गयीं. लेकिन किसान संघर्ष रूका नहीं. वह विशाल रूस के पूरे मध्य भाग में फैल गया. सामाजिक जनवादी पार्टी का प्रभाव विस्तार भी उसी अनुपात में होता रहा.

खूनी रविवार रूसी क्रांति के इतिहास में महत्वपूर्ण मोड़ बन गया. ऐसा तीन अर्थों में हुआ. मजदूर आर्थिक संघर्ष के दायरे से आगे बढ़ गये, उनके संघर्ष का विस्तार एक शहर से दूसरे शहर में तथा एक औद्योगिक क्षेत्र से दूसरे औद्योगिक क्षेत्र में होता चला गया और उसने अपने आगोश में किसानों, छात्रों, नौजवानों और सैनिकों तक को समेट लिया. दूसरी तरफ स्थिति यह हो गयी कि मजदूर जार की सशस्त्र पुलिस के खिलाफ हथियारबंद होकर टकराने लगे. सेंट पीटर्सबर्ग, मास्को, वार्सा, रीगा और बाकू मजदूर संघर्ष के मुख्य केंद्र के रूप में उभरे. इसी वर्ष मई दिवस के अवसर पर वार्सा में मजदूरों और सशस्त्र बल के बीच खूनी संघर्ष ऐतिहासिक बन गया. पोलिश सामाजिक जनवादियों के आह्वान पर मजदूरों ने जारशाही के इस कत्ले-आम का जवाब आम हड़ताल से दिया. लोद्ज (पोलिश औद्योगिक केंद्र) में मजदूरों और सशस्त्र बलों का संघर्ष नया आयाम छूने लगा था. यहां आम राजनीतिक हड़ताल और सशस्त्र संघर्ष दोनों एकसाथ घुलमिल गये थे. लेनिन ने इस घटना को विशेष महत्व दिया और इसे रूस में मजदूरों का पहला सशस्त्र संघर्ष कहा.

ऐसे ही साहसिक संघर्ष का परिचय दिया था इवानोवो वोज्नोसेंश्क के मजदूरों ने. इनकी हड़ताल दो महीनों से ऊपर तक चलती रही. इसका नेतृत्व बोल्शेविकों की उत्तरी कमिटी कर रही थी. हड़ताल को कुचलने के लिए जारशाही को यहां भी गोलियां चलवानी पड़ी. इस क्रांति ने रूसी जनता के भीतर जैसा उत्साह पैदा किया था, जारशाही के खेमे में उतनी ही हताशा की स्थिति थी. काउंट विट्टे ने उस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया : उस समय हर व्यक्ति पागल हो गया था या कम से कम अधिकांश लोग पागल हो गये थे. सभी

जन प्रतिनिधित्व के अतिवादी जनतांत्रिक सिद्धांत पर रूसी साम्राज्य के पुनर्निर्माण की मांग कर रहे थे.

दूसरी ओर जारशाही के भीतर अफरा-तफरी जैसी स्थिति पैदा हो गयी थी. पता नहीं चल पाता था कि आखिर सत्ता का केन्द्र कहां है ! सुबह में सभी चर्चों से जार की घोषणा जारी की गयी जिसमें क्रांति को कुचल देने की बात कही गयी. दोपहर में सीनेट ने अपनी घोषणा के माध्यम से नागरिकों से अपील की कि वे सत्ता संरचना में सुधार के लिए जार के पास अपने सुझाव भेजें. शाम में मंत्रियों और स्टेट कौंसिल के कई सदस्यों के साथ जार की मंत्रणा हुई. मंत्रियों और सभासदों की सलाह थी कि समाज के संवेदनशील तबकों की चिंताओं को दूर करते हुए कुछ सुधार किये जाने चाहिए. इस सुझाव पर नाराजगी जाहिर करते हुए जार ने कहा - लगता है, आप लोग क्रांति से डर चुके हैं. इस पर हाल ही में बहाल हुए गृहमंत्री अलेकजेंडर बुलिगिन ने सहमते हुए कहा - महामहीम, क्रांति शुरू हो चुकी है.

मजदूरों का यह बलिदान बेकार नहीं जा रहा था. उनके इसी बलिदान के फलस्वरूप रूस में मजदूर-किसान के साथ सशस्त्र जवानों की एकता की नयी जमीन तैयार हो रही थी. किसानों के बढ़ते विद्रोह का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं. यहां काला सागर में स्थित युद्धपोत के नाविकों का विद्रोह उल्लेखनीय है. यह सैन्य बलों का पहला विद्रोह था. यह युद्धपोत ओडेशा (औद्योगिक क्षेत्र जो मजदूर हड़ताल की चपेट में था) के निकट अवस्थित था. इस पोत के नाविकों ने विद्रोह किया और उसे ओडेशा में ला दिया. ये सैनिक मजदूरों-किसानों के पक्ष में खड़े थे. हालांकि जारशाही ने इस विद्रोह को तुरंत दबा दिया, लेकिन सितंबर-अक्तूबर में क्रांति का ऐसा उभार पैदा हुआ कि रूस का हर इलाका, उसके आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक जीवन का हर क्षेत्र उसकी चपेट में आ गया. मजदूर वर्ग के नेतृत्व में रूसी राजनीतिक संघर्ष का यह पहला अनुभव था.

मजदूर हड़ताल की व्यापकता और तीव्रता को देखते हुए जारशाही भय से कांप उठी थी. इस स्थिति से निपटने के लिए उसने दोहरा कदम उठाया. 17 अक्तूबर 1905 को घोषणा-पत्र जारी कर उसने रूस को पूंजीवादी जनवाद में बदलने की दिशा में कदम बढ़ाने का इरादा जताया. उसने लोगों की व्यक्तिगत सुरक्षा की गारंटी, उनके बोलने, सभा करने और संगठन बनाने जैसे अधिकारों को अक्षुण बनाये जाने का वायदा किया. इसके साथ ही उसने डुमा के गठन का निर्णय लिया जिसमें प्रतिनिधि चुनने के लिए वोट देने का अधिकार सभी वर्गों के लोगों को दिया गया. इतिहास में इसे बुलिगिन दुमा के नाम से जाना जाता है.

ये सुंदर घोषणायें थीं. लेकिन दूसरी ओर समाज के वास्तविक जीवन में अत्यंत वीभत्स घटनायें घट रही थीं. जनता को बांटने के लिए यहुदियों के जनसंहार रचाये जा रहे थे तथा पुलिस की देखरेख में गुंडा गिरोह संगठित किये जा रहे थे. इस तरह के संगठनों को तैयार

करने में प्रतिक्रियावादी जमींदारों, व्यापारियों, चर्च के पुरोहितों और अवारा अपराधी तत्वों की भूमिका महत्वपूर्ण थी. ये प्रतिक्रियावादी गिरोह 'ब्लैक हंड्रेड्स' के रूप में कुख्यात हुए. मतलब यह कि एक तरफ जनतंत्र की घोषणा हो रही थी और दूसरी तरफ जनतंत्र की भ्रूण हत्या - यह था तत्कालीन रूसी समाज का सच.

रूस की वर्ग सचेत जनता इस सच को समझ भी रही थी और अपने शब्दों में व्यक्त भी कर रही थी : 'मरे लोगों के लिए मुक्ति और जिन्दा लोगों के लिए जेल'. यह सच चाहे जितना वीभत्स रहा हो, लेकिन इसमें जारशाही की पराजय और जनता की जीत के बीज छुपे हुए थे. इस दोहरे सच को लेनिन ने रूसी समाज में आये शक्ति संतुलन में अस्थायी बदलाव के रूप में देखा. उन्होंने माना कि अक्तूबर 17 का घोषणा-पत्र मजदूरों-किसानों की विद्रोही ताकत से भयाक्रांत जारशाही की देन है. इस शक्ति संतुलन के अनुसार मजदूर-किसान संश्रय इतना ताकतवर नहीं था कि वह जारशाही का तख्ता पलट दे, तो जारशाही भी इतनी ताकतवर नहीं रह गयी थी कि वह पुराने तरीके से शासन चला सके. इस प्रकार क्रांति की जीत अब सिर्फ इस बात पर निर्भर करने लगी थी कि हर मोर्चे पर अधिक से अधिक शक्ति संचय में सफल कौन होता है.

रूसी मजदूर वर्ग ने इन तूफानी दिनों में भी जारशाही से छिने गये अधिकारों का उपयोग अपने राजनीतिक संगठन के निर्माण के लिए शुरू कर दिया. मजदूर प्रतिनिधियों की सोवियतों के गठन के रूप में. इन सोवियतों के राजनीतिक महत्व को चिन्हित करते हुए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास लिखता है : 'मजदूर प्रतिनिधियों की सोवियतें सभी मिलों और कारखानों के प्रतिनिधियों का समागम थीं. वे मजदूर वर्ग के खास किस्म के राजनीतिक जनसंगठन का प्रतिनिधित्व करती थीं, जिन्हें दुनिया में पहले कभी नहीं देखा गया था. 1905 में जो सोवियतें अस्तित्व में आयीं, वे 1917 में बोल्शेविकों के नेतृत्व में स्थापित सोवियत सत्ता का पूर्व-रूप थीं'.

इस प्रकार बोल्शेविकों की नजर में सोवियतें सर्वहारा सत्ता का भ्रूण रूप थीं. इसके विपरीत मेंशेविक सोवियतों को स्थानीय स्वशासन के जनवादी केंद्र के रूप में देखते थे. इन दोनों नजरियों का फर्क सेंट पीटर्सबर्ग और मास्को की सोवियतों की भूमिका से समझा जा सकता है. मास्को मजदूर सोवियत का नेतृत्व बोल्शेविकों के हाथ में था. बोल्शेविक पार्टी और मजदूर सोवियत के प्रयास से मास्को में सैनिक सोवियतों का गठन भी हुआ. मजदूर सोवियतों का गठन अधिकांश औद्योगिक केंद्रों में हुआ, कई इलाकों में किसान सोवियतों का भी गठन हुआ और कहीं-कहीं तो सैनिक सोवियतों का भी. लेकिन इसमें बहुत ज्यादा सफलता नहीं मिली.

मजदूर सोवियतें जारशाही के लिए सरदर्द साबित होने लगी थीं हालांकि इनकी सांगठनिक संरचना पूरी तरह दुरूस्त नहीं थी. वे आनन-फानन में खड़ी की गयी थीं और उनके पास कोई

कानूनी अधिकार नहीं था, फिर भी इस संगठनों ने प्रेस की आजादी तथा आठ घंटों के श्रम दिवस का कानून ला दिया. उन्होने लोगों से टैक्स भुगतान नहीं करने का भी आह्वान किया. कुछ मामलों में उन्होने सरकारी फंड जब्त कर उसका उपयोग क्रांति की जरूरतों को पूरा करने के लिए किया. इस प्रकार दो सत्ताएं आमने-सामने खड़ी होने लगी थीं - एक भ्रूण रूप में और दूसरी मरणोन्मुख. इन दोनों में टकराव निश्चित था और दिसंबर 1905 में वहीं हुआ.

जारशाही के खिलाफ जनता का विद्रोह थमने का नाम नहीं ले रहा था. अब वह हथियारबंद विद्रोह में बंदलने के कगार पर था. इस स्थिति में बोल्शेविकों ने जारशाही और जमींदारों के खिलाफ हथियारबंद विद्रोह का आह्वान किया. उन्होने लोगों को समझाया कि ऐसी स्थिति का पैदा होना अवश्यंभावी है. उन्होने सेना के बीच क्रांतिकारी कार्यकलापों की गति तेज कर दी और पार्टी के सैन्य संगठन में शामिल मजदूरों को हथियार चलाने का प्रशिक्षण दिया गया. आदि-आदि.

तब तक जारशाही जापान के साथ अपमानजनक समझौता कर बाहरी मोर्चे से फुर्सत पा चुकी थी. अब उसके पास एक ही काम बचा था जन विद्रोह का दमन. किसान विद्रोह वाले इलाकों में मार्शल लॉ लागू किया गया. उन इलाकों में फरमान जारी कर दिया गया - 'किसी को कैद मत करो और एक भी बुलेट बर्बाद न हो'. क्रांतिकारी नेताओं की गिरफ्तारी के आदेश भी जारी कर दिये गये.

जारशाही के इन कदमों के जवाब में मास्को के बोल्शेविकों और मजदूर सोवियत ने अविलंब सशस्त्र विद्रोह की तैयारी का निर्णय ले लिया. 5 दिसंबर को मास्को की बोल्शेविक कमिटि ने निर्णय लिया कि सोवियत मजदूरों की आम हड़ताल का आह्वान करे. इसमें यह उद्देश्य अंतर्निहित था कि इसी संघर्ष की प्रक्रिया में सशस्त्र विद्रोह शुरू हो जायेगा.

ऐसा ही हुआ भी. 7 दिसंबर को मास्को में आम हड़ताल शुरू हो गयी. लेकिन सेंट पीटर्सबर्ग से इसको पूरा समर्थन नहीं मिला और पूरे देश में इसके प्रसार की संभावना क्षीण पड़ गयी. इस तरह क्रांति की पराजय के तत्व शुरू में ही दिखाई पड़ गये. रेलवे की हड़ताल नहीं हो सकी और यातायात यथावत बने रहे. मास्को में भी गैरिसन दुविधा का शिकार रही.

9 दिसंबर से मजदूरों ने बैरिकेड खड़ा करना शुरू किया. पूरा शहर बैरिकेडों से पट गया. इस स्थिति से निबटने के लिए सैनिक बुलाये गये और तोपें मंगवायी गयीं. मजदूरों ने डट कर मुकाबला किया. संघर्ष नौ दिनों तक चलता रहा. सैनिकों की संख्या बढ़ायी गयी और और मजदूरों के शानदार संघर्ष के बावजूद क्रांति अंततः पराजित हो गयी.

पराजय के कारणों पर उपर संक्षिप्त चर्चा की गयी है. लेकिन इसके लिए एक कारण और जिम्मेवार था. मास्को बोल्शेविक कमिटि के सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये थे. शेष नेता भी या तो गिरफ्तार थे, या अलग-थलग कर दिये गये थे. इसके फलस्वरूप अलग-

अलग क्षेत्रों के हथियारबंद विद्रोह एक दूसरे से अलग-थलग पड़ गये. 19 दिनों तक मजदूरों ने जारशाही की सेना का शानदार मुकाबला किया और अंततः क्रांति कुचल दी गयी. लगभग ऐसा ही हश्र अन्य शहरों में उठी क्रांतिकारी विद्रोह की लपटों का भी हुआ. उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं में भी विद्रोह की आग भड़क चुकी थी. जार्जिया सबसे आगे था. यूक्रेन के बड़े इलाके में तथा लात्विया और फिनलैंड में भी क्रांति की मशाल उठा ली गयी थी. एक-एक कर सारे विद्रोह दबा गिये गये.

क्रांति की पराजय और प्रतिक्रांति की पूर्ण विजय के बीच

क्रांति की पराजय के बाद भी मामला एकाएक शांत नहीं हुआ. रूस फिर भी धू-धूकर जल रहा था. क्रांतिकारी मजदूर और किसान संघर्ष करते हुए धीरे-धीरे पीछे हटे. संघर्ष में नये-नये मजदूर जुड़ते गये. 1906 में 10 लाख से ऊपर मजदूरों ने हड़ताल में हिस्सा लिया, जबकि 1907 में 7,40,000 मजदूरों ने. जारशाही रूस के लगभग आधे यूएज्द 1906 के पूर्वार्द्ध में किसान आंदोलन की चपेट में थे और उत्तरार्द्ध में लगभग पांचवां भाग. सेना और नौ सेना में भी छटपटाहट जारी थी. यह संभवतः अंतिम पराजय के पहले की बेचैनी थी. 1907 का अंत आते-आते क्रांति पूरी तरह पराजित हो गयी.

क्रांति पराजित तो हुई. लेकिन भविष्य की क्रांति के लिए मजबूत जमीन तैयार कर गयी. इस सच को समझने के लिए हमें क्रांति की पूर्व बेला में बोल्शेविक-मेंशेविक विवाद तथा क्रांति की पराजय के बाद उसके मूल्यांकन पर दोनों खेमों के बीच विवाद पर गौर करना होगा. जैसा कि हम देख चुके हैं कि बोल्शेविक रूस की जनवादी क्रांति में मजदूर वर्ग का सबसे विश्वस्त सहयोगी किसानों को मानते थे और मेशंविक पूंजीपतियों को. इस क्रांति ने साबित कर दिया कि बोल्शेविक सही थे.

किसान जमींदारों के खिलाफ और मजदूर पूंजीपतियों के खिलाफ जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रहे थे तथा किसान और मजदूर सोवियतों के बीच एकता कायम हो रही थी, वहीं पूंजीपति जारशाही सत्ता के अधीन अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने और मजबूत करने के लिए सौदेबाजी पर उतारू थे.

क्रांति के बाद का मूल्यांकन इससे भी खतरनाक संदेश छोड़ता है. मेंशविकों का मत था कि मजदूरों को हथियार नहीं उठाना चाहिए था, वहीं बोल्शेविकों का विचार था कि हथियारबंद विद्रोह की तैयारी और जोर-शोर तथा सुव्यस्थित तरीके से करनी चाहिए थी. बोल्शेविकों के विश्लेषण में यह प्रयास छुपा था कि इस पराजय के कारणों को समझकर भविष्य की क्रांति की राह खोजी जाय. उन्होने इस पराजय के कारणों का पता लगाया. उनके विश्लेषण के अनुसार :

जारशाही के खिलाफ मजदूरों-किसानों का गठबंधन स्थायी और मजबूत नहीं बन पाया

था. बड़ी संख्या में किसान जमींदारों के खिलाफ तो थे, लेकिन जार में उनकी आस्था तब भी बरकरार थी और वे दुमा के प्रति आस्थावान थे.

किसान जनता का बड़ा हिस्सा समाजवादी क्रांतिकारियों का अनुयायी था, बोल्शेविकों का नहीं किसानों की ढुलमुल प्रकृति का प्रभाव सेना पर भी पड़ा क्योंकि उन्हीं के बेटे वहां वर्दी में कार्यरत थे. सेना की कुछ इकाइयों ने भले ही विद्रोह किया हो, लेकिन अधिकांश जवान विद्रोह के दमन में सक्रिय थे.

मजदूर वर्ग की कार्रवाई भी पर्याप्त रूप से एकजुट नहीं थी. जहां मजदूरों की अग्रिम पंक्ति 1905 में ही क्रांतिकारी संघर्ष में उतर गयी थी, वही छोटे-छोटे उद्योगों का पिछड़ा हिस्सा 1906 तक एक-एक कर मैदान में आती रही. मजदूर वर्ग की पार्टी (रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी) खुद एकताबद्ध नहीं थी.

क्रांति के दमन के लिए जार को पश्चिम यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का भरपूर सहयोग मिला. फ्रांसीसी बैंकों ने इस काम के लिए कर्ज दिये तथा जर्मन सरकार तो हस्तक्षेप के लिए तैयार बैठी थी. जापान के साथ जार का समझौता क्रांति के दमन के लिए बड़ा लाभदायक साबित हुआ था.

मेंशेविक क्रांति से डर गये थे. इन दो नजरियों के दो अलग-अलग स्रोत थे. मेंशेविक मजदूरों को हमेशा याद दिलाते थे कि रूस की जनवादी क्रांति रूसी पूंजीपतियों का काम है, इसलिए मजदूरों को अपना कदम उठाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इन कदमों से कहीं पूंजीपति डर न जायें. इनके इस विचार के अनुसार मजदूर वर्ग को पूंजीपति वर्ग का पिछलग्गू बनकर काम करना चाहिए था. मेंशविकों के इस समझौतावादी रूख से वर्ग चेतन मजदूरों के मन में यह बात बैठ गयी कि क्रांति में उनके असली मित्र और नेता बोल्शेविक हैं.

इस क्रांति के दबाव में जार ने दुमा का गठन कर पूंजीवादी सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया था-इसकी सीमा चाहे जितनी संकीर्ण रही हो, लेकिन यह बात तय है कि जिस सुधार को हासिल करने के लिए जेम्त्सवोवादी चार दशकों से प्रयत्नशील थे तथा हासिल नहीं कर पाये थे, उन सुधारों को मजदूरों-किसानों के विद्रोह ने महज एक साल में हासिल कर लिया था.

दुमा पर विवाद

अब सवाल था कि इस मंच का उपयोग क्रांति के हित में कैसे और किन परिस्थितियों में किया जाय. जैसा कि हम देख चुके हैं, 1904 में आहुत दुमा (बुलिगिन दुमा) जिसे सिर्फ सलाह देने की शक्ति प्राप्त थी, क्रांति की आंधी में उड़ गयी थी. इस दुमा के बहिष्कार की बोल्शेविक नीति सही साबित हुई थी. फिर 1905 में एक विधायी दुमा के गठन की घोषणा हुई. इसे कानून बनाने के अधिकार भी प्राप्त थे.

अपने तेमरफोर्स सम्मेलन के निर्णय के आधार पर बोल्शेविकों ने इस दुमा का भी बहिष्कार किया, लेकिन बाद में लेनिन ने इस निर्णय की आलोचना की. आनेवाले दिनों में संघर्ष की दिशा क्रांतिकारी है या संशोधनवादी, इसे तय करने का एक आधार यह भी बन गया कि बुर्जुवा संसद में सर्वहारा पार्टियों की भागीदारी किस तरह हो और किन परिस्थितियों में हो.

आगे बढ़ने के पहले यह देखना-समझना जरूरी है कि जारशाही की रूचि इस संस्था में क्यों थी? तात्कालिक तौर पर तो इसलिए कि क्रांति से लोगों का ध्यान भटकाना था. दीर्घकालिक तौर पर इसलिए कि किसानों तथा अचेतन मजदूरों को संवैधानिक जनवादियों, मेंशेविकों तथा समाजवादी क्रांतिकारियों के राजनीतिक दायरे में समेटना था. क्रांतिकारी उभार के दौर में भी इन पार्टियों ने यह भ्रम फैलाने की कोशिश की थी कि लोगों की मनमाफिक व्यवस्था विद्रोह के बिना ही बनायी जा सकती है, तो आखिर क्रांति की जरूरत क्या है?

तब सबसे बड़ा प्रश्न था कि जनता पर पूंजीवादी/ निम्नपूंजीवादी पार्टियों के प्रभाव को रोकने के लिए इस मंच का उपयोग कैसे किया जाय. क्रांति के उभार के दिनों में बोल्शेविको ने इस चालबाजी का जवाब दुमा का बहिष्कार कर दिया और यह दिखा दिया कि उनके बहिष्कार के कारण ही बुलिगिन दुमा अस्तित्व में नहीं आ सका. 1906 में क्रांति की पराजय के दौर में उनके बहिष्कार के बावजूद विट्टे दुमा अस्तित्व में आया. सारी सावधानी और चालबाजी के बावजूद पहला दुमा जारशाही के मन-मिजाज के विपरीत बन गया. 448 सदस्यों के सदन में 153 सीटों पर संवैधानिक जनवादी (कैडेट्स) काबिज हुए, 107 सीटों पर त्रुदोविकों का कब्जा बना, 105 सीट उदारवादी वामपंथियों के हिस्से गया जो निर्दल प्रतिनिधि की हैसियत से काम कर रहे थे और 63 सीटों पर उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के (पोलिश, यूक्रेनियन,लिथुआनियाई व अन्य) प्रतिनिधि जीते जो अपनी राष्ट्रीयताओं के लिए स्वशासन की मांग कर रहे थे. संभवत: यह यूरोपीय देशों के संसदीय इतिहास की पहली घटना थी जिसमें पहली संसद में ही व्यवस्था विरोधियों का बहुमत बन गया हो. इस अर्थ में पहली ही दुमा जारशाही के लिए सरदर्द बन गयी.

इस सरदर्द पर अंकुश लगाने के लिए चुनाव कानून में प्रावधान रखा गया था कि दुमा में प्रवेश के पहले प्रतिनिधिगण जारशाही के प्रति निष्ठा की शपथ लेंगे. सभी प्रतिनिधियों ने ऐसी शपथ ली भी, लेकिन पालन किसी ने नहीं किया. लेकिन इस बला से छुटकारा तो पाना था. इसलिए 1810 में गठित स्टेट कौंसिल (तब तक की सर्वोच्च विधायी संस्था) में संशोधन किया गया. कथनी में इसे दुमा के समानांतर बताया गया, लेकिन करनी में उसके ऊपर बैठा दिया गया. 17 अक्तूबर 1905 के घोषणा पत्र में दुमा को मिले अधिकारों में कटौती की गयी. दुमा में पारित ड्राफ्ट अगर कौंसिल में खारिज हो गये, तो उन्हें जार के पास विचार हेतु नहीं भेजा जायेगा. इस कौंसिल में आधे सदस्य जार द्वारा मनोनीत हाते थे और

शेष का चुनाव संपत्ति के आधार पर होता था.

यहां भी बोल्शेविकों और मेंशेविकों का मतभेद बहुत साफ था. मेंशविक इस नीति के कायल थे कि संवैधानिक जनवादियों के साथ चुनावी समझौते किये जाने चाहिए तथा दुमा के भीतर इन शक्तियों का समर्थन किया जाना चाहिए. बोल्शेविक इस नीति के खिलाफ थे. उनका मत था कि पूंजीवादी नीतियां बनाने के लिए संवैधानिक जनवादियों के साथ एक ब्लॉक के रूप में काम करने की जरूरत हमें नहीं है. हमें इस मंच का उपयोग क्रांति के हित में करना होगा.

इस विवाद का फैसला मई 1907 में आयोजित पार्टी की पांचवीं कांग्रेस में लंदन में हुआ. इसमें दुमा में भाग लेनेवाली पार्टियों को तीन श्रेणियों में बांटा गया. पहली श्रेणी में उन पार्टियों को रखा गया जो खुल्लम खुल्ला क्रांति विरोधी थीं - जैसे ब्लैक हंड्रेड ग्रुप की पार्टियां, अक्तूबरवादी, कमर्शियल एण्ड इंडस्ट्रियल पार्टी तथा पार्टी ऑफ पीसफुल रिनोवेशन. दूसरी श्रेणी में उदारवादी पूंजीवादी संवैधानिक जवादी पार्टी थी. इसके बारे में कांग्रेस का निर्णय था कि इस पार्टी की ढकसोलाबाजी का जमकर भंडाफोड़ किया जाय. तीसरी श्रेणी में वैसी पार्टियां थीं जो शहरी व देहाती निम्नपूंजीवादी हितों (मध्यवर्ग के हितों) का प्रतिनिधित्व करती थीं. इसमें सबसे प्रमुख 'समाजवादी क्रांतिकारी' पार्टी थी. इनके बारे में संघर्ष और समझौता की नीति अपनायी गयी. इनके समाजवादी दावे का भंडाफोड़ करते हुए जारशाही और संवैधानिक जनवादी पार्टी के खिलाफ मोर्चेबंदी का प्रयास. कहने की जरूरत नहीं कि इन नीतियों पर बोल्शेविक राजनीति की पूरी छाप थी. दूसरी दुमा में भी जार को कोई राहत नहीं मिली. 518 सदस्यीय दुमा में 222 सीटों पर जार विरोधी शक्तियां काबिज हो गयीं.

पांचवीं कांग्रेस के तुरंत बाद 3 जून 1907 को जार ने दूसरा दुमा भंग कर दिया. इसे भंग कर जार ने 17 अक्तूबर के अपने ही घोषणा-पत्र का उल्लंघन किया था. उसमें कहा गया था कि कोई भी नया कानून दुमा की सहमति से ही बनाया जायेगा. लेकिन जार ने उसे धत्ता बता दिया. इसे रूस के इतिहास में 'राज्य पर कब्जा' के रूप में जाना जाता है. दुमा में सामाजिक जनवादी ग्रुप के 65 प्रतिनिधि गिरफ्तार कर साइबेरिया में निष्कासित किये गये. अगले दुमा के चुनाव के तौर-तरीकों और कायदा-कानूनों में भारी बदलाव लाया गया. यह सुनिश्चित कर लिया गया कि अगली दुमा में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का बहुमत बना रहेगा. इसके साथ ही प्रतिक्रियावादी आक्रामकता की शुरूआत हुई. गाँवों व शहरों में हजारों किसानों और मजदूरों को गोलियों से उड़ा दिया गया या फांसी पर लटका दिया गया. क्रांतिकारियों को शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया गया और यातनाएँ दी गयीं. उनके निशाने पर सबसे बढ़कर बोल्शेविक थे. ✦✧✦

स्तॉलिपिन प्रतिक्रिया के दौर में

1905 की क्रांति के दमन के बाद प्रतिक्रांति का छोटा, किंतु काफी तीखा दौर (1908-12) आया था जिसे स्तॉलिपिन प्रतिक्रिया के दौर के रूप में जाना जाता है. पहली और दूसरी दुमा पर क्रांतिकारी और जनवादी शक्तियों का प्रभाव ज्यादा था, इसलिए इन दोनों को अपना कार्यकाल पूरा किये बगैर ही कालकवलित हो जाना पड़ा. नयी दुमा की संरचना को जारशाही के मनोनूकूल बनाने के लिए चुनाव कानूनों में भारी बदलाव किया गया. अंततः जार और उसके गुर्गों के मन के मुताबिक तीसरी दुमा अस्तित्व में आ गयी. इस दुमा में विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी- ब्लैक हंड्रेड्स 171, अक्तूबरवादी113, संवैधानिक जनवादी 101, सामाजिक जनवादी 18 और त्रुदोविक 13. इन दलों की वर्गीय स्थिति पर ध्यान दें, तो दुमा का जारपक्षीय प्रतिक्रियावादी चरित्र बिल्कुल साफ हो जायेगा.

ब्लैक हंड्रेड्स समाज के सबसे प्रतिक्रियावादी सामंती जमींदारों के निकृष्टतम प्रतिनिधि थे. ये वे लोग थे जो किसानों को कोड़े लगाते थे, और जिन्होंने यहूदियों तथा पोलिशों के खिलाफ जनसंहार रचाने में नेतृत्वकारी भूमिका निभायी थी. इस समूह में जमींदारों के गुंडों, नवजात व्यापारियों के लठैतों तथा समाज के लंपट तत्व शामिल थे. अक्तूबरवादी बड़े पूंजीपतियों तथा नवजात बड़े पूंजीवादी जमींदारों (कुलकों) के हित रक्षक लोग थे. संवैधानिक जनवादियों ने 1905 की क्रांति के दौरान पूंजीवादी विपक्ष की भूमिका निभाने का दिखावा किया था, लेकिन क्रांति के दमन की अवधि में इन लोगों ने रंग बदलना शुरू कर दिया. 1909 में कुछेक जाने-माने सामाजिक जनवादियों ने अपने लेखों के माध्यम से जारशाही को इस बात के लिए धन्यवाद दिया था कि उसने क्रांति को सफलतापूर्वक कुचल कर समाज को अराजकता के गर्त में गिरने से बचा लिया. जाहिर है कि इस दुमा में ब्लैक हंड्रेड्स और अक्तूबरवादी सबसे प्रतिक्रियावादी खेमे का प्रतिनिधित्व करते थे और संवैधानिक जनवादी दोलन की स्थिति में थे.

ऐसी स्थिति में जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली दो ही पार्टियां बचती थीं. निम्न पूंजीवादी जनवादी हिस्से के प्रतिनिधि त्रुदोविक थे और सामाजिक जनवादी मजदूर हितों का प्रतिनिधित्व करते थे. जाहिर है कि सामाजिक जनवादियों के भीतर बोल्शेविक और मेंशेविक धारा के बीच मजदूर वर्ग की नीतियों को लेकर गहरे मतभेद थे. इस प्रकार इस दुमा में प्रतिक्रियांवादियों का वर्चस्व हमेशा बना रहा और इसीलिए तीसरी दुमा को 'ब्लैक हंड्रेड दुमा' भी कहा जाता है.

इस प्रतिक्रियावादी उभार का आधार क्या था? कांति की पराजय के दौर में 9 नवंबर 1906 को नया कृषि कानून लागू किया गया था. इस कानून के अनुसार : किसान कम्यून

छोड़ने को स्वतंत्र थे, उन्हें जमीन सरकार की ओर से आवंटित किया जा रहा था, इस जमीन को उपयोग में लाने के साथ-साथ बेचने का अधिकार भी उन्हें दिया जा रहा था, अच्छी जमीन कुलकों को दी जा रही थी, उन्हें जमीन खरीदने तथा कृषि के विकास के लिए कर्ज दिये जा रहे थे. इन कानूनों का गहरा असर पड़ा. कम्यून व्यवस्था जिस पर अराजकतावादियों को नाज था और जिसके बूते वे सीधे समाजवाद में प्रवेश का सपना देख रहे थे, पूंजीवाद के थपेड़े से तहस-नहस हो रहा था. आंकड़े बताते हैं कि 1906-15 के दशक में लगभग 20 लाख से ज्यादा किसान परिवारों ने कम्यून छोड़ दिया था. इस सुधार के फलस्वरूप देहातों में कुलकों और छोटे-बड़े पूंजीवादी जमींदारों का एक तबका पैदा हुआ जो जारशाही का वर्गीय आधार बन गया.

इससे तात्कालिक तौर पर जारशाही के हाथ तो जरूर मजबूत हो रहे थे, लेकिन दीर्घकालिक रूप में उसका कब्र भी उसी तेजी से खुद रहा था. जिस रफ्तार में कुलकों का छोटा तबका पैदा हो रहा था, उससे तेज रफ्तार में भूमिहीनों और गरीब किसानों का विशाल तबका तैयार हो रहा था, जो शहरी मजदूरों के साथ मिलकर क्रांति का अभेद्य दुर्ग तैयार करने वाला था. तथ्य यह बताते हैं कि 1907-09 के बीच कुलक परिवारों की संख्या बढ़ रही थी और किसान आंदोलन ह्रास की अवस्था में था, लेकिन ठीक एक साल बाद 1910-11 की अवधि में कुलकों और जमींदारों के खिलाफ किसान आंदोलन में भारी उभार पैदा हुआ.

कृषि में उपर्युक्त विकास के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में भी विकास कुछ ऐसे ही अंदाज में हो रहा था. शहरी मजदूरों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही थी. उन पर पुलिस के साथ-साथ जमींदारों के भाड़े के गुंडे चुन-चुन कर हमला कर ही रहे थे, पूंजीपति भी इससे लाभ उठाने में कतई पीछे नहीं थे. मजदूरी घटायी जा रही थी, काम के घंटे बढ़ाये जा रहे थे. प्रतिदिन 10 से 12 घंटे काम लेना आम बात हो गयी थी. बात-बात पर मजदूरों को निकालना, उन पर आर्थिक दंड लगाना तथा कारखानों में लॉक-आउट करना उन दिनों शगल बन गया था.

क्रांति की पराजय के बाद उद्योगों में एक नया बदलाव आया था. पूंजी और उद्योगों का संकेंद्रण तथा विदेशी पूंजी का प्रवाह बहुत तेजी से हो रहा था. विदेशी पूंजीपतियों और रूसी पूंजीपतियों का गठजोड़ मजबूत होने लगा था. इसके साथ ही रूस के औद्योगिकरण की एक बुनियादी कमजोरी थी. उस देश में मशीन तथा मशीन बनाने वाले औजारों का उत्पादन नहीं हो रहा था. ये सारी चीजें विकसित पूंजीवादी देशों से आयात की जाती थी. रूस में अपना ऑटो मोबाइल उद्योग और रसायन उद्योग नहीं था. और उसके पास अस्त्र-शस्त्र बनाने के भी अपने उद्योग नहीं थे. बुनियादी उद्योगों के विकास में सबसे बड़ी बाधा

उपभोग और बाजार का संकुचित विकास था.

क्रांति की पराजय और प्रतिक्रियावादी विस्तार का प्रभाव सिर्फ मजदूरों और किसानों तक सीमित नहीं था. इसका प्रभाव मजदूर वर्ग की पार्टी पर भी पड़ा. अक्सरहां क्रांति के विस्तार के दौर में बहुत सारे शौकिया क्रांतिकारी भी पार्टी में शामिल हो जाते हैं. वे जिस रफ्तार में शामिल होते हैं, क्रांति की पराजय के दौर में उसी रफ्तार में मैदान छोड़ कर भागते भी हैं. इसमें एक खेमा वैसे लोगों का होता है जो क्रांतिकारी खेमे को छोड़कर दुश्मन के खेमे में प्रत्यक्ष रूप से शामिल हो जाते हैं और उनकी कोशिश होती है कि पार्टी के भीतर भगदड़ की स्थिति पैदा कर दें. रूस में भी प्रतिक्रांति के इस दौर में भगोड़ों की संख्या अच्छी खासी थी. ऐसे लोगों की सबसे बड़ी समस्या होती है कि अपनी कायरता छुपाने के लिए वे क्रांतिकारी सिद्धांतों को तोड़ने-मरोड़ने लगते हैं. रूस में भी यह सब होने लगा था. कुछेक लोग मार्क्सवाद को पुरातन और अपर्याप्त बताकर उसमें नये सिरे से संशोधन की वकालत करने लगे थे. ऐसे समय में लेनिन ने सैद्धांतिक मोर्चा संभाला और यह साबित किया कि दोष मार्क्सवाद में नहीं, उन महानुभावों की भगोड़ी प्रवृति में है.

ऐसी स्थिति बहुत भयावह होती है और इसमें क्रांतिकारियों की जिम्मेवारी काफी बढ़ जाती है. जिस तरह विजय के दौर में संगठित रूप से क्रांतिकारी अभियान का नेतृत्व करना पड़ता है, उसी तरह पराजय के दौर में भी संगठित रूप से पीछे हटना उतना ही जरूरी होता है. इस दौर में बोल्शेविकों ने यह साबित कर दिया कि वे इन दोनों कलाओं में सबसे ज्यादा निपुण हैं. उस समय सामाजिक जनवादी पार्टी के भीतर तीन तरह के रूझान काम कर रहे थे.

मेंशेविकों की नीति थी कि हर हाल में कानूनी बने रहने के सारे उपाय किये जायें. इसके लिए जरूरत पड़े तो भूमिगत ढ़ांचे को खत्म भी कर दिया जाय. उनके अंदर आतंक की ऐसी स्थिति पैदा होने के दो कारण थे. पहला उनकी बुनियादी समझ कि जनवादी क्रांति के दौर में मुख्य भूमिका पूंजीपति वर्ग की होती है और मजदूर वर्ग उनकी सहयोगी भूमिका का निर्वाह करता है. दूसरा कारण उनकी सांगठनिक तैयारियों में थी. जैसा कि हम लोग देख चुके हैं, मेंशेविक इस विचार के कायल थे कि जो कोई बुद्धिजीवी पार्टी कार्यक्रम से सहमत हो, उसे पार्टी का सदस्य बना लिया जाना चाहिए. इन दोनों नीतियों के फलस्वरूप इस संकट की घड़ी में उनकी संरचना बिखरनी ही थी.

बोल्शेविक शुरू से ही पार्टी के भूमिगत ढ़ांचे को मजबूत बनाये रखने तथा संघर्ष के सभी रूपों का समुचित उपयोग करने की नीति पर कायम थे, इसलिए इस घड़ी में उनकी नीति थी : पार्टी के भूमिगत ढ़ांचे को हर हाल में सुरक्षित रखना चाहिए तथा खुले मंचों के उपयोग में महारत हासिल कर लेनी चाहिए. उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रतिक्रांति की इस अवधि के बाद क्रांति का दौर अनिवार्यतः आने वाला है, इसलिए इस समय का उपयोग

क्रांति की तैयारी के लिए किया जाना चाहिए. उन्होने ऐसा किया भी.

इस अवधि में उन्होने भावी क्रांति के नारों का जमकर प्रचार किया. ये नारे थे : जनवादी गणतंत्र, 8 घंटों का श्रम दिवस, बड़ी जमींदारियों की जब्ती तथा किसानों के बीच उनका वितरण. उन्होने मेंशेविकों की नीति को विलोपवादी घोषित कर खारिज कर दिया.

लेकिन बोल्शेविक पार्टी के भीतर ही एक ऐसी धारा काम कर रही थी जिसका नारा था कि हर कुछ भूमिगत होना चाहिए, खुले मंचों का प्रयोग बंद कर देना चाहिए. इन लोगों ने दुमा के प्रतिनिधियों को भी वापस बुलाने का नारा दिया. यह धारा देखने में विलोपवादियों से भिन्न नजर आती थी, लेकिन उनकी नीति अपनाने का अनिवार्य प्रतिफल वही होता जो विलोपवाद के कारण हो रहा था. जाहिर है वाम भटकाव हो या दक्षिण अंततः दोनों का नतीजा एक ही होता है. इस कठिन घड़ी में भी बोल्शेविक नेतृत्व ने इस धारा के लोगों को संगठन से निकाल कर अपनी स्थिति मजबूत की.

इन दो धाराओं से अलग एक तीसरी धारा भी थी जिसका नेतृत्व त्रॉत्स्की कर रहे थे. उनका दावा था कि वे बोल्शेविक और मेंशेविक दोनों धाराओं से अलग नयी धारा का निर्माण कर रहे है. लेनिन ने उनके बारे में इस प्रकार टिप्पणी की थी : 'त्रॉत्स्की सबसे घिनौने कैरियरवादी और गुटबाज की तरह आचरण करते हैं .... वे जुबान से पार्टी की बात करते हैं लेकिन सबसे खराब गुटबाज से भी खराब ढंग से काम करते हैं'. उनकी मध्यमार्गी नीति का राजनीतिक भंडाफोड़ करते हुए स्तालिन ने लिखा : 'मध्यमार्ग एक राजनीतिक अवधारणा है. इसकी विचारधारा परिस्थिति के अनुसार रंग बदलने, एक ही पार्टी में निम्न पूंजीवादी हितों की अधीनता स्वीकार कर लेने की होती है'. उनके आचरण से साफ था कि वे मध्यमार्ग के मुखौटे में विलोपवाद की वकालत कर रहे थे.

प्लेखानोव जो मेंशेविक खेमे में शामिल हो गये थे, इस बहस में बोल्शेविकों के करीब थे. हलांकि कई बिंदुओं पर उनकी राजनीतिक सोच मेंशेविकों से ही मिलती-जुलती थी, फिर भी बोल्शेविकों के साथ सांगठनिक ब्लॉक का निर्माण उस कठिन दौर में अत्यंत सकारात्मक कदम था.

वर्ष 1912 मील का पत्थर बन गया. बोल्शेविकों ने प्राग सम्मेलन का आयोजन कर अपने दल को मेंशेविकों से बिल्कुल अलग कर लिया. इस सम्मेलन में उन्होने अपनी एक अलग केंद्रीय कमिटी का गठन किया.. इसी कमिटी में क्रांति के व्यावहारिक कार्यकलापों को चलाने के लिए स्तालिन के नेतृत्व में एक ब्यूरो का गठन किया गया. यह रूसी क्रांति के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण कदम था.

इस(प्राग) सम्मेलन के राजनीतिक महत्व को उजागर करते हुए लेनिन ने गोर्की के नाम पत्र में लिखा :' विलोपवादियों की चालबाजी के वाबजूद हमलोग पार्टी और केंद्रीय

कमिटी को बनाये और बचाये रखने में सफल हो गये. मुझे उम्मीद है कि तुम इस बात पर हम लोगों के साथ खुशी मनाओगे'. लेनिन की यह प्रतिक्रिया इतना साफ कर देने के लिए काफी है कि मेंशेविकों ने माहौल को कितना दमघोंटू बना दिया था.

इस अलगाव का राजनीतिक महत्व एक दूसरी घटना से भी समझा जा सकता है. रोजा लक्जेमबर्ग ने इस टूट के लिए लेनिन को दोषी करार देते हुए कहा था कि उन्होने पार्टी तोड़क की भूमिका निभायी है. 1918 में जब रोजा खुद जर्मन सामाजिक जनवादियों से अलग हुईं और प्रतिक्रियावादियों के हाथों मारी गयीं, तो लेनिन ने कहा कि गद्दारों के साथ संबंध विच्छेद में देर कर दी गयी. स्थिति बिल्कुल साफ है 1912 में बोल्शेविकों ने अपना खेमा पूरी तरह अलग नहीं किया होता, तो संभवतः वे क्रांति का नेतृत्व देने में सफल नहीं रहे होते.

इस तरह देखा जाय, तो यह वर्ष प्रतिक्रिया के अंत का साल तो था ही, साथ ही क्रांतिकारी आंदोलन के नये उभार और उसकी तैयारी के नये दौर की शुरुआत का वर्ष भी था. इसी वर्ष अप्रैल में लीना में सोना खदान के मजदूरों की हड़ताल हुई जिस पर जारशाही ने गोलियां चलवायी और 500 से ऊपर मजदूरों के मौत के घाट उतार दिया. इस घटना पर टिप्पणी करते हुए स्तालिन ने लिखा था कि वर्फ पिघलने लगा है और मजदूर आंदोलन का नया दौर शुरू होने वाला है. इसी वर्ष चौथी दुमा का चुनाव हुआ. यह जारशाही के अधीन दुमा का अंतिम चुनाव बन गया. प्राग सम्मेलन में बोल्शेविकों ने मेंशेविक धारा के साथ संबंध विच्छेद करते हुए अलग पार्टी की घोषणा की. इसी वर्ष (22 अप्रैल) बोल्शेविकों के दैनिक अखबार 'प्राव्दा' का प्रकाशन शुरू हुआ.

एक साल में इतनी सारी उपलब्धियों का होना निश्चित तौर पर भविष्य में आने वाले तुफान का संकेत था.

ऐसा ही हुआ भी. लीना गोली कांड के बाद पूरे देश में खास कर बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों की हड़ताल की बाढ़ सी आ गयी. लेकिन जार और उसका प्रशासन क्रांतिकारी आंदोलन के नये उभार के खतरों को समझने को बिल्कुल तैयार नहीं था. दरअसल, चौथी दुमा भी जारशाही के मनोनुकूल बनी थी. इसमें अक्तूबरवादियों और संवैधानिक जनवादियों ने मिलकर बहुमत बना ली था. इनकी मंशा थी कि रूस में भी ब्रिटेन की तरह संवैधानिक राजशाही कायम हो जहां जनता को पूरी तरह जनतंत्र मिले और राजशाही भी ऐतिहासिक प्रतीक के रूप में बनी रहे. जारशाही को इस बात से भी काफी शुकून मिला था कि सामाजिक जनवादी बिखर गये हैं. चौथी दुमा में बोल्शेविकों के मात्र छः प्रतिनिधि जीत कर गये थे, जिसमें एक (मैलिनोव्स्की) पुलिस का ऐजेंट बन गया था. इस दुमा में मेंशेविक प्रतिनिधियों की संख्या सात थी लेकिन दोनों की स्थिति में गुणात्मक अंतर था. बोल्शेविक प्रतिनिधि बड़े कारखानों में कार्यरत मजदूरों का प्रतिनिधित्व करते थे

ज़बक़ि मेंशेविक छोटे-छोटे उद्योगों में कार्यरत मजदूरों का.

राजनीतिक आंदोलन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यवस्था के स्थायित्व का सवाल राजनीतिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व की संख्या से तय नहीं होता. वह अंततः उसके आर्थिक और सामाजिक पहलुओं के विकास और स्थायित्व के साथ तय होता है. 1905 की क्रांति के बाद का रूस आर्थिक - सामाजिक संरचना के मामले में काफी आगे बढ़ चुका था. पूंजीवादी विकास ने वामन के डग भरे थे. इससे सत्ता के निकायों में भी नये संबंध जन्म ले रहे थे और पुराने टूट रहे थे. इस परिघटना को सत्ता निकाय के भीतर की दो घटनाओं से भली-भांति समझा जा सकता है.

बीसवीं सदी का दूसरा दशक रूस के इतिहास में आर्थिक उत्थान के काल के रूप में याद किया जाता है और 1913 इस अवधि का सबसे महत्वपूर्ण साल माना जाता है. स्तॉलिपिन अगर मजदूरों किसानों के दमन-उत्पीड़न के लिए जनवादी शक्तियों के बीच घृणा का पात्र बन गया था, तो शासक वर्ग के बीच वह उतना ही आदर का पात्र भी था. उसकी बढ़ती प्रतिष्ठा से खुद जार इर्ष्या करने लगा था और भयभीत हो गया था. इसीलिए उसकी हत्या के लिए इतिहासकार जार को ही जिम्मेवार मानते हैं.

उसकी हत्या 01 सितंबर 1911 को हुई. उस दिन रूसी जार अलेक्सांद्र द्वितीय के जमींदारी उन्मूलन (1861) का 50 वीं वर्षगाठ का समारोह चल रहा था. ओपेरा कार्यक्रम के मध्यांतर में पुलिस का ऐजेंट बागरोव ने उसे गोली मार दी. वह संतोषजनक ढंग से नहीं बता सका कि उसने ऐसा क्यों किया. लेकिन अपनी मां के नाम जार की चिट्ठी ने सब कुछ साफ-साफ बता दिया : बेचारा स्तॉलिपिन, उस रात बुरी तरह छटपटाता रहा और उसे मॉर्फिन की कई सूइयां लगाई गयीं. अगले दिन, 2 सितंबर को शानदार परेड का मजा लिया.

दूसरी घटना चौथी दुमा में अक्तूबरवादी नेता अलेक्जेंडर गुचकोव के भाषण से सामने आती है : राज्य की रचनात्मकता खत्म हो गयी है. सरकार को लकवा मार गया है. .... राजसत्ता की प्रतिष्ठा अतीत के किसी भी समय से ज्यादा गिर गयी है. गुचकोव की चिंता इस बात का संकेत थी कि जारशाही के भीतर विकासमान पूंजीवाद का भी दम घूंटने लगा था और यह जारशाही के लिए खतरे की घंटी थी. ✦✧✦

विश्व युद्ध के दौर में क्रांति के बढ़ते कदम

'असमतल आर्थिक तथा राजनीतिक विकास पूंजीवाद का असंदिग्ध नियम है. इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद की विजय पहले कुछ देशों में अथवा एक अकेले पूंजीवादी देश तक में संभव है. इस देश का विजयी सर्वहारा वर्ग पूंजीपतियों का संपतिहरण करके तथा स्वयं अपने समाजवादी उत्पादन को संगठित करके अन्य देशों के उत्पीड़ित वर्गों को अपने ध्येय की ओर आकृष्ट करते हुए उन देशों में पूंजीपतियों के विरूद्ध विद्रोह की आग प्रज्वलित करते हुए जरूरत पड़ने पर शोषक वर्गों और उनके राज्यों के विरूद्ध सशस्त्र सेनाओं के साथ तक मैदान में उतरते हुए शेष पूंजीवादी विश्व के विरूद्ध उठ खड़ा होगा.' - लेनिन

रूस की क्रांति दोराहे पर खड़ी थी. एक तरफ पूंजीपति वर्ग जारशाही का तख्ता पलट कर सत्ता पर खुद काबिज होना चाहता था और दूसरी तरफ बोल्शेविकों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग सत्ता पर कब्जा करने की पूरी तैयारी कर रहा था. उसकी योजना थी कि पूंजीवादी विकास के जरूरी कार्यभार मजदूर वर्ग की देख रेख में पूरा किया जायेगा और उसके बाद समाजवादी विकास की प्रक्रिया शुरू की जायेगी. इसी नीति के तहत बोल्शेविकों ने चौथी दुमा में दोहरी कार्य नीति अपनायी थी. एक तरफ उनके निशाने पर जारशाही समर्थक पार्टियां थी, तो दूसरी तरफ उदारवादी पूंजीवाद के प्रतिनिधि संवैधानिक जनतंत्रवादी थे.

रूस में चल रहे इसी अंदरूनी उठा-पटक के बीच पहले विश्व युद्ध की घंटी बज गयी. इस युद्ध में साम्राज्यवादी देश दो खेमों में बंट चुके थे. एक तरफ ब्रिटेन, फ्रांस और रूस थे, जिनकी खेमाबंदी 1907 में ही हो चुकी थी. दूसरी तरफ जर्मनी, ऑस्ट्रिया और इटली थे. बाद में इटली ने यह खेमा छोड़ दिया और तुर्की तथा बुल्गारिया इसमें शामिल हो गये. जाहिर है कि यह खेमाबंदी उपनिवेशों के पुनर्विभाजन के लिए हो रही थी. इनमें जर्मनी का खेमा आक्रामक था तथा ब्रिटेन का खेमा उपनिवेशों पर अपने अधिकार की रक्षा के लिए मैदान में खड़ा था.

तब रूस की स्थिति क्या थी? जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि रूस का पूंजीवादी विकास ऐसे बुनियाद पर हो रहा था जहां वह ब्रिटेन और फ्रांस का करद राज्य और अर्द्धउपनिवेश की स्थिति में पहुंच गया था. ऐसी स्थिति में इन दोनों देशों के लठैत के रूप में जार का उतरना उसकी नियति थी.

इस विकट परिस्थिति में दूसरे इंटरनेशनल को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी. लेकिन वह ऐसा कर नहीं सका. जब युद्ध की घंटी बजी, तो साम्राज्यवादी देशों की सरकारों ने जनता से झूठ बोलने का बड़ा से बड़ा रिकॉर्ड कायम कर लिया. हर देश की सरकार यही

दावा करती थी कि उसने आक्रमण नहीं किया, बल्कि वह आक्रमण का जवाब दे रही है. इसके साथ ही वह अपने देश के मजदूरों से 'पितृभूमि की रक्षा' में खड़ा होने का आह्वान करती थी. दूसरे इंटरनेशनल की अधिकांश पार्टियों ने अपने-अपने देशों की पूंजीवादी सरकारों का भंडाफोड़ करने के बजाय उस झूठ पर मजदूर वर्ग के समर्थन का मुलम्मा चढा दिया.

इस आलोक में विचार करना है कि रूस की विभिन्न पार्टियों ने युद्ध के बारे में क्या नीति अपनायी? ब्लैक हंड्रेड्स बड़े पूंजीपतियों की पार्टी के साथ गठजोड़ कायम कर युद्ध के पक्ष में खड़े थे. संवैधानिक जनतंत्रवादी जार की विदेश नीति के पक्षधर थे और इस प्रकार वे लोग भी युद्ध के पक्ष में खड़े थे. निम्नपूंजीवादी पाटी (समाजवादी क्रांतिकारी) तथा सामाजिक जनवाद की अवसरवादी धारा (मेंशेविक पार्टी) समाजवाद के मुखौटे के साथ पितृभूमि की रक्षा के नारे के साथ खड़ी थीं. बोल्शेविक अकेले मजदूरों को यह समझाने का प्रयास कर रहे थे कि यह युद्ध साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच का युद्ध है और मजदूर वर्ग का एकमात्र काम यही हो सकता है कि वह हर तरह से इस युद्ध के खिलाफ खड़ा हो. अल्पमत और बहुमत की नजर से देखा जाय तो मेंशेविक इंटरनेशनल की बहुमत के साथ खड़े थे, क्योंकि जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम तथा अन्य देशों के सामाजिक जनवादियों के बहुमत ने वैसी ही नीति अपनायी थी.

यह दीगर बार है कि इन पार्टियों का बहुमत अतीत के अपने ही निर्णयों के खिलाफ खड़ा था. 1910 में दूसरे इंटरनेशनल के कोपेनहेगेन कांग्रेस में यह फैसला लिया गया था कि सभी देशों के समाजवादी संसद में युद्ध क्रेडिट के खिलाफ वोट देंगे. उसी तरह 1912 के बैस्ले कांग्रेस में यह निर्णय लिया गया था कि पूंजीपतियों के मुनाफा में इजाफा के लिए सभी देशों के मजदूर एक दूसरे का खून नहीं बहायेंगे. लेकिन जब युद्ध का ऐन मौका आया, तो ये सारे लोग उलटी जगह पर खड़े नजर आये. जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा बेल्जियम के सामाजिक जनवादियों के अधिकांश संसद प्रतिनिधियों ने युद्ध क्रेडिट के पक्ष में मतदान किया और पितृभूमि की रक्षा के नारे के साथ खुल कर खड़े हुए. थोड़े से ऐसे लोग जरूर थे जिन्होने युद्ध क्रेडिट के सवाल पर मतदान के दौरान सदन का बहिष्कार कर अपनी लाज बचाने की कोशिश की. ऐसे लोगों के आदर्श प्रतिनिधि काउत्स्की थे. उनकी मध्यममार्गी नीति की असलियत को उजागर करते हुए लेनिन ने कहा था कि मध्यमार्गी हमारे खेमे में पूंजीपतियों के भेदिये हैं. रोजा ने भी काउत्स्की का बिल्कुल सटीक मज़ाक उड़ाया था जब उन्होंने कहा कि काउत्स्की ने 'दुनिया के मजदूरों' एक हों के नारे में बड़ा बदलाव ला दिया है. अब उनका नारा है : 'दुनिया के मजदूरों ! शांतिकाल में एक रहो और युद्ध के समय बिखर जाओ'. इस प्रकार दूसरे इंटरनेशनल का बहुमत मार्क्सवाद के मापदंड पर दिवालिया साबित होकर बिखर गया.

इसी समय लेनिन ने साम्राज्यवाद के दौर में पूंजीवाद के असमान विकास की परिघटना की व्याख्या करते हुए अपनी थीसिस पेश की कि एक देश में भी समाजवाद की विजय हो सकती है. निश्चय ही यह मार्क्सवाद में नया अध्याय जोड़ने जैसा साहसिक काम था. आजकल लेनिन का नाम लेते हुए उनके इस योगदान पर पर्दा डालने का काम बड़े जोर-जोर से हो रहा है. यह कहना फैशन बन गया है कि लेनिन ने एक देश में समाजवाद की विजय की बात सोची तक नहीं थी. स्तालिन ने उनके विचारों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया और एक देश में समाजवाद की विजय का सिद्धांत ला दिया. लेकिन इतिहास गवाह है कि यह सिद्धांत लेनिन की देन है और रूसी क्रांति में इसने भरपूर योगदान किया था.

इसी सिद्धांत के तहत लेनिन ने दूसरा आकलन पेश किया था कि अब जरूरी नहीं कि क्रांति उन्नत पूंजीवादी देशों में ही हो, अब साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी पहले टूटेगी. कमजोर कड़ी का निर्धारण कैसे हुआ? इस सवाल का जवाब देते हुए लेनिन ने दो शर्तें रखी थीं : जिस देश में साम्राज्यवाद की पकड़ कमजोर हो और जहां मजदूरों-किसानों की राजनीतिक चेतना उन्नत हो. इस मूल्यांकन के आधार पर रूस पहले विश्वयुद्ध में साम्राज्यवाद की सबसे कमजोर कड़ी साबित हो गया था .

इसी सोच का असर था कि अवसरवादी जहां क्रांति के बारे में लुंज-पुंज रुख अपनाते थे, वहीं बोल्शेविक हर मोर्चे पर क्रांति को आगे बढ़ाने और इस समर को जीतने की पुरजोर कोशिश कर रहे थे. उनका पहला मोर्चा दुमा था. दुमा के बोल्शेविक सदस्य विभिन्न कानूनी और खुले संगठनों का दौरा करते और लोगों को युद्ध के बारे में बोल्शेविक नीति से परिचित कराते. नवंबर 1914 में युद्ध की नीति पर विचार विमर्श के लिए बोल्शेविक ग्रुप का सम्मेलन बुलाया गया था. इसमें शामिल सभी लोग गिरफ्तार कर लिये गये थे. उनके जनतांत्रिक अधिकार खत्म कर दिये गये थे और उन्हें साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया था. मुकदमा के दौरान बोल्शेविक दुमा प्रतिनिधियों ने न्यायालय मंच का उपयोग अपनी नीतियों के प्रचार-प्रसार और जारशाही की आक्रामक नीति का भंडाफोड़ करने के लिए किया. कामेनेव इसके अपवाद थे. उन्होंने बोल्शेविक नीति से असहमति जताकर अपने को दोषमुक्त साबित करने का प्रयास किया.

युद्ध के खिलाफ जनमत तैयार करने का उनका दूसरा मोर्चा था-युद्ध के लिए उद्योग कमिटी. उन दिनों जारशाही के साथ-साथ जमींदारों और पूंजीपतियों की पार्टियां जनमत को युद्ध के पक्ष में उतारने का हरचंद प्रयास कर रही थीं. उनका नारा था- 'हर चीज युद्ध के लिए', 'हर व्यक्ति युद्ध के लिए' . इस नारे को अंजाम देने के लिए उन्होंने यह प्रचार शुरू किया कि उद्योगों में उत्पादन युद्ध की जरूरत के अनुसार होना चाहिए. उत्पादन में उत्साह के साथ मजदूरों का योगदान हो, इसके लिए जरूरी था कि उपर्युक्त कमिटी में मजदूरों की

भागीदारी हो. इसके लिए मजदूर ग्रुप के निर्माण का निर्णय लिया गया. मेंशेविक पूंजीपतियों के इस अभियान के पक्ष में खड़े हुए, लेकिन बोल्शेविक इसके खिलाफ गये. उन्होने मजदूरों का आह्वान किया कि वे इस ग्रुप का बहिष्कार करें. इसका भरपूर असर हुआ और सितंबर 1915 में इस सवाल पर निर्णय के लिए मजदूर प्रतिनिधियों की बैठक हुई, तो अधिकांश प्रतिनिधियों ने इसमें भागीदारी के खिलाफ आवाज उठायी. उन्होने साफ कर दिया कि वे युद्ध के पक्ष में नहीं हैं, वे शांति और जार के तख्ता पलट के पक्ष में हैं.

जनता में युद्ध और जारशाही के खिलाफ सघन अभियान चलाते हुए बोल्शेविकों ने सेना में भी प्रचार कार्य और संगठन बनाने का काम तेजी से शुरू किया. उन्होने सेना और नौसेना में अपना नाभिक संगठन तैयार भी कर लिया. एक तरफ उन्होने क्रोंस्तांदृत में सैनिक संगठन खड़ा किया तो पेत्रोग्राद में संगठन की एक ऐसी कमिटी बनायी जो सेना में राजनीतिक काम आगे बढ़ाये और संगठन का निर्माण करे. वे सेना के बीच यह प्रचार करने में भी सफल रहे कि दो देशों के सैनिक एक दूसरे के दुश्मन नहीं हैं. उलटे सभी देशों के पूंजीपति और उनकी सरकारें असली दुश्मन हैं. 1917 के क्रांतिकारी उफान पैदा होने के पहले उन्होने सेना में कितना प्रभाव छोड़ा था इसका अंदाजा उत्तरी मोर्चे से सेना मुख्यालय को प्रेषित रिपोर्ट से लगता है : बोल्शेविकों ने इस मोर्चे पर सघन क्रांतिकारी गतिविधियां चलायी हैं.

बोल्शेविकों ने युद्ध के बारे में जो प्रचार अभियान चलाया था, वह हर मोर्चे पर सही साबित होने लगा था. खासकर युद्ध के मोर्चे पर. युद्ध में लाखों लोग मारे जा चुके थे. सिर्फ दुश्मनों की गोली से नहीं, बल्कि युद्ध के बाद उत्पन्न दुर्भिक्ष और महामारी से भी. स्थिति यह हो गयी थी कि देश की आर्थिक गतिविधियां लगभग रूक सी गयी थीं. लगभग 1.5 करोड़ लोग आर्थिक गतिविधियों से काट कर सेना में भेजे जा चुके थे. मजदूरों के अभाव में जमीन परती रहने लगी थी. जनता के लिए युद्ध बर्बादी का पैगाम बन गया था, तो पूंजीपतियों और जमींदारों के लिए धन अर्जन का अवसर. इससे लोगों के बीच निराशा के साथ-साथ आक्रोश के भाव भी पैदा होने लगे थे.

मोर्चे की स्थिति थी कि जार की सेना पराजय-दर -पराजय का सामना कर रही थी. एक तरफ जर्मन सेना सर्वसाधन संपन्न और उन्नत हथियारों से लैस थी, तो दूसरी तरफ रूसी सेना के पास ना तो खाने-पीने की पर्याप्त सामग्री थी और न लड़ने के पर्याप्त हथियार. 1916 के अंत तक लगभग दो लाख जवान सेना छोड़कर भाग चुके थे तथा युद्ध शुरू होने से लेकर अब तक लगभग 13 लाख लोग नौकरी छोड़ चुके थे. इसी बीच यह खुलासा हुआ कि जार का युद्ध मंत्री सुखोम्लिनोव जर्मन सेना का एजेंट है. जर्मन जासूसों के माध्यम से प्राप्त आदेशों का पालन करता है और साथ ही रूस की युद्ध तैयारी की सूचना भी दुश्मन खेमे तक पहुंचाता है. ऐसी स्थिति में रूस को हार से कौन बचा सकता था ! हालांकि जार ने

अपनी साख बचाने के लिए युद्ध मंत्री की बलि चढ़ा दी, उसे गिरफ्तार किया गया और उस पर देश द्रोह का मुकदमा चला. इसके बावजूद जारशाही के खिलाफ मजदूरों-किसानो में व्याप्त गुस्सा और घृणा कम होने का नाम नहीं ले रहा था.

फरवरी क्रांति

एक तरफ देश अफरा-तफरी के इस भयावह दौर से गुजर रहा था और दूसरी तरफ राज दरबार षडयंत्र का केंद्र बना हुआ था. विद्वेष की स्थिति इतनी भयावह थी कि 16-17 दिसंबर की रात को ग्रिगोरी रासपुतिन की हत्या उसके महल में कर दी गयी. हत्या करने वालों में काउंट फ्लिक्स तथा दुमा के एक प्रतिनिधि व्लादिमिर पुरूषकेविच का नाम सामने आया. वह जनता के बीच अत्यंत घृणा का पात्र था, क्योंकि 1905 की क्रांति के दमन में उसकी गतिविधियां बहुचर्चित थीं. लेकिन राज दरबार में उसकी पूछ बहुत ज्यादा थी. उसकी हत्या की खबर से लोगों ने काफी चैन महसूस किया. चलो, एक बला तो टल गयी.

मामला यहीं खत्म नहीं हो रहा था. स्तॉलिपिन प्रतिक्रिया के वर्षों में पूंजीपति और जमींदार वर्ग का जो गठबंधन बना था, उसमें दरारें पड़ चुकी थीं. पूंजीपतियों को यह भय सताने लगा था कि अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के लिए जार कहीं जर्मनी के साथ समझौता न कर ले. इस तरह की संभावना की कल्पना से ही यह खेमा दहल उठता था. रूसी पूंजीपति वर्ग का बुनियादी ढांचा ब्रिटिश और फ्रांसीसी पूंजीपतियों पर निर्भर था, इसलिए इन दोनों के हित एक हो गये थे. जाहिर है, ब्रिटेन और फ्रांस कभी ऐसा नहीं चाह सकते थे कि रूस युद्ध से बाहर निकले. वह दोनों शक्तियों के लिए अग्रणी मोर्चे का सुरक्षा कवच था. इस भय के महौल में सत्ताधारी गठबंधन ने राजमहल के भीतर से ही सत्ता परिवर्तन का प्रयास किया. कोशिश हुई कि जार के भाई मिशेल रोमानोव को जार की कुर्सी सौंप दी जाय. यह संभव नहीं हो सका, लेकिन यह जरूर हुआ कि सत्ता निकाय में जार पूरी तरह अलग-थलग पड़ गया.

वर्ष 1917 की शुरुआत एक बार फिर 9 जनवरी की देशव्यापी राजनीतिक हड़ताल से हुई. उस दिन पेत्रोग्राद, मास्को, बाकू जैसे तमाम औद्योगिक केंद्रों में जबर्दस्त हड़ताल हुई. इस बार की हड़ताल पहले की हड़तालों से गुणात्मक रूप से भिन्न थी और इसकी शुरुआत पेत्रोग्राद से हुई थी जहां मजदूरों के प्रदर्शन में सेना के जवानों ने भी भाग लिया. उस समय लोगों की मानसिकता का आभास पेत्रोग्राद पुलिस की इस रपट से हो जाता है : आम हड़ताल के विचार के नये-नये समर्थक रोज-ब-रोज पैदा होते जा रहे हैं और वह आजकल उतना ही लोकप्रिय हो रहा है, जितना 1905 में था.

1905 एक बार फिर सामने था, लेकिन इस बार शक्ति संतुलन उलट चुका था. जारशाही बेचारगी की स्थिति में थी तथा मजदूर-किसान-जवान आक्रामक तेवर में. 25 फरवरी (10 मार्च) रूस के इतिहास में निर्णायक दिन का पैगाम लेकर आया. उस दिन

फिर देशव्यापी हड़ताल हुई जिसके बैनर पर मजदूरी और काम के घंटों के नारे नहीं थे. उसके नारे थे : 'जारशाही मुर्दाबाद', 'युद्ध की नीति मुर्दाबाद', 'हमें युद्ध नहीं, रोटी चाहिए'.

अगले दिन वह घटना हुई जिसका इंतजार क्रांति वर्षों से कर रही थी. पाव्लोव्स्की रेजिमेंट की चौथी कंपनी के रिजर्व बटालियन ने मजदूरों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और उस पुलिस टुकड़ी पर गोली चलायी जो मजदूरों के साथ भिड़ंत कर रही थी. रूसी इतिहास में 'मजदूर-किसान-जवान एकता' का सपना साकार हो रहा था, जारशाही के दिन लद चुके थे. उसी दिन जार ने एक राज्यादेश जारी किया : 'राज्य के मौलिक कानून की धारा 99 के तहत हम आदेश देते हैं कि राज्य दुमा और कौंसिल ऑफ स्टेट का सत्र स्थगित रहेगा और आपातकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 1917 में फिर आहुत किया जायेगा. सिनेट इस राज्यादेश को लागू करने के लिए जिम्मेवार होगा'.

यह निकोलस द्वितीय का अंतिम राज्यादेश था जिस पर अमल नहीं हुआ. 27 फरवरी जारशाही के पतन का दिन था. पेत्रोग्राद की फौजी छावनी ने मजदूरों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और वे उनकी पांत में शामिल होने लगे. उस दिन सुबह में लगभग दस हजार सैनिक मजदूरों के पक्ष में खड़े हुए, लेकिन शाम होते-होते उनकी संख्या लगभग साठ हजार हो गयी. ये सैनिक यहीं तक नहीं रूके. उन्होने जार के मंत्रियों और सेना के जनरलों को गिरफ्तार करना तथा राजनीतिक बंदियों को रिहा करना शुरू कर दिया था. जेलों से मुक्त हुए राजनीतिक लोग जारशाही के खिलाफ जंग में शरीक होने लगे. जारशाही ध्वस्त हो चुकी थी और नयी राज्य व्यवस्था कायम होने वाली थी. सोवियतों के रूप में.

1905 की क्रांति में ही सोवियतों के गठन की शुरुआत हो गयी थी. लेकिन दोनों में मौलिक अंतर था. तब सिर्फ मजदूर प्रतिनिधियों की सोवियतें बनी थीं, इस बार मजदूरों और सैनिकों की सोवियतों का गठन हो रहा था. दूसरी तरफ 27 फरवरी को ही सत्ता की एक नयी व्यूह रचना चल रही थी. मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों के साथ गुप्त समझौता के तहत चौथी दुमा के उदारवादी प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें अध्यक्ष रोद्ज्यान्को के नेतृत्व में एक 'अस्थायी कमिटी' का गठन किया गया. यह सत्ता केंद्र स्थापित करने का तात्कालिक प्रयास था.

थोड़े ही दिनों बाद दुमा की अस्थायी कमिटी तथा मजदूरों और सैनिकों की सोवियत की कार्यकारिणी कमिटी के मेंशेविक और समाजवादी क्रांतिकारी प्रतिनिधियों के बीच बैठक हुई जिसमें प्रिंस ल्वोव के नेतृत्व में अस्थायी सरकार के गठन का फैसला लिया गया. इस फैसले के साथ ही यह तस्वीर साफ हो गयी कि क्रांति के बाद भी जार के बिना जारशाही जारी रहेगी. यह प्रिंस वहीं व्यक्ति था जिसे जार फरवरी क्रांति के पहले अपना प्रधान मंत्री नियुक्त करने का मन बना रहा था.

इस अस्थायी सरकार में संवैधानिक जनवादियों के नेता मिल्यूकोव तथा अक्तूबरवादियों के नेता गुचकोव शामिल किये गये. इस प्रकार यह सरकार पूंजीपतियों और जमींदारों की सरकार बन गयी. दिखाने के लिए समाजवादी क्रांतिकारी नेता केरेंस्की मंत्रिमंडल में शामिल किये गये.

2 मार्च को एक ऐसी घटना घटी जिसने अस्थायी सरकार की जारपरस्ती को दिन के उजाले की तरह साफ कर दिया. सरकार ने गुचकोव और शुल्गिन को जार के पास इस प्रस्ताव के साथ भेजा कि उनके भाई मिशेल रमानोव को जार नियुक्त कर दिया जाय. भीतर-भीतर यह बात चल ही रही थी कि इस बीच रेलकर्मियों की एक सभा में गुचकोव ने जोश में आकर 'जार मिशेल जिंदाबाद' का नारा लगा दिया. मजदूरों की ओर से भारी विरोध हुआ और मांग उठने लगी कि गुचकोव को अविलंब गिरफ्तार किया जाय. इसके बाद अस्थायी सरकार की खुली जारपरस्ती का एजेंडा खत्म हो गया.

दूसरी तरफ मजदूरों और सैनिकों की सोवियतों का सत्ता केंद्र भी उभर रहा था. ये सैनिक प्रतिनिधि मूलतः वे किसान थे जिन्हें युद्ध के समय सेना में भेज दिया गया था. इन प्रतिनिधियों ने बाद के दिनों में मजदूर और किसान सोवियतों के बीच एकता कायम करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी. इस दौर में रूस अपने राजनीतिक जीवन की अत्यंत विलक्षण परिस्थिति से गुजर रहा था, जहां दो सत्ता केंद्र एक साथ मौजूद थे. एक तरफ अस्थायी सरकार थी जो पूंजीवादी तानाशाही का प्रतिनिधित्व कर रही थी और दूसरी तरफ मजदूरों-सैनिकों की सोवियत थी जो मजदूरों-किसानों के अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व कर रही थी.

समाजवादी क्रांति की राह पर

नये सत्ता केंद्र की स्थापना के बाद बोल्शेविकों के बीच बहस छिड़ी कि इस सरकार के प्रति कैसा रूख अपनाया जाय और क्रांति की अगली रणनीति क्या हो? इसके साथ यह सवाल भी जुड़ा था कि मजदूरों के इस तरह बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने के बावजूद रूस में पूंजीवादी सरकार की स्थापना कैसे हो गयी?

इस परिस्थिति की व्याख्या करते हुए लेनिन ने बताया कि रूस फिलहाल यूरोप का सबसे बड़ा निम्न पूंजीवादी देश है, इसलिए इस वर्ग के विचारों का प्रभाव काफी हद तक लाजिमी था. इसी क्रम में रूस की सामाजिक संरचना को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि सेना से लेकर मजदूरों के बीच तक बड़ी संख्या में वैसे किसान शामिल हो गये थे, जिन पर निम्न पूंजीवादी विचारधारा की पकड़ काफी मजबूत थी. इसलिए यह मामला सिर्फ निम्न पूंजीपति वर्ग की बहुतायत का नहीं, बल्कि विचारधारा का था.

इस परिस्थिति में बोल्शेविकों ने क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए तीन कार्यभार सामने लाये : लोगों के बीच नयी सरकार के साम्राज्यवादी चरित्र को उजागर करना, मेंशेविकों और

समाजवादी क्रांतिकारियों की गद्दारी का भंडाफोड़ करना तथा लोगों को यह समझाना कि शांति की स्थापना सिर्फ तभी हो सकती है, जब सत्ता पूरी तरह सोवियतों के हाथ में केंद्रित हो.

अस्थायी सरकार के प्रति रुख को लेकर बोल्शेविकों में मतभेद के स्वर पैदा हो रहे थे. लेकिन 3 अप्रैल को लेनिन के आगमन के बाद तस्वीर साफ हो गयी कि क्रांति की इस मंजिल पर रूकना सर्वहारा के वर्ग हित में नहीं है. साथ ही यह राष्ट्रहित तथा जनहित में भी नहीं है. इसलिए उन्होने समाजवादी क्रांति की अगली मंजिल की रूप रेखा पेश कर दी. उनकी इस कार्य योजना को 'अप्रैल थीसिस' के रूप में जाना जाता है. इस थीसिस में उन्होने समाजवादी क्रांति के लिए निम्नलिखित बिंदुओं पर जोर दिया :

भूमि का राष्ट्रीयकरण तथा बड़ी-बड़ी जमींदारियों की जब्ती, सभी बैंकों का विलय कर नेशनल बैंक की स्थापना और उसे मजदूर प्रतिनिधियों की सोवियत के अधीन लाना तथा सामाजिक उत्पादन और उत्पादों के वितरण को मजदूर-किसान सोवियतों की सत्ता के अधीन लाना, संसदीय गणतंत्र की जगह सोवियत गणतंत्र और नये इंटरनेशनल की स्थापना. इन्हीं कार्यक्रमों के साथ लेनिन बोल्शेविक पार्टी से समाजवादी क्रांति की दिशा में निस्संकोच बढ़ते जाने का आह्वान कर रहे थे. उनका नारा था : 'अस्थायी सरकार को कोई समर्थन नहीं'. 24 अप्रैल को खुला सम्मेलन कर बोल्शेविकों ने इसे पार्टी नीति के रूप में स्वीकार कर लिया. इस घोषणा के साथ ही पूंजीवादी पार्टियों के साथ-साथ मेंशेविकों तथा समाजवादी क्रांतिकारियों के खेमे में भी बेचैनी बढ़ गयी.

मेंशेविकों ने यह घोषणा कर दी कि क्रांति खतरे में है. जाहिर है, मजदूर-सैनिक सोवियत के हाथ में सत्ता सौंपने के नारे से वे डर गये थे. प्लेखानोव ने अपने अखबार 'यदिनेस्तोव' (एकता) में 3 अप्रैल के लेनिन के भाषण को बिना सिर पैर का प्रलाप घोषित कर दिया.

18 अप्रैल को अस्थायी सरकार के विदेश मंत्री मिल्यूकोव ने मित्र राष्ट्रों को संदेश भेजा कि रूस की जनता अंतिम विजय तक युद्ध जारी रखने के पक्ष में है. इसलिए सरकार मित्र राष्ट्रों के समर्थन में जार की संधि को जारी रखने का इरादा रखती है. मजदूरों और सैनिकों को इस घोषणा की जानकारी मिल गयी. बोल्शेविक पार्टी ने इसके खिलाफ 20 अप्रैल को आम हड़ताल का आह्वान किया. उन्होने यह स्पष्ट किया कि जारशाही के खात्मे के बावजूद उसकी नीतियां बदस्तूर जारी हैं. इस आह्वान के फलस्वरूप लाखों मजदूर और सैनिक सड़कों पर आ गये. उनके बैनर पर लिखा था-गुप्त समझौतों का खुलासा करो ! युद्ध खत्म करो ! सारी सत्ता सोवियतों के हाथ में दो !

हड़तालियों का विशाल जुलूस पेत्रोग्राद की सड़कों से गुजर रहा था. इसी बीच कोर्निलोव ने उस पर गोली चलाने का आदेश दिया. लेकिन सेना के जवानों ने आदेश मानने से इनकार कर दिया. इस परिस्थिति से उत्साहित होकर पेत्रोग्राद पार्टी कमिटी के कुछ सदस्यों ने

अस्थायी सरकार को अविलंब उखाड़ फेकने का नारा उछाल दिया. केन्द्रीय कमिटी ने इसकी आलोचना वाम भटकाव के रूप में की. उन्होने इस अवधि को क्रांति के शांतिपूर्ण विकास की अवधि के रूप में चिह्नित किया. उनका मानना था कि इस घटना से इतना ही साबित होता है कि अस्थायी सरकार संकटग्रस्त हो चुकी है.

सरकार ने अपने संकट का समाधान खोज लिया. 12 मई को मिल्यूकोव और गुचकोव सरकार से हटाये गये और मेंशेविकों तथा समाजवादी क्रांतिकारियों को शामिल कर साझा अस्थायी सरकार का गठन हुआ. बोल्शेविकों का आरोप पूरी तरह सच साबित हो गया कि ये मजदूरों किसानों के खेमे में बैठे पूंजीपतियों के सेवक हैं.

30 मई से 3 जून तक पेत्रोग्राद फैक्ट्री कमिटी का सम्मेलन हुआ जिसमें प्रतिनिधियों के तीन चौथाई बहुमत ने बोल्शेविक नीति का समर्थन किया. ऐसा लगता था कि पेत्रोग्राद का सर्वहारा बोल्शेविक नारा - पूरी सत्ता सोवियतों हाथ में - के समर्थन में खड़ा है. यह अगली क्रांति की दिशा में कूच करने के बोल्शेविकों के आह्वान का मजदूर जनता का जवाब था.

दूसरी ओर तीन जून को ही सोवियतों की पहली अखिल रूसी कांग्रेस संपन्न हुई. बोल्शेविक इसमें अल्पमत में थे और मेंशेविकों तथा समाजवादी क्रांतिकारियों का भारी बहुमत था. फिर भी, इस कांग्रेस में बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने पूंजीपतियों के साथ समझौते के खतरों और इस युद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र पर काफी जोर दिया. लेनिन ने अपने भाषण में यह साबित किया कि सिर्फ सोवितय सत्ता ही मजदूरों को रोटी और किसानों को जमीन दे सकती है तथा शांति स्थापित कर देश को इस उहापोह के स्थिति से बाहर निकाल सकती है. इसी नारे के साथ पेत्रोग्राद सोवियत की कार्यकारिणी के सामने एक जुलूस निकाला गया जिसमें बोल्शेविक नीति की पुष्टि की गयी.

इन सब के बावजूद अस्थायी सरकार ने युद्ध के मोर्चे पर नया आक्रामक अभियान छेड़ने का निर्णय ले लिया. उसने ऐसा साहस इसलिए किया कि उसे सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था. इस घोषणा के साथ मजदूर वर्ग के बीच उसने यह संदेश दिया कि वह साम्राज्यवादी नीति को जारी रखना चाहती है, ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों की इच्छा के सामने नतमस्तक रहना चाहती है. पूंजीपति वर्ग को ऐसा लगता था कि देश को युद्ध में झोंककर वह सत्ता पूरी तरह हथिया सकता है, सोवियतों को मैदान से बाहर धकेल सकता है तथा बोल्शेविकों को कुचल दे सकता है. उसकी यह भी योजना थी कि इस अभियान में हार के बावजूद वह इसकी जिम्मेवारी बोल्शेविकों पर यह कहते हुए मढ़ देगा कि उन्होने ही सेना में टूट-फूट की स्थिति पैदा की है.

उन्हें सही स्थिति का ज्ञान नहीं था. इस निर्णय के तुरंत बाद पेत्रोग्राद मजदूरों और सैनिकों का स्वतःस्फूर्त प्रदर्शन (3 जुलाई) शुरू हुआ. यह स्थिति दिन भर जारी रही और

अंततः हथियारबंद प्रदर्शन ने यह मांग रखी कि सारी सत्ता सोवियतों को सौंप दी जाय. उस समय बोल्शेविक पार्टी हथियारबंद कार्रवाई के पक्ष में नहीं थी. उसका मानना था कि यह क्रांति के शांतिपूर्ण विकास का काल है और यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों के साम्राज्यवादपरस्त चरित्र का पूरी तरह पर्दाफास नहीं हो जाता और जब तक सेना का और ज्यादा समर्थन क्रांति को नहीं मिल जाता. जिसका डर था वहीं हुआ. पेत्रोग्राद में बाहर के सैनिक बुलाये गये तथा शांतिपूर्ण प्रदर्शन पर गोलियां चलायी गयीं. राजधानी की सड़कें मजदूरों और जवानों के खून से लथपथ हो गयीं.

7 जुलाई को लेनिन के खिलाफ एक बार फिर गिरफ्तारी का वारंट जारी कर दिया गया. उन पर उकसावेबाज और जर्मन एजेंट होने का आरोप लगा. उनके साथ-साथ कई बोल्शेविक नेताओं पर राजद्रोह का मुकदमा थोप दिया गया. लेनिन को एक बार फिर रूस से बाहर फिनलैंड में शरण लेनी पड़ी. रूस जो फरवरी क्रांति के बाद दुनिया का सबसे जनवादी देश बन गया था, एक बार फिर जनवाद का गला घोंटने पर उतारू हो गया. जो काम पूंजीपतियों के प्रतिनिधि मिल्यूकोव और गुचकोव नहीं कर सके थे, वह केरेंस्की और उनकी कंपनी ने कर दिखाया. सोवियत सत्ता का गला घोंट दिया गया, सत्ता के दोहरे केंद्र की व्यवस्था खत्म हो गयी और क्रांति के शांतिपूर्ण विकास की संभावना समाप्त हो गयी.

इतिहास का विचित्र विरोधाभास था कि एक तरफ लेनिन भूमिगत होने को बाध्य थे और दूसरी तरफ समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी के नेता केरेंस्की 8 जुलाई को अस्थायी सरकार की बागडोर संभाल रहे थे. अब पूंजीवादी सरकार की कमान समाजवाद का नकाब लगाये पूंजीवादी दलाल के हाथ में थी और सर्वहारा क्रांति की कमान असली समाजवादी नेता के हाथ में. दोनों एक दूसरे के आमने-सामने थे. जानी दुश्मन के रूप में.

इस परिस्थिति में पार्टी कांग्रेस का आयोजन जरूरी हो गया था. दस वर्षों के लंबे अंतराल के बाद पार्टी की छठी कांग्रेस का आयोजन 26 जुलाई से 3 अगस्त तक किया गया. उल्लेखनीय है कि जारशाही के खात्मा के बावजूद और समाजवादी क्रांतिकारी नेता केरेंस्की के शासन में बोल्शेविक पार्टी की कांग्रेस गोपनीय ढंग से संपन्न हो रही थी.

लेनिन इस कांग्रेस में शामिल नहीं थे. वे भूमिगत रहकर कांग्रेस को दिशा निर्देश दे रहे थे. इस परिस्थिति में एक बार फिर साबित हो रहा था कि पूंजीवादी जनवाद विद्रोही मजदूरों के दमन के सिवाय और कुछ नहीं है. लेकिन दमन हर बार कारगर हथियार साबित नहीं होता. जब उसका सामना विद्रोही जनता से होने लगता है, तो दमन की हर कार्रवाई नये विद्रोह को जन्म देने लगती है. रूस ऐसे ही मुकाम पर खड़ा था और इस मुकाम तक पहुंचाने में बोल्शेविकों के राजनीतिक प्रचार अभियान ने काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी. उनकी प्रचार संरचना का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 3 जुलाई तक यानी

जब बोल्शेविक कानूनी ढंग से काम कर रहे थे, उनकी देख रेख में 41 पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं. इनमें 29 रूसी में थीं और 12 अन्य भाषाओं में.

इस सघन प्रचार अभियान और समझौताविहीन संघर्ष का नतीजा था कि इस दमन की कार्रवाई के बाद केरेंस्की सरकार से तथा मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों से मजदूरों-किसानों का मोहभंग तेजी से होने लगा और उनकी छवि 'सोशल जेलर' की बनने लगी. स्थिति यह बन गयी कि बड़ी संख्या में मजदूर-किसान मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों के सदस्यता कार्ड फाड़कर बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने लगे. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' के लेखक ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा था कि जुलाई तक जो बोल्शेविक छुपते और भागते फिरते थे, अक्तूबर आते-आते रूस के भाग्य विधाता कैसे बन गये ! यह सब इसलिए संभव हो सका कि बोल्शेविकों ने 'अस्थायी सरकार' में नहीं शामिल होने और समाजवादी नामधारी पार्टियों के असली चरित्र को उजागर करने की सही रणनीति निरंतर ढंग से अपनायी थी.

छठी पार्टी कांग्रेस इस संघर्ष की अगली कड़ी थी. इस कांग्रेस के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी कि क्रांति की अगली मंजिल यानी सशस्त्र विद्रोह की मंजिल में विभिन्न कार्रवाइयों का उचित समन्वय और संयोजन किया जाय. पार्टी ने इस काम को भलीभांति अंजाम दिया और मजदूरों तथा सैनिकों का आह्वान किया कि इस कार्यभार को पूरा करने के लिए कमर कस लें. लेकिन बहस का सैद्धांतिक और राजनीतिक मुद्दा यह था कि क्रांति के बाद मजदूर-किसान राज का केंद्रीय कार्यभार क्या होगा?

लंबे समय तक मेंशेविक और बोल्शेविक धाराओं के बीच दोलन करते हुए त्रॉत्स्की और उनकी मंडली इसी कांग्रेस में बोल्शेविक पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर चुके थे . उनके एक अनुयायी ने कांग्रेस में यह प्रस्ताव पेश किया कि रूस समाजवाद की दिशा में तभी बढ़ सकता है जब पश्चिमी देशों में क्रांतियां संपन्न हों. इस प्रस्थापना का खंडन करते हुए स्तालिन ने कहा कि इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि रूस पूरी दुनिया को समाजवाद की राह दिखाने वाला पहला देश बन सकता है. साथ ही उन्होंने यह भी आह्वान किया कि हम लोगों को पुराना विचार छोड़ देना चाहिए कि यूरोप ही समाजवाद का पथ प्रदर्शक बन सकता है. यह पुरानपंथी मार्क्सवाद है और दूसरा रचनात्मक. हमें दूसरी अवधारणा का अनुसरण करना चाहिए.

इसी कांग्रेस में बुखारिन ने मजदूर-किसान संश्रय पर भी प्रश्न खड़े किये. इसके जवाब में स्तालिन ने स्पष्ट किया कि किसान समुदाय में अलग-अलग खेमाबंदी है. धनी किसान पूंजीपतियों के पक्ष में है और गरीब किसान मजदूरों के साथ गठबंधन के पक्ष में. समग्रता में इस कांग्रेस ने लेनिन की अप्रैल थीसिस को क्रांति के वर्तमान चरण के लिए कार्यभार के

रूप में स्वीकार किया और 'नये युद्ध के लिए तैयार हो जाओ' तथा 'पार्टी के बैनर तले एकजुट हो जाओ' के नारों के साथ कांग्रेस का समापन हुआ.

एक तरफ बोल्शेविक क्रांति की रणनीति रच-गढ़ रहे थे, तो दूसरी तरफ प्रतिक्रियावादी जन विद्रोह के दमन के नये-नये हथकंडे खोज रहे थे. वे एक तरफ सोवियत को पूरी तरह नेस्तानाबूद कर देना चाहते थे, तो दूसरी तरफ कठोर अनुशासन के नाम पर विद्रोही सैनिकों के दमन की तैयारी कर रहे थे. सेना प्रमुख कोर्निलोव युद्ध के मोर्चे पर सैनिकों के मृत्यु दंड का प्रावधान लागू कर रहा था, वह अब मांग कर रहा था कि यह प्रावधान शांति क्षेत्र में भी लागू किया जाय.

राजनीतिक हलकों में अस्थायी सरकार ने 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के गठन के लिए जमींदारों, पूंजीपतियों, सेनाप्रमुखों तथा क़ज्जाकों की बैठक का आयोजन किया. इसमें केरेंस्की ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की कि क्रांति के हर प्रयास का बलपूर्वक दमन किया जायेगा. जमींदारों की जमीन दखली के किसानों के अनधिकृत प्रयास के साथ भी इसी कठोरता के साथ निबटा जायेगा. बोल्शेविकों ने इस प्रयास के खिलाफ मजदूरों की हड़ताल का आह्वान किया और इसका राष्ट्रव्यापी प्रभाव पड़ा.

इस राजनीतिक साजिश के साथ-साथ सैन्य साजिश की भी तैयारी चल रही थी जिसे 'कोर्निलोव षडयंत्र' के नाम से जाना जाता है. इस षडयंत्र को उचित साबित करने के लिए यह अफवाह फैलाया गया कि बोल्शेविक फरवरी क्रांति के छठे माह की समाप्ति के अवसर पर विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं. इसी बहाने वह पेत्रोग्राद पर सैन्य हमला करना चाहता था. शुरू में केरेंस्की सरकार इस अभियान के पक्ष में थी. लेकिन अंत में वह पीछे हट गयी.

बोल्शेविकों ने इस परिस्थिति का मुकाबला बड़े साहस के साथ किया और षडयंत्र को विफल करने का चौतरफा प्रयास शुरू हुआ. मजदूरों और सेना के जवानों का आह्वान किया गया कि वे इसका डटकर मुकाबला करें. इस आह्वान के अनुसार तैयारी भी होने लगी. मजदूर हथियारबंद होने लगे, बैरक बनाये जाने लगे, रेलवे लाईन को तहस-नहस किया जाने लगा, अवरोध खड़े किये जाने लगे तथा सेना के जवान हर परिस्थिति का मुकाबला की तैयारी करने लगे. एक तरफ यह तैयारी चल रही थी और दूसरी तरफ सैन्य इकाइयों में ऐसे प्रतिनिधि भेजे जा रहे थे जो जवानों को कोर्निलोव की असलियत से अवगत करा सकें. इसका असर पड़ा और सच्चाई जानने के बाद जवानों ने 'पेत्रोग्राद मार्च' से इनकार कर दिया. अपनी योजना की विफलता के बाद कोर्निलोव ने आत्म हत्या कर ली और उसके सहयोगी देनिकिन को गिरफ्तार कर लिया गया. लेकिन केरेंस्की सरकार ने उदारता और दयाभाव दिखाते हुए उसे तुरंत छोड़ दिया.

कोर्निलोव कांड ने सारी दुनिया के सामने साफ कर दिया कि रूसी समाज में एक

गुणात्मक बदलाव आ चुका है. क्रांति और प्रतिक्रांति की शक्तियों में क्रांतिकारियों का पलड़ा भारी है. इस सच्चाई को इसी बात से समझा जा सकता है कि बोल्शेविक सत्तासीन नहीं थी, लेकिन सत्ता का केंद्र उन्हीं के पास था. मजदूर और जवान निःसंकोच उनके निर्देशों का पालन करने लगे थे. इसका असर ग्रामीण समाज पर भी पड़ा. गरीब किसान सदल-बल बोल्शेविक खेमा में आने लगे. मध्यम किसानों तक को यह आभास होने लगा कि उनके हित बोल्शेविकों के पक्ष में रहकर ही सुरक्षित रह सकते हैं. शक्ति संतुलन में इस बदलाव से देहातों में जमींदारों की जमीन जब्ती का अभियान तेजी से शुरू हो गया. इस बदलती परिस्थिति में पेत्रोग्राद और मास्को सोवियत भी बोल्शेविकों के पक्ष में आ गये.

जाहिर है कि इस वर्गीय संतुलन में आये हलचल का प्रभाव राजनीतिक संतुलन पर पड़ना था. इस प्रभाव में मेंशेविक और समाजवादी क्रांतिकारी पार्टियों में टूट की प्रक्रिया शुरू हो गयी और उनका वाम हिस्सा बोल्शेविकों के पक्ष में खड़ा होने लगा.

इस शक्ति संतुलन के बावजूद पूंजीपति वर्ग सत्ता छोड़ने को तैयार नहीं था. उसने आम जनता में भ्रम पैदा करने के लिए एक बार फिर जनवाद का चोला पहनने का प्रयास किया. इस उद्देश्य से 12 सितंबर को अखिल रूसी जनवादी सम्मेलन का आयोजन किया गया. इसमें समाजवादी नामधारी पार्टियों, समझौतापरस्त सोवियतों, ट्रेड यूनियनों, जेम्त्स्वो प्रतिनिधियों तथा पूंजीपति शामिल थे. इस सम्मेलन में गणतंत्र के अस्थायी संस्था के गठन की घोषणा की गयी जिसे प्री-पार्लियामेंट के नाम से जाना जाता है.

बोल्शेविकों ने इसके बहिष्कार का निर्णय लिया. वे अपने पुराने नारे पर कायम थे-सारी सत्ता सोवियतों को. अपने इस नारे को अमली जामा पहनाने के लिए वे अक्तूबर के उत्तरार्द्ध में सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस के आयोजन की मांग कर रहे थे. लेकिन इस पार्टी के कामेनेव तथा जिनोव्येव जैसे लोग इसमें शामिल होने की वकालत कर रहे थे.

पेत्रोग्राद और मास्को की सोवियतों में बहुमत हासिल कर लेने के बाद बोल्शेविक जनविद्रोह की सघन तैयारी में लग गये. क्रांति के संचालन के नीति निर्धारण के लिए 10 अक्तूबर को केंद्रीय कमिटी की बैठक बुलायी गयी जिसमें हथियारबंद संघर्ष को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया. इस बैठक में विश्व परिस्थिति तथा रूस की आंतरिक स्थिति का मूल्यांकन करते हुए लेनिन इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे कि राजसत्ता पर कब्जा करने का माकुल समय आ गया है. उन्होंने अपने प्रस्ताव में इस खतरे के प्रति आगाह किया कि अस्थायी सरकार राजधानी पेत्रोग्राद से मास्को शिफ्ट करने की तैयारी कर रही है और इसके पीछे उसका इरादा क्रांति के इस केंद्र को जर्मन जल्लादों के हवाले कर देने का है. साथ ही उन्होंने चेतावनी दी कि दूसरा कोर्निलोव षडयंत्र भी रचाया जा सकता है. ऐसी स्थिति में उचित और जरूरी यही है कि पूंजीवादी गद्दारों को राजसत्ता से बेदखल कर दिया जाय. इसी

बैठक में क्रांतिकारी सैन्य कमिटी (पेत्रोग्राद) का भी गठन किया गया.

केंद्रीय कमिटी के दो सदस्यों कामेनेव और जिनोव्येव ने इस प्रस्ताव का विरोध किया. वे पूंजीवादी जनतंत्र की स्थापना के हिमायती थे. उनका विरोध यही तक नहीं रूका. 16 अक्तूबर की विस्तारित केंद्रीय कमिटी की बैठक में विद्रोह की विस्तृत और बारीक योजना बनायी जा रही थी. इन दोनों ने एक बार फिर विरोध किया. कमिटी के भीतर अपनी पराजय के बाद 18 अक्तूबर को इन लोगों ने मेंशेविक अखबार 'नोवाया जिज्न' में पूरी योजना का खुलासा करते हुए अपना विरोध खुले आम जाहिर कर दिया. यह पार्टी और क्रांति के खिलाफ खुली गद्दारी थी.

दूसरी तरफ केरेंस्की की प्रतिक्रियावादी सरकार भी अपनी तैयारी में जोर-शोर से लगी हुई थी. एक तरफ सेना में अफसरों का संगठन 'ऑफिसर्स लीग' बनाया जा रहा था, तो और दूसरी ओर क्रांति से निबटने के लिए 'शॉक बटालियन' बनाये जा रहे थे. आनन-फानन में 43 'शॉक बटालियन' खड़े कर लिये गये. अपनी तैयारी के अनुसार ही उन्होने 19 अक्तूबर को मोर्चे से पेत्रोग्राद और मास्को के लिए सैनिक टुकड़ियां बुलवाना शुरू कर दिया. मास्को में ऐसा करने में वे सफल भी रहे. पेत्रोग्राद में उनकी योजना थी कि पेत्रोग्राद सोवियत और बोल्शेविक केंद्रीय कमिटी के मुख्यालय स्मोल्नी पर उसी दिन हमला बोल दिया जाय जब सोवियतों का अखिल रूसी सम्मेलन चल रहा हो.

केरेंस्की सरकार ने क्रांतिकारी आंदोलन पर करारा हमला 24 अक्तूबर को ही बोल दिया. बोल्शेविक पार्टी का मुख्य पत्र 'राबोचाया पुत' के मुख्यालय पर हमला से कार्रवाई शुरू हुई. लेकिन रेड गार्ड और क्रांतिकारी जवानों के प्रत्याक्रमण के सामने उन्हें पीछे हटना पड़ा और दिन के 11 बजते-बजते अखबार 'अस्थायी सरकार को उखाड़ फेंको' के आह्वान के साथ लोगों के सामने आया. इसके साथ ही क्रांति के दिशा-निर्देश के लिए गठित पार्टी सेंटर के आदेश पर जवानों और लाल दस्तों की टुकड़ियां स्मोल्नी भवन भेज दी गयीं.

24 अक्तूबर को लेनिन स्मोल्नी पहुंचे और कार्यकलापों की कमान अपने हाथ में ले ली. रेड गार्ड और सेना की टुकड़ियों को अस्थायी सरकार के मुख्यालय शीत प्रासाद को घेरने के लिए भेज दिया गया. 25 अक्तूबर (7 नबंबर) को पेत्रोग्राद के रेलवे स्टेशन, डाक घर, तार घर, मंत्रालय तथा स्टेट बैंक पर क्रांतिकारियों ने कब्जा जमा लिया. उसी दिन बोल्शेविकों ने रूस की जनता के नाम एक घोषणापत्र जारी किया जिसमें कहा गया कि पूंजीवादी 'अस्थायी सरकार' को ध्वस्त कर दिया गया है और सत्ता सोवियतों के हाथ में आ गयी है.

उसी दिन स्मोल्नी में सोवियतों की दूसरी कांग्रेस का अधिवेशन देर रात शुरू हुआ. इसमें बोल्शेविकों के अपार बहुमत को देखते हुए मेंशेविकों, बुंदों तथा दक्षिणपंथी समाजवादी क्रांतिकारियों ने इसका बहिष्कार किया. उन्होने इस अधिवेशन में ही वक्तव्य जारी कर इस

क्रांति को 'सैन्य षडयंत्र' घोषित कर दिया. अधिवेशन में उनकी इस कार्रवाई की निंदा करते हुए खुशी व्यक्त की गयी कि गद्दारों ने पिंड छोड़ दी. उसके बाद सोवियतों की इस कांग्रेस ने अपनी घोषणा जारी की :

'मजदूरों, सैनिकों और किसानों के भारी बहुमत के समर्थन से तथा पेत्रोग्राद में संपन्न मजदूरों और सेना के जवानों की विजय क्रांति के समर्थन से यह कांग्रेस सत्ता अपने हाथ में लेती है.'

इस घोषणा के साथ ही बोल्शेविकों का चिर प्रतीक्षित नारा 'सारी सत्ता सोवियतों को' अस्तित्व में आ गया. अगले दिन इस कांग्रेस की ओर से दो राज्यादेश जारी किये गये- शांति के बारे में और जमीन के सवाल पर. पहले राज्यादेश में रूस की सरकार की शांति की मंशा का इजहार किया गया और युद्धरत देशों की सरकारों तथा मजदूरों के सामने शांति स्थापना का प्रस्ताव भेजा गया. दूसरे राज्यादेश में घोषणा की गयी कि जमीन पर से जमींदारों का स्वामित्व बिना मुआवजा के खत्म किया जाता है और जमीन पर राज्य का स्वामित्व कायम किया जाता है. साथ ही यह घोषणा की गयी कि जमींदारों, जार परिवारों, चर्चों और धार्मिक संस्थाओं की जमीन जोतने वाले किसानों को बिना किसी भुगतान के दी जायेगी. इस आदेश के बाद 40 करोड़ एकड़ से अधिक जमीन जोतने वाले किसानों के हाथों में चली गयी. उसी तरह किसान जमींदारों को कर अदा करने से भी मुक्त हो गये और लगभग 50 करोड़ रूबल किसानों की आय में जुड़ गया. इसी आदेश के तहत खनिज संपदा, जंगल और जल स्रोतों को निजी कब्जे से मुक्त कर सार्वजनिक संपति घोषित कर दी गयी.

इसके साथ ही इस कांग्रेस ने पहली सोवियत सरकार का गठन किया जिसके अध्यक्ष लेनिन चुने गये.

इन कदमों के साथ ही रूसी क्रांति का पहला चरण - राजसत्ता पर कब्जा का चरण - पूरा हो गया. लेकिन अगला चरण इससे भी ज्यादा चुनौतीपूर्ण था. उसमें घरेलू तथा विदेशी प्रतिक्रियावादियों के हमलों के साथ-साथ विभिन्न किस्म के नकली समाजवादियों के भितरघात का सामना करना था. लेनिन ने किसी एक देश में समाजवाद की विजय का जो सपना देखा था वह साकार हो गया था. हर कदम पर अपने दुश्मनों और आलोचकों का सामना करते हुए लेनिन और बाद में स्तालिन ने समाजवाद को आगे बढ़ाया तथा रूस पूरी दुनिया की सर्वहारा क्रांति के आधार क्षेत्र के रूप में स्थापित हो गया. ✦✧✦

शब्द परिचय

दिसंबरवादी : अभिजात विद्रोहियों का संगठन. दिसंबर 1825 में भूदास प्रथा के खात्मे और जारशाही की निरंकुशता को सीमित करने के सवाल पर विद्रोह का बिगुल फूंका. इसीलिए दिसंबरवादी कहलाये.

नरोदवादी : निम्नपूंजीवादी आतंकवादी संगठन. 1881 में जार क़ी हत्या के बाद उनके विघटन का दौर शुरू हुआ. ये लोग रूस में पूंजीवाद के विकास को नकारते थे तथा किसानों को क्रांति की मुख्य ताकत मानते थे. रूस में मार्क्सवाद के प्रथम प्रचारक प्लेखानोव पहले इसी धारा के सदस्य थे.

सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी : रूसी मजदूर वर्ग की पार्टी. 1898 में स्थापित.

बोल्शेविक : रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस (1903) में विभाजन के दौरान बहुमत के प्रतिनिधि. लेनिन के नेतृत्व में रूसी क्रांति में लगातार मार्क्सवाद का अनुसरण किया और क्रांति को विजय की मंजिल तक पहुंचाया. तब से 'बोल्शेविक' शब्द क्रांति का पर्याय बन गया.

मेंशेविक : रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में विभाजन के दौरान अल्पमत के प्रतिनिधि. मजदूरों को पूंजीपति वर्ग के पिछलग्गू बनाये रखने की विचार धारा के प्रबल प्रवक्ता. अक्तूबर क्रांति के खिलाफ खड़े हुए. फलस्वरूप 'मेंशेविक' शब्द मजदूर वर्ग की राजनीति में अवसरवाद का प्रतीक बन गया.

इस्क्रा (चिनगारी) : 1902 में लेनिन द्वारा स्थापित पत्रिका. अर्थवाद के खिलाफ वैचारिक संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका. बाद में अवसरवादियों ने इस पर कब्जा कर लिया.

अर्थवाद : मजदूर वर्ग की राजनीति में अवसरवादी धारा जिसका मानना था कि मजदूरों का काम अपनी आर्थिक लड़ाई तक सीमित रहना है.

समाजवादी क्रांतिकारी : 1902 में बिखरे हुए नरोदवादी ग्रुपों को मिलाकर बनी पार्टी. कुलकों के हितरक्षक. दक्षिणपंथी धड़े के नेता केरेंस्की पूंजीवादी सरकार के प्रमुख बने. वामपंथी धड़े ने अक्तूबर क्रांति का समर्थन किया. लेकिन 1918 में ही विरोधी बन गये.

ब्लैक हंड्रेड्स : रूसी समाज के सबसे प्रतिक्रियावादी सामंती जमींदारों के निकृष्टतम प्रतिनिधि. 1905 में गठित. जमींदारों के गुंडों, व्यापारियों के लठैतों तथा समाज के लंपट तत्वों से बना दल.

अक्तूबरवादी : 17 अक्तूबर 1905 की (जार की) घोषणाओं के समर्थक. इसीलिए अक्तूबरवादी कहलाये. बड़े पूंजीपतियों तथा नवजात बड़े पूंजीवादी जमींदारों (कुलकों) के हित रक्षक.

संवैधानिक जनवादी (कैडेट) : उदारवादी पूंजीवाद तथा जारशाही के समर्थक. कानूनी मार्क्सवादियों के बिखरे लोगों को लेकर 1905 में गठित राजनीतिक दल.

त्रुदोविक : निम्न पूंजीवादी जनवादी हिस्से के प्रतिनिधि.

इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी में . . .

25 अक्तूबर (7 नवंबर) 1917 को बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस की राजसत्ता पर मजदूर-किसान गठबंधन का कब्जा इतिहास की अद्‌भूत और अनहोनी घटना थी. दुनिया भर के पूंजीपतियों को उम्मीद थी कि बोल्शेविकों के इस प्रयास का हश्र भी वैसा ही होगा जैसा पेरिस कम्यून का हुआ था. उनकी इस उम्मीद पर पानी फेरते हुए रूसी सर्वहारा ने बाहरी और भीतरी दुश्मनों को पराजित कर क्रांति को जिस तरह सफलता की मंजिल तक पहुंचाया, उसके सामने राज दख़ल की कार्रवाई बच्चों का खेल लगने लगी. देशी और विदेशी पूंजीपतियों के प्रतिरोध संघर्ष पर विजय, नयी आर्थिक नीति के दौर में समाजवाद की मजबूत जमीन तैयार करने के उद्देश्य से पूंजीवादी विकास की सीमित छूट, समाजवाद की दिशा में अगली छलांग, दूसरे विश्वयुद्ध में फासिस्ट हमले के खिलाफ जनयुद्ध तथा सोवियत संघ के पुनर्निर्माण - इन सभी मामलों में सर्वहारा वर्ग ने जिस सूझबूझ और धैर्य का परिचय दिया वह सचमुच मार्क्सवाद के इतिहास में अद्‌भूत मिसाल बन गया. ऐसी मिसाल कायम करने के लिए पार्टी ने भीतर बैठे निम्नपूंजीवादी अवसरवादियों (अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के दलालों) के भीतरी प्रतिरोधों का भी डट कर मुकाबला किया और उन पर विजय पायी. वहाँ सर्वहारा को ज्यादा लंबा और निर्मम संघर्ष का रास्ता इसलिए अख्तियार करना पड़ा कि वह पिछड़े पूंजीवादी देश में समाजवाद का निर्माण कर रहा था. इस शक्ति संतुलन को देखते हुए कहा जा सकता है कि सर्वहारा क्रांति जितने पिछड़े देश में होगी वहां उसे उतने ही लंबे समय तक और उतने ही निर्मम ढंग से दमन का रास्ता अख्तियार करना पड़ेगा.

सर्वहारा अधिनायकत्व के सफल प्रयोग

('रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की दूसरी कड़ी)

सर्वहारा अधिनायकत्व के सफल प्रयोग

('रूसी क्रांति के सौ साल' श्रृंखला की दूसरी कड़ी)

डॉ० राम कवीन्द्र

-: प्रकाशक :-

नवजनवादी लोकमंच

(नजलोम)

प्रथम संस्करण - मई 2016

प्रकाशक :
नवजनवादी लोक मंच
(नजलोम)

C/o. बी. के. शर्मा (एडवोकेट)
11, हलधर महतो कॉलोनी
रोड नं० 17, जवाहर नगर
पो० आजाद नगर, मानगो
जमशेदपुर - 832 110

मुद्रक :
कल्याणी प्रिंटर्स
9, मातृ भवन
न्यू कालीमाटी रोड, साकची
जमशेदपुर - 831 001

सहयोग राशि - 40/-

आवरण पृष्ठ : राइखस्टाग पर लाल झंडा फहराते
लाल सेना के जवान

प्रस्तावना

'रूसी क्रांति के सौ साल' श्रृंखला की दूसरी कड़ी 'सर्वहारा अधिनायकत्व के सफल प्रयोग' में रूसी क्रांति की शानदार उपलब्धियाँ शामिल हैं. पूंजीवादी विचारक और मार्क्सवाद की खाल ओढ़े पूंजी के गुलाम इस क्रांति के खिलाफ चाहे जितनी घृणा का इजहार कर लें, लेकिन वे उसकी दो उपलब्धियों को नहीं नकार सकते. यूरोप के पूंजीवादी समाज ने विकास का जो कीर्तिमान सदियों में हासिल किया था, समाजवादी रूस (बाद में सोवियत संघ) ने दशाब्दियों में उसे पीछे छोड़ दिया. आर्थिक-सामाजिक विकास की यह उपलब्धि उसके शौर्य और पराक्रम के विकास में भी दिखाई पड़ रही थी. दूसरे विश्वयुद्ध की पूर्व वेला में साम्राज्यवादी जगत के जो महारथी हिटलर के पैरों तले सोवियत संघ के रौंदे जाने की उम्मीद कर रहे थे, युद्ध के दौरान आत्मरक्षा के लिए उसके पीछे खड़ा होने को मजबूर हो गये थे तथा यूरोप की निर्वासित सरकारें घर वापसी का सपना देखने लगी थीं.

समृद्धि और पराक्रम के जिस विकास को उन दिनों आश्चर्य की नजर से देखा जा रहा था, आज उन्हें अविश्वास की नजर से देखा जा रहा है. ऐसी स्थिति में रूसी क्रांति के शताब्दी वर्ष में जरूरी है कि हम समस्याओं से जूझ रही जनता के सामने क्रांति की सच्ची तस्वीर पेश करें. उन्हें बतायें की गृहयुद्ध क्या है, वह कितना निर्मम होता है, सर्वहारा अधिनायकत्व क्या है और मानव जाति के विकास के लिए यह सब कितना जरूरी है ? वस्तुतः क्रांति पुरातन को नष्ट कर नूतन को जन्म देती है. वह नये संपति संबंधों, नये सामाजिक संबंधों और इनके आधार पर नये राजनीतिक संबंधों का सृजन करती है, इस प्रकार वह नये मानव का सृजन करती है. ऐसा नहीं हो सकता कि क्रांति संपन्न हो और पुराने संबंध यथावत बने रहें. सर्वहारा अधिनायकत्व पूंजीवादी समाज के गर्भ से नवजात समाज की रक्षा के लिए जरूरी साधन होता है.

रूसी क्रांति ने राज्य के पिछड़े पूंजीवादी समाज में उभरते पूंजीवादी अधिनायकत्व को नष्ट कर मजदूर-किसान संश्रय का अधिनायकत्व कायम किया और सारी दुनिया को दिखा दिया कि एक पिछड़े पूंजीवाद देश में उसका रूप क्या हो सकता है और किस तरह क्रांति के विकास की अलग-अलग मंजिलों में वह अलग-अलग रुख अख्तियार कर सकता है ? रूसी समाज के पिछड़ेपन की वजह से ही एक समय में सर्वहारा सत्ता को पूंजीवादी संबंधों व कुलक अर्थव्यवस्था को फलने-फूलने की सीमित छूट देनी पड़ी और दूसरे समय में मिटा डालने के लिए उनपर निर्मम प्रहार करना पड़ा. यह काम वही पार्टी कर सकती थी जो क्रांतिकारी सिद्धांत को समझने में दक्ष और बदलती सामाजिक परिस्थिति में

उसे लागू करने में निपुण हो. लेनिन, स्तालिन के नेतृत्व तक सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी इस मापदंड पर खरी उतरी थी. इस दौर में भी क्रांति के श्वेत पक्ष के साथ श्याम पक्ष भी अपनी भूमिका निभाता रहा. विकास के हर नये मोड़ पर पुराने क्रांतिकारी राह से भटकते रहे और उनकी जगह पर नये लोग आते रहे.

अक्सरहां यह सवाल उठता है कि एक समय क्रांति में सकारात्मक भूमिका निभानेवाला व्यक्ति बाद में क्रांति विरोधी क्यों हो जाता है ? पहला कारण है क्रांति में शामिल वर्गों/दलों के हितों का टकराव. इसे समझने का सबसे अच्छा उदाहरण वर्ष 1918 में समाजवादी क्रांतिकारियों का विद्रोह है. वार कम्युनिज्म के दौर में समाजवादी क्रांतिकारी कुलकों से जबरन अन्न उगाही के खिलाफ थे और जबरन अन्न उगाही के बिना क्रांति की रक्षा नहीं की जा सकती थी. दूसरा पक्ष वैचारिक है. क्रांति सतत विकासमान प्रक्रिया है और उसे जारी रखने के लिए विकास से उत्पन्न ठोस परिस्थिति के अनुसार निर्णय लेना पड़ता है. जो इस सतत प्रक्रिया के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकते, वे हमेशा क्रांतिकारी बने नहीं रह सकते. रूसी क्रांति की पहली मंजिल में जब उत्पादन व वितरण के साधनों को सोवियत सत्ता के नियंत्रण में लेना था तथा नयी आर्थिक नीति के दौर में पूंजीवादी विकास की गुंजाईश बची थी, बहुतेरे नेता साथ थे. यह प्राक् समाजवाद की मंजिल थी. लेकिन जैसे ही क्रांति समाजवाद की मंजिल में आगे बढ़ी और उसने पूंजीवादी निम्नपूंजीवादी संबंधों पर निर्णायक हमला शुरू किया अतीत के क्रांतिकारी क्रांति के खिलाफ खड़े हो गये और बाहरी दुश्मनों से हाथ मिलाकर साजिश रचने लगे. वे नये दौर में प्रतिक्रियावादी बन गये. इसमें सबसे विवादास्पद भूमिका त्रॉत्स्की की रही है.

रूसी क्रांति के शताब्दी वर्ष में इस जटिल प्रक्रिया के विश्लेषण के पीछे हमारा मकसद सिर्फ इतिहास को याद करना नहीं, बल्कि उसकी प्रेरणा से भावी क्रांति की राह की तलाश करना है. हमारी नजर में वह क्रांति अतीत की अन्य क्रांतियों की तरह इतिहास की वस्तु नहीं बनी है, वह भावी सर्वहारा क्रांति का मार्ग दर्शन कर सकती है क्योंकि लेनिन के दोनों सूत्र आज भी सही हैं कि यह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति का युग है और अब साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी पहले टूटेगी. इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए हमलोगों ने रूसी क्रांति के विश्लेषण का कार्यभार शुरु किया है. हम अपने उद्देश्य में कितने सफल हुए हैं इसका निर्णय पाठकों और आलोचकों को करना है. उनका हर सुझाव हमारे लिए सीख होगी.

- डॉ० राम कवीन्द्र

क्रांति के बाद की अफरा-तफरी

8 नवंबर को सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस के 'शांति' और 'जमीन' संबंधी राज्यादेशों से रूस की जनता को यह संदेश मिल गया था कि 'पूरी सत्ता सोवियतों को' की उसकी आकांक्षा पूरी हो गयी है. इस आकांक्षा की पूर्ति रूसी क्रांति का केंद्रीय प्रश्न बन गया था. मार्च में स्थापित रूसी पूंजीपति वर्ग की सरकार तथा ढुलमुल नरम ''समाजवादी'' सब के सब सोवियतों का गला घोंटने पर उतारू थे. केवल बोल्शेविक, मजदूर वर्ग के सच्चे प्रतिनिधि ही सोवियतों की सत्ता के पक्ष में दृढ़तापूर्वक खड़े थे. सोवियतों की केंद्रीय कार्यकारिणी समिति (त्से-ई-काह) तक की समझ बन गयी थी कि सोवियतों के दिन पूरे हो गये हैं, अब उन्हें मिट जाना चाहिए. उसके नियंत्रण में निकलनेवाले अखबार 'इज्वेस्तिया' की आवाज से उसका नजरिया साफ हो जाता है:

'जब निरंकुश और समूचा नौकरशाही निजाम ध्वस्त हुआ, हमने अस्थायी बारिकों के रूप में सोवियतों की स्थापना की, जहां समस्त जनवाद पनाह ले सकता था. परंतु अब बारिकों की जगह नयी व्यवस्था के स्थायी भवन का निर्माण कर रहे हैं और जनता धीरे-धीरे बारिकों को छोड़कर अधिक सुविधापूर्ण आवास को ग्रहण करती रही है.'(दस दिन जब दुनिया हिल उठी).

स्थायी भवन से उनका मतलब था - पूंजीवादी संसदीय जनतंत्र. इस कथन से साफ है कि सोवियत व्यवस्था रूसी पूंजीपति वर्ग की नजर में अस्थायी और कामचलाऊ व्यवस्था थी. इससे रूसी मजदूरों, किसानों और सेना को यह विश्वास हो गया था कि बोल्शेविकों के नेतृत्व में गठित सोवियत सत्ता पूंजीवादी 'अस्थायी सरकार' की तरह विश्वासघाती नहीं है.

इन दोनों राज्यादेशों से रूस के लोगों को यह भी महसूस हुआ कि पूंजीवादी राष्ट्रहित और सर्वहारा राष्ट्रहित के बीच कितना अंतर है. 'अस्थायी सरकार' की नीति के अनुसार 'मित्र राष्ट्रों' की विजय तक भूखी-नंगी रूसी सेना को युद्ध की चक्की में पिसते रहना राष्ट्रवाद था. वह इस राष्ट्रहित का हवाला देकर मेहनतकश गरीब जनता को भिन्न-भिन्न तरीकों से मौत के मुँह में धकेल रही थी. इसके विपरीत बोल्शेविकों के नेतृत्व में सोवियत सत्ता ने आते-आते 'शांति, रोटी और जनवाद' के अपने वादों को व्यवहार में उतारना शुरू कर दिया था. रूसी जनता को समझ में आने लगा था कि पूंजीवादी राष्ट्रवाद में पूंजीपतियों तथा अन्य संपत्तिधारी वर्गों के स्वार्थ निहित होते हैं और सर्वहारा राष्ट्रवाद में देश की श्रमिक जनता के साथ ही पूरी दुनिया के श्रमिकों की हित-रक्षा की भावना भरी रहती है.

इस भावना के अनुकूल ही सर्वहारा सत्ता ने युद्धरत देशों के पूंजीपति वर्गों के साथ-साथ दुनिया के मजदूरों खासकर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी के मजदूरों से इस प्रयास के पक्ष में

कदम उठाने की अपील की थी. शांति संबंधी घोषणा में युद्धरत सभी देशों की सरकारों तथा जनगण से अपील की गयी कि कम से कम तीन माह तक विराम संधि संपन्न की जाय. यह माना गया कि इस अवधि में युद्ध में शामिल (स्वेच्छा से या जबरन) सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के बीच वार्ता संपन्न हो सकेगी.

भूमि संबंधी आज्ञप्ति की मूल दिशा थी: जमीन से निजी स्वामित्व का उन्मूलन और सारी जमीन सोवियत सरकार की. जार, उसके रिश्तेदारों, जमींदारों और चर्च की जमीन बिना मुआवजा के जब्तकर मेहनतकश किसानों में बांट देना. जमीन संबंधी नीति का निर्धारण रूस के विभिन्न क्षेत्रों के किसानों से प्राप्त जनादेश के आधार पर किया गया था.

बिजली की तेज गति से आयी इस आफत से रूसी पूंजीपति वर्ग दहशत में था, लेकिन नाउम्मीद नहीं हुआ था. उसे उम्मीद थी कि बोल्शेविक सत्ता नहीं चला पायेंगे, रूस का मजदूर वर्ग इस काम में अयोग्य और अक्षम साबित हो जायेगा. फलस्वरूप सत्ता स्वत: उसके हाथों में आ जायेगी. अगर ऐसा नहीं हुआ, तो भी उसके अंतर्राष्ट्रीय आका उसकी मदद में जरूर आयेंगे और पेरिस कम्यून का इतिहास दोहरा दिया जायेगा. इस अर्थ में इतिहास की यह घड़ी बोल्शेविकों की परीक्षा की घड़ी थी. मार्क्सवाद की उनकी समझ, मजदूरों के राजनीतिक प्रशिक्षण व संगठन तथा क्रांति की अफरा-तफरी में धैर्य और आत्मविश्वास की परीक्षा की घड़ी थी. इसी में यह तय होना था कि पेरिस कम्यून दोहराया जायेगा या क्रांति की विजय के साथ मार्क्सवाद का नया मानक स्थापित होगा.

क्रांति की प्रारंभिक घटनायें संकेत देने लगी थीं कि पेरिस कम्यून नहीं दोहराया जायेगा. लेनिन ने उसकी पराजय के कारणों पर मार्क्स-एंगेल्स के विश्लेषण को आत्मसात किया था और व्यवहार में वैसे उतारा था मानो वे गुरू के आदेश हों. जाहिर है, इन दोनों विचारकों ने कम्यून की पराजय के लिए मूलत: उसकी कमजोरियों को जिम्मेवार माना था:

'केंद्रीय समिति और बाद में कम्यून ने पहले गृहयुद्ध आरंभ न करने की अपनी बेवकूफी से उस शरारती बदजात थियेर को विरोधी ताकतों को एकत्रित करने के लिए मौका दे दिया था मानो थियेर ने पेरिस को बलपूर्वक निरस्त्र करने के अपने प्रयास से गृहयुद्ध शुरू नहीं किया था, मानो प्रशावालों के साथ युद्ध अथवा शांति के प्रश्न को तय करने के लिए बुलायी गयी राष्ट्रीय सभा ने तत्काल जनतंत्र के खिलाफ युद्ध की घोषणा नहीं की थी. दूसरे इस बात के लिए कि सत्ता अपहृत करने की प्रतीति उनसे न जुड़े, उन्होने कम्यून के चुनाव द्वारा मूल्यवान समय गंवा दिया, जिसके संगठन आदि में और भी ज्यादा समय लग गया. उन्हें तत्काल पेरिस में प्रतिक्रिया की पराजय - प्लास वांदोम - के बाद वेर्साई पर चढ़ाई कर देनी चाहिए थी. (विल्हेल्म लिब्कनेख्त के नाम मार्क्स का पत्र, 6 अप्रैल, 1871, पेरिस कम्यून में उद्धृत)

इस क्रम में मार्क्स की दूसरी आलोचना :

'यदि कम्यून ने सिर्फ मेरी चेतावनियों को सुना होता ! मैने इसके सदस्यों को मोंमार्त्र पहाड़ी के उत्तरी किनारे - प्रशियाई किनारे को मजबूत बनाने की सलाह दी और तब भी उनके पास यह करने का समय था. मैने उनको यह पहले ही बता दिया था कि ऐसा न कर वे जाल में फंस जायेंगे.'(एडवर्ड स्पेन्सर ब्रिस्ली के नाम मार्क्स का पत्र, 12 जून, 1871)

पेरिस कम्यून ने मार्क्स की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था, लेकिन अक्तूबर क्रांति के नायकों (बोल्शेविकों) ने उनकी बात का अक्षरशः अनुसरण किया. पेत्रोग्राद की सैनिक क्रांतिकारी समिति ने त्से-ई-काह के अखबार 'इज्वेस्तिया' के दफ्तर पर कब्जा कर लिया था और उसके सेंसर की पूरी व्यवस्था कर दी थी. इसके साथ ही रेलवे स्टेशन, रेडियो स्टेशन, डाक व तारघर, टेलीफोन एक्सचेंज पर भी इस समिति का कब्जा सोवियतों का अधिवेशन शुरू होने के पहले ही हो चुका था. जैसा कि हम चर्चा कर चुके हैं ('सर्वहारा अधिनायकत्व के सफल प्रयोग' में) शक्ति संतुलन का आकलन कर लेने के बाद लेनिन ने राजसत्ता पर कब्जा की पहलकदमी अपने हाथ में रखने का प्रस्ताव पार्टी को दिया था और पार्टी इससे सहमत भी हुई थी. उनका इरादा दृढ़ था-दूसरे कोर्निलोव कांड की तैयारी का अवसर नहीं देना चाहिए. यह मार्क्स-एंगेल्स के आदेश का पालन ही तो था.

ऐसा नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी में कोई अंदरूनी कमजोरी नहीं थी. ऐसा हो भी नहीं सकता था. जिस समय बोल्शेविक विरोधी खेमे में जो रोना-धोना और हाय-तौबा चल रहा था, उसकी अनुगुंज बोल्शेविक खेमे में भी सुनाई पड़ रही थी. इसके कमजोर और ढुलमुल तत्व भीतर में शोर-गुल मचाने लगे थे कि सभी समाजवादी शक्तियों को मिलाकर सरकार गठन का प्रयास किया जाय. तब उनकी मजबूती इस बात में थी कि समय रहते और कम से कम क्षति उठाकर वे कमज़ोरियों पर विजय पा लेते. उनकी कुशलता और सतर्कता का ही परिणाम था कि रूसी क्रांति में कम से कम रक्तपात हुआ. फ्रांसीसी क्रांति की तुलना में तो नहीं के बराबर ! फिर भी सत्ता का मोह और वर्ग घृणा का तकाजा था कि हिंसा और रक्तपात के मामले में जिस पूंजीपति वर्ग के इतिहास पर खून के असंख्य छीटे हैं, जिसने फ्रांसीसी क्रांति की विजय के बाद शासक अभिजातों को कसाईखाने में जानवरों की तरह काटा था, वही रूसी क्रांति में सर्वहारा वर्ग की ज्यादतियों का अनर्गल प्रलाप और झूठा प्रचार कर रहा था. दूसरी ओर वह उस तैयारी में लगा था जिसके फलस्वरूप उसे सत्ता वापसी की उम्मीद थी, इसके लिए भले ही रूस में खून की नदी बह जाय.

अपेक्षाकृत कम रक्तपात के साथ सत्ता पर (सर्वहारा का) कब्जा सिर्फ पेत्रोग्राद का सच था जहाँ शक्ति संतुलन में सर्वहारा का पलड़ा भारी था. लेकिन मास्को में? वहाँ क्या हुआ? मास्को की सड़कों पर कई दिनों तक भयंकर खूनी संघर्ष में असंख्य लोग मारे गये

थे. इन दोनों शहरों के संघर्ष की स्थिति में इतना अंतर क्यों आया? इसलिए कि मास्को में मजदूरों और सेना के बीच संगठन की स्थिति पेत्रोग्राद की तुलना में कमजोर थी. इस सच्चाई का पता जॉन रीड (दस दिन जब दुनिया हिल उठी) के विवरण से लग जाता है. लेखक ने बोल्शेविक क्रांतिकारी मेल्निचान्स्की के साथ बातचीत के हवाले से स्पष्ट किया:

'....सबसे बुरी बात यह थी कि हमें लड़ते-लड़ते ही अपने को संगठित भी करना पड़ा. दूसरा पक्ष जानता था कि उसे क्या चाहिए लेकिन हमारे यहाँ सिपाहियों की अपनी सोवियत थी और मजदूरों की अपनी... मुख्य सेनापति कौन होगा इसको लेकर ऐसी तू-तू मैं-मैं हुई कि पूछो मत. कई रेजिमेंटों ने कई-कई दिनों तक बहस करने के बाद ही जाकर कुछ करने का फैसला किया. और जब अफसरों ने एकाएक हमारा साथ छोड़ दिया, हमें आदेश देनेवाला कोई नहीं रहा. हमारी युद्ध कला नदारद थी.'

मेल्नाचिन्सकी की यह आत्मस्वीकृति इतना स्पष्ट है कि इसकी व्याख्या की कोई जरूरत ही नहीं. लड़ते-लड़ते अपने को संगठित करने की स्थिति कई अन्य जगहों पर भी थी. दरअसल क्रांति का केंद्र पेत्रोग्राद था, जहाँ से वह समुद्र की लहरों की तरह पूरे रूस में फैल रही थी. ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि केंद्र में क्रांति की स्थिति सबसे मजबूत रहे.

यहाँ केरेन्स्की सरकार की स्थिति खस्ता थी, उनके आदेशों का पालन नहीं हो रहा था. उनकी दुरवस्था को समझने के लिए दो उदाहरण काफी हैं.

'केरेंस्की ने हुक्म दिया कि 'रोबोची पूत' (बोल्शेविक अखबार) के छापखाने पर कब्जा कर लिया जाय. इस काम के लिए नियुक्त अफसर को सिपाहियों का एक दस्ता देने का वादा किया गया. दो घंटे बाद वादा किया गया कि उसे कुछ युंकर दिये जायेंगे और फिर, इस हुक्म को भुला दिया गया.

डाकघर तथा तारघर को बोल्शेविकों से छीन लेने की कोशिश की गयी. कुछ गोलियां भी चलायी गयीं. मगर फिर सरकारी सैनिकों ने एलान किया कि अब वे सोवियत की मुखालफत नहीं करेंगे.'

केरेंस्की सरकार का सत्ता-केंद्र कितना डांवाडोल हो चुका था, उसका मनोबल कितना गिर चुका था, इसको समझने का दूसरा नमूना:

'शाम होते-होते साईकिलों पर सवार दो सिपाही पीटर पाल किये की गैरिसन (बोल्शेविक कब्जों में) के प्रतिनिधियों की हैसियत से सैनिक स्टाफ (केरेन्सकी सरकार के) के सदर मुकाम में पहुंचे. उन्होने मांग की कि सैनिक स्टाफ फौरन समर्पण करें. उन्होने धमकी दी कि इनकार की सूरत में सदर मुकाम पर गोली बारी की जायेगी.

दहशतजदा सैनिक स्टाफ अधिकारियों ने दो मीटिंगें की और पसपा होकर शिशिर

प्रसाद चले गये; लाल गार्डों ने सदर मुकाम पर कब्जा कर लिया.' (वही) शिशिर प्रसाद पर कब्जे की कहानी भी उतनी ही दिलचस्प है. एक मल्लाह ने जॉन रीड को बताया:

'करीब ग्यारह बजे हमें पता चला कि नेवा की तरफ वाले हिस्से में यूंकर मौजूद नहीं है. लिहाजा हम दरवाजे तोड़कर अंदर घुस गये और एक-एक या दो-दो चार-चार कर के सीढ़ियों से चुपचाप ऊपर चढ़ गये. जब हम ऊपर पहुँचे यूंकरों ने हमें रोका और हमारी बंदूकें छीन लीं. लेकिन थोड़े-थोड़े करके हमारे साथी बराबर आते ही रहे, जब तक कि हमारी तादाद उनसे ज्यादा न हो गयी. फिर क्या था, हमने बाजी पलट दी और यूंकरों से उनकी बंदूकें रखवा लीं.'

बोल्शेविक कैंप की स्थिति उल्टी थी. उनके समर्थक ऊर्जा व उत्साह से भरपूर तथा पूरी तरह सतर्क थे. सेना मुख्यालय (मोगिल्योव) में जनरल दुखोनिन को सोवियत सरकार ने आदेश दिया था कि वह जर्मन कमान से तुरंत युद्ध विराम के लिए वार्ता करे. उसने मानने से इनकार कर दिया. इसके बाद उसे बरखास्त कर दिया गया, मुख्यालय को भंग कर दिया गया और दुखोनिन सैनिकों के हाथों मार डाला गया. (हिस्ट्री ऑफ दी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दी सोवियत यूनियन (बोल्शेविक).

यह घटना आश्चर्यजनक नहीं थी. मोटे तौर पर सेना में विभाजन इस प्रकार हो गया था कि अधिकांश जवान बोल्शेविक थे और अधिकांश अफसर कैडेट या मेंशेविक या समाजवादी क्रांतिकारी या कुछ और. दुखोनिन की हत्या का विवरण जॉन रीड (दस दिन जब दुनिया हिल उठी) ने इस प्रकार दिया है:

'रेलगाड़ी के जिस डिब्बे में दुखोनिन को बंद किया गया, उसके चारों ओर बौखलायी हुई भीड़ जमा थी. किर्लेंको ने एक भाषण दिया जिसमें उन्होने सिपाहियों से अनुरोध किया कि दुखोनिन पर हाथ न छोड़ें, क्योंकि उन्हें पेत्रोग्राद ले जाकर क्रांतिकारी न्यायाधिकरण के सामने पेश करना है. भाषण खत्म होते ही एकाएक दुखोनिन खुद खिड़की के सामने आ गये, जैसे वह भीड़ के सामने बोलना चाहते हों, लोग बहशियाना जोश के साथ चिल्लाते हुए उनके डिब्बे की ओर बढ़े, बूढ़े जनरल के ऊपर टूट पड़े, उन्हें गाड़ी से बाहर निकाल लाये और वही प्लेटफार्म पर मारते-मारते उनका भुरकुस निकाल डाला.'

इसका मतलब यह नहीं था कि प्रतिक्रियावादी हार मानकर बैठ गये थे. केरेंस्की 7 नवंबर को पेत्रोग्राद से भाग गये थे. उनका मकसद था, अपने विश्वासपात्र सैनिकों को इकट्ठा कर पेत्रोग्राद पर हमला बोलना. उन्हें यहां भी घोर निराशा हाथ लगी. वे पेत्रोग्राद से भागकर गातचिना होते हुए 'ओस्त्रोव' (प्स्क्वो प्रांत) नामक स्थान पर पहुंचे. वहां मजदूरों और सैनिकों के स्थानीय सोवियत के असाधारण अधिवेशन ने बोलशेविकों के खिलाफ उनके सहायता प्रस्ताव को ठुकरा दिया. इतना ही नहीं उसूरी प्रांत के कज्जाकों तथा सैनिक

प्रतिनिधियों ने उन्हें गिरफ्तार करने का फैसला किया, लेकिन दोन प्रदेश के कज्जाकों ने ऐसा नहीं करने दिया. उनकी यात्रा में इसलिए परेशानी हो रही थी कि वहाँ रेल लाईनें काट दी गयी थीं ताकि राजधानी के खिलाफ सेना नहीं भेजी जा सके.

दूसरे दिन (8 नवंबर) वे मोटर से लूगा पहुंचे और वहां उनका अच्छा स्वागत हुआ. दक्षिण-पश्चिमी मोर्चे के सदर मुकाम में भी उन्हें प्रतिरोध का सामना करना पड़ा. सिपाहियों ने पेत्रोग्राद मार्च से इनकार कर दिया. अंततः वे सेना के सदर मुकाम पहुंचे और विभिन्न मोर्चा से सेना के दस रेजिमेंटों को पेत्रोग्राद भेजने का आदेश दिया. यहां भी सिपाहियों ने इनकार कर दिया. अंततः करीब पांच हजार कज्जाकों ने उनका साथ दिया.

इस विवरण से तस्वीर साफ हो जाती है. सेना का बड़ा भाग बोल्शेविकों के पक्ष में था, कुछ तटस्थ थे और छोटा हिस्सा पूंजीवादी सत्ता के पक्ष में. कहीं-कहीं तो गुमराह करके उनको साथ रखा गया था. जो भी हो, केरेंस्की को इतनी सफलता जरूर मिल गयी थी कि वे पेत्रोग्राद पर हमला कर सकें. जिस समय केरेंस्की पेत्रोग्राद पर हमला के लिए फौज इकट्ठा कर रहे थे, उस समय उनके सहयोगी उनके स्वागत के लिए राजनीतिक माहौल बनाने में लगे थे. इसकी बुनियाद सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस त्से-ई-काह की बैठक में ही रख दी गयी थी. माहौल बनाने की इस प्रक्रिया की खास बात थी कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी अपीलें क्राति, समाजवाद और रूस की रक्षा के नाम पर कर रहे थे. रूस के वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में ब्लैक हंड्रेड्स, अक्तूबरवादी तथा कैडेट पार्टियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गयी थी. अब जो लोग रंगमंच पर थे, उन्होंने कभी-न-कभी मार्क्सवाद के अनुसरण की शपथ ली थी और रूस में समाजवाद लाने की कसमें खायी थीं. तत्कालीन रूस में अपना अस्तित्व बचाने के लिए पूंजीवाद को अपना खूनी चेहरा समाजवाद के नकाब में छुपाना पड़ रहा था. लेकिन रूस का मजदूर वर्ग नकाबपोश समाजवाद को खारिज कर असली समाजवादी शक्ति को पहचानने की कला में माहिर हो गया था.

मार्तोव (मेंशेविक धड़ा के नेता) क्राति की निंदा करते हुए आरोप लगा रहे थे कि सोवियतों की कांग्रेस के उद्घाटन के पहले सत्ता का प्रश्न सैनिक षडयंत्र के जरिये हल किया जा रहा है. बदले में उनकी मांग थी कि सभी जनवादी शक्तियों को मान्य संयुक्त जनवादी सत्ता की स्थापना की जाय. वामपंथी समाजवादी क्रांतिकारी तथा संयुक्त समाजवादी जनवादी मार्तोव के प्रस्ताव के समर्थन में खड़े थे. यहुदी सामाजिक जनवादियों के संगठन 'बुंद' ने भी उनके प्रस्ताव का समर्थन किया. यह ध्रुवीकरण त्से-ई-काह की बैठक में शुरू हुआ था. इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं थी क्योंकि यह संस्था इस कांग्रेस के बुलाये जाने के खिलाफ थी और अंत में लाचार होकर उसने इसके स्वागत का निर्णय लिया था. यह थी बोल्शेविकों के विरोध में खड़ी पार्टियों की दुविधा की स्थिति.

इसके विपरीत बोल्शेविक पूरी दृढ़ता के साथ अपने निर्णयों को लागू कर रहे थे. उस समय भी जब त्से-ई-काह में उनकी कार्रवाईयों के खिलाफ रोना-धोना चल रहा था, हाय-तौबा मचाया जा रहा था, उन्होने अस्थायी सरकार के मंत्रियों को गिरफ्तार कर लिया था तथा उनकी सैन्य टुकड़ियां टेलीफोन एक्सचेंज, तारघर तथा राजकीय बैंक पर कब्जा करने की दिशा में कदम बढ़ा रही थीं. रूस का राजनीतिक शक्ति संतुलन उलट चुका था. 6 नवंबर को केरेंस्की जनतंत्र की परिषद में अपने भाषण के दौरान लेनिन को 'फरार राज्य अपराधी' घोषित कर उन्हें पकड़ने का आह्वान कर रहे थे. लेकिन अगले ही दिन उनके मंत्रिमंडल के सदस्य गिरफ्तार थे, लेनिन रूस के प्रधानमंत्री थे और केरेन्स्की फरार राज्य अपराधी. यही थी क्रांति.

प्रतिक्रांति की कोशिश: सत्ता के दो केंद्र

तीन-चार दिनों तक ऐसा लगा कि पेत्रोग्राद में क्रांति की (लगभग) एकतरफा जीत हो गयी. लेकिन असलियत यह नहीं थी. सत्ताच्यूत पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि इस समय का उपयोग पेत्रोग्राद पर एक बार फिर कब्जा की तैयारी में कर रहे थे. समाजवादी क्रांतिकारियों के नेतृत्व में 'क्रांति और देश की उद्धार समिति' का गठन किया गया था. इन सब की उम्मीद केरेंस्की की सैन्य तैयारी पर टिकी थी. 11 नवंबर को पेत्रोग्राद में प्रतिक्रांतिकारी हमलों की शुरूआत सैनिक होटल, तारघर और टेलीफोन एक्सचेंज पर कब्जा के साथ हुई. सैनिक होटल और तारघर तो तुरंत मुक्त करा लिये गये जिसमें काफी खून-खराबा हुई. लेकिन टेलीफोन एक्सचेंज को कब्जा में लेने में काफी मशक्कात करनी पड़ी.

इस अवधि में सत्ता के दो केंद्र काम कर रहे थे. सोवियत सत्ता का केंद्र स्मोल्नी तथा पूंजीवादी सत्ता का केंद्र दुमा. पहला विजय की ऊर्जा और उम्मीद से भरपूर और दूसरा पराजय-दर-पराजय झेलता हुआ हाय-तौबा मचाने में मशगूल. और इन दोनों के बीच दोलन कर रहे थे बोल्शेविक पार्टी के ढुलमुल तत्व. इन केन्द्रों की गतिविधियों का बड़ा ही जीवंत विवरण जॉन रीड (दस दिन दुनिया हिल उठी) ने दिया है. स्मोल्नी के बारे में:

'स्मोलनी भवन की सबसे ऊपर की मंजिल पर सैनिक क्रातिकारी समिति धुआंधार काम कर रही थी. वह बिना ढील दिये चोट पर चोट कर रही थी. वह एक ऐसी भयानक मशीन बनी हुई थी जिसमें ताजगी से और स्फूर्ति से भरे लोग दिन हो रात हो, रात हो दिन हो, अपने आप को झोंक देते और जब वे उसमें से निकलते बेदम होते, थककर बिल्कुल चूर, मैले-कुचैले, आवाज भारी, बैठी हुई और वे कहीं फर्श पर लुढ़क जाते और सो जाते.'

इस तुलना में दुमा की स्थिति क्या थी ?

'निकोलाई भवन में दुमा का अधिवेशन समाप्त हो रहा था. कट्टर जंगजू दुमा भी किंचित स्तंभित रह गयी थी. एक के बाद एक उसके कमिसारों ने खबर दी: टेलीफोन एक्सचेंज पर

कब्जा कर लिया गया, सड़कों पर लड़ाई चल रही है, व्लादीमिर स्कूल हाथ से चला गया.'

ऐसी अवस्था आ जाने के बाद दुमा केरेंस्की के आगमन की प्रतीक्षा और बोल्शेविकों के खिलाफ गुस्से के इजहार के अतिरिक्त कुछ भी करने की स्थिति में नहीं थी. क्रांतिकारियों के खिलाफ सबसे तीखी घृणा कैडेट प्रतिनिधि कोनोव्स्की की इस घोषणा में सुनाई पड़ती है: 'जब कानूनी सरकार की सेना पेत्रोग्राद पहुंचेगी, वह इन विद्रोहियों को गोलियों से भून देगी और यह निश्चय ही अवैध वध नहीं होगा.' यह ऐसी घोषणा थी जिससे दुमा के किसी भाग का समर्थन नहीं मिला. यहां तक कि उनकी पार्टी के लोगों ने भी इस पर एतराज जाहिर किया. समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी की केंद्रीय समिति ने तो दुमा में अपने नेताओं पर अविश्वास प्रकट कर दिया. पार्टी में दक्षिणपंथी लाईन पराजित हो रही थी और वामपंथ हावी हो रहा था.

इस तरह का विभाजन किसी एक जगह की परिघटना नहीं रह गयी थी. हर जगह नये किस्म का ध्रुवीकरण हो रहा था: 'पूरे रूस में विभिन्न जनवादी संगठन एक के एक टूट रहे थे और बदल रहे थे. सहकारी समितियों में अंदरूनी झगड़ों की वजह से फूट पड़ गयी थी, किसान कार्यकारिणी समिति की बैठकों में जोर की बहस तकरार छिड़ी हुई थी. यहां तक कि कज्जाकों के बीच भी बेचैनी थी.'

अब हम टूट, बिखराव और बेचैनी की इस प्रक्रिया को कुछ ठोस उदाहरणों से समझें. इसमें रेलवे और टेलीफोन एक्सचेंज के उदाहरण सर्वोतम होंगे. रेल कर्मचारियों के केंद्रीय यूनियन 'विक्लेज' दंभपूर्ण घोषणा कर रहा था कि वह संघर्षरत दोनों पक्षों में से किसी का साथ तब तक नहीं देगा जब तक वे आपस में समझौता नहीं करते. साथ ही वह उम्मीद पाले हुए था कि दंगा-फसाद की इस स्थिति पर न तो बोल्शेविक नियंत्रण कर पायेंगें और न ही 'उद्धार समिति' और केरेंस्की के सैनिक. ऐसी स्थिति में रूस का उद्धारकर्त्ता विक्लेज के नेतागण होंगे. एक तरफ यह दंभपूर्ण घोषणा हो रही थी और दूसरी तरफ रेल मजदूर बड़ी-बड़ी जनसभायें कर अपने नेताओं के रवैये की निंदा कर रहे थे. ये कोई और नहीं रेलवे लाईन के मजदूर थे. स्थिति यह थी कि इन मजदूरों की शाखायें अखिल रूसी सम्मेलन की मांग कर रही थीं और नेतागण इनकार कर रहे थे. ठीक वैसे ही जैसे त्से-ई-काह सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस बुलाने से इनकार कर रही थी.

दूसरा सच यह था कि क्रांति जिस रफ्तार में विजय की ओर बढ़ रही थी, उसी रफ्तार में प्रतिक्रांतिकारी शिथिल पड़ते जा रहे थे और तटस्थ ताकतों के बीच फूट पड़ती जा रही थी. पेत्रोग्राद में क्रांति की जीत सुनिश्चित करने के बाद हजारों लाल गार्ड और मल्लाहों का जत्था जब मास्को जाने के लिए स्टेशन पहुंचा तो विक्लेज के आधिकारिक प्रतिनिधि तटस्थता का हवाला देकर उन्हें वहां पहुंचाने से इनकार कर रहे थे, वहीं दूसरा खेमा उन्हें

मास्को या कहीं और (जहां वे चाहे) ले जाने को तैयार था.

दोनों सत्ता-केंद्रों की स्थिति जानने के बाद अब हम यह देखें कि यूंकरों ने टेलीफोन एक्सचेंज पर कब्जा कैसे जमाया :

'सवेरे तड़के यूंकरों की एक कंपनी सोम्योनोव्स्की रेजिमेंट के सिपाहियों का वेश धारण कर टेलीफोन एक्सचेंज पर ठीक पहरा बदलने के वक्त आयी. उन्होंने बोल्शेविक संकेत किया और बगैर किसी तरह का शक पैदा किये एक्सचेंज पर कब्जा कर लिया. जरा देर बाद अन्तोनोव मुआयने के दौरे के सिलसिले में वहां आये, उन्हें गिरफ्तार कर छोटी सी कोठरी में डाल दिया गया. जब कुमक आयी, उसका गोलियों की बौछार से स्वागत किया गया. कई सिपाही मारे गये. प्रतिक्रांति शुरू हो गयी....

एक्सचेंज को मुक्त कराने के पहले इन यूंकरों की रीढ़ तोड़ डाली गयी थी. इनमें सबसे महत्वपूर्ण है, ब्लादीमिर यूंकर स्कूल की लड़ाई. सिपाहियों, लाल गार्डों और मल्लाहों के गश्ती दस्ते ने पहले यूंकरों से हथियार डालने का आग्रह कर उन्हें बीस मिनट का समय दिया. यूंकरों ने समर्पण से इनकार कर दिया. उसके बाद उन्होंने सड़क पर मार्च करने की कोशिश की. लेकिन गोलियों की बौछार के सामने निकलने की हिम्मत नहीं हुई. यूंकरों ने बाहर से मदद मांगी, लेकिन कज्जाकों ने उनकी मदद में निकलने की हिम्मत नहीं दिखायी. उनका बारीक बख्तरबंद गाड़ियों से घिर चुका था. यूंकरों के अन्य स्कूल भी या तो घेर लिये गये थे या वे सड़कों पर लड़ रहे थे. ऐसी स्थिति में उनके पास समर्पण करने के अलावा कोई रास्ता ही नहीं बचा था.

लेकिन समर्पण के पहले उन्होंने सोवियत सैनिकों को भारी क्षति पहुंचा दी थी. जब दोबारा समर्पण प्रस्ताव दिया गया, तो सफेद झंडा लिये समर्पण प्रस्ताव के दो प्रतिनिधियों को उन्होंने गोली मार दी. उसके बाद हमला का दौर शुरू हुआ. इस कार्रवाई में सौ से ज्यादा लाल गार्ड मारे गये, लेकिन उनका हौसला पस्त नहीं हुआ:

'अपनी हार और अपने साथियों की लाशों के ढेर लग जाने से एकदम पागल होकर सोवियत सिपाहियों ने उस इमारत पर जिसकी ईंट अभी से बिखर रही थी, ऐसी भयंकर गोलाबारी की कि मालूम होता था उस पर गोलियां नहीं लाल अंगारे और पिघला लोहा बरस रहा है. खुद उनके अपने अफसर इस भयंकर गोलाबारी को रोक नहीं सकते थे.'

इतने भीषण हमले के बाद यूंकर हिफाजत की गारंटी के साथ समर्पण करने को तैयार हुए. हजारों सिपाही और लाल गार्ड चीखते-चिल्लाते भीतर पिल पड़े. इसके पहले कि कोई कुछ कर सके पांच यूंकरों को मार-मार कर भूर्ता बना दिया गया और संगीने भोंक दी गयीं. रास्ते में आठ यूंकर भीड़ के हाथों मारे गये. फिर भी दो सौ यूंकर बचा लिये गये और उन्हें पीटर-पाल किले में बंद कर दिया गया. इसके साथ ही जहाँ से प्रतिक्रांति की शरूआत

हुई थी, उसी के दमन के साथ उसका अंत भी हो गया.

यूंकरों की पराजय के बाद टेलीफोन एक्सचेंज पर धावा बोला गया और उस पर कब्जा करने वालों ने समर्पण कर दिया. टेलीफोन एक्सचेंज पर बोल्शेविकों के कब्जे के साथ सवाल खड़ा हो गया कि इसका संचालन कैसे होगा? बहुसंख्यक टेलीफोन ऑपरेटरों ने ''गंवार'' मजदूरों-किसानों के साथ काम करने से इनकार कर दिया था. उनके सामने नयी शर्तें रखी गयीं- काम के घंटे दस की जगह आठ कर दिये जायेंगे और तनख्वाह साठ रूबल से बढ़ाकर डेढ़ सौ रूबल. तो भी वे लड़कियां तैयार नहीं हुई. लेकिन लाईन मैन, कर्मचारियों और मजदूरों ने काम नहीं छोड़ा था. महज पांच छः ऑपरेटरों के दिशा निर्देश में लगभग एक सौ अप्रशिक्षित लोगों ने एक्सचेंज का काम शुरू कर दिया.

पेत्रोग्राद में सर्वहारा सेना और प्रतिक्रियावादी यूंकरों के बीच भीषण व निर्मम संघर्ष की तस्वीर देखने के बाद उसके सटे शहर त्सारस्कोये सेलो के संघर्ष की तस्वीर देखकर यह समझना आसान हो जायेगा कि गृहयुद्ध में जनता की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण होती है और गृह युद्ध होता क्या है? यह ऐसा युद्ध है जिसमें सेना तो दो खेमों में बंटी ही रहती है जनता भी अपने पक्ष में लड़ रही सेना के साथ लड़ाई में शामिल हो जाती है. यह तस्वीर जॉन रीड के निम्न विवरण से साफ हो जाती है.

'इस लड़ाई में जिन लोगों ने भाग लिया, उन्होंने मुझे बताया कि किस प्रकार मल्लाह दनादन गोलियां चलाते रहे जब तक कि उनके कारतूस चूक नहीं गये और वे दुश्मन के ऊपर एकबारगी टूट पड़े; किस प्रकार मामूली मजदूर जिन्हें लड़ाई का कोई इल्म न था, हमला करते हुए कज्जाक घुड़सवारों पर झपटे, उन्हें उनके घोड़ों से खींचकर नीचे गिरा दिया, किस प्रकार अनाम जनता के दल के दल धुप्प अंधेरे में रणक्षेत्र के चातुर्दिक जुटकर तूफान की तरह उठे और शत्रु पर छा गये.... सोमवार को आधी रात होते-होते कज्जाकों के पांव उखड़ गये और वे अपना तोपखाना पीछे छोड़कर भाग खड़े हुए. सर्वहारा सेना दूर तक फैले हुए ऊबड़-खाबड़ मोर्चे पर आगे बढ़ी और देखते-देखते त्सारस्कोय सेलो में उमड़ पड़ी. दुश्मन को इतना भी मौका नहीं मिला कि वह वृहद सरकारी रेडियो स्टेशन को नष्ट कर सके जिससे सारे समय स्मोलनी के कमिसार दुनिया को ललकार कर अपनी विजय गाथा, अपनी प्रशस्तियां प्रसारित कर रहे थे.'

यह केरेंस्की की अंतिम पराजय नहीं थी, उसकी पूर्ववेला थी. केरेन्स्की की हार का मोर्चा गातचिना में सजा. बिना युद्ध किये उनकी सेना ने हथियार डाल दिये और वे रातों-रात भागने को मजबूर हो गये. उस समय फ्रांस ने अपने पराजित मोहरे को शरण दी. उनके पलायन के बाद सोवियत सरकार ने घोषणा की:

'गातचिना के दस्तों ने, जिन्हें केरेंस्की ने धोखा दिया था, अपने हथियार डाल दिये हैं

और केरेंस्की को गिरफ्तार करने का फैसला किया है. प्रतिक्रांतिकारी मुहिम का वह सरगना भाग खड़ा हुआ है. सेना ने विशाल बहुमत से सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस और उसके द्वारा स्थापित सरकार के समर्थन की घोषणा की है.... मजदूरों और सिपाहियों की क्रांति विजयी हुई है. '

शीर्ष पर प्रतिक्रियावाद के केंद्र के धराशायी हो जाने के बाद, सत्ता का दूसरा केंद्र समाप्त हो जाने के बाद क्रांति समुद्र की लहरों की तरह रूस के शहर-शहर और गाँव-गाँव तक फैलने लगी. फरवरी 1918 आते-आते यह सिलसिला भी पूरा हो गया. इस प्रकार क्रांति का पहला चरण पूरा हुआ और पूरा रूस सोवियत सत्ता के अधीन आ गया.

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास (1938) अक्तूबर क्रांति की विजय के कारणों पर प्रकाश डालता है. उसके अनुसार क्रांति की जीत के लिए मुख्यतः ये परिस्थितियां जिम्मेवार थी. रूसी पूंजीपति वर्ग अनुभवहीन और कमजोर था. उसके पास न तो फ्रांसीसी पूंजीपति जैसा क्रांतिकारी अनुभव था और न ब्रिटिश पूंजीपति जैसी धूर्तता. उसने उसी जारशाही की नीति का अनुसरण शुरु कर दिया जिसका तख्ता उल्टा था. रूस का मजदूर वर्ग किसी भी देश के मजदूर वर्ग की तुलना में ज्यादा परिपक्व और प्रशिक्षित था और उसने गाँव के गरीबों के साथ संश्रय की नीति अपनायी थी. रूसी मजदूर वर्ग की कमान बोल्शेविक पार्टी के हाथ में थी जिसने अपनी कतारों में अवसरवाद के खिलाफ निर्मम संघर्ष चलाया था और रचनात्मक मार्क्सवाद के प्रयोग पर अडिग था. इन सभी आंतरिक परिस्थितियों के साथ बाहरी अनुकूल परिस्थिति यह थी कि क्रांति प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में संपन्न हो रही थी, दुनिया की साम्राज्यवादी ताकतें अपने गलाकाटु संघर्ष में इस तरह उलझी थीं और उनका शक्ति संतुलन ऐसा बन गया था कि वे तत्काल क्रांति में रूसी पूंजीपतियों की प्रत्यक्ष सहायता में असमर्थ साबित हो रही थी. इस समग्र परिस्थिति में रूस साम्राज्यवाद की सबसे कमजोर कड़ी साबित हुआ और वहां मजदूर वर्ग ने गरीब किसानों की मदद से उसे तोड़ दिया.

(इस अध्याय में जिन उद्धृत अंशों के सामने स्रोत नहीं दिये गये हैं, वे सभी जॉन रीड की पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' से लिये गये हैं)

सर्वहारा सत्ता को सुदृढ़ बनाने की दिशा में

मजदूरों तथा सैनिकों की सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने जो राज्यादेश जारी किये थे, उन्हें लागू करने के लिए सोवियत सरकार की मशीनरी को सुदृढ़ बनाना निहायत जरूरी था. इन आदेशों को व्यवहार में उतारने के लिए जिस तरह की राजकीय मशीनरी की जरूरत थी, वह गायब थी. नयी मशीनरी निर्माण की प्रक्रिया में थी. दूसरे शब्दों में कहें तो पेरिस कम्यून के बाद मार्क्स-एंगेल्स की शिक्षा - मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग की बनी-बनायी मशीनरी से काम नहीं चला सकता-को रूस की ठोस परिस्थिति में व्यवहार में उतारने की घड़ी आ चुकी थी. पुराने के नष्ट होने और नये के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो रही थी. पराजित प्रतिक्रियावादी भीतर-भीतर षडयंत्र रचने में लगे थे, लागों को उकसा रहे थे, अराजकता पैदा करने की हरचंद कोशिश कर रहे थे, खुले तौर पर सर्वहारा सत्ता का मजाक उड़ा रहे थे और ढुलमुल मध्यमार्गी निराश भाव से बोल्शेविकों को कोस रहे थे. लेकिन इन सबसे बेपरवाह बोल्शेविक पार्टी के सोशल इंजीनियर पुरानी सत्ता का मलवा साफकर नयी संरचना के निर्माण में मशगुल थे.

दासता से मुक्त एक नये समाज का जन्म हो रहा था. किसान जमींदारों की सदियों पुरानी दासता से मुक्त हो गये थे क्योंकि जमीन से निजी स्वामित्व का उन्मूलन हो गया था. फौज के सिपाही और मल्लाह निरंकुश जनरलों की मनमानी से मुक्त हो रहे थे, क्योंकि अब निरंकुश सत्ता के आदेश पर बहाल होने की जगह उन्हें अपने मातहतों के द्वारा चुना जाना था, उनके प्रति जिम्मेदार होना था अन्यथा वापस बुलाया जाना था, मजदूर पूंजीपतियों की दासता से मुक्त हो रहे थे, क्योंकि अब कारखानों और मिलों पर मजदूरों का सामूहिक स्वामित्व कायम हो रहा था. उसी तरह जारशाही के अधीन पददलित राष्ट्रीयताओं की मुक्ति की आकांक्षा अब पूरी होने वाली थी.

लेकिन यह सब आसानी से नहीं हो रहा था. पुराना समाज और उसकी सत्ता संरचना काल के गाल में समाने के पहले अंतिम छटपटाहट के दौर से गुजर रहे थे. यह प्रक्रिया रूस के बाहर भी चल रही थी और भीतर भी. क्रांति की विजय के एक सप्ताह बाद लेनिन और स्तालिन के हस्ताक्षर के साथ बोल्शेविक सरकार की राष्ट्रीयता और अल्पसंख्यक संबंधी नीति की घोषणा की गयी. इसमें 'आत्म निर्णय के अधिकार' के तहत उनके अलग होने का अधिकार भी शामिल था. इस घोषणा के साथ ही आनन-फानन में यूक्रेन की 'रादा' ने अपने देश को स्वतंत्र जनतंत्र घोषित कर दिया और फिनलैंड की सीनेट ने भी ऐसा ही किया. साइबेरिया और काकेशिया में भी स्वतंत्र सरकारें बन गयीं और पोलैंड में भी ऐसा ही हुआ. इन सभी घटनाओं में दो बातें समान थीं. इनमें सत्ता की बागडोर संपत्तिधारी वर्गों के

हाथों में थी और सभी बोल्सेविकों से डरते थे और घृणा करते थे.

अपने वर्ग चरित्र के कारण ये नवोदित गणराज्य सोवियत समाजवाद के लिए खतरा के रूप में उभरने लगे थे. यूक्रेन की 'रादा' ने दक्षिण रूस की कमान अपने हाथ में ले ली थी और कलेदिन (प्रतिक्रियावादी कज्जाक जनरल) के लिए रसद पानी की व्यवस्था कर रही थी. मित्र राष्ट्र यूक्रेन और फिनलैंड की सरकारों के माध्यम से रूस में हस्तक्षेप करने की जुगत भिड़ा रहे थे और इन दोनों देशों की सरकारें जर्मनी के साथ गुप्त समझौता कर रही थीं. ये बाहरी खतरे थे. भीतरी खतरे इनसे ज्यादा घातक थे और उनसे निबटना सबसे बुनियादी काम था. पूंजीवादी राज्य मशीनरी सोवियत सरकार को मानने और उसके आदेशों का पालन करने से इनकार कर रही थी. सरकार के विभिन्न विभागों में अनुशासनहीनता और अराजकता के कुछ नमूने इस प्रकार हैं:

- निजी बैंक बंद थे, लेकिन सट्टेबाजों के लिए चोर दरवाजा खुला था. बोल्शेविक कमिसारों ने बैंक में प्रवेश किया, कलर्कों ने बही खातों को छिपा दिया, खजाने के रूपया-पैसा कहीं और हटा दिया और खुद गायब हो गये. राजकीय बैंक के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी थी. क्लर्कों ने स्मोलनी की सभी मांगों को ठुकरा दिया था. लेकिन 'उद्धार समिति' और 'नगर दुमा' को गुपचुप बड़ी रकमें अदा कर रहे थे.

उधार- चांसरी के कर्मचारियों ने अपने बही खातों को ही नष्ट कर दिया और इस प्रकार विदेशों के साथ रूस के वित्तीय संबंधों के सारे रिकार्ड जाते रहे.

'विक्लेज' का विरोध यथावत जारी था. वह सोवियत सेनाओं के परिवहन से इनकार कर रहा था. सिपाहियों से भरी जो भी रेलगाड़ी पेत्रोग्राद से रवाना हुई थी, वह जबर्दस्ती भेजी गयी थी और हर बार रेल कर्मचारियों को गिरफ्तार करना पड़ा था. इस पर 'विक्लेज' की धमकी थी कि उन्हें तुरंत छोड़ा नहीं गया, तो वे हड़ताल पर चले जायेंगे. यहां इस बात का उल्लेख जरूरी है कि बैंक और रेलवे के ये कर्मचारी अपने को मजदूर और समाजवाद के हिमायती कहते थे, लेकिन सर्वहारा की तानाशाही शब्द से ही नफरत करते थे. अपने तेवर में ये सफेदपोश मजदूर मैले-कुचैले मजदूरों से नफरत करते थे, जो थोड़े दिनों पहले तक गंवार किसान थे.

पेत्रोग्राद में सिर्फ तीन दिनों के लिए रसद था और बाहर से माल आने की कोई स्थिति बन नहीं रही थी. मोर्चे पर सेना फाके कर रही थी. उद्धार समिति और विभिन्न केंद्रीय समितियों ने आबादी से सरकारी आदेशों को नहीं मानने की अपील करते हुए सारे देश में अपने दूत भेजे थे. 'मित्र राष्ट्रों' के दूतावास या तो खुल्लमखुल्ला विरोधी थे या तटस्थ.

विरोध पक्ष के समाचार पत्र नयी हुकूमत का मजाक उड़ा रहे थे. 'नोवाया जीज्न' तक ने कहा कि 'यह सरकार वाचालता तथा नपुंसकता का एक संयोजन है'. उस अखबार ने

आगे कहा - 'सत्ता पर सहज ही अधिकार कर बोल्शेविक उसका उपयोग करने में असमर्थ हैं.'(दस दिन जब दुनिया हिल उठी). यह समाचार पत्र 'संयुक्त सामाजिक जनवादी अंतरराष्ट्रीयतावादी' पार्टी का मुखपत्र था. इस दल के सबसे चर्चित नेता गोर्की थे. 'नोव्या जीज्न' (नया जीवन) की यह टिप्पणी हमें 'पेरिस कम्यून' के बारे में 'डेली न्यूज'(लंदन से प्रकाशित) की टिप्पणी की बरबस याद दिलाती है जिसमें कहा गया था कि 'कम्यून के हाथ में चाहे जो कुछ भी सत्ता हो वह नित्यप्रति हाथ बदल रही है और हमें आज यह नहीं मालूम कि कल सत्ता किसके हाथ में होगी... कम्यून तुल्य परमाणुओं का एक जमघट है, जिनमें से प्रत्येक एक दूसरे के प्रति इर्ष्यालु हैं और कोई भी दूसरों पर सर्वोच्च नियंत्रण की प्रतिभा से संपंन्न नहीं है. (पेरिस कम्यून: मार्क्स-एंगेल्स). मार्क्स-एंगेल्स की नजर में यह अवस्था पेरिस कम्यून की पराजय के कारणों में एक थी. लेकिन न तो बोल्शेविक पार्टी की स्थिति ऐसी थी और न ही उसके नेतृत्व में बन रही राजसत्ता की.

तब समस्या कहां थी? रूस के मजदूरों और सेना के जवानों का विशाल बहुमत चट्टानी दृढ़ता के साथ बोल्शेविकों के साथ था. विशाल किसान आबादी (लगभग 80 प्रतिशत) के बीच उनकी पैठ कमजोर थी. किसानों का बहुमत समाजवादी क्रांतिकारियों के साथ था. जाहिर है, किसान अपने वर्ग चरित्र में निम्नपूंजीवादी होते हैं और सर्वहारा व पूंजीपति वर्ग के बीच दोलन करते रहते हैं. बोल्शेविक इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि क्रांति की स्थायी विजय किसानों के समर्थन पर निर्भर करती है. यह बात उनकी भूमि संबंधी घोषणा में अच्छी तरह झलकती थी. वे यह भी समझते थे कि इस निर्णय के बाद किसानों के विभिन्न स्तरों में संघर्ष व विभाजन की प्रक्रिया शुरू हो जायेगी. 'अराजकता' की यह अवधि जिसे बोल्शेविक विरोधी अखबार अक्षमता के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, वस्तुत: इस विघटन के पूरे होने के इंतजार की अवधि थी. अपने समाजवादी नामधारी विरोधियों के खिलाफ संघर्ष में बोल्शेविक तीन कारणों से बेहतर अवस्था में थे : राजसत्ता पर उनका नियंत्रण था, वे अपनी नीतियों पर दृढ़ थे और अन्य पार्टियों का जनाधार खिसककर उनकी तरफ आ रहा था.

पूरे रूस में वर्ग संगठनों और गठबंधनों के बीच संघटन-विघटन की प्रक्रिया चल रही थी. पेत्रोग्राद में राजनीतिक दलों के भीतर भी उसकी छाप दिखाई पड़ रही थी. केरेंस्की की पराजय के बाद बोल्शेविक सत्ता पूंजीपति वर्ग के बड़े सैन्य अभियान के खतरों से लगभग मुक्त थी. फिर भी दो मोर्चों पर खतरे मौजूद थे- कज्जाकों का और मोगिल्योव में दुखोनिन का.

अब राजनीतिक बहस का केंद्र बिंदु था, भावी सरकार का गठन कैसे हो? मांग उठ रही थी कि समाजवादी व जनवादी सभी अंशकों को मिलाकर संयुक्त समाजवादी सरकार का गठन किया जाय. बोल्शेविकों का नजरिया बिल्कुल साफ था. जो दल सोवियतों की दूसरी अखिल

रूसी कांग्रेस के निर्णयों को स्वीकार करते हैं, उनके साथ संयुक्त सरकार का गठन हो सकता है. इसके विपरीत नामधारी समाजवादी दलों का नजरिया ढुलमुल था. पहले वे बोल्शेविकों को सरकार में शामिल करने को तैयार नहीं थे, थोड़े दिनों के बाद उन्हें अल्पमत की अवस्था में सरकार में जगह देने को तैयार हुए, लेकिन इस शर्त पर कि लेनिन और त्रात्स्की इसमें शामिल न हों. अंत में समाजवादी क्रांतिकारियों का वामपंथी हिस्सा बोल्शेविकों के नेतृत्व में सरकार में शामिल होने को तैयार हुआ. लेकिन यह साझीदारी ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकी.

बोल्शेविकों ने राजनीतिक पटल पर आ रहे बदलावों की जड़ें जनमानस के बदलते तेवर में तलाशी. क्रांति की विजय के बाद इस दिशा में उन्होने दो महत्वपूर्ण कदम उठाये थे. किसानों और रेल मजदूरों की कांग्रेसों का आयोजन. किसानों की राजनीतिक सोच में बदलाव लाने में भूमि तथा शांति संबंधी घोषणाओं ने प्रत्यक्षत: और परोक्षत: बहुत मदद की थी. अस्थायी सरकार के पहले तक किसानों के बीच चेर्नोव (समाजवादी क्रांतिकारी नेता) की छवि चरम क्रांतिकारी की थी. उनकी इस छवि के धूमिल होने की प्रक्रिया केरेंस्की सरकार में उनके कृषि मंत्री बनने के बाद शुरू हुई, क्योंकि संविधान सभा बुलाये जाने तक भूमि प्रश्न को मुल्तवी करने का प्रस्ताव उन्होने मान लिया था. इसके विपरीत बोल्शेविकों ने पहली ही घोषणा में भूमि प्रश्न को सुलझाकर किसानों में संदेश दिया था कि वे उन के सवाल पर चेर्नोव से ज्यादा संवेदनशील हैं.

हम देख चुके हैं कि सेना में अधिकांश जवान बोल्शेविक थे, लेकिन अफसर कैडेट या किसी और दल के समर्थक. इस शांति प्रस्ताव के तहत जर्मनी के साथ तीन महीनों की युद्ध विराम संधि ने इन जवानों को बड़ी राहत दी थी. ये जवान जब मोर्चे से गाँवों में लौटे, तो वे बोल्शेविक चेतना से लैस किसानों के बेटे थे. फरवरी और अक्तूबर की क्रांतियों का शक्ति संतुलन बदलनेवाले ये महत्वपूर्ण कारक थे. पहली अवस्था में वे समाजवादी क्रांतिकारियों की राजनीतिक चेतना से लैस किसान थे जो सैनिक सोवियतों की नीति को प्रभावित कर रहे थे और अक्तूबर क्रांति के समय बोल्शेविक सेना के जवान थे जो किसानों की सोवियत चेतना को प्रभावित कर रहे थे.

इस प्रकार किसानों की कांग्रेस में प्रतिनिधि तीन खेमों में बंटे थे. दक्षिणपंथी समाजवादी क्रांतिकारी खेमा, वामपंथी, समाजवादी क्रांतिकारी खेमा तथा बोल्शेविक खेमा. जिस समय किसानों की कांग्रेस में बोल्शेविक सरकार की कृषि नीति पर बहस चल रही थी, उसी समय बोल्शेविकों और वामपंथी समाजवादी क्रांतिकारियों के बीच सरकार में सझीदारी पर समझौता हो रहा था. समझौता संपन्न हुआ, कृषि मंत्री का पद वामपंथी समाजवादी क्रांतिकारियों की झोली में गया. उनका आरोप था कि बोल्शेविकों ने उनके कृषि कार्यक्रम को ''चुरा लिया'' है. बोल्शेविकों की ओर से इसका जवाब था कि सरकार में शामिल

होकर वे खुद अपने कार्यक्रम को लागू करें. इसी तर्ज पर 1 दिसंबर को रेल मजदूरों की कांग्रेस बुलायी गयी. इस कांग्रेस में तय हुआ कि रेल मंत्री का पद विक्लेज को दिया जायेगा.

निस्संदेह बोल्शेविक जनता के विशाल बहुमत को अपने पक्ष में लाने में सफल हो गये थे. लेकिन यह काम बिल्कुल निरापद ढंग से नहीं हुआ था. उनके भीतर भी ऐसा खेमा तैयार हो चुका था जो सभी समाजवादी शक्तियों की व्यापक एकता के नाम पर सर्वहारा अधिनायकत्व के बुनियादी सिद्धांत पर समझौता के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया था. 17 नवंबर की त्से-ई-काह की मीटिंग में विवाद का विषय था : प्रेस की स्वतंत्रता. लारिन प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में प्रस्ताव पेश कर रहे थे, ''आतंक राज'' (जन कमिसार की नीति या सोवियत सरकार की नीति) को खत्म करने की मांग कर रहे थे. इसके विपरीत बोल्शेविक पार्टी के आधिकारिक प्रस्ताव में निजी छापाखाने और कागज की सप्लाई पर कब्जाकर राजधानी और राज्यों के स्तर पर सोवियतों की संपति बनाने की नीति की वकालत की गयी थी. बोल्शेविक दो भागों में बंट गये थे. लेनिन अडिग और अविचल ढंग से नीति का खुलासा कर रहे थे-पूंजीवादी अखबारों को बर्दाश्त करने का मतलब है, समाजवादी न रहना. इस नीति के दायरे में वैसे अखबार नहीं आते थे जो समाजवादी थे और बोल्शेविक नीतियों से अलग राय रखते थे.

पार्टी की नीतियों से असहमति व्यक्त करते हुए और जन कमिसार परिषद् (मंत्रिपरिषद) के निर्णयों की जिम्मेवारी लेने से इनकार करते हुए 17 नवंबर को पांच बोल्शेविक कमिसारों (नोगीन, रीकोव, मिल्यूतिन, तेओदोरोविच और शल्यापिनकोव) ने अपने पदों से इस्तीफा दे दिया. उनका मानना था कि इस रास्ते पर चलने का नतीजा होगा अनेक सर्वहारा संगठनों का राजनीतिक जीवन से निष्कासन, अनुत्तरदायी शासन व्यवस्था की स्थापना, क्रांति और देश का विनाश. कुछेक ऐसे भी लोग थे जिन्होंने पदों से इस्तीफा नहीं दिया था, लेकिन उपर्युक्त लोगों के वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये थे. इनमें लारिन भी शामिल थे. इस विद्रोह का विस्तार यहां तक हुआ कि कामेनेव, जिनोव्येव, रीकोव, मिल्युतिन और नोगीन ने बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय समिति से भी इस्तीफा दे डाला. यह कल्पना से परे है कि क्रांति की इस नाज़ुक घड़ी में इस इस्तीफा का प्रभाव कितना भयानक हो सकता था. पूंजीपतियों, सभी प्रतिक्रियावादियों और ढुलमुल अवसरवादियों में खुशी और मजदूरों व सैनिको के बीच क्रोध की भावना.

बोल्शेविक पार्टी ने इस स्थिति में मान-मनौव्वल तथा समझौता प्रस्ताव की कोई कोशिश नहीं की. एक तरफ इन लोगों के खिलाफ अनुशासनिक कार्रवाई हुई और दूसरी तरफ पार्टी कार्यकर्त्ताओं और मजदूर जनता के नाम अपील जारी की गयी. अनुशासनिक कार्रवाई के सामने झुकते हुए तेओदोरोविच और श्यालापिरकोव ने इस्तीफा वापस ले लिया. कामेनेव

को त्से-ई-काह के अध्यक्ष पद से हटाया गया और स्वेर्दलोव अध्यक्ष बनाये गये. जिनोव्येव को भी पेत्रोग्राद सोवियत के अध्यक्ष पद से हटा दिया गया. 20 नवंबर को प्राव्दा में प्रकाशित अपील में लेनिन ने इन्हें भगोड़ा घोषित कर डाला. कामेनेव और जिनोव्येव की भूमिका की उन्होने याद दिलायी कि इन लोगों ने 23 अक्तूबर की केंद्रीय कमिटी की बैठक में भी विद्रोह के खिलाफ वोट दिया था और उस समय भी भगोड़े और हड़ताल तोड़क की भूमिका में खड़े हुए थे. ऐसे लोगों के चरित्र को उजागर करते हुए उन्होने उन्हें 'निष्ठाहीन' 'पूंजीपतियों से भयभीत' तथा 'उनकी चीख-पुकार के सामने झुकने वाले' के रूप में चिन्हित किया और क्रांतिकारियों के लिए घृणा का पात्र बताया. इस प्रकार बोल्शेविक पार्टी अपने भीतरी संकट से मुक्त हुई.

अब हम इस बात की ओर लौटें कि कलेदिन और दुखोनिन के खतरों से कैसे निबटा गया. दुखोनिन के मामले की चर्चा पिछले अध्याय में हो चुकी है कि कैसे वे सेना के जवानों के हाथों ही मार डाले गये. क्रिलेन्को चाहकर भी उन्हें नहीं बचा सके. कलेदिन का अंत उससे भी ज्यादा दिलचस्प है. जॉन रीड (दस दुनिया जब दुनिया हिल उठी) के अनुसार 27 नवंबर को कज्जाकों का एक शिष्टमंडल त्रॉत्स्की और लेनिन से मिलने स्मोल्नी पहुंचा. उन्होने पूछा, क्या सोवियत सरकार कज्जाकों की जमीन को रूसी किसानों में बांटना चाहती है? त्रॉत्स्की का उत्तर था, नहीं. उसके बाद उनका दूसरा सवाल था, क्या सोवियत सरकार बड़े-बड़े कज्जाक जमींदारों की जमीन जब्तकर उसे मेहनतकश कज्जाकों के बीच बांटना चाहती है? इस पर लेनिन का जवाब था, यह फैसला आपको करना है. मेहनतकश कज्जाक जो भी कदम उठाते हैं, हम उनका समर्थन करेंगे. शुरू में सबसे अच्छी बात होगी कज्जाक सोवियतों की स्थापना. आपको त्से-ई-काह में जगह दी जायेगी और सोवियत सरकार आप की भी सरकार बन जायेगी.

दो सप्ताह बाद जनरल कलेदिन से मिलने कज्जाक सैनिकों का एक शिष्टमंडल गया. उन्होंने पूछा, क्या आप कज्जाक जमींदारों की रियासतों को मेहनतकश कज्जाकों के बीच बांटने का वादा करेंगे? इस पर कलेदिन का उत्तर था, मेरे जीते-जी ऐसा नहीं हो सकता. इस जवाब के एक महीना बाद उनकी सेना देखते-देखते काफूर हो गयी और कलेदिन ने गोली मारकर आत्महत्या कर ली. इस तरह कज्जाक आंदोलन की समस्या समाप्त हो गयी. यह था कज्जाकों के भीतर वर्ग विभाजन का तीखापन और सोवियत सरकार के मजदूर-किसान अधिनायकत्व का स्वरूप. पूंजीवादी प्रेस की स्वतंत्रता तथा मेहनतकश कज्जाकों के अधिकारों के सवाल पर लेनिन के रूख की तुलना भर कर लीजिये. साफ दिखायी पड़ जायेगा कि मेहनतकश जनता के लिए वह अधिनायकत्व किसी भी पूंजीवादी जनवाद से ज्यादा जनवादी था तथा पूंजीवाद के खिलाफ वह ऐसा हमला था, जिसपर किसी कानून

का कोई अंकुश नहीं था.

जहां तक राजसत्ता और जनता के जनवाद का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि कोई भी राज्य व्यवस्था उतनी ही जनवादी हो पाती है, जितना जनवादी उसकी प्रशासन व्यवस्था और सेना रहती है. यह मार्क्सवाद का ककहरा है.

इसलिए यह समझना भी जरूरी है कि सोवियत सरकार जनपक्षीय राज मशीनरी का निर्माण कैसे कर रही थी? सबसे पहले तो जन कमिसार परिषद मेहनतकश जनता के जीवन से जुड़ी नीतियों पर राज्यादेश जारी कर रही थी, जिनमें यह बात साफ झलकती थी कि अस्थायी सरकार की नीतियों के विपरीत इस सरकार की नीतियां मजदूरों-किसानों के पक्ष में है और सरकार उन्हें लागू करने के प्रति गंभीर है. नयी सरकार उत्पादन और वितरण पर मजदूर-किसान सोवियतों के नियंत्रण को लागू करने की व्यवस्था संबंधी घोषणा कर रही थी, स्थानीय व क्षेत्रीय स्तर पर काम करनेवाली भूमि समितियों के लिये नियमावली तैयार की जा रही थी, दर्जों और उपाधियों का उन्मूलन किया जा रहा था तथा अदालतों की पुरानी व्यवस्था का उन्मूलन कर उनकी जगह नयी व्यवस्था कायम की जा रही थी. इन सबसे बढ़कर जारशाही के जमाने से चली आ रही सेना की जगह लाल सेना बनाने का प्रयास चल रहा था.

सेना बनाने के प्रयास की बेहतर व विस्तृत जानकारी हमें मार्शल झुकोव के संस्मरण में मिलती है. झुकोव ऐसे व्यक्ति हैं जिनका सैनिक जीवन जार की सेना से शुरू हुआ, समाजवाद की अवधि में परवान चढ़ा, दूसरे विश्वयुद्ध में मार्शल के पद तक पहुंचे और खुश्चोवी संशोधनवाद को स्थापित करने में भी उन्होंने भूमिका निभायी. 1917-18 की परिस्थिति को याद करते हुए झुकोव ने लिखा है कि पुरानी सेना को खत्मकर नयी सेना बनाने की प्रक्रिया चल रही थी. सेना का जनवादीकरण हो रहा था. नियंत्रण की बागडोर सैनिकों की कमिटि और सोवियत को सौंपी जा रही थी और रेजिनमेंट के स्तर तक कामांडरों का चुनाव आम सभा के माध्यम से हो रहा था. झुकोव ने इस तथ्य को भी उजागर किया है कि पुरानी सेना के जो जवान, मल्लाह तथा अफसर सोवियत सरकार के पक्ष में चले गये बाद के दिनों में लाल सेना के ख्यातिप्राप्त कमांडर बने.

उनके संस्मरण में दिये गये विवरण के अनुसार जनवरी 1918 में सोवियतों की अखिल रूसी तीसरी कांग्रेस ने सेना के गठन का सर्वसम्मत प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि:

'श्रमिक जनता की सार्वभौम सत्ता को सुनिश्चित बनाने के लिए और शोषकों की सत्ता की पुनर्स्थापना की सभी संभावनाओं को मिटा देने के लिए मेहनतकश जनता को हथियारबंद करने, मजदूरों व किसानों की समाजवादी लाल सेना का निर्माण करने तथा संपतिधारी वर्गों को पूरी तरह निरस्त्र करने का यह राज्यादेश जारी किया जाता है.'

ब्रेस्त-लितोव्स्क शांति समझौता

यह समझौता रूस की समाजवादी सोवियत सरकार तथा जर्मनी की साम्राज्यवादी सरकार के बीच 3 मार्च 1918 को ब्रेस्त-लितोव्स्क में संपन्न हुआ था. रूस के लिए अत्यंत अपमानजनक समझौता. लेकिन सोवियत सरकार और नवजात समाजवाद की सुरक्षा के लिए उतना ही जरूरी. ऐसी स्थिति में सवाल खड़ा होता है कि जिस रूसी जनता ने वहां की पूंजीवादी व्यवस्था को चुटकी बजाते ही धूल चटा दी थी, उसे विश्वयुद्ध में पराजित जर्मनी से इतना नीचे गिरकर अपमानजनक समझौता के लिए बाध्य क्यों होना पड़ा? दूसरी बात यह कि इस समझौता के दोनों पक्ष इस घात में थे और अनुकूल अवसर का इंतजार कर रहे थे कि कब मौका मिले कि एक दूसरे का गला घोंट दें.

हम देख चुके हैं कि रूस में समाजवाद का जन्म ऐसे समय में हुआ जब दुनिया विश्वयुद्ध के मझधार में फंसी थी. यह परिस्थिति नवजात समाजवाद के लिए अनुकूल तो थी, लेकिन छोटी सी गलती से प्रतिकूल भी बन सकती थी. अनुकूल इसलिए कि उपनिवेशों के बंटवारे के लिए बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ आपसी युद्ध में इस तरह उलझ गयी थीं कि रूसी पूंजीवाद की सुरक्षा में उतरने की फुर्सत किसी को नहीं थी. वही स्थिति प्रतिकूल इसलिए बन जा सकती थी कि युद्ध की संकटकालीन अवस्था में अंधराष्ट्रवाद का झांसा देकर जनता को अपने पक्ष में खड़ा कर लेना शांति काल की तुलना में आसान होता है. उस समय घिनौने से घिनौने कामों में लिप्त पूंजीवादी सरकार के लिए अपने विरोधियों (खासकर क्रांतिकारियों) को "गद्दार" और "देशद्रोही" होने का लांछन लगा देना सबसे आसान होता है. किसी पूंजीवादी राज्य में कोई कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ऐसे लांछन से नहीं बच सकता. जाहिर है, रूस की अक्तूबर क्रांति के दौरान लेनिन को इस लांछन से "सम्मानित होने का गौरव" प्राप्त हो चुका था. इसके बावजूद बोल्शेविक अगर क्रांति को सफलता की मंजिल तक पहुंचाने में सफल रहे थे तो इसलिए कि उन्होने मजदूरों और सैनिकों को सर्वहारा की राजनीति से इस कदर लैस किया था कि एक आम मजदूर को भी ऐसा लगता था कि लेनिन वही बोलते हैं, जो हम सुनना चाहते हैं. यह थी नेता, पार्टी और वर्ग की एकता. क्रांति की जीत की गारंटी.

इस बार स्थिति पहले से विकट थी. सोवियत सरकार को शांति की सख्त जरूरत थी. कहें कि शांति उसके लिए जीवनदायिनी थी. मित्र राष्ट्र उसे बर्बाद करने पर तुले थे जर्मनी के साथ 3 दिसंबर 1917 की तीन महीने की युद्ध विराम संधि का समय नहीं बीता, फिर भी जर्मनी ने युद्ध विराम को भंगकर रूस पर (10 फरवरी 1918) हमला कर दिया था. मोर्चे की सेना उसका मुकाबला करने की स्थिति में नहीं थीं और वह मोर्चे से भाग खड़ी हुई थी. लाल सेना गठन की प्रक्रिया से गुजर रही थी. इस प्रकार उसे थोपा हुआ युद्ध लड़ना पड़ रहा

था. लाल सेना ने मुकाबला किया और जर्मनों को पीछे हटने को मजबूर किया. यह घटना 23 फरवरी की है और इसी दिन को इतिहास में लाल सेना के जन्म दिन के रूप में याद किया जाता है. समग्रता में देखा जाय तो रूस के पास ऐसी सेना नहीं थी जो जर्मनी के हमले का मुकाबला कर सके. मामला यही था.

लेकिन पार्टी का एक हिस्सा इस सच को समझने और तदनुसार निर्णय लेने को तैयार नहीं था. बोल्शेविक पार्टी के भीतर 'वामपंथी कम्युनिस्ट' के नाम से अल्पमत गुट का जन्म हो चुका था और उनके नेतृत्व में मास्को का राज्य ब्यूरो केंद्रीय समिति का निर्णय नहीं मानने की धमकी दे रहा था. दूसरी तरफ रूस-जर्मनी समझौता में रूस की सोवियत सरकार का प्रतिनिधित्व विदेश मंत्री त्रॉत्स्की कर रहे थे और वे सरकार (जन कमिसार परिषद) का निर्णय नहीं मानने पर अमादा थे. इन वामपंथी कम्युनिस्टों का तर्क था कि जर्मनी के साथ युद्ध जारी रखकर वे जर्मन सर्वहारा (और विश्व सर्वहारा) की मदद करते हुए सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की सेवा कर रहे हैं तथा शांति समझौता इनके खिलाफ विश्वासघात और गद्दारी है. इसके विपरीत लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी की केंद्रीय कमिटी का मानना था कि इस ठोस परिस्थिति में यह विश्लेषण गलत है क्योंकि मातृभूमि की रक्षा का रूस का नारा समाजवाद की रक्षा का नारा है, इसलिए दीर्घकालिक विश्लेषण में यह साम्राज्यवादविरोधी है और सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के पक्ष में है. इसी बहस के क्रम में लेनिन ने इन वामपंथी लफ्फाजों को बोल्शेविक पार्टी में खाज की बीमारी के रूप में चिन्हित किया था.

इस खाज का स्रोत सिर्फ यह हो सकता था कि रूस में अपेक्षाकृत कम ताकत लगाकर ही क्रांति विजयी हो गयी थी और लफ्फाज समूह जर्मनी से भी उसी हिसाब से निबटने का सपना देख रहा था. लेकिन लेनिन के शब्दों में वास्तविक तस्वीर यह थी:

'अब तक हमारे सामने दयनीय, घिनौने (विश्व साम्राज्यवाद के दृष्टिकोण से) दुश्मन कोई मूढ़ रोमानोव, डींग हांकने वाले केरेन्स्की, यूंकर तथा बुर्जुवा लोगों के गिरोह रहे हैं. अब हमारे विरूद्ध उभरकर आया है, तकनीकी दृष्टिकोण से सुसज्जित, शानदार ढंग से संगठित, विश्व साम्राज्यवाद का सुसांस्कृतिक दैत्य. उस दैत्य से लड़ना जरूरी है. उससे लड़ना जानना जरूरी है. तीन वर्षों के युद्ध में बेमिसाल तबाही का शिकार बने और समाजवादी क्रांति शुरू कर रहे कृषक देश को फौजी टकरावों को टालना होगा, जबतक संभव तबतक टालना होगा, भले ही भारी कुर्बानियों की कीमत पर ताकि वह उस घड़ी से पहले जब ''अंतिम निर्णायक लड़ाई'' शुरू हो, कुछ गंभीर कार्य कर सके.' (लेनिन, संकलित रचनाएं 10 खंडों में प्रकाशित, खंड 7)

वह घड़ी कब आयेगी? लेनिन का जवाब था : जब समाजवादी क्रांति अग्रगामी साम्राज्यवादी देशों में छिड़ जायेगी.

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए लेनिन आगे लिखते हैं:

'यदि बिल्कनेख्त दो या तीन सप्ताहों में बुजुर्वा वर्ग पर विजयी हो जाते हैं (यह असंभव नहीं है) तो वह हमें सारी कठिनाईयों से बाहर निकाल लायेंगे. यह असंदिग्ध है. परंतु हम यदि आज के साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष में आज की अपनी कार्यनीति इस आशा के आधार पर निर्धारित करें कि लिब्कनेख्त शायद अगले चंद सप्ताहों में विजयी हो जायेंगे तो हम मात्र उपहास के पात्र होंगे. हम वर्तमान काल के महानतम क्रांतिकारी नारे को खोखली लफ्फाजी में बदल देंगे.' (वही)

यह था बहस का सार तत्व. लफ्फाजों की इस बहस ने रूसी समाजवाद को काफी क्षति पहुंचायी थी. इस क्षति का आकलन करने के लिए यह जानना जरूरी है कि जर्मन साम्राज्यवाद की शर्तें क्या थीं? उसने तीन शर्तें थोपी थीं- रूस ने जिस जमीन पर कब्जा किया है वह लौटा दे, जर्मनी ने जो जमीन जीती है वह उसके कब्जे में रहे तथा रूस तीन अरब रूबलों का हर्जाना दे. निस्संदेह ये शर्तें काफी अपमानजनक थीं. और सबसे खतरनाक बात यही थी कि जितना विलंब हो रहा था रूस का उतना ही बड़ा भूखंड जर्मनी के कब्जे में जा रहा था. इस रूप में रूस लफ्फाजी की बहुत बड़ी कीमत चुका रहा था. कीमत को कैसे आंका जाय?

इस विवाद के कारण 10 फरवरी को शांति संधि टूट गयी थी. तुरंत जर्मनी ने हमला बोल दिया. 18 फरवरी को केंद्रीय समिति की सहमति के बाद लेनिन ने जर्मनी सरकार को समझौता का प्रस्ताव भेजा. लेकिन युद्ध विराम और समझौता का आरंभ 23 फरवरी के बाद ही हुआ. अंततः 3 मार्च 1918 को शांति-संधि पर हस्ताक्षर हो सका. लेकिन रूसी शिष्टमंडल का नेतृत्व विदेशी मामलों के कमिसार त्रॉत्स्की नहीं, बल्कि सोकोल्निकोव कर रहे थे. इस अवधि में जर्मनी रूस में काफी आगे बढ़ चुका था उसके फलस्वरूप लात्विया, इस्तोनिया जर्मनी के कब्जे में चले गये. पोलैंड और यूक्रेन उसके अधीन हो गये. हर्जाना तो देना पड़ा ही. इसी डर से आनन-फानन में राजधानी पेत्रोग्राद से मास्को ले जाना पड़ा. इसमें लेनिन का तर्क था कि अगर पेत्रोग्राद में राजधानी रहती है और हम इसे खोते हैं तो पूरा समाजवाद नष्ट हो जायेगा. अगर राजधानी मास्को रहती है और पेत्रोग्राद हारते हैं तो बहुत बड़ी क्षति होगी, लेकिन समाजवाद के बचे रहने की गुंजाइश बनी रहेगी. इस प्रकार इन लफ्फाजों के कारण सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की रक्षा तो नहीं हो रही थी, बल्कि रूस का समाजवाद खतरे में था. इस आकलन के आधार पर लेनिन ने बिल्कुल सही निष्कर्ष निकाला कि बुखारिन और त्रॉत्स्की ने वस्तुतः जर्मन साम्राज्यवाद की मदद की तथा जर्मन क्रांति को क्षति पहुंचायी.

जिस समय बोल्शेविक सर्वहारा सत्ता को सुदृढ़ बनाने का प्रयास कर रहे थे उसी समय सरकार में दरार पैदा हो रही थी. ब्रेस्त लितोव्स्क शांति समझौता के प्रश्न पर बोल्शेविक

पार्टी के बीच मचे घमासान की चर्चा कर चुके हैं. यहां वामपंथी समाजवादी पार्टी की करतूतों की चर्चा करेंगे. शांति संधि और गांव के गरीबों की कमिटी गठन को लेकर उन्होने सरकार से बाहर निकलने का फैसला कर लिया. 4 जुलाई 1918 को सोवियतों की पांचवीं कांग्रेस में इस पार्टी के प्रतिनिधियों ने कुलकों का पक्ष पोषण करते हुए लेनिन पर तीखा हमला बोला था. उनकी मांग थी कि खाद्य उगाही अभियान खत्म हो, कुलकों पर हमले बंद हों. इस कांग्रेस में बुरी तरह पराजित होने के बाद उन्होंने मास्को तथा कई अन्य जगहों पर विद्रोह का बिगूल फूंक दिया जिसे सोवियत सरकार ने असानी से दबा दिया. इस दौर की सबसे भयावह और घिनौनी घटना जर्मन राजदूत मीरबाक की हत्या थी. ''वाम'' समाजवादी क्रांतिकारी ब्लूमकिन ने दूतावास में घुस कर उसकी हत्या की थी. इसके पीछे इनका मकसद था जर्मन साम्राज्यवाद को उकसाकर रूस पर हमला के लिए प्रेरित करना. लेकिन बोल्शेविक पार्टी किसी भी कीमत पर शांति चाहती थी और अपनी कूटनीतिक सूझबूझ से उसने शांति समझौते की रक्षा कर ली.

रूसी सोवियत सत्ता को सुदृढ़ बनाने की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कदम था- ग्रामीण क्षेत्रों में गरीब किसानों की कमिटियों का गठन. पाठकों को याद दिलाते चलें कि भूमि संबंधी राज्यादेश जमीन पर कैसे उत्तर रहा है? भूमि पर कस्तविक स्वामित्व किसका हो रहा है? कुलकों का या किसानों का? वितरण संबंधी नीति के बारे में अलग-अलग क्षेत्रों के किसानों की राय क्या है? जाहिर है, भूमि वितरण संबंधी नीति तय करने में इन किसान संगठनों के बीच से निकले जनादेश को काफी अहमियत दी गयी थी. हम कह सकते हैं कि इन्हीं के आधार पर कृषि संबंधी नीति तय की गयी थी. इससे मजदूरों-किसानों के लिए पूर्ण जनवाद तथा पूंजीपतियों जमींदारों के लिए पूर्ण तानाशाही की नीति के व्यावहारिक पक्ष की झलक मिल जाती है.

उल्लेखनीय है कि जमींदारों की जब्त जमीन को हथियाने और हड़पने के संघर्ष में कुलक गरीब किसानों पर भारी पड़ रहे थे. गरीब किसानों की कमिटियां बनने और उन्हें राज्य का समर्थन मिल जाने से (जून 11,1918 की आज्ञप्ति) गरीब किसानों का पलड़ा भारी हो गया. इस साल के अंत में जब यह कार्यभार पूरा हो गया, तो इन कमिटियों को ग्रामीण सोवियतों में शामिल कर दिया गया और इस प्रकार इनका अस्तित्व समाप्त हो गया. इन संगठनों का दीर्घकालिन महत्व इस बात में था कि उन्हेने गांवों में सर्वहारा अधिनायकत्व का आधार तैयार किया. गृह युद्ध के काल में जब कुलकों ने अनाज छुपाना शुरू किया और मोर्चों पर तथा शहरों में अनाज का कृत्रिम अभाव पैदा किया जाने लगा तब इन संगठनों ने अनाज जब्ती अभियान में कुलकों के जखीरों का पता लगाने में अत्यंत सराहनीय भूमिका निभायी थी.

✦✧✦

गृह युद्ध के दौर में

अपनी कूटनीति और सूझबूझ से बोल्शेविक पार्टी ने शांति कायम रखने की चाहे जितनी कोशिशें की हों, लेकिन वे लंबे समय तक शांति से शासन नहीं चला पाये. अशांति का यह दौर अप्रत्याशित नहीं था. मार्क्सवाद का सैद्धांतिक ज्ञान और अतीत के अनुभव दोनों ही उन्हें सचेत कर रहे थे कि घरेलू प्रतिक्रियावादी और उनके साम्राज्यवादी आका इस क्रांति को खून में डुबो देने का अंतिम प्रयास जरूर करेंगे. इसके लक्षण 1918 के उतरार्द्ध में दिखने लगे. गृह युद्ध का यह दौर दो वर्षों तक चला और रूसी सर्वहारा को साम्राज्यवादी शक्तियों और घरेलू प्रतिक्रियावादियों के संयुक्त हमलों से निबटना पड़ा था. सवाल उठता है कि जो रूसी सेना मोर्चे के खंदक से भाग खड़ी हुई थी, वह इस युद्ध में विजेता के रूप में कैसे उभरी ? यह ऊर्जा उसमें कहाँ से पैदा हुई? उस समय रूस की बोल्शेविक सत्ता ने कैसी नीति अपनायी? ये सारे प्रश्न हैं जिनके बारे में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की समझ बहुत साफ होनी चाहिए.

इससे निबटने के लिए सोवियत सत्ता ने शासन की अत्यंत सख्त नीति अपनायी जिसे 'वार कम्युनिज्म' के रूप में जाना जाता है. इस नीति के तहत बड़े उद्योगों के साथ-साथ छोटे-मझोले उद्योग भी सरकारी नियंत्रण में लाये गये. इसके साथ ही अनाज का व्यापार भी सरकार के एकाधिकार में ला दिया गया और सभी वर्गों के लिए सार्विक श्रम अनिवार्य कर दिया गया. इसका उद्देश्य था कि सेना और जनता (मेहनतकश जनता) तक सारे सामान पहुंचाये जायें.

राष्ट्रीय संकट की इस घड़ी में सर्वहारा अधिनायकत्व की ठोस सबक हासिल करने के लिए लेनिन की 8 सूत्री घोषणाओं पर ध्यान देना जरूरी है. 'समाजवादी पितृभूमि खतरे में है, शीर्षक घोषणा में मुख्य जोर इन बातों पर था : देश की समस्त शक्तियों और साधनों को समग्र रूप में क्रांतिकारी रक्षा के ध्येय के अधीन किया जाना, सैनिक विशेषज्ञों के निर्देशन में खंदक खोदने वाली बटालियनों में बुर्जुवा वर्ग के सभी कार्य सक्षम सदस्यों को, पुरूषों व स्त्रियों को लाल गार्डों की देखरेख में शामिल करना तथा प्रतिरोध करनेवालों को गोली से उड़ा देना, दुश्मन के एजेंटों मुनाफाखोरों, हत्यारों, गुंडों, प्रतिक्रांतिकारी आंदोलनकारियों तथा जर्मन जासूसों को अपराधस्थल पर ही गोलियों से उड़ा देना.

ये आदेश 21 फरवरी 1918 को जारी किये गये थे. तब तक जर्मनी के साथ शांति संधि संपन्न नहीं हुई थी. इस आदेश के आलोक में समझा जा सकता है कि गृहयुद्ध के दौर में जब ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, जापान, छद्म रूप से जर्मनी तथा रूस के पूंजीपति, जारशाही के अनुयायी समस्त प्रतिक्रियावादी एकजुट होकर विद्रोह पर उतर गये थे, सर्वहारा सत्ता को

कितने दमनकारी रूप धारण करने की जरूरत पड़ी होगी.

हालांकि गृहयुद्ध के दौर की शुरूआत वर्ष 1918 के वसंत से हुई, लेकिन इसकी तैयारी वर्ष के प्रारंभ से ही चल रही थी. स्तालिन की जीवनी 'लाईफ एड टाईम्स ऑफ जॉसफ स्तालिन' (एम.आर अप्पन, प्रजाशक्ति बुक हाउस, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, दिसं 2001) में केरेंस्की को उद्धृत करते हुए (रसिया एण्ड हिस्ट्रीज टार्निंग प्वाइंट में) इस प्रसंग की चर्चा है कि प्लेखानोव ने समाजवादी क्रांतिकारियों, अन्य समाजवादी नामधारी पार्टियों और कैडेट पार्टी के नेताओं से मिलकर 'दी यूनियन फॉर रसियन रिसरक्शन' नामक संस्था का निर्माण किया था. उनका विचार था कि रूस में व्यापकतम एकता के आधार पर राष्ट्रीय जनवादी सरकार का गठन किया जाय और मित्र राष्ट्रों के सहयोग से जर्मनी के खिलाफ मोर्चा खोल दिया जाय. इस मोर्चा का प्रतिनिधित्व करते हुए केरेंस्की 20 जून 1918 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज से मिले थे. उन्होने मित्र राष्ट्रों से रूस में हस्तक्षेप की मांग की थी. इसके तुरंत बाद साइबेरिया में निदेशक मंडल (डायरेक्टरेट) का गठन किया गया था इसमें समाजवादी क्रांतिकारी, अन्य समाजवादी, कैडेट तथा जारशाही के जनरल अलेक्सेरेव तथा बोल्दीरेव शामिल थे. ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों ने लगभग मान्यता भी दे दी थी, लेकिन यह प्रयास सफल नहीं हो सका और उन्हें अपना कार्ड कोल्चाक पर खेलना पड़ा.

लेकिन रूस की सोवियत सरकार पर सिर्फ ब्रिटेन और फ्रांस की गिद्धदृष्टि नहीं थी. अमेरिका और जापान भी उसे बोल्शेविकों के चंगुल से मुक्त कराने में उतने ही सक्रिय थे. इन साम्राज्यवादी डाकुओं ने रूस को टुकड़ों में बांटकर अपना-अपना नेवाला बनाने की कोशिश की थी:

✦ ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेना की बदौलत उत्तरी रूस पर कब्जा किया और वहां सरकार का गठन किया.

✦ जापान ने पूर्वी रूस के ब्लादोवोस्तक में अपनी सेना उतार दी और प्रतिक्रियावादी सरकार का गठन किया.

✦ उत्तरी काकेशस में जनरल कोर्निलोव, अलेक्सेव और देनिकिन ने ब्रिटेन और फ्रांस की मदद से अपनी सेना का पुनर्गठन किया और संपत्तिधारी कज्जाकों की मदद से सोवियत विरोधी सत्ता केंद्र का निर्माण किया.*

✦ दोन क्षेत्र में जर्मन साम्राज्यवाद के गुप्त सहयोग से जनरल क्रास्नोव और ममोंतोव के नेतृत्व में कज्जाक विद्रोह हुआ और सोवियत विरोधी सत्ता कायम हुई.

✦ साइबेरिया और मध्य वोल्गा क्षेत्र में ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाक सेना के विद्रोह को हवा दी.

इस स्थिति को देखकर सहज ही समझा जा सकता है कि सोवियत रूस किस तरह देशी-विदेशी वर्ग दुश्मनों से घिर गया था. फलस्वरूप खाद्य संकट पैदा हो गया था, कच्चे माल की कमी से उद्योग बंद हो रहे थे और समाजवादी मातृभूमि के सामने सुरक्षा का संकट मुँह बाये खड़ा था. संक्षेप में कहें तो जीवन-मरण की स्थिति पैदा हो गयी थी, अस्तित्व रक्षा का सवाल खड़ा हो गया था. ऐसी स्थिति में समाजवाद का मतलब यही हो सकता था कि सरकार सबको रोटी उपलब्ध कराये और मेहनतकश अवाम की सुरक्षा की गारंटी दे. इन्हीं जरूरतों को पूरा करने के लिए सोवियत सत्ता को वह कठोर नीतिं अपनानी पड़ी थी. ऐसी स्थिति में खाद्यान्न व्यापार पर पूरी तरह राजकीय एकाधिकार कायम कर काला बाजारियों और मुनाफाखोरों की गर्दन दबोच देने के सिवाय दूसरा रास्ता क्या हो सकता था ! कुलकों के भंडार से जबरन अन्न उगाही करने के अलावा कौन सा रास्ता अपनाया जा सकता था ! देश की अर्थनीति के निर्धारण के कार्यकलापों से मुनाफाखोरों को निकाल बाहर करने के अलावा और क्या उपाय किया जा सकता था ! इन उपायों के माध्यम से मार्क्स-एंगेल्स का सपना साकार हो रहा था. अब तक जिन लोगों ने सभी वर्गों को लूटा था, उनकी संपति मजदूर-किसानों की संगठित शक्ति (राजसत्ता) द्वारा लूटी जा रही थी.

सुरक्षा की दृष्टि से भी जरूरी था कि मेहनतकश वर्गों के सभी सक्षम सपूत लाल सेना में संगठित व प्रशिक्षित होकर मोर्चे पर जायें और उत्पादक व अन्य सहायक कामों में उन सुकुमार स्त्री-पुरूषों को लगाया जाय जिन्होने कभी शारीरिक श्रम नहीं किया था और जिन्हें सिर्फ आदेश देने की आदत थी. मानव जाति के इतिहास में पहली बार हो रहा था कि कल के हुक्मरान आज हुक्म बजा रहे थे. यहां भी मार्क्स-एंगेल्स का सपना साकार हो रहा था - जो श्रम नहीं करेगा, वह खाना नहीं खायेगा.

सामाजिक संबंधों में इस बदलाव को स्थायी बनाने के लिए जरूरी था कि सर्वहारा राज्य की मशीनरी को स्थायी और मजबूत बनाया जाय. सर्वहारा सत्ता यह काम पूरी मुस्तैदी से कर भी रही थी. गृहयुद्ध की उस भयंकर परिस्थिति में सबसे पहला और जंरूरी काम था कि जारशाही की सेना को खत्म कर एक नयी सेना (लाल सेना) खड़ी की जाय. बारिकी से देखने पर यह बात साफ हो जाती है कि युद्ध के दौरान जार की सेना में जनवाद के भ्रूण पड़ गये थे. युद्ध के पहले सेना की मुख्य विशेषता थी कि अफसरों और जवानों के बीच कोई जीवंत संबंध नहीं रहता था, उनके बीच का संबंध रोबोट जैसा हो चला था. अफसरों को पता तक नहीं होता था कि जवानों के मन में क्या चल रहा है. इसका दुष्परिणाम होता था कि युद्ध की रणनीति ठीक से जमीन पर उतर नहीं पाती थी.

युद्ध के दौरान स्थिति बदली. खासकर वर्ष 1916 और 1917 के शुरूआती दिनों में. सेना के विस्तार में बड़ी संख्या में निचले स्तर के अफसरों की जरूरत पड़ी. इसकी पूर्ति के

लिए बड़े पैमाने पर मजदूरों और किसानों के थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे नौजवान भर्ती किये गये. इन्हें ट्रेनिंग देकर जारशाही अनुशासन में ढालने की कोशिश हुई. जारशाही के लिए और बाद में रूस की पूंजीवादी सत्ता के लिए यह प्रयास जीवनदायी तब हो सकता था, जब वहाँ के मजदूरों और किसानों पर पूंजीवादी राजनीतिं हावी होती. लेकिन पूरे यूरोप में रूस एक विलक्षण देश था जहां मजदूर वर्ग की पार्टी पूंजीपति वर्ग की पार्टी से पहले अस्तित्व में आ गयी थी और मजबूत थी. इसलिए इन नौजवानों पर या तो सर्वहारा वर्ग का प्रभाव था या निम्न पूंजीवादी. इस प्रकार रोबोट बनाने के हर प्रयास के बावजूद जवानों के साथ इनके जीवंत संबंध पूरी तरह नष्ट नहीं हुए. इसके फलस्वरूप वे जनरलों, अफसरों और सेना के जवानों के बीच कड़ी का काम करने लगे. लेकिन अक्तूबर क्रांति के दौरान यही लोग सेना में बोल्शेविज्म का आधार बने थे और अब यही लोग लाल सेना की अग्रणी पंक्ति के संगठनकर्त्ता और पदाधिकारी बनने वाले थे. बोल्शेविक सरकार ने सत्तासीन होते ही यह काम पूरी मुस्तैदी से शुरू कर दिया था.

इसकी जीवंत तस्वीर झुकोव के संस्मरण में दिखाई पड़ती है. 1917 (दिसंबर) और जनवरी 1918 की अवधि में वे लाल गार्ड्स के संगठन में शामिल होने पर विचार कर रहे थे. लेकिन अस्वस्थ रहने के कारण ऐसा नहीं कर सके. 1918 के उत्तरार्द्ध में वे पहले मास्को घुड़सवार डिविजन के चौथे रेज़िमेंट में शामिल हो सके. उनका कहना है कि उस समय पार्टी और सोवियत सरकार अत्यंत जरूरी और कठिन काम को अंजाम दे रही थी. पुरानी सैन्य संरचना को नष्ट कर नयी संरचना के निर्माण का काम. इस प्रक्रिया में सेना का जनवादीकरण हो रहा था. नियंत्रण की जिम्मेवारी जवानों की कमिटी को सौंपी जा रही थी, सबको समान अधिकार मिल रहा था और रेजिमेंट स्तर तक के अधिकारी जवानों की आम सभा में चुने जा रहे थे. दुनिया के पहले जनवादी सैन्यबल का निर्माण हो रहा था. ऐसा जनवाद जिसे पूंजीपति वर्ग ने न कभी देखा था और न उसकी कल्पना कर सकता था.

सेना में भर्ती होने के लिए सेना की इकाई, पार्टी या सोवियत सत्ता को समर्थन देनेवाले किसी सार्वजनिक संगठन का अनुमोदन जरूरी होता था. सेना के जवानों के सारे खर्चे राज्य वहन करता था और इसके अतिरिक्त 50 रूबल मासिक भुगतान होता था. 1918 के मध्य तक यह राशि बढ़ा दी गयी. अविवाहित के लिए 150 और विवाहित के लिये 250 रूबल मासिक. लाल सेना की पहली यूनिट पेत्रोग्राद में जनवरी 1918 में बनी. इसमें रेड गार्ड और पेत्रोग्राद गैरिसन के जवान शामिल किये गये. उसी समय 1000 रेड गार्ड्स से बनी सेना पश्चिमी मोर्चे के लिये रवाना हुई. ये प्रारंभिक कदम थे जहां से समाजवादी सेना के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई और अनुभव से सीखकर जिसे उत्तरोत्तर सुधारा गया.

गृहयुद्ध के अनुभव ने समझा दिया कि स्वयंसेवकों की गुरिल्ला यूनिट जैसी संरचना

काफी नहीं है. नियमित और अनुशासित लाल सेना का होना जरूरी है. लेकिन पार्टी उस समय कैसी दुविधा में थी इसकी झलक झुकोव की इन पंक्तियों से मिलती है: 'पार्टी संगठन के भीतर अक्सरहां हमलोग पूर्व अफसरों के साथ संबंधों पर चर्चा करते थे और इन सैन्य विशेषज्ञों में यथासंभव विश्वास व्यक्त करते थे. लेकिन कम्युनिस्टों के बीच ऐसे लोग थे जो प्रचार करते थे कि इनमें अधिकांश अफसर श्वेत गार्ड्स रहे हैं और उनमें सोवियत व्यवस्था के प्रति कोई सहानुभूति पैदा हो ही नहीं सकती. उन्हें लगता था कि सेना का अनुशासन सामंती दासता है. लेकिन पार्टी की आठवीं कांग्रेस ने इस विवाद का अंत कर दिया. इसका सकारात्मक प्रभाव भी पड़ा. जिन विशेषज्ञों ने कांग्रेस की गतिविधियों को देखा-समझा, उन्हें लगा कि पार्टी उनपर भरोसा करती है, उनका महत्व समझती है और उनका ख्याल रखेगी.'

'ये अफसर अपना काम पूरी निष्ठा से करते थे, लेकिन रूटीन के प्रति बहुत आग्रही थे. सेना के भीतर राजनीतिक प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षक नियुक्त किये जाते थे. उनके बारे में झुकोव का मत है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में कई प्रशिक्षकों का ज्ञान उतना ही कम था, जितना हमारा. इसी प्रक्रिया में सोवियतों की पांचवीं अखिल रूसी कांग्रेस ने निर्णय लिया कि नियमित लाल सेना का गठन किया जाय.'

इस तरह की सेना के गठन के लिए जारशाही सेना के विशेषज्ञों की सेवा लेने की नीति अपनायी गयी. ऐसी स्थिति में जरूरी था कि रेजिमेंट स्तर पर पदाधिकारियों के प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति बंद की जाय. पार्टी ने स्थिति की जरूरत को देखते हुए यह निर्णय लिया. सेना में राजनीतिक कामों को जारी रखने और आगे बढ़ाने के लिए कमिसार की व्यवस्था फिर से बहाल की गयी.

यह कदम मार्क्स-एंगेल्स की सोच से पूरी तरह मेल नहीं खाता था. खासकर पूंजीवादी राज-मशीनरी को पूरी तरह नष्ट कर देने के विचार से. लेकिन वहां तक पहुंचने के लिए रूस की ठोस परिस्थिति में ऐसा करना जरूरी था और मार्क्स-एंगेल्स के तत्कालीन विश्लेषण से मेल नहीं खाने के बावजूद यही मार्क्सवाद था, उसमें विकास था. लेकिन यह निर्णय दोधारी तलवार जैसा था और इसकी अभिव्यक्ति पार्टी की आठवीं कांग्रेस में हो रही थी. उस समय सेना का मामला त्रॉत्सकी के जिम्मे था और कांग्रेस में शामिल सेना के प्रतिनिधि उनसे खुश नहीं थे क्योंकि पूर्व जारशाही के सैन्य विशेषज्ञों के लिए उनके मन में आदर-भाव कुछ ज्यादा ही था. इसलिए यह नीति ऐसी थी जिसका उपयोग भी करना था और उसके दुष्प्रभावों से सावधान भी रहना था. इस दुविधा को लेनिन के इस विश्लेषण से समझा जा सकता है: सैकड़ों अफसर हैं जो हमारी पीठ में छुरा घोंप रहे हैं, लेकिन हजारों ऐसे हैं जो निष्ठापूर्वक हमारी मदद कर रहे हैं.

झुकोव ने अपने संस्मरण में सेना संगठन की प्रक्रिया और उसकी भूमिका पर ज्यादा जोर

दिया है. लेकिन इस गृह युद्ध में घरेलू प्रतिक्रियावादियों और साम्राज्यवादियों पर जीत का मामला दरअसल जनता और सेना के संयुक्त अभियान का मामला था. इसलिए इस विजय की परिस्थिति व कारणों की सही समझ हासिल करने के लिए रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की आठवीं कांग्रेस में नीतियों पर हुई बहस और बदलाव पर ध्यान देना होगा. इस कांग्रेस की विशेषता थी कि वह गृहयुद्ध के बीच समाजवाद की आधारशिला रखने के कार्यक्रम के साथ हो रही थी. इसलिए कांग्रेस ने समाजवाद की जीत सुनिश्चित करने के लिए कई कदम निर्धारित किये, मसलन : पूंजीपतियों के संपत्तिहरण की कार्रवाई को पूरा करना, एकल समाजवादी योजना के अनुसार देश के आर्थिक जीवन का प्रशासन, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संगठित करने में ट्रेड यूनियनों की भूमिका, समाजवादी श्रमिक अनुशासन, सोवियत निकायों के नियंत्रण के आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवादी विशेषज्ञों का उपयोग, समाजवादी निर्माण के काम में मध्यम किसानों को क्रमिक व व्यस्थित ढंग से शामिल करना. यह कांग्रेस मुख्य रूप से मध्यम किसानों की भूमिका को ठीक-ठीक चिह्नित करते हुए समाजवादी निर्माण में उनकी ऊर्जा का उपयोग करने के लिए जानी जाती है. इस कांग्रेस के महत्व को रेखांकित करते हुए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (के) का इतिहास कहता है: 'श्वेत गाईस और विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ संघर्ष तथा समाजवाद के सफल निर्माण के उद्देश्य से आठवीं कांग्रेस मध्यम किसानों को तटस्थ बनाने की नीति से हटकर उनके साथ स्थिर गठबंधन बनाने की नीति पर पहुंच गयी.'

कार्यक्रम में इस बदलाव के मुख्य शिल्पी लेनिन थे. उन्होने मध्यम किसानों की भूमिका को सिर्फ आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र तक सीमित कर नहीं देखा. वे सैन्य संगठन में भी उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे. उन्होने साफ शब्दों में चेतावनी दी थी कि: 'या तो हम मजदूरों किसानों-मुख्यत: किसानों की सेना, पूरी तरह अनुशासित सेना खड़ी करें और (सर्वहारा) गणतंत्र की रक्षा करें या मिट जायें. लेनिन इस निष्कर्ष पर गृहयुद्ध के दौर में सामने आये तथ्यों के आधार पर पहुंचे थे. पहला तथ्य था कि भूमि संबंधी राज्यादेश के फलस्वरूप कृषि अर्थव्यवस्था में मध्यम किसानों की आबादी तेजी से बढ़ गयी थी. दूसरा तथ्य यह था कि 1918 की गर्मियों में वोल्गा क्षेत्र में चेकोस्लोवाक श्वेत गाईस, कुलक, समाजवादी क्रांतिकारी और मेंशेविक सोवियत सत्ता को उलटने में सफल रहे थे. ऐसा इसलिए हुआ था कि मध्यम किसानों का बड़ा तबका उनके साथ जा मिला था. मध्य रूस में कुलकों के विद्रोह के मामले में भी ऐसा ही हुआ था. लेकिन किसानों ने देखा कि वे धोखा खा गये. जमींदारों की सत्ता फिर लौट आयी, उनकी जमीन छीन ली गयी तथा कोड़ों की मार और अत्याचार का दौर फिर आ गया. इस अनुभव और कुलकों को कुचलने में 'गरीब किसान कमिटियों की भूमिका के आधार पर वे फिर बोल्शेविकों की तरफ आये

और सोवियत सत्ता फिर से स्थापित हो गयी. तत्कालीन रूस की ग्रामीण व्यवस्था में विभिन्न वर्गों की भूमिका का विवरण झुकोव अपने संस्मरण में इन शब्दों में देते हैं:

'मैंने अपने माता-पिता के साथ गाँव में छुट्टी बितायी. गाँव के लोगों की स्थिति बहुत बुरी थी, लेकिन उन्होने हार नहीं मानी थी. गरीब लोगों ने गरीब किसान कमिटी बनायी थी जो कुलकों के गोदाम से अनाज जब्त करने में भाग लेती थी. मध्यम किसान कठिनाइयों और मोर्चे पर बुरी हालत के बावजूद सोवियत सत्ता की ओर अधिकाधिक झुकते जा रहे थे. थोड़े से मध्यम किसान जिनके पास कुलक की तरह संपत्ति थी, पार्टी व सरकार के कदमों के विरोधी थे.'

समाज के शक्ति संतुलन में आये इस बदलाव से रूस में एक तरह से नवजीवन का संचार हुआ था और यह ऊर्जा सैन्य संगठन में भी भरी हुई थी. रूस में पहली बार यह हुआ था कि सेना और जनता की विभाजन रेखा मिट गयी थी और यह युद्ध समस्त जनता का युद्ध बन गया था जिसकी कमान बोल्शेविक पार्टी के हाथ में थी.

केरेंस्की सरकार के पतन के दौर से लेकर गृहयुद्ध के वर्तमान दौर के बीच बोल्शेविक पार्टी की कार्यपद्धति और नेतृत्व संरचना में काफी बदलाव आ गया था. इस गृहयुद्ध में खाद्य संकट सबसे गंभीर मामला बन गया था. देश यूक्रेन, दक्षिण पूर्व तथा वोल्गा के अन्न उत्पादक क्षेत्र से कट गया था. उत्तरी काकेशस खाद्यान्न आपूर्ति का एक मात्र स्त्रोत रह गया था. मई 1918 के अंत तक त्सरात्सिन से स्थिति भयावह होने की खबरें मास्को आने लगी थीं. ऐसी स्थिति में स्तालिन को दक्षिणी रूस के लिए खाद्यान्न आपूर्ति सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वहां भेजा गया था. लेकिन वहां ट्रेड यूनियन, पार्टी और सेना की गड़बड़ियां एक दूसरे के साथ गूंथ गयी थीं कि एक को सुलझाये बिना दूसरे की गुत्थी ठीक नहीं की जा सकती थी. इस उलझन के चरित्र को समझने के लिए लेनिन के नाम स्तालिन्र के तार (11 जुलाई 1918) पर गौर किया जा सकता है :

'मामला इसलिए जटिल हो गया है कि उत्तरी काकेशस क्षेत्र का सैनिक मुख्यालय प्रति क्रांतिकारियों से निबटने की जरूरतों के अनुसार ढलने में पूरी तरह अक्षम साबित हुआ है. बात यह है कि हमारे 'विशेषज्ञ' प्रतिक्रांतिकारियों से निर्ममतापूर्वक निबटने में न सिर्फ मनोवैज्ञानिक रूप से अक्षम है, बल्कि यही स्थिति स्टाफ कर्मचारियों की है. वे इतना ही जानते हैं कि 'क्षेत्र का नक्शा' कैसे बनाया जाय, शक्तियों के पुर्नसंयोजन की योजना कैसे बनायी जाये. वे वास्तविक ऑपरेशन के प्रति पूरी तरह उदासीन रहते हैं.... और आम तौर पर अपने-आप को बाहरी, अतिथि समझते हैं. मिलिट्री कमिश्नर स्थिति को बचा पाने में अक्षम रहे हैं.' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

स्तालिन मामले का विवरण भेजने तक सीमित नहीं रहे. स्थिति को बदल डालने के

इरादे से उन्होने आगे लिखा:

..... मैं इन सबको और कई अन्य कमजोरियों को तत्क्षण ठीक करूंगा. मैं कई कदम उठा रहा हूँ जिनमें स्थिति को बर्बाद करनेवाले अफसरों और कमांडरों को हटा देना भी शामिल है. औपचरिक कठिनाईयों के बावजूद मैं यह सब जारी रखूंगा और जरूरत पड़ने पर उन्हें (कठिनाईयों को) किनारे लगा दूंगा. यह मानी हुई बात है कि सभी उच्चस्थ निकायों के सामने मैं पूरी जिम्मेवारी स्वीकार करूंगा'. (वही, के.ई. वोरोसिलोव की पुस्तक स्तालिन एण्ड आर्म्ड फोर्सेज आफ यूएसएसआर से उद्धृत).

मास्को में उनके इस नजरिये से सहमति जतायी गयी. उसके बाद वहां नियमित सेना का गठन किया गया. इस क्रम में जारशाही की सेना के अफसरों को हटाया गया जिन्हें विशेषज्ञ के रूप में रखा गया था. उसके साथ ही स्थिति में तेजी से सुधार हुआ. जनरल देनिकिन की कार्रवाई छोटे क्षेत्र में सिमट गयी और कोर्निलोव इसी संघर्ष में मारा गया. इस बदलाव का उल्लेख करते हुए वोरोसिलोव ने लिखा:-

'पुराने बोल्शेविकों और क्रांतिकारी मजदूरों का समूह दोन के दरवाजे पर कामरेड स्तालिन के इर्द-गिर्द जमा हुआ और दक्षिण में प्रतिक्रांतिकारी दोन के दरवाजे पर असहाय स्टाफ की जगह लाल बोल्शेविक मजबूत गढ़ तैयार हो गया.' (वही)

स्तालिन के इस आंतरिक प्रयास को अंतर्राष्ट्रीय जगत से भी परोक्ष समर्थन मिल गया. नवंबर 1918 में जर्मनी वा हंगरी में क्रांति का विस्फोट हुआ जिसके फलस्वरूप यूक्रेन में जर्मन साम्राज्यवाद का किला तहस-नहस हो गया. इस प्रकार पश्चिम के इस इलाके को मुक्त कराने और बेलारूस गणराज्य के संगठन में स्तालिन की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी. इसका प्रभाव पड़ा कि उस हर मोर्चे पर जहां प्रतिक्रांतिकारियों और श्वेत गार्डों की आक्रामकता ज्यादा थी और क्रांति पछाड़ खा रही थी, स्तालिन भेजे जाने लगे.

1 जनवरी 1919 को स्तालिन को पूर्वी मोर्चे पर भेजा गया. उन्हें जिम्मेवारी सौंपी गयी थी कि तबाही के कारणों की जांच-पड़ताल करें. जांच के क्रम में उन्होने इस मोर्चे के कमांडर इन चीफ तथा त्रॉत्स्की के युद्ध कमिसारियत की खुली आलोचना की. साथ ही उन्होने इन खामियों को ठीक करने के उपाय भी किये. अपने कदमों की चर्चा करते हुए उन्होने लेनिन को रिपोर्ट भेजा : 'सेना के पीछे कार्यरत सोवियत और पार्टी संगठनों को निकाल बाहर करने की प्रक्रिया जारी है, व्यात्का और युएज्द शहरों में क्रांतिकारी कमिटियां बन गयी हैं. देहातों में क्रांतिकारी संगठन बनाने का काम शुरु हो रहा है. नयी नीति के आधार पर सोवियत और पार्टी के सभी काम संगठित हो रहे हैं. मिलिट्री कंट्रोल कमीशन के पुराने लोगों को हटाकर उनका पुनर्गठन हो रहा है. खुफिया पुलिस के पुराने लोगों को हटाकर पार्टी कार्यकर्त्ता उसमें शामिल किये जा रहे हैं. (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

जाहिर है, इन सबकी गूंज पार्टी की आठवीं कांग्रेस में होनी थी और वह हुई. खास बात यह थी कि में युद्धमंत्री त्रॉत्स्की थे और व्यवहारत: युद्ध का संचालन स्तालिन कर रहे थे. इस कांग्रेस में त्रॉत्स्की प्रतिनिधियों की आलोचना के पात्र बने. उन पर तानाशाही प्रकृति, संघर्षरत कार्यकत्ताओं की उपेक्षा तथा जारशाही के विशेषज्ञ अधिकारियों पर अतिविश्वास का आरोप लगा. दूसरी ओर इसी कांग्रेस में अपने अनुभवों को समेटते हुए स्तालिन ने कहा- 'या तो हम मजदूरों-किसानों की सच्ची सेना, गणराज्य की रक्षा के लिए सख्त अनुशासित नियमित सेना खड़ी करेंगे या नहीं करेंगें. दूसरी स्थिति में हम अपना लक्ष्य गंवा बैठेंगे.' कांग्रेस में इस नीति को स्वीकार किया गया.

इसलिए जो लोग लेनिन (और बोल्शेविक पार्टी) पर स्थायी सेना को खत्मकर जनमिलिशिया (जनता का हथियारबंद संगठन) गठित करने से पीछे हटने का आरोप लगाते हैं वे रूसी क्रांति की ठोस परिस्थिति को भूल जाते हें. वे भूल जाते हैं कि मार्क्स-एंगेल्स सबसे उन्नत कई पूंजीवादी देशों में समाजवाद के सिद्धांत रच रहे थे जबकि रूसी समाजवाद एक अकेले और अत्यंत पिछड़े पूंजीवादी देश में लागू हो रहा था, जिसे सबसे उन्नत पूंजीवादी (साम्राजवादी) देश लील जाना चाहते थे.

श्वेत गार्डों के विद्रोह से निबटने का कार्यभार भी स्तालिन को सौंपा गया. इस संघर्ष में भागीदारी के अपने अनुभव को समेटते हुए उन्होने लेनिन को लिखा: 'गोर्का पर तेजी से कब्जा होने का कारण यह था कि मेरे द्वारा और सामान्य जन (सेना नहीं) द्वारा कार्यवाही में भारी हस्तक्षेप किया गया. यहां तक कि जमीन और समुद्र से मिलने वाले आदेशों की अवहेलना कर अपना निर्णय थोपा गया. आगे उन्होने यह भी लिख दिया कि 'यह बता देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि विज्ञान (युद्ध विज्ञान) के प्रति सम्मान के बावजूद मैं भविष्य में इस तरह काम जारी रखूंगा.' (वही)

दस्तावेज में यह बात कहीं लिखी हो या न हो, लेकिन पार्टी ने अपने व्यवहार से स्तालिन को ऐसा करने की छूट दी. इसके तुरंत बाद उन्हें पश्चिमी मार्चे की जिम्मेवारी सौंपी गयी. यह गृहयुद्ध का अंतिम दौर था. इस जिम्मेदारी को स्वीकार करने के पहले उन्होने तीन शर्त्तें केंद्रीय कमिटी के सामने रखी: दक्षिणी मोर्चे पर त्रॉत्स्की हस्तक्षेप नहीं करेंगे, या अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करेंगे, सेना में शामिल वैसे लोग जो परिस्थिति का सामना करने में सक्षम नहीं है, वापस बुलाये जायें तथा नये सक्षम लोग उसमें शामिल किये जायें. यहाँ भी उन्होने पूर्व निर्धारित रणनीति को बदल डाला और नतीजा देनिकिन की पराजय में निकला. इसके बाद साम्राज्यवादी ताकतों ने अपना अंतिम अस्त्र चलाया. पोलैंड के प्रतिक्रियावादियों के माध्यम से यूक्रेन में हस्तक्षेप यहाँ भी उन्हें मुँह की खानी पड़ी और इस प्रकार सोवियत रूस में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का अंत हुआ.

ढाई वर्षों के इस गृहयुद्ध में युद्ध, भूख और बीमारी से लगभग 70 लाख लोग मारे गये तथा 60 अरब डॉलर की राशि खर्च हुई. यह राशि जारशाही पर मित्र राष्ट्रों के कुल कर्ज से ज्यादा थी. 15 सितंबर 1919 को तत्कालीन ब्रिटिश युद्ध सचिव विंस्टन चर्चिल का दावा था कि ब्रिटेन ने 10 करोड़ स्टार्लिंग तथा फ्रांस ने 3 करोड़ से चार करोड़ पौंड सिर्फ देनिकिन पर खर्च किये थे. उसके बाद के खर्च और अन्य खर्च अलग. जापान ने यह स्वीकार किया था कि साइबेरिया में उसके 70,000 सेना के रख-रखाव पर 90 करोड़ येन खर्च हुए थे. इतनी तबाही और खर्च के बाद नये रूस का जन्म हुआ. उस दौर का अपराजेय रूस. इसके निर्माण में लेनिन के नेतृत्व में स्तालिन ने नेता और योद्धा की भूमिका निभायी. उनके इस योगदान को स्वीकार करते हुए सोवियतों की अखिल रूसी कार्यकारिणी कमिटी ने 27 नवंबर 1919 को उन्हें 'आर्डर ऑफ रेड बैनर' से सम्मानित किया.

** इस श्रृखंला की पहली पुस्तिका 'रूसी क्रांति के विकास मार्ग' में मैंने भूलवश लिख दिया था कि 25 अगस्त के 'कोर्निलोव षडयंत्र' की विफलता के बाद उसने (कोर्निलोव ने) आत्महत्या कर ली थी. वस्तुतः आत्महत्या जनरल क्रीमोव ने की थी.*

नयी आर्थिक नीति: समाजवाद के आधार के निर्माण की दिशा में कदम

पितृसत्तात्मक व्यवस्था को नष्ट कर तथा घरेलू व बाहरी प्रतिक्रियावादियों को पराजित कर रूसी क्रांति अगले दौर (नयी आर्थिक नीति के दौर) में प्रवेश कर रही थी. नयी आर्थिक नीति (एनईपी या नेप) रूसी समाजवाद के विकास का अत्यंत महत्वपूर्ण और अत्यंत विवादास्पद पड़ाव है. 'वार कम्युनिज्म' के दौर में सर्वहारा राज्य ने सख्ती का वह रूप अख्तियार किया था जिस पर किसी कानून का कोई अंकुश नहीं था और वह दुनिया भर के पूंजीवादी आदमखोरों से निबटने के लिए जरूरी था. सर्वहारा राजसत्ता को सुदृढ़ करने के बाद बोल्शेविक पार्टी के सामने सबसे बड़ा काम था- समाजवाद के आर्थिक आधार को मजबूत करना. इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर नयी आर्थिक नीति अपनायी गयी थी. इसलिए पर चर्चा आगे बढ़ाने के पहले यह समझना जरूरी है कि नयी आर्थिक नीति है क्या? इस नीति के शिल्पी लेनिन के शब्दों में:

'नयी आर्थिक नीति ने मजदूर राज्य के सार तत्व को नहीं बदला हालांकि उसने समाजवादी निर्माण के तरीकों तथा रूपों में बुनियादी परिवर्त्तन कर दिये हैं, क्योंकि मंडियों के माध्यम से करोड़ों-करोड़ किसानों को आश्वस्त करने के आधार पर वह निर्मित होते हुए समाजवाद और पुनरूज्जीवित होने की कोशिश करते हुए पूंजीवाद के बीच आर्थिक प्रतियोगिता की इजाजत देती है.' (नयी आर्थिक के तहत ट्रेड यूनियनों की भूमिका और कार्यभार).

इस नीति की परिभाषा स्तालिन ने इन शब्दों में दी थी:

'नयी आर्थिक नीति (नेप) सर्वहारा राज्य की विशेष नीति थी जिसका लक्ष्य (अर्थव्यवस्था के) नियंत्रण के सर्वोच्च शिखर पर सर्वहारा राज्य की पकड़ बरकरार रखते हुए पूंजीवादी विकास की छूट देना, पूंजीवादी और समाजवादी तत्वों के बीच संघर्ष चलाना, पूंजीवादी तत्वों की बर्बादी की हद तक समाजवादी तत्वों की भूमिका को बढ़ाना, पूंजीवादी तत्वों पर समाजवादी तत्वों की विजय तथा वर्गों का उन्मूलन और समाजवादी अर्थव्यवस्था की नींव तैयार करना था.' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ जॉसैफ स्तालिन: एम आर अप्पन)

लेनिन मानते हैं कि सर्वहारा राज्य ने समाजवादी निर्माण के तरीकों और स्वरूपों में बुनियादी परिवर्तन कर दिये हैं. ये बुनियादी परिवर्तन क्या थे इसे समझने के लिए हम थोड़ी देर के लिए 'घोषणा पत्र' की ओर लौटें और देखें कि मार्क्स-एंगेल्स ने सर्वहारा राज्य के लिए कौन सा कार्यभार निर्धारित किया था:

'सर्वहारा वर्ग अपना राजनीतिक प्रभुत्व पूंजीपति वर्ग से धीरे-धीरे सारी पूंजी छीनने के लिए, उत्पादन के सारे औजारों को राज्य अर्थात शासक वर्ग के रूप में गठित सर्वहारा वर्ग के

हाथों में केंद्रित करने के लिए तथा समग्र उत्पादक शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए करेगा.'

दोनों का अंतर बिल्कुल साफ है. मार्क्स-एंगेल्स पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को नष्ट करने का कार्यभार तय करते हैं. लेकिन रूस का सर्वहारा राज्य इससे भिन्न कार्यभार अपनाता है. वह उत्पादन के सर्वोच्च शिखर (जहां से नियंत्रण होता है) को सर्वहारा राज्य के अधीन कर देता है, लेकिन बिचले और निचले स्तर पर वह पूंजीवादी उत्पादन की छूट देता है, पूंजीवादी तत्वों और समाजवादी तत्वों के बीच प्रतियोगिता की छूट देता है, समाजवादी तत्वों के पक्ष में खड़ा होता है और इस तरह नये तरीके से समाजवादी अर्थव्यवस्था की नींव तैयार करने का प्रयास करता दिखाई पड़ता है.

तब क्या यह पीछे की ओर कदम था? क्या इस तरह का रास्ता अपनाकर रूस के सर्वहारा राज्य ने मार्क्सवाद से नाता तोड़ लिया था? या वह मार्क्सवाद में नया अध्याय जोड़ रहा था? ये प्रश्न उस समय भी उठाये गये थे और आज तो उससे भी ज्यादा बुलंद आवाज में उठाये जा रहे हैं.

इन सवालों के जवाब दो स्तरों पर खोजने होंगे. पहला स्तर मार्क्स-एंगेल्स द्वारा 'घोषणापत्र' में निर्धारित कार्यभार है और दूसरा 'वार कम्युनिज्म' के दौरान अपनायी गयी नीति. दोनों ही स्तरों पर रूस का सर्वहारा राज्य पीछे हटा था. पहली अवस्था में वह 'पूंजीपतियों की सारी पूंजी धीरे-धीरे छीनने' के बदले सर्वहारा राज्य के नियंत्रण में 'राजकीय पूंजीवाद और निजी पूंजीवाद' के बीच प्रतियोगिता की छूट दे रहा था. यह सैद्धांतिक प्रश्न है जिस पर लेनिन की समझ बिल्कुल साफ थी- '(क्रांति) पूंजीवाद पर बेहतर तैयारियों के लिए पीछे हट रही है दूसरा 'वार कम्युनिज्म' के दौरान राज्य ने जितनी सख्ती बरती थी, उसमें भी ढील शुरू कर दी गयी थी. पहली अवस्था आपातकालीन अवस्था थी, नवजात सर्वहारा राज्य खतरे में था, इसलिए आपातकालीन कदम उठाये गये. लेकिन जैसे ही वह अवस्था समाप्त हुई, मजदूरों-किसानों के लिए पूर्ण जनवाद तथा पूंजीपतियों के लिए सीमित जनवाद की इजाजत दे दी गयी. इस इजाजत के महत्व को हम लेनिन के इन शब्दों से समझ सकते हैं:

'हमारे सोवियत जनतंत्र में राजकीय पूंजीवाद वर्तमान परिस्थितियों की तुलना में एक अग्रसर कदम होगा. अगर कमोबेश छः महीनों में हमारे यहां राजकीय पूंजीवाद कायम हो जाये तो वह बहुत बड़ी सफलता और इस बात की बड़ी जमानत होगी कि एक साल के अंदर समाजवाद के कदम हमारे देश में मजबूती के साथ स्थायी तौर से जम जायेंगे और वह अजेय हो जायेगा.' राज्य के स्वरूप के हिसाब से भी देखें तो 'घोषणापत्र' में जिस सर्वहारा अधिनायकत्व की बात की गयी थी, उससे यह भिन्न था. एक कदम पीछे था. यह विभिन्न वर्गों का मिलाजुला अधिनायकत्व था.

रूसी सर्वहारा को इतना पीछे हटने की जरूरत क्यों पड़ी? क्योंकि तत्कालीन रूस की अर्थिक-सामाजिक स्थिति इससे आगे बढ़ने की इजाजत नहीं देती थी. तत्कालीन रूस की वर्गीय स्थिति का विवरण लेनिन ने 1918 में इस प्रकार दिया था:

✦ पितृसत्तात्मक यानी आत्मभरित किसानी अर्थव्यवस्था

✦ छोटे पैमाने का पण्य उत्पादन (इसमें उन किसानों का बहुमत शामिल है जो अपना अनाज बेचते हैं)

✦ निजी पूंजीवाद

✦ राजकीय पूंजीवाद

✦ समाजवाद

मार्क्स-एंगेल्स 'घोषणापत्र' में जिन उन्नत पूंजीवादी देशों में सर्वहारा क्रांति के सिद्धांत व कार्यक्रम तैयार कर रहे थे, उन देशों में पूंजीवाद (निजी पूंजीवाद) ने छोटे पैमाने के पण्य उत्पादन की अवस्था को नष्ट कर दिया था. 'घोषणापत्र' की यह पंक्ति 'उद्योग के विकास ने पहले ही उसको बहुत कुछ नष्ट कर दिया है, और जो कुछ रहा सहा है उसे भी वह दिनोंदिन नष्ट कर रहा है'- से यह बात साफ हो जाती है. वहां एक तरफ बड़े पैमाने के संगठित उत्पादक थे, तो दूसरी तरफ उनके कारखानों में काम करनेवाले मजदूर.

रूस पूंजीवादी विकास की उस मंजिल तक नहीं पहुंचा था और साम्राज्यवाद के युग में शक्ति संतुलन ऐसा बना कि वही उसकी सबसे कमजोर कड़ी साबित हुआ और रूसी सर्वहारा के प्रहार से टूट गया. लेनिन के वर्ग विश्लेषण से साफ है कि तत्कालीन रूस में तीन तरह की व्यवस्थायें एक साथ अस्तित्व में थीं और उनके बीच संघर्ष चल रहा था - निजी पूंजीवाद (अपने मजबूत संबल निम्नपूंजीवाद के साथ), राजकीय पूंजीवाद और सामाजवाद. यह जटिलता किसी कम्युनिस्ट पार्टी के सामने पहली बार आयी थी कि सत्ता मजदूर वर्ग के हाथ में है और उसके अधीन दो तरह की पूंजीवादी व्यवस्थायें मौजूद हैं जिनका अस्तित्व श्रम के शोषण पर टिका है. ऐसी स्थिति में सर्वहारा सत्ता का सबसे चुनौतीभरा काम हो गया था कि वह किस हद तक शोषण की अनुमति दे और किस बिंदु पर अंकुश लगा दे.

तत्कालीन रूसी समाज में वर्ग संघर्ष का प्रधान रूप क्या था? मुख्यतः कौन किसके खिलाफ संघर्ष कर रहा था? इसका जवाब लेनिन के शब्दों में -

'निम्नपूंजीवाद और निजी पूंजीवाद मिलकर राजकीय पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं.'

इस विश्लेषण से क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? अनिवार्यतः यह कि समाजवाद और राजकीय पूंजीवाद मिलकर उन दोनों खतरों से संघर्ष करें. रूस की ठोस परिस्थिति में जहां निम्नपूंजीवादी उत्पादन पद्धति का बाहुल्य और वर्चस्व था, यही मार्क्सवाद था. इस

परिस्थिति में मार्क्स-एंगेल्स के जुमलों को तोते की तरह रटना मार्क्सवाद से इनकार था, मार्क्सवाद का विरोध था.

इस बिंदु पर रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बो.) दो खेमों में बंट गयी थी. ब्रेस्त लितोव्स्क शांति संधि के प्रश्न पर उभरी बहस की तरह. इस बार भी बहस की शुरूआत त्रॉत्स्की ने की थी और बुखारिन के नेतृत्व में एक खेमा उनके साथ जुड़ गया था. और लेनिन के नेतृत्व में दूसरा खेमा था. यह खेमेबंदी इस हद तक बढ़ी कि पार्टी के भीतर टूट का खतरा पैदा हो गया. इस बिंदु पर बहस के दौरान लेनिन ने त्रॉत्स्की पर गुटबाजी करने और बुखारिन पर गुटबाजी में मददगार होने का आरोप लगाया. हालांकि बुखारिन ने 'टक्कर रोको गुट' के रूप में अपने को निष्पक्ष (मध्यमार्गी) दिखाने की कोशिश की थी, लेकिन लेनिन ने साफ कर दिया कि वे त्रॉत्स्की से मिले हुए हैं और यह बात बाद में साफ हो गयी.

पार्टी के भीतर गुटबाजी और बहस ऐसे समय में चल रही थी जब नवजांत रूसी समाजवाद अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा था. लेनिन बार-बार इस बात की याद दिला रहे थे कि हम दुनिया के पूंजीवादी लुटेरों के खिलाफ खूनी लड़ाई में विजयी होकर उभरे हैं. आगे उनके खिलाफ ऐसी लड़ाई लड़नी है जो रक्तपात पूर्ण नहीं है, लेकिन उसे लड़ने के लिए ज्यादा साफ सैद्धांतिक समझ तथा बेहतर संगठन की जरूरत है. वे रूस तथा दुनिया के सर्वहारा को यह संदेश दे रहे थे कि पूंजीवाद के विस्तार की सीमित अनुमति के बावजूद पूंजीवाद के उभरने का खतरा नहीं है क्योंकि इसको रोकने के लिए मजबूत आर्थिक प्रतिरोध सर्वहारा राज्य ने खड़ा कर दिया है. उनके इस मजबूत आश्वासन का आधार क्या था? यही कि उसने उत्पादन के साधनों के उत्पादन तथा वित्तीय व्यवस्था के क्षेत्र से निजी स्वामित्व का उन्मूलन कर दिया है.

इस गारंटी के बावजूद लेनिन की चिंता थी कि सर्वहारा सत्ता की नीतियों को मजदूरों के दैनिक जीवन में उतारने की गारंटी क्या होगी? उनकी नजर में इस गारंटी का आधार ट्रेड यूनियन हो सकते थे. जिस तरह ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कुलकों पर नियंत्रण रखने में गाँव के गरीबों की कमिटियों ने कारगर भूमिका निभायी थी, उसी तरह उद्योगों में पूंजीपतियों पर अंकुश रखने के काम में ट्रेड यूनियन मददगार हो सकते थे. इस विशेष परिस्थिति में जरूरी था कि ट्रेड यूनियनों के कार्यभार और उनकी संरचना पर विशेष ध्यान दिया जाय और बहस ठीक इन्हीं दो मुद्दों पर केंद्रित थी.

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत ट्रेड यूनियनों की भूमिका तात्कालिक और दीर्घकालिक लक्ष्यों को देखते हुए दो तरह की थी. पहला अपनी तात्कालिक मांगों के लिए संघर्ष करना और दीर्घकालिक रूप से मजदूरों के राजनीतिक स्कूल के रूप में उभरना. अब समाजवाद के दौर में उनकी भूमिका उलट गयी थी. उन्हें मजदूरों के लिए प्रशासन की पाठशाला,

प्रबंधन की पाठशाला और कम्युनिज्म की पाठशाला के रूप में अपनी भूमिका तय करनी थी. बदली हुई परिस्थिति में ट्रेड यूनियनों की बदली भूमिका को स्वीकार करने से शायद ही कोई मार्क्सवादी इनकार करेगा. लेकिन वह हो रहा था. सिर्फ सिद्धांत में नहीं, सिद्धांत को व्यवहार में उतारने की प्रक्रिया की तलाश में.

त्रॉत्स्की ट्रेड यूनियन संगठन पर 'पेंच कसने' की नीति की वकालत कर रहे थे. व्यवहार में इस नीति का मतलब था कि ट्रेड यूनियन के भीतर सैनिक अनुशासन लागू कर दिया जाय. जाहिर है, सैनिक अनुशासन लागू करने के लिए संगठन का स्वरूप भी सेना की तरह बनाना पड़ेगा. इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलेगा कि ट्रेड यूनियन संगठन मजदूरों का व्यापक संगठन होने के बजाय सैन्य अनुशासन में ढले मजदूरों का संगठन बन जायेगा या ट्रेड यूनियन में नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के दो स्तर बन जायेंगे और कार्यकर्त्ता अपने नेताओं का हुक्म वैसे ही बजायेंगे जैसे सेना के जवान अपने अफसरों का बजाते हैं. ऐसी हालत में त्रॉत्स्की का 'सर्वहारा अधिनायकत्व' पूंजीपतियों पर सर्वहारा का अधिनायकत्व के बदले सर्वहारा वर्ग पर निम्नपूंजीपतियों व पूंजीपतियों का अधिनायकत्व हो जाता. इसकी पुष्टि आगे दो नारों - ''ट्रेड यूनियन के भीतर उलट फेर' तथा 'ट्रेड यूनियन को सरकारी मशीनरी की तरह उपयोग से हो जाती है.''

उसी तरह उनके पक्ष में खड़ा 'मजदूरों का विपक्ष' इस बात की वकालत कर रहा था कि देश के आर्थिक कार्यकलापों के प्रबंधन और नियंत्रण का कार्यभार अखिल रूसी उत्पादक कांग्रेस के हवाले कर दिया जाय. इस नारे का निहितार्थ था - कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को पूरी तरह नकार देना और सर्वहारा अधिनायकत्व के राजनीतिक पक्ष को आर्थिक कार्यलापों के दायरे में सिमटा देना. ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी तथा सोवियत सत्ता को मजदूर हित के खिलाफ घोषित करते थे और यह प्रचार करने में नहीं हिचकते थे कि ट्रेड यूनियन (पार्टी नहीं) मजदूर वर्ग का सर्वोच्च संगठन है. त्रॉत्स्की के पक्ष में खड़ा दूसरा ग्रुप 'जनवादी केंद्रीयतावादियों' का था. इनका मानना था कि सोवियतों और ट्रेड यूनियनों में पार्टी नेतृत्व की जरूरत नहीं है. हम पाठकों को याद दिलाना चाहेंगे कि रेलकर्मियों के यूनियनों का केंद्रीय संगठन अपने को 'तटस्थ' घोषित करते हुए विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच शक्ति संतुलन से उत्पन्न अराजकता (अगर ऐसा होता तो) की स्थिति में सत्ता पर कब्जा का सपना संजोये हुए था.

लेनिन के नेतृत्व में पार्टी का भारी बहुमत इन भटकावों के खिलाफ पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा हुआ. लेनिन का मानना था कि ट्रेड यूनियनों के भीतर सैनिक अनुशासन नहीं लागू किया जा सकता, उन्हें मजदूरों का व्यापक संगठन बने रहने की जरूरत है जहां राजनीतिक व धार्मिक विचारों की प्रतिबद्धता की परवाह किया बिना मजदूरों को शामिल किया जाना

चाहिए. इन ट्रेड यूनियनों के भीतर मौजूद पार्टी सदस्यों को पार्टी और गैर पार्टी मजदूरों की विशाल आबादी के बीच पुल का काम करना चाहिए और सैन्य अनुशासन की नीति के बदले समझाने-बुझाने और राजनीतिक रूप से प्रशिक्षित करने की नीति अपनानी चाहिए. इसी तरह ट्रेड यूनियन मजदूरों के बीच 'राजनीतिक पाठशाला' की भूमिका निभा सकते हैं. यहाँ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि पूंजीवाद के दौर में इस पाठशाला में पूंजीवादी राजसत्ता को उखाड़ फेंकने की शिक्षा दी जाती थी, वहां समाजवाद को कम्युनिज्म में विकसित करने की शिक्षा दी जानी थी.

ट्रेड यूनियन प्रबंधन की कला में माहिर हों, यह तत्कालीन रूसी समाजवाद की सबसे बड़ी जरूरत थी. जैसा कि हम देख चुके हैं कि समाजवाद की इस मंजिल में पूंजीवाद के विकास (सीमिंत दायरे में ही सही) की छूट दी गयी थी. इसका अनिवार्य मतलब है कि मजदूरों के शोषण और अफसरशाही के विकास की (उसी दायरे तक) छूट दी गयी थी. इस शोषण और अफ़सरशाही की सीमा क्या होगी, यह नीति किस तरह लागू होगी और पूंजीपतियों व मजदूरों के हितों के बीच संतुलन का स्तर क्या होगा, इसका निर्धारण ट्रेड यूनियनों के कामकाज का हिस्सा होगा. यह थी लेनिन की सोच.

इस बहस का अंत दसवीं कांग्रेस (मार्च 1921) में हुआ. पार्टी के बहुमत ने लेनिन की नीतियों का समर्थन किया. नयी आर्थिक नीति स्वीकार की गयी. रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बो.) के इतिहास में यह कांग्रेस इसलिए भी याद करने लायक है कि उसने पार्टी के भीतर गुटबंदी की नीति को पूरी तरह खारिज कर दिया.

लेनिन की वसीयत

लेनिन की वसीयत अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का अत्यंत महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसका समाजवाद के भितरघातियों द्वारा जमकर दुरूपयोग किया गया. सबसे पहले त्रॉत्स्की और स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चोव के हाथ में यह सर्वहारा अधिनायकत्व के खिलाफ तुरूप का पत्ता बन गया. इस वसीयत में लेनिन के अंतिम दिनों के कुछ पत्र हैं, जिनमें पार्टी के भीतर जारी विवाद पर उनकी राय है. यह उन दिनों की बात है जब वे बीमार थे, राजनीतिक-सांगठनिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी नहीं निभा पा रहे थे तथा डाक्टरों ने उनकी शारिरिक और मानसिक स्थिति को देखते हुए ज्यादा काम करने से मना कर दिया था.

1918 में रूसी समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी की सदस्या फान्या कल्पन ने लेनिन को गोली मार दी थी. उस समय भी वे काफी समय तक जीवन मौत से जूझते रहे थे. उसके बाद 1922-23 में उन पर एक पर एक लकवा के तीन आघात हुए. पहला आघात 26 मई 1922 को हुआ था. इससे उबर कर वे अक्तूबर तक काम पर लौटने की स्थिति में आ गये थे. लेकिन दूसरा आघात 16 दिसंबर 1922 और तीसरा 09 मार्च 1923 को हुआ. तीसरे आघात से वे उबर नहीं पाये. दूसरे आघात के बांद डॉक्टरों ने उन्हें उत्तेजित न होने, राजनीतिक प्रक्रियाओं से दूर रहने की सख्ती बरतना शुरू कर दिया था. इस स्थिति में लेनिन को इन पत्रों के माध्यम से पार्टी को दिशा निर्देश देना पड़ा था. लेनिन की वसीयत के नाम से जो चिट्ठियां ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं, वे दूसरे आघात के एक सप्ताह बाद लिखी गयी थी. हम अंदाज लगा सकते हैं कि उस समय उनकी मानसिक और शारीरिक अवस्था कैसी रही होगी?

लेनिन ने ये चिट्ठियां 23 -26 दिसंबर 1922 तथा 04 जनवरी 1923 को लिखी थीं. वे चाहते थे कि उनकी मृत्यु के बाद संपन्न होने वाली पार्टी कांग्रेस में इन दस्तावेजों को पढ़ा जाय. ऐसा किया भी गया और कांग्रेस ने यह निर्णय लिया कि चूंकि यह दस्तावेज कांग्रेस के नाम प्रेषित है, इसलिए इसे सार्वजनिक न किया जाय. लेकिन उनकी मृत्यु के बाद स्तालिन के सभी विरोधियों ने उन पर यह आरोप लगाया कि उनकी सरकार ने जानबूझ कर इन दस्तावेजों को सार्वजनिक नहीं किया. अपने अभियान में दोनों (त्रॉत्स्की और ख्रुश्चोव) ने स्तालिन को हमले का केंद्र बनाया. लेकिन त्रॉत्स्की का अभियान इसलिए खारिज हो गया कि उनकी आलोचनाओं के बावजूद सर्वहारा राज्य उत्तरोत्तर फलता-फूलता और मजबूत बनता रहा. ख्रुश्चोव और उसके अनुयायी मुख्यतः इसलिए सफल हो पाये कि स्तालिन की नीतियां व्यवहार में नहीं उतारी जा सकीं. इसलिए रूसी क्रांति के सौ साल के उत्थान-पतन को समझने का काम इस वसीयत को समझे बगैर पूरा नहीं हो सकता. दूसरी बात यह कि रूसी क्रांति के बारे में कई आलोचकों का मानना है कि स्तालिन ने त्रॉत्स्की के

योगदान को नकारने की कोशिश की. लेनिन की वसीयत पर चर्चा इस आरोप-प्रत्यारोप की सच्चाई को समझने में पाठकों को मदद करेगी.

वस्तुतः लेनिन की विरासत इससे कई गुना बड़ी चीज है. इसमें सिद्धांत और व्यवहार से जुड़े उनके सारे योगदान शामिल हैं. त्रॉत्स्की से लेकर ख्रुश्चोव तक सारे लोगों ने उनकी वसीयत का उपयोग इसी उद्देश्य से किया कि आनेवाली पीढ़ियां उन्हें लेनिन का वारिस समझ लें और क्रांतिकारी सिद्धांत को निस्तेज बना दिया जाय. त्रॉत्स्की अपने अभियान में सफल नहीं हो सका लेकिन ख्रुश्चोव सफल हो गया और उसने विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को भारी क्षति पहुंचायी.

पार्टी कांग्रेस के निर्णय के खिलाफ वह वसीयत सबसे पहले 24 जुलाई 1924 (लेनिन की मृत्यु के छः महीने बीतते-बीतते) जर्मन पत्रिका 'सोत्शियलिस्तिकी वेस्तनिक' में प्रकाशित हुई. उसके बाद अमेरिकी लेखक मैक्स इस्टमैन ने 1925 में अपनी पुस्तक 'सिंस लेनिन डायड' में इस दस्तावेज के महत्वपूर्ण भागों को उद्धृत किया. उसके बाद 18 अक्तूबर 1926 को इसका अंग्रेजी अनुवाद इस्टमैन ने न्यूयार्क टाईम्स में प्रकाशित करवाया जिसमें आरोप लगाया कि स्तालिन ने अपना दामन बचाने के लिए इस दस्तावेज को दबा दिया. फिर इसका पूरा भाग त्रॉत्स्की ने 1927 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द रियल सिचुएशन इन रसिया' में प्रकाशित कर दी. 1956 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस के बाद पार्टी केंद्रीय कमिटी ने इसे आधिकारिक रूप में प्रकाशित कर सारी धुंध मिटा दी.

मैक्स इस्टमैन अमेरिकी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे जिन्हें निकाला गया था. वे त्रॉत्स्की के समर्थक थे. 1928 में त्रॉत्स्की की पुस्तक 'द रियल सिचुएशन इन रसिया' के अंग्रेजी अनुवाद में उनकी टिप्पणी में इस बात का उल्लेख है कि

'जिस समय पार्टी का अंदरूनी विपक्ष महासचिव के मामले में लेनिन की वसीयत को लागू करने का जोरदार प्रयास कर रहा था, उसी समय मैने उस वसीयत का निम्नलिखित अनुवाद 'न्यू यार्क टाईम्स' में प्रकाशित किया था. इसके लिए मैने बोल्शेविक विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए प्राप्त धन का उपयोग किया था.'

जब इस दस्तावेज का अंग्रेजी अनुवाद न्यू यार्क टाईम्स में छपा था, तब सामाजिक जनवादियों में खुशी देखी गयी थी और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से जुड़ी सभी पार्टियों में परेशानी और चिंता की लहर दौड़ गयी थी. कई पार्टियों ने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं से इस संबंध में छानबीन शुरू कर दी थी. उस समय भी इसमें त्रॉत्स्की की संलिप्तता की ओर शक की सूई घुमी थी. तब उन्होने अपना बचाव करते हुए यह घोषणा की थी कि इस दस्तावेज को दबाया नहीं गया और लेखक का आरोप गलत है. लेकिन दो साल के बाद ही यह साफ हो गया कि वे झूठ बोल रहे थे.

दुनिया के कम्युनिस्ट आंदोलन पर ख्रुश्चोवी संशोधनवाद की पकड़ मजबूत होने के बाद इस दस्तावेज से एकतरफा संदेश गया कि अंतिम दिनों में लेनिन और स्तालिन के बीच संबंध तनावपूर्ण बन गये थे. इसका कारण था कि लेनिन स्तालिन की कार्यपद्धति से संतुष्ट व खुश नहीं थे. इस दौरान इसी वसीयत का हवाला देते हुए यह बताया गया कि लेनिन ने स्तालिन पर 'अत्यंत अशिष्ट' होने का आरोप लगाते हुए उन्हें महासचिव पद से हटाने की मांग कांग्रेस से की थी. साथ ही इस बात का भी खूब प्रचार किया गया कि राष्ट्रीयताओं के सवाल पर स्तालिन की नीतियों से लेनिन इस हद तक खफा थे कि उन्होने खुद को 'रूसी मजदूर वर्ग का अपराधी' तक मान लिया था. ये दोनों बातें सही हैं. लेकिन इनके साथ ही बहुत सारी अन्य बातें जुड़ी हैं जिनकी चर्चा किये बगैर कहानी अधूरी रह जायेगी. लेकिन हर किस्म के अवसरवादियों ने उन तथ्यों पर इसलिए पर्दा डाला कि स्तालिन, सर्वहारा अधिनायकत्व, सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयता तथा समाजवाद के खिलाफ उनके अभियान को लेनिन का नकली आवरण मिल सके.

इसलिए जरूरी है कि रूसी क्रांति की शताब्दी के अवसर पर हम यह समझ सकें कि लेनिन की यह वसीयत किन परिस्थितियों में अस्तित्व में आयी और उसकी अंतर्वस्तु क्या है? जिस समय लेनिन अपनी बीमारी से जूझ रहे थे उसी समय पार्टी के नेतागण गंभीर राजनीतिक सवालों से गुत्थमगुत्थी कर रहे थे. ये सवाल रूसी समाजवाद के साथ-साथ भावी सोवियत संघ के निर्माण से जुड़े थे. इसलिए लेनिन इन सवालों को लेकर चिंतित भी थे और अपनी निर्णायक भूमिका नहीं होने के कारण बेचैन भी. दूसरी ओर लेनिन के इस अलगाव का फायदा उठाकर पार्टी के भीतर बैठे अवसरवादियों का समूह अपनी स्थिति मजबूत कर लेना चाहता था. ये सारी चिठ्ठियां और इनसे संबंधित राजनीतिक लेख इन्हीं परिस्थितियों की देन हैं.

लेनिन ने पहली चिट्ठी में केंद्रीय कमिटी के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 50-100 तक करने की सलाह दी थी, केंद्रीय योजना आयोग को कुछ शर्तों पर विधायी अधिकार देने की सलाह दी थी और साथ ही शत्रु राज्यों से घिरे रूसी समाजवाद की चिंता करते हुए एकता की जरूरत पार्टी को महसूस करायी थी. दूसरे पत्र में उन्होने यह याद दिलाया था कि क्रांति के तुरंत बाद से प्रतिक्रियावादी वर्ग कैसे मजदूर किसान एकता में टूट तथा पार्टी में बिखराव से उम्मीद लगाये बैठे थे. पार्टी में टूट के लिए उन्होने एक तरफ त्रॉत्स्की और दूसरी तरफ स्तालिन के नेतृत्व में उभरते केंद्र को जिम्मेवार ठहराया था. उनका आरोप था कि महासचिव बनने के बाद स्तालिन के हाथ में असीम सत्ता केंद्रित हो गयी है और उन्हें आशंका थी कि वे इसका उपयोग हमेशा न्यायपूर्ण ढंग से नहीं कर पायेंगे.

इसी क्रम में उन्होने अन्य नेताओं के गुणों/अवगुणों की चर्चा की थी. त्रॉत्स्की के बारे

में उनकी राय थी कि वे आत्मविश्वासी हैं और राजनीति से ज्यादा प्रशासनिक कामों में रूचि रखते हैं. जिनोव्येव और कामेनेव के बारे में उन्होने केंद्रीय कमिटी को याद दिलाया कि अक्तूबर क्रांति के ठीक पहले का उनका आचरण संयोगवश नहीं हुआ था. और साथ ही त्रॉत्स्की का गैर बोल्शेविकवाद भी महज संयोग नहीं था. युवा नेताओं की शृंखला में बुखारिन और प्याताकोव की भी उन्होने चर्चा की. बुखारिन की योग्यता और मेधा की सराहना करते हुए उन पर वितंडावादी होने का आरोप लगाया और प्याताकोव पर राजनीति की उपेक्षा का.

24 दिसंबर वाले पत्र में लेनिन ने 04 जनवरी 1923 को एक परिशिष्ट लिखा जिसको पूरी तरह उद्धृत करना जरूरी है क्योंकि सभी अवसरवादियों का जोर इसी पर रहता है :

'स्तालिन बहुत अशिष्ट हैं और यद्यपि हम कम्युनिस्टों के बीच और हमारे आपसी संबंधों में यह दोष सह्य है, तथापि जनरल सेक्रेटरी के पद के लिए यह बिल्कुल असह्य हो जाता है. अतएव साथियों के सामने मेरा प्रस्ताव है कि वे स्तालिन को इस पद से हटाने और किसी अन्य ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करने का उपाय सोचें, जो साथी स्तालिन से हर लेहाज से केवल इसी श्रेष्ठता के कारण भिन्न हो कि उसमें अधिक सहनशीलता, अधिक नियमनिष्ठा, अधिक शिष्टता और साथियों के लिए अधिक लेहाज हो, जो कम झक्की हो आदि. यह परिस्थिति एक नगण्य सी तुच्छ बात हो सकती है. किन्तु मैं समझता हूँ कि फूट से बचने और स्तालिन और त्रॉत्स्की के परस्पर संबंधों के बारे में मेरे उपर्युक्त विचारों की दृष्टि से यह बात तुच्छ नहीं है, या फिर ऐसी तुच्छ बात है, जो निर्णायक महत्व प्राप्त कर सकती है.'

लेनिन का उद्धहरण रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की उलझन को बहुत साफगोई के साथ सामने ला देता है. हम दो बातों पर विचार करें, स्थिंति साफ हो जायेगी. पहली बात यह कि स्तालिन के हाथ में असीम सत्ता कैसे आयी और दूसरी बात यह कि लेनिन ने अपने परिशिष्ट में स्तालिन का विकल्प क्यों नहीं पेश किया? लेनिन स्वभावत: उलझन में रहने वाले व्यक्ति नहीं थे, राजनीतिक-सांगठनिक मामलों में उनकी नजर बहुत साफ रहती थी और बदलती परिस्थिति के अनुसार लचीला रुख अपनाना वे भली-भांति जानते थे. इसलिए जब उन्होने स्तालिन को हटाने की बात कही तो उनके दिमाग में कोई स्पष्ट विकल्प नहीं था.

अब विचारणीय विषय यह है कि स्तालिन के हाथ में असीम सत्ता कैसे आयी? क्या उन्होने किसी तरह का षड्यंत्र कर सत्ता जबरन हथिया ली थी? ऐसा नहीं था. यह बात 11वीं कांग्रेस (28 मार्च, 1922) में उठी थी. पार्टी के सचिव मंडल के सदस्य प्रोब्राजिंस्की ने यह प्रश्न उठाया था कि स्तालिन जब राष्ट्रीयताओं के कमिसार हैं, तो उन्हें मजदूर किसान निरीक्षण संस्था (रैबक्रीन) की जिम्मेवारी क्यों दी जा रही है? इस सवाल का जवाब

खुद लेनिन ने दी थी. उन्होने कहा था कि राष्ट्रीयताओं के प्रश्न से जुड़े राजनीतिक मुद्दों को सुलझाने में स्तालिन से ज्यादा सक्षम व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है. दूसरी ओर रैबक्रीन की जिम्मेवारी के पक्ष में उनका तर्क था कि जांच पड़ताल के मामलों को निबटाने के लिए इसके प्रधान के रूप में हमें ऐसे व्यक्ति की जरूरत है जिसे पार्टी में अव्वल दर्जे की प्रतिष्ठा प्राप्त हो. इससे यह बात तो साफ हो जाती है कि स्तालिन ही ऐसे व्यक्ति थे जिनकी राजनीतिक समझ लेनिन के बाद सबसे बेहतर थी और वे ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें लेनिन के बाद पार्टी में सबसे ज्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त थी.

जिम्मेवारियों का सिलसिला यहीं खत्म नहीं होता. इस कांग्रेस के बाद केंद्रीय कमिटी की पहली बैठक में स्तालिन को पार्टी का महासचिव चुना गया और यह कोई संयोग नहीं था कि इसका प्रस्ताव भी लेनिन ने ही दिया था. यह जानते हुए कि सरकार में दो मंत्रालयों की जिम्मेवारी के साथ-साथ स्तालिन पोलित ब्यूरो तथा सांगठनिक ब्यूरो के सदस्य थे, उन पर एक और जिम्मेवारी सौंपी जा रही थी. इसे क्या कहा जाय? दूसरा सवाल यह उठता है कि मार्च से दिसंबर तक में वह कौन सी स्थिति पैदा हो गयी थी कि स्तालिन में लेनिन का अटूट विश्वास टूट गया. इसमें परिस्थिति का सबसे बड़ा बदलाव यही था कि लेनिन बीमार थे जिससे उनकी चिंतन क्षमता प्रभावित हुई थी और सूचनाओं के लिए अप्रत्यक्ष स्रोतों पर निर्भर थे.

इस पूरे मामले पर अत्यधिक जोर देते हुए त्रॉत्स्की ने इसे ऐसे पेश किया मानो लेनिन और स्तालिन के बीच दुश्मनी की बड़ी खाई पैदा हो गयी थी और वे खुद लेनिन के बड़े चहेते बन गये हैं. उन्होंने अपनी पुस्तक 'रियल सिचुएशन इन रसिया' में लेनिन के उस पत्र को काफी महत्व के साथ शामिल किया जिसमें लेनिन ने स्तालिन को क्षमा याचना के लिए लिखा था और यह भी जोड़ दिया था कि क्षमा न मांगने की स्थिति में दोनों का कामरेडाना संबंध यहीं खत्म हो जायेगा. यह पत्र इस प्रकार है:

'आपने मेरी पत्नी को टेलीफोन पर बुलाकर डांटने की धृष्टता दिखाई है. हालांकि उसने भूल जाने की इच्छा व्यक्त की है, फिर भी जिनोव्येव और कामेनेव को उससे यह बात मालूम हो चुकी है. मैं मेरे साथ जो कुछ हुआ उसे इतनी आसानी से भूल जाने को तैयार नहीं हूँ और मैं इस पर जोर देने की जरूरत नहीं समझता कि जो बात मेरी पत्नी के खिलाफ है वह मेरे भी खिलाफ है. इसीलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप सोच समझ कर विचार कर लें कि आप अपने शब्द वापस लेने और क्षमा मांगने को तैयार हैं या हम लोगों के आपसी संबंधों को तोड़ देने के लिए.'

जाहिर है कि यह पत्र बिल्कुल निजी था और स्तालिन ने क्षमा मांग ली थी. उन्होने अपनी क्षमा याचना में यह जोड़ दिया था कि समझ में नहीं आता कि मामला क्या है और

मेरा अपराध क्या है? जो लोग स्तालिन के व्यक्तित्व को आधे-अधूरे ढंग से जानते हैं उन्हें इस पर आश्चर्य हो सकता है, लेकिन जो लेनिन के साथ उनके संबंध को जानते-समझते हैं, उन्हें इस पर शायद ही कोई आश्चर्य हो.

स्तालिन ने लेनिन की वसीयत पर अपना मुंह पहली बार 1927 में खोला. 23 नवंबर 1927 में केंद्रीय कमिटी और केंद्रीय कंट्रोल कमीशन के संयुक्त प्लेनम में. उन्होने बताया कि तेरहवीं कांग्रेस के बाद केंद्रीय कमिटी की पहली बैठक में ही लेनिन की इच्छानुसार महासचिव के पद से मुक्त हो जाने की इच्छा जाहिर की थी. कांग्रेस ने इस मामले पर सभी प्रतिनिधियों से अलग-अलग और सामूहिक रूप से विचार विमर्श किया. कामेनेव, जिनोव्येव और त्रॉत्स्की सहित सभी प्रतिनिधियों ने मेरे पद पर बने रहने के पक्ष में अपनी राय दी. उसके बाद उन्होने इस संयुक्त बैठक में उपस्थित प्रतिनिधियों से पूछा, ऐसी स्थिति में मैं क्या करता? क्या भगोड़े की तरह पार्टी के इच्छा के खिलाफ जिम्मेवारी छोड़कर भाग जाता?

अब तक सारा पत्राचार व्यक्तिगत मामलों पर केंद्रित था. लेकिन विवाद के पीछे कुछ राजनीतिक कारण भी थे. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जार्जिया से जुड़े राष्ट्रीयता के प्रश्न पर लेनिन और स्तालिन में कुछ मतभेद पैदा हुए थे. यह मामला मार्च (22) 1922 का है जब जार्जिया, अजरबैजान और आरमिनिया के बीच सोवियत गणराज्यों का फेडरेशन बनाने का समझौता हुआ. उस समय पार्टी चाहती थी कि एक संघीय गणराज्य की स्थापना हो. इस फैसले के खिलाफ पार्टी के स्थानीय नेता विद्रोह पर उतारू हो गये. स्थिति मारपीट तक पहुंच गयी. मतभेद ठीक इसी मामले पर था. लेनिन चाहते थे कि इस मामले में स्थानीय नेताओं को ज्यादा तरजीह देना चाहिए था और इस आलोक में ऐसी तरकीब खोजी जानी चाहिए थी कि जॉर्जियाई मेंशेविक नेताओं के साथ समझौता हो जाय. 1922 की गर्मियों में इस मामले की पड़ताल के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया था. स्थानीय नेताओं ने उसी आयोग के साथ उग्र बहस की और मामला हिंसा तक पहुंच गया. इस मामले की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानना नितांत आवश्यक है.

28 नवंबर 1917 को तिफ्लिस में सर्वकाकेशियाई आयोग का गठन किया गया. इसमें जॉर्जिया, अजरबैजान और आरमिनिया शामिल थे. 22 अप्रैल 1918 को इन राज्यों की विधायी संस्थाओं ने सर्वकाकेशियाई संघ का निर्माण कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया. 26 मई 1918 को जॉर्जिया की राष्ट्रीय असेम्बली ने खुद को स्वतंत्र गणराज्य घोषित किया. 28 मई 1918 को जर्मनी और जॉर्जिया के बीच संधि हुई. युद्ध में जर्मनी की पराजय के बाद वहां ब्रिटेन का दबदबा कायम हुआ और जॉर्जिया उसका संरक्षित राज्य बन गया. ब्रिटेन की वापसी के बाद 07 मई 1920 को रूस और जॉर्जिया की मेंशेविक सरकार के बीच संधि हुई. मित्र राष्ट्रों और पोलैंड के बीच संधि हुई और जॉर्जिया के साथ उनकी

संधि का डर सताने लगा. इसी बीच फरवरी 1921 में बोल्शेविक क्रांति की शुरुआत हुई और 25 फरवरी 1921 को जॉर्जियाई समाजवादी गणराज्य की स्थापना हुई.

इस उहापोह की स्थिति में बोल्शेविक पार्टी और रूस की सरकार को निर्णय लेना था. उपर्युक्त झगड़े के बाद पार्टी के विद्रोही स्थानीय नेताओं पर सेंट्रल कंट्रोल कमीशन में मुकदमा चलना था. लेनिन को डर था कि स्तालिन निष्पक्ष ढंग से न्याय नहीं कर पायेंगे. इस स्थिति में उन्होने बड़े विश्वास के साथ त्रॉत्स्की से आग्रह किया था कि वे इस मामले में बहस करें, लेकिन वे खराब स्वास्थ्य का हवाला देकर जवाबदेही लेने से मुकर गये थे. पार्टी की 12वीं कांग्रेस में भी लेनिन बीमारी के कारण भाग नहीं ले पाये और पार्टी ने उनकी सलाह के विपरीत फैसला लिया. बोल्शेविक पार्टी के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ था कि लेनिन की सोच और पार्टी का बहुमत एक दूसरे के खिलाफ खड़े थे. ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि बहुमत ने देखा कि लेनिन का फैसला अपनी ही पूर्ववर्ती नीतियों से मेल नहीं खा रहा है और ऐसा इसलिए हो रहा है कि बार-बार मानसिक आघात के कारण उनकी स्थिति गड़बड़ हो गयी है. ऐसा सोचना अकारण भी नहीं है. डॉक्टरों का भी मानना है कि ऐसे आघात से गुजरने के बाद इस तरह की स्थिति पैदा हो सकती है.

यह थी लेनिन की वसीयत की पृष्ठभूमि. इससे भी खतरनाक बात यह थी कि जो लोग लेनिन की वसीयत को कंधे पर लेकर घुम रहे थे, उन्हीं लोगों ने उनकी विरासत को मिट्टी में मिलाने का भरपूर प्रयास किया. उनकी विरासत रूस में समाजवाद का निर्माण तथा मार्क्सवाद के विज्ञान में नया अध्याय जोड़कर उसे विकास की नयी मंजिल तक ले जाना था. उनकी इस वसीयत (विरासत) के निर्विवाद निष्पादक स्तालिन बने और उनके विरोधी चाहें या न चाहें इतिहास में लेनिन के असली वारिस के रूप में स्तालिन दर्ज हो चुके हैं.

✦✧✦

समाजवाद के निर्माण की चुनौतियां

सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण की राह में दो चुनौतियां पहाड़ की तरह खड़ी थीं : पिछड़े पूंजीवादी देश में समाजवाद और साम्राज्यवाद से घिरे अकेले एक देश में समाजवाद. ये दोनों ऐसे मामले थे जिनके समाधान के बारे में मार्क्स-एंगेल्स के साहित्य में कोई दिशा-निर्देश नहीं था. उनके अनुसार ऐसे देश में समाजवाद संभव नहीं था और साम्राज्यराद के युग की बदली परिस्थिति में उन्नत पूजीवादी देशों में क्रांति की संभावना क्षीण हो गयी थी. इसलिए इन बिंदुओं पर रचनात्मक मार्क्सवाद की राह पकड़ने की जरूरत थी या राजसत्ता पूंजीपतियों को सौंपकर खुद फांसी का फंदा चूम लेना था. ऐसी ही जटिल परिस्थिति में रूसी समाजवाद का विजय रथ आगे बढ़ रहा था. इस राह में दूसरी बड़ी बाधा यह थी कि रूसी क्रांति की सफलता के बारे में मार्क्स-एगेल्स ने जिस शर्त्त की बात की थी वह पूरी नहीं हो रही थी. रूसी क्रांति यूरोप में क्रांति का संवेग पैदा करने में विफल रही थी.

इस परिस्थिति में पहली चुनौती का सामना रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने कर लिया था - नयी आर्थिक नीति अपनाकर. दूसरी चुनौती उससे भी ज्यादा बड़ी थी. 1923 में जर्मनी और बुल्गारिया में क्रांति अंतिम रूप से पराजित हो चुकी थी, रूस में आर्थिक संकट का हल नहीं ढूंढ़ा जा सका था, 1924 (21 जनवरी) में लेनिन की मृत्यु हो चुकी थी और इस प्रकार निर्विवाद नेतृत्व का दौर समाप्त हो चुका था. ठीक इसी बीच बहस छिड़ गयी थी जिसमें तय होना था कि रूस समाजवाद की दिशा में कदम बढ़ायेगा या यथास्थितिवाद के रास्ते पूंजीवाद की स्थापना करेगा.

लेनिनवादी नीतियों की विरासत को आगे बढ़ाते हुए स्तालिन ने दूसरी चुनौती को हाथ में लिया. अन्ना लुई स्ट्रांग ने अपनी पुस्तक 'स्तालिन युग' (अनु. राजेश उपाध्याय, सं. कृष्ण चैतन्य) में इस बिंदु पर स्तालिन की अंतर्विरोधी अवस्था का विवरण दिया है. उनका मानना है कि पार्टी की चौदहवीं कांग्रेस के थोड़े ही दिनों पहले 'लेनिनवाद की समस्याएं' में उन्होंने कहा था कि 'समाजवादी उत्पादन के संगठन के लिए किसी एक देश के प्रयास नाकाफी हैं. खासकर रूस जैसे खेतिहर देश के प्रयास. इसके लिए तो बहुत से विकसित देशों के सर्वहारा के प्रयासों की जरूरत है.' इसका हवाला देते हुए वह आगे कहती हैं कि 'स्तालिन अपने दोनों बयानों के परस्पर विरोधी होने की असंगति पर ध्यान देते नहीं प्रतीत हुए. वे शायद इस बात से भी अनजान थे कि बाद में इस सूत्र का कितना महत्व हो जानेवाला था. इस तरह की असंगति से बचना उनके लिए जरूरी भी नहीं था। क्योंकि उन दिनों उन्हें प्रमुख सिद्धांतकारों में नहीं गिना जाता था.'

'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' 1938 (बो.) के अनुसार स्तालिन ने

इस प्रश्न का समग्र मूल्यांकन पेश किया था. एक देश में समाजवाद की विजय की संभावना पर चर्चा करते हुए उन्होंने उसके दोनों पक्षों का विश्लेषण किया था. इसके अनुसार सोवियत संघ की आंतरिक स्थिति समाजवाद के निर्माण के अनुकूल बन गयी थी. वहां उसकी विजय संभव थी. इसके विपरीत अंतरराष्ट्रीय शक्ति संतुलन इसके खिलाफ था. साम्राज्यवादी देश इसका गला घोंट देने का हर संभव प्रयास कर सकते थे और इस प्रकार समाजवाद का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता था. समग्रता में स्थिति इतनी विरोधाभासी और जटिल थी. अन्ना लुई ने इसके एक पक्ष को उजागर किया था. संभवतः वे दूसरे पक्ष से अनभिज्ञ थीं.

सोवियत संघ में पूंजीवादी हस्तक्षेप के खतरे का क्या सामाधान होगा? क्या सोवियत संघ के लोग इस बाहरी खतरे का नाश अपने बल-बूते कर सकते थे? नहीं, वे ऐसा नहीं कर सकते थे. पूंजीवादी हस्तक्षेप के खतरे को मिटा डालने के लिए पूंजीवादी घेराबंदी का नाश करना पड़ता और पूंजीवादी घेराबंदी का नाश कम से कम कई देशों में सर्वहारा क्रांति की विजय के फलस्वरूप ही हो सकता था. इससे निष्कर्ष निकलता है कि जब तक विदेशी सशस्त्र हस्तक्षेप और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का खतरा खत्म नहीं हो जाता और जब तक समाजवादी देश को इस खतरे के खिलाफ गारंटी नहीं मिल जाती, तबतक सोवियत संघ की विजय को (जिसकी अभिव्यक्ति पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का उन्मूलन और समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में हो रही थी,) अंतिम विजय नहीं माना जा सकता था.

यही उस समय का मार्क्सवाद था. सोवियत संघ सर्वहारा राज्य के अधीन था, आंतरिक परिस्थिति समाजवाद के अनुकूल थी, लेकिन बाहरी खतरे मंडरा रहे थे और उनका निराकरण सोवियत संघ के अपने बूते से बाहर की बात थी. यही चुनौती थी जिसके लिए पार्टी और देश को तैयार करना था. यह थी ठोस परिस्थिति में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्य कार्यभार. इस बहस में त्रॉत्स्की एक बार फिर एक देश में समाजवाद की जीत की संभावना को नकारते हुए 'परमानेंट रिवोल्यूशन' के अपने सिद्धांत पर खड़े नजर आये. लेनिन की वसीयत के पैरोकार लेनिन का कार्यभार के खिलाफ काम कर रहे थे. बुखारिन खुलकर इस सिद्धांत के खिलाफ खड़े नहीं हुए लेकिन चोरी-छुपे पूंजीवाद के समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण की वकालत करते रहे. उनका नया नारा था - अमीर बनो (गेट रीच). उनके इस सिद्धांत के माध्यम से बर्न्सटीन के विचार फिर से जी उठे थे. कामेनेव और जिनोव्येव भी सोवियत संघ में समाजवाद की विजय की संभावना को पचा नहीं पा रहे थे. लेकिन वे इस सम्मेलन में पार्टी लाईन के विरोध में खड़े नहीं हुए. वे वस्तुतः कांग्रेस के लिए अपने विपक्ष प्लेटफार्म की तैयारी में लगे थे.

जैसा कि हम देख चुके हैं, नयी आर्थिक नीति ने समाजवाद के निर्माण के अनुकूल परिस्थिति तैयार करने में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी. देश की अर्थव्यवस्था में

ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया था जिसमें किसान अपना अतिरिक्त उत्पाद बाजार में बेच सकते थे और अपनी जरूरत की उपभोक्ता सामग्री वहां से खरीद सकते थे. लेकिन इस नीति को लागू करना अपने आप में चुनौतीभरा काम था. इसमें दोनों संभावनायें मौजूद थीं. यह किसानों की स्थिति भी मजबूत बना सकता था और इसके विपरीत किसानों की तबाही की कीमत पर पूंजीपतियों की स्थिति भी मजबूत बना सकता था. रूस की ठोस परिस्थिति में पहला कदम समाजवाद के पक्ष में था, लेकिन दूसरा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के पक्ष में.

उस समय सोवियत संघ की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सुप्रीम कौंसिल के अध्यक्ष प्याताकोव थे. बहुतप्रचारित वसीयत में इनके बारे में लेनिन की टिप्पणी 'गंभीर राजनीतिक मामलों में अविश्वसनीय' बिल्कुल सही साबित हो रही थी. इनके आदेशों के अनुसार औद्योगिक उत्पादों के दाम बढ़ते जा रहे थे और कृषि उत्पादों के दाम गिर रहे थे. फलस्वरूप दोनों के बीच की खाई बढ़ रही थी और अर्थव्यवस्था का संकट गहराने लगा था. इसके खिलाफ कदम उठाते हुए पार्टी की केंद्रीय कमिटि ने उपभोक्ता वस्तुओं के दाम घटाने, करेंसी को स्थायी रखने तथा व्यापार को राज्य सहकारियों समितियों के हाथों में देने की दिशा में कदम उठाया था. आर्थिक नीति के सवाल पर पार्टी के भीतर पूंजीवादी राह और समाजवादी राह का विवाद इस रूप में व्यक्त हो रहा था. इसके बाद सवाल यह पैदा होने लगा था कि इस प्रक्रिया से उत्पन्न अतिरिक्त धन का उपयोग कैसे हो?

पार्टी की चौदहवीं कांग्रेस (दिसंबर 1925) में बहस का केंद्रीय मुद्दा यही बना रहा कि पिछड़ी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था को औद्योगिक देश में कैसे विकसित किया जाये. अप्रैल 1925 में पार्टी सम्मेलन में इस पर चर्चा हुई थी. स्तालिन का विचार था कि समाजवाद की मजबूत नींव औद्योगिक रूप से मजबूत देश में ही रखी जा सकती है और सोवियत अर्थव्यवस्था के इस स्थिति में पहुँचाने के लिए मशीन निर्माण के मामले में आत्मनिर्भर बनना होगा. इस सवाल पर जिनोव्येव के विचार के थे कि सोवियत संघ को मशीनों का आयात विदेशों से करना चाहिए. इस नीति का मतलब था कि सोवियत संघ उन्नत पूंजीवादी देशों का पिछलगू बनकर रह जाता जैसा कि जारशाही और उसके बाद के पूंजीवादी शासन के दौरान हुआ करता था. पार्टी ने स्तालिन की नीति पर सहमति जतायी और यह इस कांग्रेस की सबसे बड़ी उपलब्धि बन गयी. यह लेनिनोत्तर विश्व में लेनिनवाद की सबसे बड़ी जीत थी. चौदहवीं कांग्रेस की दूसरी बड़ी उपलब्धि थी कि इसी के निर्णय के बाद रूस की कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) के नाम से जानी जाने लगी थी.

लेनिन की मृत्यु के बाद यह पहली कांग्रेस थी जिसमें पार्टी आर्थिक नीति में बड़ा बदलाव ला रही थी, पार्टी की कमान स्तालिन के हाथ में थी, उनके नेतृत्व पर प्रश्न चिह्न उठ रहे थे और इसी कांग्रेस में पार्टी के भीतर फूट के बीज पड़ गये थे. जिनोव्येव-कामेनेव

ने 'नये विपक्ष' के रूप में प्लेटफार्म तैयार कर लिया था जिसका केंद्र लेनिनग्राद का पार्टी संगठन था और जिसपर जिनोव्येव का नेतृत्व हावी था. और इसी कांग्रेस में कामेनेव ने स्तालिन पर तानाशाह होने का आरोप लगाया था. इस अभियान में उनका नारा था - 'लेनिन की ओर लौटो' (बैक टू लेनिन). इस कांग्रेस में कामेनेव के भाषण और स्तालिन के जवाब का संकलन वन विहारी चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'स्तालिन क्वेश्चन' में किया है. ये लोग पार्टी के भीतर अल्पमत की वैधता और उसके अधिकारों की रक्षा की गारंटी की मांग उठा रहे थे. इनका आरोप था कि स्तालिन पार्टी को एकजुट रखकर उसका नेतृत्व देने में सक्षम नहीं है. कामेनेव के भाषण का अंत इन्हीं शब्दों के साथ हुआ था - 'हम किसी व्यक्ति पूजा के खिलाफ है, हम ड्यूस (तानाशाह) पैदा करने के खिलाफ हैं'. (स्तालिन क्वेशचन)

स्तालिन ने इन आरोपों का जवाब देते हुए विपक्ष के अवसरवाद पर प्रहार किया था. उन्होंने स्पष्ट किया था कि विपक्ष के इस आरोप को बारहवीं कांग्रेस के बाद (1923) की राजनीतिक निरंतरता में देखा जाना चाहिए. उस समय इन लोगों की मांग थी कि पॉलित ब्यूरो को खत्म कर दिया जाय और सचिवालय को राजनीतिक व सांगठनिक मामलों के दिशा निदेश का केंद्र बना दिया जाय और इसमें त्रॉत्स्की, जिनोव्येव और स्तालिन शामिल रहें. आज इनकी मांग उलट गयी है, ये सचिवालय के अस्तित्व के खिलाफ हैं और सारी शक्ति पॉलित ब्यूरो को सौंप देना चाहते हैं. लेकिन ये भूल जाते हैं कि पॉलित ब्यूरो आज भी पार्टी की सबसे शक्तिशाली संस्था है, उससे ज्यादा शक्तिशाली सिर्फ प्लेनम है. स्तालिन ने कांग्रेस को बताया कि मैंने तब इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था और कहा था कि अगर कामरेड चाहें तो बिना किसी प्रतिरोध के पद छोड़ने को तैयार हूँ और मैं अल्पमत के अधिकारों की रक्षा की गारंटी की मांग भी नहीं उठाऊंगा. पार्टी में एकता के प्रश्न पर बोलते हुए स्तालिन ने अपनी भावी नीति दो टूक शब्दों में सामने रख दी थी - हम एकता के पक्ष में हैं, हम किसी को काटने-छांटने के खिलाफ हैं, हम इस तरह की नीति से नफरत करते हैं.

पार्टी में एकता के महत्व को स्वीकार करते हुए स्तालिन ने कहा कि एकता जरूरी है, पार्टी एकता हासिल करेगी, कामेनेव व जिनोव्येव चाहें तो उनके साथ और न चाहें तो उनके बिना ही. अपने पूरे भाषण को स्तालिन ने इन शब्दों में समेटा था - 'सामूहिक काम, सामूहिक नेतृत्व, पार्टी में एकता, केंद्रीय कमिटी के सभी अंगों में एकता. इस शर्त पर कि अल्पमत बहुमत के अधीन रहे. आज हमें इसी की जरूरत है.' (स्तालिन क्वेशचन)

लेकिन ऐसा हुआ नहीं. पार्टी में टूट के बीज पड़ चुके थे. तेरहवीं कांग्रेस लेनिन की मृत्यु के बाद पहली कांग्रेस थी, इसलिए उसमें यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण बन गया था कि उनके बाद पार्टी का नेतृत्व कौन संभालेगा. इस कांग्रेस में कामेनेव और जिनोव्येव स्तालिन के

साथ कंधा से कंधा मिलाकर त्रॉत्स्की के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे, लेकिन चौदहवीं कांग्रेस में समीकरण उलट गया था. वे स्तालिन के खिलाफ खड़े थे और उन पर तानाशाही का आरोप लगा रहे थे. तब एक साल में क्या बदल गया था? इसकी छानबीन अन्ना लुई स्ट्रांग ने अपनी किताब 'स्तालिन युग' में इन शब्दों में की है :

'ये दोनों पुराने बोल्शेविक नेता (कामेनेव और जिनोव्येव) 'संभावित बोनापार्ट' (तानाशाह नेपोलियन) के रूप में त्रॉत्स्की से ही डरते थे. वे स्तालिन को अधिक विनम्र आदमी समझते थे जिससे अधिक डरने की जरूरत नहीं थी. स्तालिन ने विनम्रतापूर्वक यह राय रखी थी कि लेनिन का उत्तराधिकारी कोई समिति ही हो सकती थी. कोई एक व्यक्ति लेनिन का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था. इसलिए जिनोव्येव ने हाल के महीनों में 'मैत्रीपूर्ण सहयोग' को रेखांकित किया और जाहिर की कि लेनिन की सारी आशंकायें निर्मूल साबित हुई हैं.'

लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद स्तालिन और जिनोव्येव के सैद्धांतिक मतभेद लेनिनवाद की व्याख्या पर सामने आ गये, जिसका जिक्र हम कर चुके हैं. इसी सैद्धांतिक मतभेद का व्यावहारिक पक्ष था सोवियत संघ में समाजवादी औद्योगिकरण पर विवाद. जिनोव्येव और कामेनेव का इस सिद्धांत पर अटल विश्वास था कि यूरोप में क्रांति हुए बिना रूस में समाजवाद असंभव है. इसी समझ के तहत वे 1917 की क्रांति के खिलाफ खड़े थे. इसी सैद्धांतिक समझ ने उन्हें 'विनम्र' स्तालिन के खिलाफ 'बोनापार्त' त्रॉत्स्की के पक्ष में धकेल दिया. इन सबके बावजूद चौदहवीं कांग्रेस ने सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण की दिशा में कदम बढ़ाने का निर्णय लिया. इसके महत्व को रेखांकित करते हुए स्तालिन ने कहा :

'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की चौदहवीं कांग्रेस का ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि उसने 'नये विपक्ष' की गलतियों की जड़ों को उजागर कर दिया, उसने उनके अविश्वास और ढोंग को ठुकरा दिया, उसने समाजवाद को आगे बढ़ते संघर्ष का रास्ता दिखा दिया, पार्टी के सामने विजय का दरवाजा खोल दिया और इस प्रकार सर्वहारा को समाजवादी निर्माण में अटूट विश्वास से लैस कर-दिया.' (हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी आफ सोवियत यूनियन (बो)).

इस ऐतिहासिक उपलब्धि के बाद इनको लागू करने की चुनौती थी. पूंजीवादी जगत में औद्योगिक संरचना का निर्माण तथा समाजवादी व्यवस्था में उसके निर्माण की प्रक्रिया का बुनियादी फर्क इस दौर में उभरकर सामने आ रहा था. पूंजीवाद के अंतर्गत इसके लिए साधन मजदूरों के श्रम व किसानों की संपति हड़पने के साथ ही दूसरे देशों की लूट और कर्ज के माध्यम से जुटाये जाते रहे हैं. इस तरह की लूट के उदाहरणों से इन देशों का इतिहास भरा पड़ा है. इनमें मुख्य हैं उपनिवेशों की लूट और पराजित देशों से वसुला गया हर्जाना.

सोवियत संघ की सर्वहारा राजसत्ता ने वह रास्ता नहीं अपनाया. साम्राज्यवादी देश उसे

कर्ज देने के पक्ष में नहीं थे. 1924 में तो पहली बार ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने उसे मान्यता दी. इसी अवधि में जेनेवा सम्मेलन में सोवियत सरकार को बुलाया गया और थोड़े से कर्ज देने के एवज में ऐसी कठोर मांगें रखी गयीं. जिन्हें उसने ठुकरा दिया. उनकी शर्तें थीं कि सोवियत सरकार विदेशी कंपनियों की जब्त संपति लौटा दे तथा जारशाही द्वारा लिये गये कर्ज का भुगतान करे. तब उसके 'आदिम संचय' का स्रोत क्या था? उसके दो स्रोत थे:- विदेशी कर्ज न चुकाने से बची और जमींदारों, पूंजीपतियों तथा मुनाफाखोरों की लूट को रोकने के फलस्वरूप जमा राशि. पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था में इसका बड़ा हिस्सा पूंजीपतियों, व्यापारियों और मुनाफाखोरों की जेब में जाता है, लेकिन इस व्यवस्था में इसका उपयोग मेहनतकश जनता के हित में किया जा रहा था.

इसके बाद जरूरत थी मशीन का उत्पादन करने वाले उद्योगों के निर्माण और विस्तार की तकनीक की. जारशाही के दौरान विकास की जो नीति अपनायी गयी थी. वह विदेशी पूंजी और तकनीक पर निर्भर थी. चौदहवीं कांग्रेस ने इसे उलट दिया था और आत्मनिर्भर औद्योगिक विकास की नींव रखी जा रही थी. इस बिंदु पर सबसे महत्वपूर्ण यह समझना है कि इस विकास की नीतियां कौन तय कर रहा था और वे कैसे तय हो रही थीं? पूंजीवादी जगत ने यह भ्रामक प्रचार फैला रखा है कि सोवियत संघ में या सर्वहारा सत्ता के अधीन किसी देश में फैसले ऊपर से थोप दिये जाते हैं. लेकिन इस धारणा का खंडन करते हुए अन्ना लुई स्ट्रांग लिखती हैं :

'यह (तुर्किस्तान साइबेरियन रेल योजना) सिर्फ मास्को द्वारा नहीं बनायी गयी थी. इसे देश के सबसे दूर दराज के इलाकों और मास्को ने एक साथ बनाया था. कारखानों और गाँवों में लोगों ने चर्चा की थी कि वे क्या चाहते थे? क्या बना सकते थे? और उसे बनाने के लिए उन्हें किन चीजों की जरूरत थी. उनकी स्थानीय योजनायें सांगठनिक सरकारी मार्गों से 'केंद्र' तक पहँचती थीं और फिर सहसंबंध स्थापित करने के बाद स्थानीय मंजूरी के लिए वापस भेज दी जाती थीं.' (स्तालिन युग)

यह थी सर्वहारा अधिनायकत्व की कार्यपद्धति में मजदूरों-किसानों के जनवादी अधिकारों की स्थिति जो उन्हें किसी पूंजीवादी जनवाद के तहत मयस्सर नहीं हो सकती थीं.

यह जनवाद सिर्फ शब्दों तक सीमित नहीं था. इसकी ठोस अभिव्यक्ति मजदूरों के जीवन में दिखाई पड़ने लगी थी. लेनिन और स्तालिन के आह्वान पर लोगों ने 'व्यवस्था, लेखा-जोखा और जिम्मेदारी' सीखने का व्रत ले लिया था. लोग गहरी नींद से जाग चुके थे. इस बदलाव को पुस्तक (स्तालिन युग) की लेखिका ने इन शब्दों में व्यक्त किया है: 'हर कहीं इस बात के संकेत थे कि वे लोग ये चीजें सीख रहे थे. ये संकेत मिलते थे शहर से कारखाने को जोड़नेवाली सड़क की मरम्मत में, संयंत्र के तकनीक स्कूलों से पास होने वाले

विद्यार्थियों के पहले दल में. हाल में खुले कारखाने के रसोईघर में 'जहाँ हर रोज 11,000 लोगों का खाना बन रहा था. अमरीकी विशेषज्ञों और रूसियों के सुधरे रिश्तों में और उन दुकानों तक में जहाँ सोडावाटर और ठंडी बीयर मिला करती थी ताकि गरमी में तपे प्यासे मजदूरों को वोल्गा का पानी पीकर टाइफाइड का शिकार न होना पड़े (जैसा कि पिछले साल हुआ था).' (वही)

सोवियत संघ में मजदूर-किसान संश्रय की सत्ता के प्रयास से बन रहा यह समाज इस बदलाव का विलक्षण उदाहरण बनकर उभर रहा था. मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में मजदूरों के अलगाव (एलियेनेशन) की परिस्थिति और उसके कारणों का विश्लेषण किया है. उन्होंने बताया कि पूंजीवादी समाज की विशेषता है कि उत्पादन मजदूर करते हैं और उन्हें अपने ही (श्रम के) उत्पाद से वंचित कर दिया जाता है, उनका स्वामित्वहरण कर लिया जाता है. सब कुछ पूंजी के मालिकों का हो जाता है और मजदूर इन सबसे वंचित सिर्फ पेट पालनेवाले गुलाम बनकर रह जाते हैं. इसका परिणाम होता है कि ये मजदूर उत्पादन व वितरण की इस पद्धति पर टिके हर पहलू से अलग-थलग पड़ जाते हैं.

सोवियत संघ में पहली बार ऐसी व्यवस्था जन्म ले रही थी जिसमें श्रम के उत्पाद पर श्रमिक वर्ग का स्वामित्व कायम हो रहा था जिसके फलस्वरूप उन्हें इस बात का बोध हो रहा था कि यह देश किसी जार का नहीं, किसी पूंजीपति का नहीं, बल्कि उन सबका है. और इसी बोध ने उनकी सारी ऊर्जा को राष्ट्र के लिए समर्पित कर दिया था. इसी असीम ऊर्जा का परिणाम था कि जिस उपलब्धि को हासिल करने में पूंजीवादी जगत को सदियों लगे थे उसे सोवियत संघ ने काफी कम समय मे हासिल कर लिया था.

इस संबंध में अन्ना लुई कहती हैं कि 'अमेरिका में कनवेयर विकसित होने में पूरी पीढ़ी लग गयी थी. यहाँ युद्ध के जरिए इस पर तेजी से विजय हासिल कर ली गयी'. इसी शक्ति की ओर इंगित करते हुए स्तालिनग्राद ट्रैक्टर कारखाना के सचिव त्रेगुबिन्को को वह उद्धृत करती हैं : 'हमारे पास ऐसी शक्तियां हैं जिनके बारे में उन लोगों को कुछ भी पता नहीं'. लेनिन और स्तालिन ने उसी शक्ति को जगा दिया था. जागृत मजदूरों के बीच होड़ जैसी स्थिति पैदा हो गयी थी कि बेहतर उत्पाद और अधिक उत्पादन की दौड़ में कौन किसे पीछे छोड़ देता है. यह प्रशासन और प्रबंधन की ओर से थोपा गया अनुशासन नहीं था, बल्कि मजदूरों के बीच उत्पन्न इच्छाशक्ति का प्रतिफल था. मजदूरों के बीच यह मापदंड तय हो गया था कि किसी उद्योग की कोई खास इकाई अगर गुण या मात्रा के मान्य स्तर तक नहीं पहुंच पाती, तो उसके गेट पर 'हंसता हुआ ऊंट' चिपका दिया जाता था और जिस इकाई के गेट पर ऐसी तस्वीर चिपक जाती थी, उसके लिए वह स्थिति अत्यंत शर्मनाक हो जाती थी. यह थी मजदूरों के बीच प्रतियोगिता की स्थिति.

इस शक्ति को जगाने के लिए सर्वहारा सत्ता ने क्या किया था? उत्पादन के साथ-साथ वितरण और सत्ता संचालन में उनकी साझेदारी सुनिश्चित कर दी थी और इसी विस्तृत भागीदारी की बुनियाद पर टिकी थी स्तालिन के नेतृत्व में मजदूरों-किसानों की राजसत्ता जिसके खिलाफ पूंजीपति वर्ग असीम घृणा का इजहार करता है. इस दौर के शासन की विशेषता का उल्लेख अन्ना लुई ने इन शब्दों में किया है :

'उनका (स्तालिन का) दिमाग किसी तानाशाह का नहीं था जो बहुमत की इच्छा के विरूद्ध अपने आदेशों का पालन करवाने में यकीन करता है. न ही उनका दिमाग किसी निष्क्रिय प्रजातंत्रवादी के समान था जो वोट के फैसले का इंतजार करता है और उसे अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है. स्तालिन जानते थे कि ठोस राजनीतिक कार्रवाई के लिए बुहमत का समर्थन अनिवार्य है. लेकिन वे यह भी जानते थे कि बहुमत कैसे बनाया जाता है.'

यह स्तालिन की कार्यपद्धति का एक पक्ष था. इसका दूसरा पक्ष इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण था. यह पक्ष उजागर होता है खुद स्तालिन के शब्दों से. एमिल लुडविग से बातचीत के क्रम में उन्होने कहा था: 'हमारे यहां व्यक्ति फैसले नहीं कर सकता... हमारे अनुभवों ने हमें दिखाया है कि दूसरों द्वारा सुधारे बगैर लिये गये व्यक्तिगत फैसलों में गलतियों की संभावना बहुत ज्यादा होती है.'

उन्होंने यह भी कहा कि 'सोवियत संघ की सफलता का कारण ही यही है. यहां विज्ञान, उद्योग, कृषि, विदेशी मामलों आदि हर क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण प्रतिभाओं को केंद्रीय समिति में शामिल कर दिया गया है और उसी के जरिए फैसेले लिये जाते हैं.' (स्तालिन युग में उद्धृत).

यह था सर्वहारा अधिनायकत्व के पहले प्रयोग का सच जिस पर पर्दा डालने के लिए असंख्य झूठों का सहारा लिया गया.

कृषि क्षेत्र का समाजवादी रूपांतरण

उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्र में समाजवाद की दिशा में काफी प्रगति हो चुकी थी. निजी पूंजीवादी संबंधों पर प्रहार तेज गति से हो रहा था. 1924-25 में औद्योगिक क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भूमिका 19 प्रतिशत थी जो 1926-27 में घटकर 14% रह गयी और इसी अवधि में समाजवादी क्षेत्र का प्रसार 81% से बढ़कर 86% हो गया. वाणिज्य की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी. इस अवधि में निजी व्यापारियों की हिस्सेदारी 42% से घटकर 32% रह गयी थी. यह थी खुदरा व्यापार की स्थिति. थोक व्यापार में उनकी भागीदारी 9% से घटकर 5% हो गयी थी. स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने नयी आर्थिक नीति से आगे बढ़कर निजी पूंजी के अस्तित्व पर निर्णायक प्रहार कर लेनिन की असली वसीयत के निष्पादन का काम शुरू कर दिया था.

ऐसी स्थिति में जरूरी हो गया कि कृषि में भी उसके अनुरूप नीति अपनायी जाय और बड़े पैमाने की खेती को प्रोत्साहन दिया जाय. ऐसी खेती जिसमें उत्पादकता में बढ़ोतरी हो, मशीन का उपयोग ज्यादा से ज्यादा संभव हो. ऐसा करना दो तरह से संभव हो सकता था. पहला पूंजीवादी रास्ता था. इसका नतीजा होता मजदूर किसान संश्रय में फूट, मध्यम व गरीब किसानों की बर्बादी और तबाही की कीमत पर धनी किसानों और कृषि पूंजीपतियों का विकास और अंततः सर्वहारा सत्ता का विनाश. इसके विपरीत दूसरा रास्ता था कि देहाती क्षेत्रों में कुलक अर्थव्यवस्था का नाश कर बड़े पैमाने की सामूहिक खेती दिशा में कदम बढ़ाये जायें. लेनिन ने रूसी किसानों को जो संदेश दिया था, उसके तहत पूंजीवादी विकास की हर अवस्था में मध्यम किसानों और गरीब किसानों को धीरे-धीरे या तेज गति से बर्बादी की दिशा में बढ़ना था. इसलिये सोवियत संघ में लेनिनवादी रास्ता यानी समाजवाद का रास्ता अपनाया गया.

इसके फलस्वरूप 1930-33 के बीच लगभग एक करोड़ चालीस लाख छोटी-छोटी नकारा खेतिहर जोतों को मिलाकर लगभग दो लाख बड़े खेत बनाये गये. इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात थी कि इन बड़े खेतों की मिल्कियत निजी नहीं थी, उसपर राज्य के रूप में संगठित सर्वहारा (या कहें सर्वहारा राज्य) की मिल्कियत भी नहीं थी. वहाँ बीच की अवस्था थी. किसानों की सामूहिक मिल्कियत. यह अपने-आप में समाजवाद नहीं था, लेकिन समाजवाद में संक्रमण की दिशा में महत्वपूर्ण पड़ाव था. इन सबके बीच पूंजीवादी और समाजवादी राह के अनुयायियों के बीच तीखे संघर्ष की अनुगुंज पार्टी की पंद्रहवीं कांग्रेस (दिसम्बर 1927) में सुनाई पड़ी. इस बार विद्रोह का झंडा उठाया था बुखारिन ने. हम देख चुके हैं कि चौदहवीं कांग्रेस के दौरान भी उन्होने 'अमीर बनो' का नारा दिया था. इस बार उन्होने पार्टी कार्यकर्त्ताओं को यह समझाने की कोशिश की थी कि सामूहिक खेती से कुछ नहीं होगा, कुलकों को इससे बिल्कुल अलग छोड़ दिया जाना चाहिए, वे अपने-आप समाजवाद में प्रवेश कर जायेंगे, कुलकों की घेराबंदी समाजवाद के लिये कोई खतरा नहीं है.

इस नीति के विपरीत पार्टी की नीति थी - गरीब किसानों पर दृढ़ विश्वास, मध्यम किसानों के साथ मजबूत गठजोड़ और कुलकों के खिलाफ आर-पार की लड़ाई. पार्टी में यह लड़ाई सिद्धांतों और नारों के आधार पर चल रही थी और गाँवों में इसका विस्तार खेतों और खलिहानों में हो रहा था. कुलकों ने अपना अतिरिक्त अनाज सोवियत राज्य को बेचने से इनकार कर दिया था और सामूहिक खेती में साझेदार किसानों, पार्टी कार्यकर्त्ताओं और सरकारी कर्मचारियों के खिलाफ आतंक बरपाना शुरू कर दिया था. मध्यम किसान दो हिस्सों में बंटे थे. इसका आधार एक तरफ कुलक बन की उनकी आशा थी और दूसरी तरफ सरकारी मशीनरी का सहयोग पाने की इच्छा. इन्हीं दोनों के बीच वे डोल रहे थे. उनके इस

प्रतिरोध से निबटने के लिये सोवियत सत्ता ने इनके खिलाफ आक्रामक नीति अख्तियार किया. कोर्ट को यह अधिकार दिया गया कि राज्य के हाथों अनाज बेचने से इनकार की हालत में वह कुलकों का अनाज जब्त कर ले. इस क्रम में गरीब किसानों को कई सहुलियतें दी गयीं. इसमें यह सहुलियत भी शामिल थी कि कुलकों से जब्त अनाज कर 25% उनके अधिकार में छोड़ दिया जाता था. यह थी कुलक अर्थव्यवस्था के मामले में सोवियत राज्य की नीति.

यह नीति क्रांति के तुरंत बाद अपनायी गयी नीति से भिन्न थी. समाजवाद की दिशा में एक छलांग. उस समय सोवियत सत्ता के निशाने पर सामंती संबंध थे, अब कुलक व्यवस्था आ गयी थी. 'वार कम्युनिज्म' के दौर में कुलकों के प्रतिरोध से निबटने के लिये गाँव के गरीबों की कमिटी बनायी गयी थी. इस कदम का विरोध समाजवादी क्रांतिकारियों ने किया था.वे सरकार के खिलाफ षड्यंत्र करने की हद तक गये थे. अब उनकी आत्मा बुखारिनपंथियों की काया में प्रवेश कर गयी थी और कुलकों के हितों की रक्षा का दायित्व उन्होने उठा लिया था. यह समाजवाद के खिलाफ साजिश का ऊच्चतर रूप था.

अपनी साजिशाना हरकत के बचाव में बुखारिन और उनके अनुयायी नया सिद्धांत रच-गढ़ रहे थे. 'वर्ग संघर्ष के धीमा पड़ने' का सिद्धांत. इस सिद्धांत के अनुसार समाजवाद जैसे-जैसे विजयी होता जाता है, वर्ग संघर्ष वैसे ही वैसे धीमा पड़ता जाता है; इसके तहत सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष उत्तरोतर धीमा पड़ता जायेगा और कुलकों के खिलाफ आक्रामक अभियान चलाये जाने की जरूरत नहीं है. क्या यह सिद्धांत मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुरूप था? इस सवाल का जवाब खोजने के लिये ज्यादा सैद्धांतिक विवेचन में जाने की जरूरत नहीं है. लेनिन की एक ही उक्ति याद कर लेने लायक है - घायल शेर पहले से दस गुना ज्यादा घातक हो जाता है. ऐसी स्थिति में यह कल्पना ही आत्मघाती है कि कुलक अर्थव्यवस्था पर हमला किया जाय और उनका प्रतिक्रांतिकारी जवाबी हमला मंद पड़ जाये. वह भी उस स्थिति में जब दुनिया का एकलौता समाजवादी देश सबसे खूंखार दुश्मन साम्राज्यवादी देशों से चौतरफा घिरा हुआ हो और जिसे वैचारिक व सामरिक हमलों का निरंतर सामना करना पड़ा हों. सोवियत संघ की नीतियों पर वैचारिक हमले का एक नमूना अन्ना लुई स्ट्रांग की इस टिप्पणी में मिलता है:

अमरीकी टिप्पणीकार अक्सर कहते हैं कि स्तालिन ने सामूहिक खेत जर्बदस्ती तैयार कराये थे. वे यहां तक कहते हैं कि उन्होने जानबूझकर लाखों किसानों को भूखा रखा ताकि वे सामूहिक खेतों में शामिल हो जायें.

इस आरोप पर अपनी सफाई देते हुए अन्ना लिखती है: 'लेकिन यह सच नहीं है. उन वर्षों में मैंने ग्रामीण इलाकों की यात्रायें की थीं और मुझे मालूम है कि क्या हुआ था. इस बदलाव को स्तालिन ने निश्चित तौर पर बढ़ावा दिया और इसका मार्गदर्शन किया. लेकिन

सामूहिकीकरण का आंदोलन इतनी तेज गति से आगे बढ़ा कि स्तालिन की योजना पीछे छूट गयी और सामूहिक खेतों के लिए मशीनों, लेखाकारों और प्रबंधनों की कमी पड़ गयी. किसानों की उम्मीदें ज्यादा थीं और क्षमता कम थी. उन्होंने कुलकों के उकसावे में आकर अपने मवेशियों को मार डाला था. इन सबके ऊपर लगातार दो साल तक सूखा पड़ा. इस कारण 1932 में देश में अनाज की गंभीर कमी हो गयी. यह घटना स्तालिन पर जोर जबरदस्ती करने का इल्जाम लगाने के दो साल बाद हुई. ऐसे में मास्को की केंद्रीय सरकार देशव्यापी राशन प्रणाली के जरिये ही देश को संकट से उबार सकी.'

दुष्प्रचार और यथार्थ के बीच का अंतर इतना विशाल था. दूसरी सच्चाई यह थी कि एक बार जब पहलकदमी जनता के हाथों में चली गयी तो वह बाढ़ व तूफान की तरह अनियंत्रित हो गयी कि कौन कितना बड़ा सामूहिक फार्म का रिकार्ड खड़ा करता है. नमूना के तौर पर रिकार्ड का यह सिलसिला देखिये :

'एक दिन साढ़े तीन लाख एकड़ का एक खेत बनाकर समोइलोका ने रिकार्ड बना दिया. फिर बालकोब ने पौने सात लाख एकड़ के खेत की घोषणा की. फिर येलान ने चार बड़े कम्यूनों को मिलाकर साढ़े सात लाख एकड़ खेत का एलान कर डाला. यह जानने के बाद बालान्दा के किसानों ने अपनी मीटिंग में आवाज उठायी: 'बेधड़क होकर आगे बढ़ो. अपने दोनों कस्बों की सारी जमीन मिलाकर दस लाख एकड़ का एक खेत बना डालो.' (स्तालिन युग)

इस तस्वीर से साफ है कि सरकार की योजना पीछे छूट गयी और किसानों का अभियान आगे निकल गया था. अन्ना लुई स्ट्रांग की पुस्तक के आंकड़े बताते हैं कि पंचवर्षीय योजना ने 1933 तक 20 प्रतिशत सामूहिकीकरण हासिल करने का लक्ष्य निर्धारित किया था, लेकिन 1930 तक ही कुछ क्षेत्रों में सामूहिकीकरण 60 प्रतिशत की हद तक पहुंच गया था. ये आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि किसान अपने अभियान में काफी तेज रफ्तार में आगे बढ़ रहे थे. इसका प्रभाव सामाजिक संबंधों पर भी पड़ रहा था. धनी किसानों पर ज्यादती के रूप में. इस तरह की कई बातें सच भी थीं और कई मामलों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर भी पेश किया जा रहा था. तब सवाल उठता है कि यह सब इतने बेहतरीन ढंग से हो क्यों रहा था और सरकार की मशीनरी इसे तरकीब में लाने में विफल क्यों थी? इस सवाल का जवाब एक कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता के शब्दों में :

'इसका कारण पार्टी की अंदरूनी फूट में है. दोष हम कम्युनिस्टों का ही है. स्तालिन ने 'धनी किसानों' को वर्ग के रूप में मिटाने' की कार्यदिशा घोषित (27 दिसंबर 1929) की थी. लेकिन सरकारी तौर पर नियंत्रण रखनेवाले दक्षिणपंथी तत्वों ने इस कार्यदिशा से संबंधित कानून बनाने की दिशा में देर कर रखी है. इसलिए मार्गदर्शक के रूप में किसी कानून के अभाव में हमारे स्थानीय कामरेडों के वामपंथी तत्व वही कर रहे हैं जो उनको अपनी नजर

में यानी खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों की नजर में सही है.' (स्तालिन युग)

सरकारी नीतियों और आदेशों का इंतजार किये बिना ही किसान जनता जिस तेजी से आगे बढ़ चली थी उस पर अचानक रोक लगाना न तो संभव था और न उचित. इस स्थिति का विवरण उसी कम्युनिस्ट नेता के शब्दों में: 'हम अपने स्थानीय कामरेडों को तब तक नहीं रोक सकते, जबतक सामूहिक बीज सामूहिक बखारों में न पहुंच जायें और बुआई सुरक्षित न हो जाये. वरना चारों तरफ अकाल फैल जायेगा....... हम तेज ढलान पर स्की पर सवार तेजी से फिसलते आदमी की स्थिति में हैं. हम न तो रूक सकते हैं और न ही दूरी और गति पर कोई नियंत्रण कर सकते हैं. हम सिर्फ अपनी कूद को निर्देशित कर सकते हैं और कोशिश कर सकते हैं कि जमीन का स्पर्श करते समय अपने पैरों पर हों.'

इसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए बीज इकट्ठा करने का काम पूरा होने के बाद स्तालिन का 'सफलता का उन्माद' का प्रसिद्ध बयान सामने आया. इस बयान का तात्पर्य था कि किसान इस तेजी से सामूहिक खेती की दिशा में आगे बढ़े कि पार्टी कार्यकर्त्ता उन्माद में बह गये. उन्होने इस अवसर पर दो नीतिगत बातें याद दिलायीं. पहली बात यह कि सामूहिक खेती की सदस्यता स्वैच्छिक थी और दूसरी यह कि जमीन, खेती में काम आनेवाले जानवरों और मशीनों का ही सामाजिकरण करना था. गाय, सूअर, भेड़, मुर्गी जैसे पालतू जानवरों को निजी संपति के रूप में छोड़ देना था.

इस वक्तव्य से सबसे ज्यादा राहत उन धनी किसानों को मिली जो सामूहिक खेती से बाहर थे. इस बयान के बाद स्तालिन किसानों के नायक के साथ-साथ मुक्तिदाता मसीहा बन गये. व्यक्ति पूजा की उभरती संस्कृति से बचने के लिए उनका दूसरा बयान आया कि यह निर्णय उनका नहीं, बल्कि केंद्रीय कमिटी का है. उन्होने कमिटी की ओर से यह घोषणा की थी. इतिहास का कैसा क्रूर मजाक है कि जिस व्यक्ति ने 'व्यक्ति पूजा' की संस्कृति को हतोत्साहित करने का प्रयास किया, मरने के बाद उसी पर 'व्यक्ति पूजा' की संस्कृति को बढ़ावा देने का गंदा आरोप लगा !

जिस समय सोवियत संघ पार्टी के भीतर गुटबाजी, भितरघात और इससे उत्पन्न कृषि क्षेत्र की "अराजकता" से जूझ रहा था, उस समय साम्राज्यवादी दुनिया में सोवियत समाजवाद के ध्वस्त होने की अटकलें चल रही थीं और इस बात का इंतजार किया जा रहा था कि कब वहां का आंतरिक संकट उग्र रूप धारण करे और बाहरी गिद्ध उसे दबोच लें. इसमें अमेरिकी कौंसुलेट अग्रणी भूमिका निभा रहा था. इसके अधिकारी सोवियत अखबारों से सामूहिकीकरण के आंकड़े इकट्ठा कर अमेरिकी विदेश विभाग को भेजा करते थे. ऐसी ही रिपार्टों के आधार पर साम्राज्यवादी जगत सोवियत संघ में अकाल के कारण विनाश के सपने संजो रहा था. कुछेक पड़ोसी देशों ने तो सेना को कूच करने का आदेश तक दिया

हुआ था. लेकिन उनकी मंशा एक बार फिर पूरी नहीं हो सकी. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने "अराजकता" पर विजय पा ली, बेतरतीब विकास को तरतीब में ला दिया और कृषि का सामूहिकीकरण सोवियत संघ के अजेय शक्ति बनने का आधार बन गया.

यह सब कर पाना सरल-सपाट राजमार्ग पर चलने जैसा नहीं था. यह रास्ता बिल्कुल उबड़-खाबड़ था. लेकिन सभी उतार-चढ़ावों का मुकाबला किसानों, पार्टी कार्यकर्त्ताओं और कृषि विशेषज्ञों के दलों ने मिलकर किया. 1930 में फसल कटाई और संरक्षण का काम किसानों की संकल्पशक्ति के आधार पर पूरा हुआ. इसके साथ ही सामूहिक खेती का हिसाब-किताब रखने वाले मुनीम से लेकर मैनेजर और ट्रैक्टरों की देखरेख व मरम्मत के लिए विशेषज्ञों की जरूरत बड़े पैमाने पर महसूस होने लगी. 1931 में अच्छी फसल होने के बावजूद उपज संग्रह का काम ठीक से नहीं हो पाया.

इस स्थिति की समीक्षा के बाद पाया गया कि किसानों का पिछड़ापन, धनी किसानों की तोड़फोड़ और आधिकारियों की मूर्खता इसके लिए जिम्मेवार है. 1933 आते-आते यह साफ हो गया कि देश अनाज संकट की स्थिति का सामना कर रहा है. पार्टी की केंद्रीय समिति ने अपने अधिवेशन में इस पर गंभीरता से विचार किया और स्तालिन ने माना कि पार्टी सोती हुई पकड़ी गयी थी. लेकिन एक बार जब पार्टी जग गयी तो उसने स्थिति का डटकर सामना किया और उस पर नियंत्रण पा लिया गया. अकाल होने के बावजूद कहीं भी अव्यवस्था के वैसे लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहे थे, जो अकाल शब्द में निहित होते हैं. इसके लिए तीन कदम उठाये गये - अनाज वसूली के लिए कानून, 'कृषि वीरों' के लिए सम्मान और टैक्टर स्टेशनों में राजनीतिक विभाग का गठन. इन सभी प्रयासों से 1933 के बाद कृषि व्यवस्था में स्थायित्व का दौर शुरू हुआ और 1935 आते-आते इस व्यवस्था ने स्थायी स्वरूप धारण कर लिया. इस प्रकार सोवियत संघ में समाजवाद के तीनों आर्थिक स्तंभ- उद्योग, व्यापार और खेती स्थायित्व धारण कर चुके थे. समाजवादी दौर में इन किसानों के उत्कर्ष का वर्णन अन्नालुई स्ट्रांग ने इन शब्दों में किया है : 'युद्ध के बाद 1947 में मैं सोवियत संघ के आसमान में हवाई यात्रा कर रही थी. वोल्गा के किनारे कज्जान में उतरने पर मैंने खेत के एक किनारे पर दर्जनों छोटे हवाई जहाज खड़े देखे. मैंने सोचा कि यह तो जरूर हवाई जहाज प्रशिक्षण केंद्र होगा. मुझे आश्चर्य हो रहा था, उन्होंने मुझे उतरने कैसे दिया.

एक रूसी बोला - 'अरे ये तो सामूहिक किसानों के हवाई जहाज हैं.. वे लोग विभिन्न कामों से शहर आये हुए हैं.'

इससे समाजवाद के दौर में प्रगति की रफ्तार का अनुमान लग जाता है और यह समझना भी आसान हो जाता है कि निजी संपति संबंध राष्ट्र और समाज की अग्रगति में कितने बड़े अवरोध बन गये हैं.

◆◇◆

तकनीक से सबकुछ तय होगा

सोवियत संघ में एक बार जब समाजवाद की अधिसंरचना मूलतः खड़ी हो गयी और उसके विकास की दिशा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगी, तब सबसे महत्वपूर्ण काम था उत्पादन की अवस्था को उन्नत पूंजीवादी देशों से भी आगे बढ़ाना. लेनिन सोवियत समाज में मौजूद एक खास अंतर्विरोध की चर्चा किया करते थे जो रूस की विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति की देन थी. वह आर्थिक उत्पादन पद्धति के मामले में यूरोप के किसी पिछड़े देश से भी ज्यादा पिछड़ा था, लेकिन वर्गीय चेतना के मामले में वहां के मजदूर यूरोप के सबसे उन्नत पूंजीवादी देशों के मजदूरों से भी बहुत आगे थे. इस स्थिति का बरकरार रहना साम्राज्यवादी देशों से घिरे सोवियत संघ के अस्तित्व के लिए घातक था. इस खतरे से निबटने के लिए दो उपाय थे. पहला यह कि सोवियत संघ उत्पादन के क्षेत्र में यूरोप को पीछे छोड़ दे और दूसरा यह कि वहां का मजदूर वर्ग तकनीकी और सांस्कृतिक रूप से इतना सशक्त हो जाये कि वह आर्थिक उत्पादन और सत्ता का संचालन अपने बूते कर सके.

'का. स्तालिन की रिपोर्ट में वैचारिक-राजनीतिक नेतृत्व के प्रश्न को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था. उन्होने पार्टी को सचेत किया था कि यद्यपि पार्टी के दुश्मन, अवसरवादी और सभी तरह के राष्ट्रवादी भटकावपंथी, पराजित हो चुके हैं, फिर भी उनके विचारों के अवशेष आज भी कुछ पार्टी सदस्यों के मन में जड़ जमाये हुए हैं और अक्सरहां वे आग्रह बन जाते हैं. आर्थिक जीवन में, खास तौर पर मनुष्य के मन में पूंजीवाद के अवशेष पराजित लेनिनवाद विरोधी ग्रुपों के पुनर्जीवन के लिए अनुकूल परिस्थिति उपलब्ध करा देते हैं. जन-मानस का विकास उनकी आर्थिक अवस्था के साथ कदम मिलाकर नहीं चलता. फलस्वरूप पूंजीवादी विचारों के अवशेष लोगों के मन में तब भी भरे पड़े रहते हैं और वे आर्थिक जीवन में पूंजीवाद के उन्मूलन के बाद भी बने रहेंगे. दिमाग में यह बात भी रहनी चाहिए कि चारों तरफ की पूंजीवादी दुनिया इन अवशेषों को फिर से जिंदा करने और उन्हें पालने-पोसने के लिए काम कर रही है. उसके खिलाफ हमें हमेशा सजग और सतर्क रहना होगा.' (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की सोलहवीं कांग्रेस में महासचिव की रिपोर्ट से : दी हिस्ट्री ऑफ कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ सोवियत यूनियन बो)

बाद के दिनों में (उनकी मृत्यु के बाद) स्तालिन की इसलिए आलोचना हुई कि उन्होंने तकनीक पर ज्यादा जोर दिया था. इसलिए हम यहां यह समझने की कोशिश करेंगे कि उन्हें तकनीक पर इतना ज्यादा जोर देने की जरूरत क्यों पड़ी? इस मामले में अन्ना लूई स्ट्रांग की पुस्तक स्तालिन युग हमें काफी सामग्री उपलब्ध कराती है कि पूंजीवादी विशेषज्ञ कैसे रूस के सत्ताच्यूत पूंजीपतियों से मिलकर मशीनों को क्षति पहुंचाते थे. अलग-अलग उदाहरणों

से इस सच को बाद में समझेंगे. पहले उसकी सामान्य टिप्पणी पर गौर कर लें : 'पंचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों में तो आला इंजिनीयरों द्वारा तोड़फोड़ की महामारी ही फैला दी गयी थी. इन सब लोगों का उन उद्योगों के पुराने विदेशी मालिकों से संपर्क था जिन उद्योगों का अब राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था'. अब कुछ ठोस उदाहरणः

अपने सरलतम रूप से यह तोड़फोड़ साधारण भ्रष्टाचार और रिश्वखोरी के रूप में सामने आती थी. सिनसिनाटी (अमेरिका) की एक कंपनी ने सोवियत उद्योगों को कुछ मशीनें बेची थी. उसके प्रतिनिधि को कहा गया कि मशीनें अच्छी नहीं हैं. मास्को से समारा जाकर काम करने में उन असफल मशीनों को देखने के लिए उसे आधिकारिक लालफीताशाही से भी लड़ना पड़ा. जब वो वहां पहुंचा तो कारखाने में प्रवेश के लिए भी उसे राजनीतिक पुलिस का सहारा लेना पड़ा. वहां उसे एक डरा हुआ सुपरिंटेंडेंट मिला जिसने स्वीकार किया कि अमेरिकी मशीनों को तो कभी चलाया ही नहीं गया था....एक जर्मन कंपनी ने खराब रिपोर्ट देने के लिए उस सुपरिंटेंडेंट को घूस दी थी और मास्को के एक अधिकारी के माध्यम से व्यवस्था की गयी थी कि अमेरिकी प्रतिनिधि को मास्को से समारा पहुंचने ही न दिया जाय.

एक अमेरिकी इंजिनीयर के अनुभव को समेटते हुए अन्ना लूई लिखती हैं जब मैंनेअटक-अटक कर चलने वाली भारी मशीन का गियर बॉक्स खोला तो पाया कि नौ बाल्टी धूल और इस्पात की खुरचनें भरकर उसे जाम कर दिया गया था जिसे हटाने में क्रेन को भी आधा दिन लगा था. सबसे दिलचस्प घटना तो रोंगटे खड़े कर देने वाली है. गुप्त पुलिस के एक अधिकारी ने मोटर कारखाने में निरीक्षक का काम करने वाले अमेरिकी को बुलवाया और उसे धातु का एक टुकड़ा दिखाया और पूछा, क्या वह इसके बारे में कुछ बता सकता है? अमेरिकी अधिकारी ने बताया कि ये भारी मशीनगन के कलपूर्जे हैं. तब जांच अधिकारी ने उसे हैरान कर दिया कि ये कलपूर्जे उसकी ही शॉप में रात की पालि में बनाये गये थे. जांच पड़ताल में एक फोरमैन और एक टेक्निशियन को दोषी पाया गया था. मजदूरों को तो यह पता तक नही था कि किसी देशद्रोही गिरोह के गुप्त हथियारखाने को मजबूत करने में वे लगे थे.

मुझे बाद में स्थानीय किसानों (ओदेस्सा के) से पता चला कि बड़ी संख्या में मेन्नानी किसानों द्वारा अचानक यह नास्तिक देश छोड़ देने के फैसले के पीछे दरअसल जर्मन दलालों का हाथ था. पूरे के पूरे गांवों ने अपने घर और पशु बेच दिये थे या उन्हें यूं ही छोड़कर मास्को चले गये थे और वहां जाकर विदेश जाने के लिए पासपोर्ट मांग रहे थे. काफी फसल बर्बाद हो रही थी जो बचायी जा सकती थी.

यह थी कम्युनिस्ट सत्ता के खिलाफ साजिश की गहराई. इस तरह की घटनाओं को रोकने के लिए जरूरी था कि सर्वहारा राज्य मजदूरों के तकनीकी प्रशिक्षण पर ज्यादा से ज्याद जोर देता. सचमुच जैसे जैसे मजदूर इन कामों में अनुभवी और दक्ष होते गये, वैसे

वैसे इस तरह की घटनायें कम होने लगीं. पहली पंचवर्षीय योजना (1929-33) के दौरान इसके समाधान की जमीन तैयार हो चुकी थी. इसकी सफलता से असहयोग करने वाले इंजिनीयरों का मन भी जीत लिया गया था. इन उपलब्धियों ने कुछेक पूंजीवादी विचारकों को काफी गहरे ढंग से प्रभावित किया था. इनमें एक थे डा. एमिल जॉसेफ डिलॉं. ये वर्ष 1877 से 1914 तक रूस में रहकर कई विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य कर चुके थे और प्राचीन रूस के विशेषज्ञ माने जाते थे. 1918 में रूस से विदा लेते वक्त उन्होने लिखा था : 'बोल्शेविक आंदोलन में रचनात्मक या सामाजिक विचार का लेश तक नहीं है. यह जारशारी का उल्टा रूप है. पूंजीपतियों के साथ वे उतना ही खराब बर्ताव करते है जितना जार भूदासों के साथ करता था'. दस वर्षों के बाद जब वे फिर सोवियत संघ लौटे तो उनकी आंखें फटी की फटी रह गयीं. उन्होने लिखा : 'हर जगह लोग सोच रहे हैं, काम कर रहे हैं. वैज्ञानिक खोज और औद्योगिक अनुसंधान कर रहे हैं. ऐसा कहीं नहीं है, इससे मिलता-जुलता भी नहीं है. उद्देश्य की दृढ़ता इसका साक्षी है.'(लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

यह बात सही थी. लेकिन शुरुआत मात्र थी. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट सरकार ने बहुत आगे बढ़ने का लक्ष्य तय कर लिया था. पहली पंचवर्षीय योजना में ये लक्ष्य निर्धारित किये गये थे : सोवियत संघ को नयी आधुनिक प्रौद्योगिकी की नीति पर चलने के लिए तैयार करना, सोवियत संघ को कृषि प्रधान कमजोर देश की जगह मजबूत औद्योगिक देश में बदलना, समाजवादी अर्थव्यवस्था के आधार को विस्तार देने के लिए पूंजीवादी तत्वों को मिटा देना और समाजवादी समाज बनाने के उद्देश्य से वर्ग विहीन समाज का आर्थिक आधार तैयार करना, ऐसे उद्योगों की स्थापना करना जो न सिर्फ अपने नवीकरण में सक्षम हों, बल्कि यातायात तथा कृषि के भी निरंतर नवीकरण में सक्षम हों, बिखरी खेती को बड़े पैमाने की खेती में बदलना ताकि समाजवाद का आधार मजबूत हो सके, सोवियत संघ की सुरक्षा क्षमता बेहतर बनाने के लिए तकनीकी और आर्थिक जरूरतों को पूरा करना. (वही)

इन लक्ष्यों को हासिल करना सोवियत संघ के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था. उसे डर सता रहा था कि पूंजीवादी शक्तियां उसे मिटाने का हर संभव प्रयास करती रहेंगी. इस स्थिति में (फरवरी 1931 में) औद्योगिक मैनेजरों की सभा में स्तालिन ने दस वर्षों में उत्पादन के स्तर को यूरोप के स्तर से आगे बढ़ाने का कार्यभार पेश किया था. उन्होने चेतावनी भरे लहजे में कहा था, हम उन्नत देशों से पचास साल या सौ साल पीछे हैं. हमें दस वर्षों में यह दूरी तय कर लेनी है. या तो हम इस कार्यभार को पूरा करेंगे या वे हमें कुचल डालेंगे. (हिस्ट्री ऑफ कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ सोवियत यूनियन बो.). उनका यह आकलन भविष्यवाणी की तरह सच साबित हुआ. दूसरे विश्वयुद्ध में साम्राज्यवादी देशों की आंखों की किरकिरी एकलौते समाजवादी देश को कुचल डालने की भरपूर कोशिश हुई. लेकिन सामरिक तैयारी

और कूटनीतिक सूझबूझ के कारण उनके सारे प्रयास विफल रहे. किसी भी क्रांतिकारी पार्टी को जो विजय के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचना चाहती है, परिस्थिति के ठोस विश्लेषण के साथ-साथ कार्यभार का सटीक आकलन करने की ऐसी हूनर सीखनी होगी. यह रूसी क्रांति के सौ साल का अत्यंत महत्वपूर्ण संदेश है.

उनके इस आह्वान का मतलब था कि पिछले दौर में उत्पादन की तकनीक के मामले में पूंजीवादी विशेषज्ञों पर निर्भरता समाजवाद के दौर में घातक सिद्ध हो सकती है, इसलिए सर्वहारा वर्ग को इन मामलों में दक्षता हासिल करनी होगी. इस बात पर जोर इसलिए जरूरी था कि सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि राजनीतिक व आर्थिक नियंत्रण के मामले तक अपना ध्यान केंद्रित रखते थे. तकनीकी पक्ष की जिम्मेवारी पूंजीवादी विशेषज्ञों पर छोड़ दी गयी थी. रूस के शैक्षणिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन को ध्यान में रखते हुए इन विशेषज्ञों की दक्षता खरीदने की नीति मजदूर-किसान संश्रय की सत्ता ने नयी आर्थिक नीति के दौर में अपनायी थी. इससे लोगों में यह धारणा बन गयी थी कि तकनीकी दक्षता मूलतः पूंजीवादी विशेषज्ञों का प्रश्न है. अब जरूरत समझी जाने लगी थी कि इस धारणा से मुक्त हुआ जाये. उत्पादन के आर्थिक व राजनीतिक पक्ष के साथ-साथ तकनीकी नियंत्रण में भी मजदूरों को माहिर होना चाहिए.

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का यह आह्वान पूंजीवादी विशेषज्ञों पर मजदूर वर्ग की निर्भरता से मुक्ति का आह्वान था, रूसी क्रांति ने जिस नये मानव का सृजन शुरू किया था, उसे विकास की प्रक्रिया के अनुरूप संपूर्ण मानव बनाने का आह्वान था. दूसरे शब्दों मे कहें तो मार्क्स-एंगेल्स ने श्रम को मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के साधन से ऊपर उठाकर उसे आनंद का स्रोत बनाने का जो सपना देखा था, उसकी पूर्ति की दिशा में नयी छलांग मारने का आह्वान था, सांस्कृतिक क्रांति की मजबूत जमीन तैयार करने का आह्वान था. इस आह्वान को किस तरह पूरा किया जा रहा था, यह समझ पाना पूंजीवादी विशेषज्ञों के लिए अत्यंत दुरुह था.

सोवियत संघ में संविदा पर आये अमेरिकी इंजिनीयरों को लगता था कि यह तो योजना है ही नहीं. इसमें उन्हें अराजकता की बू आती थी. उनके लिए आश्चर्य की बात थी कि सारी योजनायें मास्को से तय नहीं हो रही हैं. मास्को का प्रस्ताव स्थानीय विचार विमर्श के लिए भेजा जाता था जिसमें तय होता था कि लोगों को क्या चाहिए, उनके पास कितने संसाधन हैं और वे क्या तैयार करने में सक्षम हैं. उनकी राय के बाद ही मास्को से उस पर अंतिम मुहर लगती थी और उसके अनुरूप उन्हें संसाधन उपलब्ध कराये जाते थे. इससे लोगों की पहलकदमी का अवसर मिलता था और उन्हें यह विश्वास पैदा होता था कि योजना अपनी है और इसका लाभ हमें मिलेगा. आज पूंजीवादी विचारकों के बीच सत्ता के विकेंद्रीकरण की बात जोर-शोर से हो रही है, लेकिन कम्युनिस्टों की यह कार्यपद्धति जनभागीदारी का सर्वोत्तम आदर्श प्रस्तुत करती थी.

इसका नतीजा हुआ कि सोवियत संघ का पूरा श्रमिक वर्ग गतिशील हो गया और उसने पांच वर्षों से भी कम समय में वह कर दिखाया जिसे पूरा करने में पूंजीवादी जगत को दशाब्दियां लग गयी थीं. रूसी क्रांति ने जिस समाजवादी समाज के निर्माण की जमीन तैयार की थी, नयी आर्थिक नीति पर अमल करते समय लेनिन ने जिस लक्ष्य की घोषणा की थी, उसकी पहली मंजिल तैयार हो गयी थी. पहली पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियों का उल्लेख स्तालिन ने इन शब्दों में किया था : इसने पूंजीपतियों और सामाजिक जनवादियों की इस अवधारणा का खंडन कर दिया कि यह योजना एक दिवास्वप्न थी. उसने पूंजीपतियों की इस धारणा को समाप्त कर दिया कि मजदूर वर्ग नये का निर्माण नहीं कर सकता, वह सिर्फ पुराने का विध्वंस कर सकता है. उसने इस धारणा को मिटा दिया कि एक देश में समाजवाद का निर्माण संभव नहीं है. उसने पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों के इस दावे को मिट्टी में मिला दिया कि पूंजीवादी व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है. इससे यह भी साबित हुआ कि अगर कम्युनिस्ट पार्टी अपने लक्ष्य को समझती है और वह कठिनाइयों से डरती नहीं तो वह अपराजेय बन जाती है. अंततः उसने यह साबित कर दिया कि पूंजीवाद की व्यवस्था दिवालिया और अस्थायी है. (लाईफ एंड टाईम्स ऑफ स्तालिन).

इन उपलब्धियों के फलस्वरूप नयी सामाजिक व्यवस्था में कई गुणात्मक बदलाव आ गये थे. नयी आर्थिक नीति लागू करते समय लेनिन ने तत्कालीन रूसी समाज के वर्ग विन्यास का हवाला देते हुए सीधे समाजवाद में प्रवेश करने में असमर्थता जतायी थी. उस विश्लेषण के अनुसार पितृसत्तात्मक समाज की रीढ़ (नैसर्गिक अर्थव्यवस्था) सोवियत सत्ता कायम होने के साथ ही तोड़ दी गयी थी, लेकिन औद्योगिक क्षेत्र में निजी पूंजीवाद और कृषि क्षेत्र में छोटी-छोटी निजी मिल्कियतों (निम्न-पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था) का बोलबाला था और ये दोनों समाजवाद और राजकीय पूंजीवाद के तल में निरंतर छेद कर रहे थे. ऐसी स्थिति में उन्होंने उन दोनों के खिलाफ संघर्ष करते हुए राजकीय पूंजीवाद के सुरक्षा कवच के साथ समाजवाद की दिशा में कदम बढ़ाने की नीति अपनायी थी.

अब ये संबंध बदल चुके थे. उद्योग और वाणिज्य से निजी पूंजी का वर्चस्व मिटाकर इन पर मजदूर-किसान राज का दबदबा कायम किया जा चुका था, खेती में वर्ग के रूप में कुलकों का अस्तित्व मिटाया जा चुका था, सामूहिकीकरण के बदौलत लघु उत्पादन वाली कृषि व्यवस्था को समाप्त किया जा चुका था और इस प्रकार मझोले किसानों की विशाल आबादी जो पहले पूंजीवाद का आधार हुआ करती थी, अब समाजवाद का आधार बन गयी थी. लेनिन नयी आर्थिक नीति के अंतर्गत जब मजदूर-किसान राज्य को राजकीय पूंजीवाद से हाथ मिलाकर निजी पूंजीवाद और निम्नपूंजीवाद को सीमित छूट की वकालत कर रहे थे, तो वे मूल रूप से इसी मंजिल तक पहुंचने की पृष्ठभूमि तैयार करने की बात कर रहे

थे. सोवियत संघ ने उस काम को करते हुए क्रांति की एक नयी मंजिल फतह कर ली थी.

यह क्रांति अब तक की सभी क्रांतियों से भिन्न थी. 1917 की अक्तूबर क्रांति से भी. अब तक की सभी क्रांतियां नीचे से उभरी थीं और उन सबने तत्कालीन राजसत्ता को हमले का केंद्र बनाया था. यह दुनिया की पहली क्रांति थी जिसकी शुरुआत ऊपर से हुई थी, हमले का निशाना सत्ताच्यूत पूंजीपति वर्ग था और जिसका संचालन मजदूरों-किसानों के समर्थन से उनकी राजसत्ता कर रही थी. रूसी क्रांति के आलोचकों द्वारा अक्सरहां आरोप लगाया जाता है कि रूस में जो हुआ वह मार्क्स की नीतियों का उल्लंघन था, वह लेनिन का दिमागी फितूर था. यह आरोप सरासर गलत है. मार्क्स ने जर्मनी की क्रांति के संदर्भ में ऐसी स्थिति का अनुमान लगाया था. एंगेल्स के नाम अपने पत्र (16 अप्रैल, 1856) में उन्होंने लिखा था कि सारी चीज इस संभावना पर निर्भर करती है कि सर्वहारा क्रांति को किसान युद्ध के रूप में दूसरी क्रांति का समर्थन मिल जाये. अगर ऐसा हो जाये तो मामला बड़ा शानदार हो जायेगा. सोवियत संघ मार्क्स के उस सपने को साकार कर चुका था.

मार्क्सवादी इतिहास में लंबे समय तक इस अवधारणा पर ध्यान नहीं दिया गया था. रूसी क्रांति की आधारशिला रखने के क्रम में अवसरवादियों से दो-दो हाथ करते हुए लेनिन ने इस पर ध्यान दिया. क्रांति की दो मंजिलों के सिद्धांत की व्याख्या के क्रम में उन्होंने कार्यक्रम में शामिल कर इसे विस्तार दिया था और स्तालिन ने उसे व्यवहार में उतार डाला. इस अर्थ में यह क्रांति मार्क्सवाद-लेनिनवाद का नया आयाम बन गयी और अनवरत क्रांति के सिद्धांत को उसने व्यवहार में उतार दिया. लेकिन इसमें एक अंतर्विरोध भी मौजूद था. लेनिन के कार्यक्रम में मजदूरों-किसानों के जनवादी अधिनायकत्व से गुजरते हुए मजदूरों के जनवादी अधिनायकत्व तक पहुंचने की बात कही गयी थी. लेकिन सोवियत संघ की राज्य व्यवस्था उस उपलब्धि को हासिल नहीं कर पायी थी. जैसा कि स्तालिन ने बताया समाजवाद की दिशा में महान छलांग के बावजूद राज्य का रूप मजदूरों-किसानों का जनवादी अधिनायकत्व ही रह गया था.

समाजवादी क्रांति की विजय के इसी माहौल में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की सतरहवीं कांग्रेस संपन्न हुई. सोवियत संघ के इतिहास में इसे विजय कांग्रेस भी कहा जाता है. इस कांग्रेस के शुरू होने के पहले न सिर्फ पूंजीवाद पर समाजवाद की जीत हुई थी, बल्कि पार्टी के भीतर अवसरवाद की पराजय भी उसी अंदाज में हुई थी. जिनोव्येव, कामेनेव, बुखारिन, रीकोव जैसे लोग जिन्होंने चौदहवीं से सोलहवीं कांग्रेस तक पार्टी लाईन को खारिज किया था, स्तालिन की तुलना तानाशाह से की थी, इस कांग्रेस में पार्टी लाईन से सहमति जताते हुए शामिल हुए. कांग्रेस को संबोधित करते हुए कामेनेव ने घोषणा की कि जिस कामेनेव ने 1925-33 तक पार्टी का विरोध किया, वह मर चुका है, मैं अब उस लाश को अपने साथ

घसीटना नहीं चाहता..अब हम जिस युग में जी रहे हैं, वह स्तालिन युग के रूप में जाना जायेगा. ठीक वैसे ही जैसे इसके पहले का काल लेनिन युग के रूप में याद किया जाता है.

इस कांग्रेस में बुखारिन और प्रोब्राजिंस्की की आत्मालोचना भी याद करने लायक है. बुखारिन ने यह स्वीकार किया कि अवसरवादियों को कुचल देने की पार्टी की लाईन बिल्कुल सही थी. उन्होने यह स्वीकार किया कि दक्षिणपंथी भटकाव ज्यादा खतरनाक था जिसके सिद्धांतकार वे खुद थे. वे यहीं नहीं रूके, स्तालिन की प्रशंसा में यहां तक कह गये कि वे विश्व सर्वहारा के फील्ड मार्शल हैं. उसी तरह प्रोब्राजिंस्की ने अपनी आलोचना करते हुए कहा कि समाजवाद के निर्माण की जमीन तैयार करने के क्रम में खेती के सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को पूंजीवादी आदिम संचय की तरह समझ बैठे थे और यह उनकी सबसे बड़ी भूल थी. (लाईफ एंड टाईम्स ऑफ स्तालिन). पार्टी नेतृत्व ने इन सभी स्वीकारोक्तियों को सचमुच हृदय परिवर्तन की तरह देखा और ऐसे लोगों पर यकीन किया. लेकिन एक मामले में पार्टी सतर्क थी. उसका मानना था कि पूंजीवादी अवशेष आज भी कायम हैं और बाहरी पूंजीवादी जगत से अनुकूल परिस्थिति पाकर वह कभी भी सिर उठा सकता है. लेकिन पार्टी तब तक यह नहीं समझ पायी थी कि इस अवशेष के राजनीतिक प्रतिनिधि कौन हैं?

सतरहवीं कांग्रेस में पार्टी का नारा बदल गया था. सोलहवीं कांग्रेस में नारा था : **तकनीक सब कुछ तय करेगा**. लेकिन इस कांग्रेस का नारा बन गया : **कैडर के बिना तकनीक मुर्दा है, इसलिए कैडर सब कुछ तय करेंगे**. इस नारे का मतलब था कि कार्यकर्ताओं को तकनीक को संचालित करने की प्रक्रिया में माहिर बनना होगा. इस प्रकार पहलकदमी एक बार फिर कार्यकर्ताओं के हाथों में, जनता के हाथों में आ गयी. इसका नतीजा हुआ कि औद्योगिक उत्पादन हो या कृषि का उत्पादन, दोनों क्षेत्रों मे नये-नये कीर्तिमान तैयार होने लगे. इसमें सबसे चर्चित नाम है स्ताखनोव. उसके अनुभव समेटते हुए अन्ना लुई स्ट्राँग खुद उसके शब्दों को उद्धृत करती हैं : 'अंतरराष्ट्रीय युवा दिवस नजदीक आ रहा था. मैं इस अवसर को एक कीर्तिमान के साथ मनाना चाहता था. कुछ समय से मैं और मेरे साथी सोचते रहते थे कि उत्पादन की सीमाओं को किस तरह तोड़ा जाय और कैसे खनिकों को पूरी उन्मुक्तता दी जाय और कोयला काटने वाली मशीन को पूरी पाली भर काम करने को मजबूर किया जाय'. इस प्रयोग ने बाद में (1935 के उत्तरार्द्ध में) एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया और इस राह के अनुयायी स्ताखनोवपंथी कहे जाने लगे. खुश्चोवी प्रभाव के दौर में यह प्रचार शुरू हुआ कि स्ताखनोवपंथी आंदोलन मजदूरों के का जबरन दोहन था. जो काम पूंजीवादी प्रचारक नहीं कर सके, वह मार्क्सवादी खेमे के विभीषणों ने कर दिखाया. लेकिन सच क्या है? यह अन्ना लुई के मुँह से सुनना बेहतर होगा : स्ताखनोवपंथी लोग नियत समय से अधिक काम (ओवरटाईम) को तिरस्कार से देखते थे. उनकी नजर में यह

अक्षमता की निशानी थी. उनका जोर काम की एक ऐसी लय तय करने पर रहता था जो शारीरिक रूप से ज्यादा थकाऊ न हो.

ऐसे मजदूरों के काम करने की बानगी इस विवरण में देखने को मिलती है. वासिलिएव नामक लोहार ने जोड़ने वाली छड़ों की ढलाई में रिकार्ड बनाया.जब 1934 का उसका कीर्तिमान तोड़ डाला गया तो वह उबल पड़ा था और अपनी छुट्टियां खत्म होने से चार दिन पहले ही काम पर चला गया था. उसकी भावना को लेखिका ने इन शब्दों में उद्धृत किया है : मैंने आंद्रियानोव को हरा दिया था. पर जब मैंने अखबारों में पढ़ा कि खारकोव के एक कारीगर ने एक हजार से ज्यादा छड़ें गढ़ने का नया रिकार्ड बनाया है, तो मैं फट पड़ा. मैंने एक पाली में 945 छड़ें बनायी थीं. मैंने अपने साथी मजदूर दल से विचार विमर्श किया कि हम किस तरह अपने काम करने की जगह को बेहतर ढंग से व्यवस्थित कर सकते हैं. फिर हमने 1036 छड़ें बना डालीं. फिर हमने फोरमैन से इस बारे में चर्चा की कि भट्ठी में किस तरह के बदलाव किये जा सकते हैं. उसने हमें एक ऐसी भट्ठी तैयार कर दी जो एक पाली में 1500 छड़ें गर्म कर सकती थी. फिर हमें कौन रोकने वाला था? फिर हमने इस बारे में बात की और धातु को इस व्यवस्थित तरीके से रखा कि उठाने में आसानी रहे. 27 अक्तूबर को मैंने सोवियत संघ का नया रिकार्ड बना डाला. एक पाली में 1101 छड़ें तैयार कर दीं. यह स्थिति तब थी जब हथौड़ा मशीन की पूरी क्षमता का उपयोग नहीं हो पा रहा था. पूरी क्षमता के उपयोग का प्रयास जारी था.

इस तरह के प्रयास उद्योग से लेकर कृषि तक उत्पादन के हर क्षेत्र में चलाये जा रहे थे. कृषि क्षेत्र का अति उल्लेखनीय नाम है मेरी देमाचान्को. उसने वर्ष 1935 में घोषणा की कि उसका सामूहिक फार्म बीस टन प्रति एकड़ चुकन्दर का उत्पादन कर नया रिकार्ड बनायेगा. उस समय तक यह दर पांच टन प्रति एकड़ थी. इस फार्म के किसान इस लक्ष्य को हासिल करने में सफल रहे. यह थी सोवियत संघ में समाजवाद की चमत्कारिक उपलब्धि और इसी जमीनी उपलब्धि के बल पर वहां की कम्युनिस्ट पार्टी अपने सारे पूंजीवादी विरोधियों के दुष्प्रचारों का मुकाबला करने में सक्षम हो पा रही थी.

इन मजदूरों का उत्साह इसलिए भी बढ़ रहा था कि उनके श्रम की न सिर्फ उचित कीमत मिल रही थी, बल्कि उनके श्रम को राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मान भी मिल रहा था. स्ताखनोवपंथियों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए स्तालिन ने इस आंदोलन को समाजवादी निर्माण के इतिहास के सबसे शानदार पृष्ठ के रूप में चित्रित किया था.

उत्पादन के नये कीर्तिमानों की स्थापना करने वाले श्रमवीरों को सम्मानित करने के लिए नवंबर (1935) क्रांति के समारोह में मास्को बुलाया गया था. वहां चुकन्दर उत्पादन ब्रिगेड की नायिका मेरी और स्तालिन की बातचीत उल्लेखनीय है. मेरी ने भावावेग में स्तालिन से

कहा कि वह नेताओं से मिलने का सपना देखा करती थी. इस पर स्तालिन ने कहा था, अब तुम भी नेता हो. मेरी ने इस पर सहमति जतायी थी. इसी मंच पर स्तालिन ने पूछा कि इस उपलब्धि के लिए तुम्हें पुरस्कार दिया जायेगा. बोलो, क्या चाहती हो. उसकी मांग थी कि चुकन्दर उत्पादन पर अध्ययन और खोज के लिए छात्रवृति शुरू की जाय और उसे यह पुरस्कार मिला. (लाईफ एंड टाईम्स ऑफ स्तालिन). मजदूरों और किसानों के इसी उत्साह का परिणाम था कि दूसरी पंचवर्षीय योजना भी समय से पहले चार साल तीन महीने में ही पूरी हो गयी.

यह उपलब्धि सिर्फ उत्पादन के रिकार्ड तक सीमित नहीं थी. वहां के वर्ग चेतन मजदूर भलीभांति समझते थे कि इस उत्पादन की अंतिम परिणति किस रूप में हो सकती है. उनकी इस समझ की अभिव्यक्ति एक स्ताखनोवपंथी मजदूर के इन शब्दों में होती है : अब से दस वर्षों के बाद खेती और उद्योग हमारे मुख्य पेशे नहीं रह जायेंगे. जितनी भी हमारी जरूरतें होंगी. हम उन सबका उत्पादन कर पा रहे होंगे. लेकिन फिर दूसरे पेशे हैं. जैसे मानव विकास, अन्वेषण और विज्ञान. इसकी तो कोई सीमा ही नहीं है. (स्तालिन युग).

मतलब यह कि कम्युनिस्ट समाज के अगले चरण के निर्माण की तैयारी पूरी हो चुकी थी. जिस समाज के मजदूरों की सोच का स्तर इस ऊंचाई तक पहुंच गया हो, वहां इस बात की जांच पड़ताल की जरूरत ही नहीं रह जाती कि आम मजदूर का जीवन स्तर क्या था ! इसका कारण बहुत साफ है. हम जानते हैं कि मनुष्य के जीवन की परिस्थितियां उसकी चेतना का निर्धारण करती हैं. ऐसी स्थिति में यह समझ पाना सहज हो जाता है कि सोवियत संघ के मजदूरों के बीच रोजी-रोटी, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी समस्याओं का समाधान लगभग हो गया था. मानव जीवन की इन बुनियादी चीजों के लाले उनके बीच नहीं थे. समाज अब उस दिशा में कदम बढ़ाने को तैयार था जहां उत्पादन की इतनी प्रचुरता हो कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार काम करके अपनी जरूरत के अनुसार समाज से ले सकता था. दूसरे शब्दों में कहें तो सोवियत संघ का मजदूर वर्ग विहीन समाज की धुंधली आकृति की कल्पना करने लगा था जिसमें एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के दमन के लिए राज्य की जरूरत नहीं हो. वह एंगेल्स के उस वैज्ञानिक निष्कर्ष को साकार करने की संभावना देखने लगा था जहां राज्य सिर्फ वस्तुओं और सेवाओं का प्रबंध का दायित्व संभालेगा, ऐसे समाज में पली-बढ़ी कुछ पीढ़ियां गुजर जायेंगी तब मनुष्य वर्ग विहीन समाज के बने रहने और टिके रहने की उम्मीद कर सकेगा. आज पूंजीवादी संस्कृति में पले-बढ़े लोगों को ये बातें भले ही परी लोक की कहानी लगें, लेकिन उन दिनों सोवियत संघ की सफलता पर शुरू में अविश्वास करने वाले लोगों ने उसकी सफलता का लोहा मान लिया था.

1930 में रवींद्र नाथ टैगोर ने सोवियत संघ के बारे में लिखा : 'रूसी मंच से जिस कला का उदय हो रहा है, वह नवनिर्माण के निरंतर साहस का प्रदर्शन. नवनिर्माण की यह

निर्भिकता भी उनकी सामाजिक क्रांति में सक्रिय है. समाज, राजनीति, कला किसी भी क्षेत्र में वे नयापन से भयभीत नहीं हुए'. जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की प्रतिक्रिया तो और गौर करने लायक है : 'रूस की विफलता की सभी भविष्यवाणियों में आकांक्षा ने विचारों को जन्म दिया है. हमारे बीच ऐसे बहुतेरे मूर्ख थे जो चाहते थे कि यह प्रयोग विफल हो जाये. मैं उन्हें आश्वस्त कर सकता हूं कि ऐसा नहीं होने जा रहा है. रूस बिल्कुल ठीक है और हमलोग बिल्कुल गलत हैं'. एच. जी. वेल्स ने 1934 में सोवियत संघ का दौरा किया था और उसके विकास दिशा पर टिप्पणी की थी : 'लेनिन के विचार उनकी मृत्यु के बाद भी प्रभावी हैं'. फेबियन समाजवादी विचारक सिडनी वेब ने अपनी पुस्तक 'सोवियत कम्युनिज्म : ए न्यू सिविलाइजेशन' में खुलासा किया कि सोवियत संघ में नयी और उच्चतर किस्म की सभ्यता का विकास हो रहा है. मानवता के विकास पर इसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने प्रश्न उठाया था : मुनाफा की प्रेरणा को छोड़ देने वाली, बेरोजगारी मिटा देने वाली, सामूहिक उपभोग के लिए उसका नियोजित उत्पादन और इसके फलस्वरूप पूंजीपतियों और जमींदारों का नाश करने वाली यह उच्चतर सभ्यता क्या अन्य देशों में फैल पायेगी? उनका जवाब था, हां फैल पायेगी. (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

विकास की निर्विरोध गति होती तो सोवियत व्यवस्था उस दिशा में कदम बढ़ा सकती थी. लेकिन ऐसा हुआ नहीं. घटनाओं ने साबित कर दिया कि साम्राज्यवादी शक्तियां समाजवादी व्यवस्था में मौजूद पूंजीवादी अवशेषों के सहारे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का प्रयास अंतिम समय तक कर सकती हैं. अक्तूबर क्रांति के समय के विपरीत इस बार उनका यह संघर्ष खुले युद्ध के रूप में नहीं था. ऐसे अवशेष के बल पर वे इस तरह का युद्ध चला भी नहीं सकती थीं. इसलिए उन्होने छुपकर आतंकवाद के रास्ते समाजवाद विरोधी युद्ध का सहारा लिया और इसका नतीजा निकला क्रेमलिन के भीतर सर्गेई किरोव की हत्या. संख्या के लिहाज से यह एक व्यक्ति की हत्या थी, लेकिन इसका संदेश बहुत गहरा था. लेनिन पर किये गये जानलेवा हमले की तरह, सोवियत सत्ता के गढ़ में घुसकर उसके सर्वोच्च केंद्र पर हमला किया गया था और सारी दुनिया को जता दिया गया था कि सोवियत सत्ता को इस रास्ते तहस-नहस किया जा सकता है.

उसके बाद जो कुछ हुआ वह सर्वहारा राज के इतिहास का सबसे विवादास्पद अध्याय बन गया. पूंजीवादी विचारकों की नजर में सोवियत इतिहास का काला अध्याय, स्तालिन की तानाशाही, अन्ना लुई स्ट्रांग की नजर में महान पागलपन, लेकिन सोवियत संघ की जनता की नजर में वह समाजवाद को बचाने का सार्थक प्रयास था. सच्चाई इतनी मजबूत थी कि उसके सामने पूंजीवादी दुष्प्रचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और दुनिया की जनता यह कामना करने लगी कि स्तालिन जैसा तानाशाह हर देश को मयस्सर हो. ✦✧✦

भितरघातियों का सफाया अभियान

किरोव सेर्गेई की हत्या (01 दिसंबर 1934) के बाद सोवियत सत्ता ने साजिशकर्त्ताओं के खिलाफ काफी दमनकारी रुख अपनाया. लगभग वैसा ही जैसा लेनिन पर जानलेवा हमले (30 अगस्त 1918) के बाद अपनाया था. लेकिन दोनों परिस्थितियों में अंतर था. पहला गृह युद्ध का काल था और दूसरा समाजवाद की विजय का जश्न मनाने का. पहली अवस्था में वर्ग दुश्मन और उसके एजेंट मैदान में थे और सत्तासीन मजदूर-किसान वर्ग ने उनकी इस घिनौनी कार्रवाई का जवाब युद्ध अभियान में तेजी लाकर और उनके खिलाफ खुला और सुव्यवस्थित जन आतंक पैदा कर दिया था. लेकिन दूसरी अवस्था ठीक उल्टी थी. ऊपर से माहौल बिल्कुल शांत था. लगता था कि अब मजदूर-किसान सत्ता का मार्ग निष्कंटक हो गया है और वह शांतिपूर्ण ढंग से अगली मंजिल की अपनी यात्रा शुरू कर सकती है. लेकिन इस घटना ने साफ कर दिया कि आस्तिन में ही सांप बैठे हैं और उनका सफाया जरूरी है.

इस दमनकारी अभियान के लिए स्तालिन सबसे ज्यादा आलोचना(कहें निंदा) के पात्र बने. उनकी मृत्यु के बाद तो जिन लोगों ने उस समय बढ़-चढ़कर दमन चक्र चलाया था, समाजवाद की रक्षा के लिए इस अभियान को जरूरी बताया था और ज्यादती (अगर हुई थी तो) को अंजाम दिया था, उन्हीं लोगों ने सारे अपराध स्तालिन के माथे मढ़ कर खुद को बेदाग घोषित कर लिया था. यह विश्लेषण का मार्क्सवादी तरीका नहीं हो सकता. यह भितरघाती गद्दारों का तरीका है. यहीं से क्रांति की पराजय का दौर शुरू हो गया था. उसके बाद से मार्क्सवादी खेमे में बहस की दिशा ही उलट गयी. विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में वैसे लोगों का पलड़ा भारी हो गया, जो सर्वहारा सत्ता के विरोधी थे और स्तालिन काल में सर झुकाकर इंतजार कर रहे थे कि यह बला कब खत्म हो और वे सत्ता पर कब्जा कर उसे पूंजीपति वर्ग को सौंप दें. जो काम त्रॉत्स्की नहीं कर सके, उसे ख्रुश्चोव और उसके साथियों ने कर दिया.

ख्रुश्चोव भितरघाती और गद्दार था. इस मामले में मोलोतोव मार्क्सवाद के मापदंड पर खरा उतर रहे थे. 1980 के दशक में भी वे महसूस कर रहे थे कि उस समय जो कुछ हुआ उसका कोई विकल्प नहीं था. उन की टिप्पणी तत्कालीन स्थिति को एक बार फिर याद दिला देती है : 'इस अवधि में चरम तनाव का बोलबाला था. निर्मम होकर कार्रवाई करना जरूरी था. मुझे लगता है, वह उचित था. अगर तुखाचोव्स्की, याकिर, रिकोव और जिनोव्येव ने युद्ध के समय अपना विरोध शुरू किया होता तो अत्यंत कठिन संघर्ष की स्थिति बन जाती, उसके शिकार होने वालों की संख्या बहुत विशाल होती. दोनों

पक्ष तबाही व बर्बादी की स्थिति में पहुंच जाते. उनके संबंधों के तार हिटलर तक पहुंचते थे. उस हद तक. बेशक, त्रॉत्स्की के भी इस तरह के संबंध थे. हिटलर जोखिमबाज था. और त्रॉत्स्की भी. उनके लक्षण एक दूसरे से मिलते-जुलते थे. दक्षिणपंथियों, बुखारिन और रिकोव के संबंध उनके साथ थे. और निस्संदेह, सेना के बहुतेरे अधिकारियों के भी'. (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

तब सवाल उठता है कि क्या इस तरह की घटना पहली बार घट रही थी? हम अक्तूबर क्रांति के बाद की घटनाओं पर ध्यान दें. लेनिन बार-बार चेताया करते थे कि सत्ताच्यूत होने के बाद पूंजीपति वर्ग दस गुना ज्यादा खतरनाक हो जाता है और उसके इसी हमलावर रुख को दबाने के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व को निरंकुश रूप धारण करना पड़ता है. दूसरी ओर वे यह भी चेताया करते थे कि साम्राज्यवाद के युग में मजदूर वर्ग के भीतर भी उसके सेवकों और दलालों की एक धारा काम करती रहती है, जिसके खिलाफ सर्वहारा सत्ता को निरंतर संघर्ष करना पड़ता है. तब जिस समय रूस के मजदूर-किसान राज की कमान लेनिन के हाथ में थी, उस समय की परिस्थिति क्या थी?

इस सच को समझने के लिए दो घटनाओं याद करना पड़ेगा. 1918 में समाजवादी क्रांतिकारियों का विद्रोह और 1921 में क्रोशतांद्त विद्रोह. पहले विद्रोह की चर्चा हम कर चुके हैं. दूसरी घटना थोड़ी ज्यादा दिलचस्प है. कमिंटर्न की तीसरी कांग्रेस (1921) में लेनिन ने इसके बारे में विस्तार से बातें की थीं. सोवियत सत्ता के खिलाफ यह विद्रोह (28 फरवरी-18 मार्च 1921) समाजवादी क्रांतिक्रारियों, मेंशेविकों, सफेद गार्डियों, अराजकतावादियों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रतिनिधियों द्वारा संगठित किया गया था. इसमें नारा दिया गया था : **बोल्शेविकों के बिना सोवियतें**. इस प्रसंग में लेनिन ने कमिंटर्न के प्रतिनिधियों को बताया कि कैडेट नेता मिल्यूकोव ने अपना मत इस नारे के पक्ष में व्यक्त किया. मिल्युकोव अपना विचार व्यक्त करते हुए इस हद तक गये कि समाजवादी क्रांतिकारी तथा मेंशेविक सम्मान तथा प्रतिष्ठा पाने के योग्य हैं, क्योंकि बोल्शेविकों के हाथ से सत्ता को पहले खिसकाने का कार्यभार इन्हीं के कंधों पर है. इसके बाद लेनिन के निष्कर्ष पर गौर करें : 'बड़े पूंजीपति वर्ग के नेता मिल्युकोव ने सभी क्रांतियों द्वारा सिखाये गये सबकों को भलीभांति सीख लिया है कि निम्न-पूंजीवादी जनवादी सत्ता पर अधिकार रखने की क्षमता नहीं रखते और वे हमेशा पूंजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के लिए केवल एक आड़ का, पूंजीपति वर्ग की निर्विघ्न सत्ता की स्थापना के लिए केवल सीढ़ी का काम करते हैं".

लेनिन के समय में यह काम कौन लोग कर रहे हैं ? उनकी पहचान उन्होंने इन शब्दों में की : 'निम्न-पूंजीपति वर्ग के ढुलमूलपन की राजनैतिक अभिव्यक्ति उस नीति में मिलती

है, जिस पर निम्न-पूंजीवादी जनवादी पार्टियां अर्थात दूसरे तथा ढाइवें इंटरनेशनलों से संबद्ध पार्टियां करती हैं. इन पार्टियों ने अब अपने मुख्य कार्यालय तथा अखबार विदेशों में कायम करके पूरी पूंजीवादी प्रतिक्रांति के साथ वास्तव में गठजोड़ कर लिया है और वे वफादारी से उसकी सेवा कर रहे हैं".

त्रॉत्स्की और उसके सहयोगी ऐसे ही काम को अंजाम देने का प्रयास कर रहे थे. ऐसे लोगों के साथ सर्वहारा सत्ता को क्या नीति अपनानी चाहिए थी? इस सवाल का जवाब भी लेनिन के शब्दों में खोजें. लेकिन उसके पहले उस समय की स्थिति पर गौर करें. रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) की ग्यारहवीं कांग्रेस में नयी आर्थिक नीति के तहत पीछे हटने की नीति बंद करने की वकालत की गयी थी. अपने भाषण में लेनिन इस नीति के विरोध में प्रचार को अपराध घोषित करते हैं और ऐसा प्रचार करने वालों को गोली मार देने की घोषणा करते हैं. इसी कांग्रेस में वे यहां तक कह जाते हैं : 'सार्वजनिक रूप से मेंशेविज्म के प्रचार के लिए हमारी क्रांतिकारी अदालतों को मृत्युदंड देना चाहिए, नहीं तो वे हमारी अदालतें नहीं रह जायेंगी, राम जाने क्या होंगी?'

इन शब्दों की तल्खी उनकी सोच को बड़ी साफगोई के साथ व्यक्त कर देती है. जिस समय सोवियत संघ इन भितरघातियों का मुकाबला कर रहा था, उस समय पूंजीवादी दुनिया अभूतपूर्व संकट के दौर गुजर रही थी. स्पेन में क्रांति पराजित हो चुकी थी, पांचवें स्तंभवाद की अवधारणा प्रचलन में थी और दूसरा विश्वयुद्ध सोवियत संघ के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था. मोलोतोव ने अपने आकलन में इसी बात पर जोर दिया था कि अगर हिटलर और इन भितरघातियों का हमला एक साथ होता, तो सोवियत संघ की हालत क्या होती? इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए लेनिन की नीतिगत घोषणा और स्तालिन के कार्यकलाप की तुलना भर कर लीजिए, स्थिति साफ हो जायेगी कि इस अवस्था में लेनिन का निर्णय क्या रहा होता !

पांचवां स्तंभ क्या था, इसकी समझ हासिल करने के लिए अन्ना लूई स्ट्रांग की पुस्तक 'स्तालिन युग' के 'महान पागलपन' शीर्षक से इस लंबे अंश को उद्धृत करना जरूरी है:

'स्पेन के गृहयुद्ध से पांचवां दस्ता नामक शब्द चल पड़ा था. इसका अर्थ फ्रैंको के गुप्त अनुयायियों से था. इन अनुयायियों ने भीतर ही भीतर प्रजातंत्रवादी मैड्रिड नगर पर फ्रैंको का कब्जा करवाने में मदद की. बाद में हिटलर का पांचवां दस्ता यूरोप की बहुत सारी सरकारों के अंदर इस तरह घुसपैठ कर गया कि वे युद्ध शुरू होते ही धराशायी हो गयीं. मोटे तौर पर कहें तो पांचवें दस्ते में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेम्बरलेन और फ्रांसीसी प्रीमियर देलादियर जैसे लोग थे. इन्होंने हिटलर को पूरब की ओर ललचाने के लिए चेक किलेबंदियों को उसके हवाले करके और स्पेन में लोकतंत्र का विनाश करके अपने ही

देशों की सुरक्षा को कमजोर कर डाला. इसमें जापान को रद्दी लोहा बेचने वाले अमेरिकी उद्योगपति शामिल थे जिन्होंन अमेरिका के विरूद्ध जापान को शक्तिशाली बनने में मदद की. इनमें से कोई भी खुद को देशद्रोही नहीं मानता था. विभिन्न बहाने बनाकर आक्रमणकारी के हितों को पूरा करने वाली कठपुतली सरकारों में भाग लेने वाले क्विसलिंग और लावाल या उन जैसे दूसरे लोग भी शायद खुद को गद्दार नहीं मानते हों. लेकिन उन्नीसवीं सदी के राष्ट्रवाद के नजरिये से ये सभी अपने-अपने देश के गद्दार थे. आज की प्रगतिशील जनता के नजरिये से देखें तो उन्होने पूरी मानवता से विश्वासघात किया था.'

ये थे पांचवें स्तंभवादी लोग. इनकी स्थिति और भूमिका सोवियत संघ में क्या थी? निस्संदेह ब्रिटेन में चेम्बरलेन और फ्रांस में देलादियर की तरह सत्ता के शीर्ष पर पहुंचने में ये लोग कामयाब नहीं हुए थे, लेकिन किरोव की हत्या के बाद उन्होने सोवियत सत्ता को डरा दिया था और दुनिया भर के पूंजीपतियों को यह विश्वास दिला दिया था कि वे सत्ता के शीर्ष तक आतंक बरपा कर देने में सक्षम हैं. जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उत्पादन को बाधित करने और जनता में अराजकता और अविश्वास की स्थिति पैदा करने की प्रक्रिया कितने सुनियोजित ढंग से चल रही थी. यह कुछ और नहीं पांचवें दस्ते जैसी ही कार्रवाई थी. इस स्थिति से निबटने के लिए सोवियत सत्ता ने एक तरफ प्रौद्योगिक विकास तथा तकनीक पर मजदूर वर्ग की पकड़ मजबूत करने पर जोर दिया था तो दूसरी ओर गद्दारों पर अंकुश लगाने और जनता में विश्वास बनाये रखने पर.

कल के क्रांतिकारी आज गद्दार कैसे बन गये ! इसका खुलासा अन्ना लूई ने बड़े साफ-सुथरे ढंग से किया है :

'बिना बाहरी सहायता के ही रूसी लोगों द्वारा समाजवाद के निर्माण की काबिलियत पर शंका करने से गद्दारी की इस प्रक्रिया की शुरुआत हुई थी. 1924-27 में यह खुली चर्चा का विषय था. रूसी अक्षमता ने देश को 1932 के अकाल तक पहुंचा दिया था. दूसरी ओर जर्मन संगठन की कुशलता के बारे में ये नेता जानते थे. रूसी अक्षमता और जर्मन कुशलता के बीच के अंतर ने उनकी इस शंका को और गहरा कर दिया था.'

सोवियत संघ में क्रांतिकारियों के भीतर गद्दारी के स्रोत की खोज बड़ी बारीकी से की गयी है. कार्यकर्ताओं और आम जनता के बीच दुविधा का सबसे बड़ा कारण यह था कि सोवियत संघ जिस परिस्थिति से गुजर रहा था, वैसी परिस्थिति का विवेचन मार्क्स-एंगेल्स ने कभी किया ही नहीं था. इसलिए वह दौर मार्क्सवाद की नयी विवेचना का, उसके विकास का था और इस समय का सच था कि जो मार्क्स के जुमलों को परिस्थिति से काटकर दोहरा रहे हैं वे गद्दारी पर हैं और जो सर्जनात्मक मार्क्सवाद का अनुसरण कर

रहे हैं वे क्रांति की राह पर.

सर्जनात्मक मार्क्सवाद और तोता रटंत मार्क्सवाद पर बहस के फलस्वरूप जनता में दुविधा और अविश्वास का माहौल कितना गहरा हो चुका था, इसका अंदाजा हमें अन्ना लूई (स्तालिन युग) के इस विवरण से मिलता है :

'मैंने काकेशस में एक परेशान किसान औरत को एक अफसर पर चिल्लाते सुना था चाहे अंग्रेज आ जायें या जर्मन आ जायें. कोई तो आ जाये और इस पागल देश में व्यवस्था कायम कर दे. इस औरत को गिरफ्तार नहीं किया गया. वह अफसर उसे समझा बुझाकर मनाने की ही कोशिश करता रहा. लेकिन अगर यही बात किसी शहरी बुद्धिजीवी ने कही होती तो उसे गिरफ्तार किये जाने की संभावना हो सकती थी.'

इस विवरण से यह झलक मिलती है कि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में वैचारिक अराजकता, उत्पादन के क्षेत्र में तोड़-फोड़ की साजिश और जनता के मन में समाजवाद के प्रति अविश्वास पैदा करने की कोशिशें चल रही थीं. निश्चित तौर पर इन अपराधों में लिप्त लोगों को सजा भी दी जाती थी लेकिन काफी उदारतापूर्वक और उन्हें सुधारने के लिए नरमी बरतते हुए. यह रुझान इस घटना से साफ हो जाती है. 1928 में शाख्ता कांड में 52 इंजिनीयरों और तकनिशियनों को खदान को तहस नहस करने के लिए मौत की सजा दी गयी थी. लेकिन वास्तव में सिर्फ पांच लोगों पर ही यह सजा लागू हुई. इससे साफ होता है कि किसी मामले में सजा की गंभीरता अंततः अपराधी के सामाजिक, राजनीतिक हैसियत के आधार पर तय होती थी. किरोव की हत्या के बाद सरकार काफी सतर्क हुई और इसके पीछे की राजनीतिक हस्तियों की भूमिका की तलाश शुरु हुई.

साजिशकर्त्ताओं के साथ ऐसी उदारता नहीं बरती गयी. सोवियत संघ की समाजवादी सत्ता (विरोधियों के शब्दों में स्तालिन ब्यूरोक्रेसी) को उखाड़ फेंकने के प्रयास में किरोव की हत्या को त्रॉत्स्की ने अत्यंत महत्वपूर्ण कदम माना था. उनका मानना था कि सत्ता के प्रतिनिधियों के खिलाफ बीच-बीच में होनेवाली आतंकवादी घटनायें अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है और किरोव की हत्या सबसे सनसनीखेज है. अपनी चर्चित पुस्तक 'रिवोल्यूशन ब्रिटेड' (क्रांति के साथ विश्वासघात) में उन्होंने स्वीकार किया कि चौथे इंटरनेशनल की रूसी शाखा के वर्तमान सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए जनविद्रोह संगठित करने के अंतिम लक्ष्य के पड़ाव के रूप में यह घटना याद की जायेगी. जाहिर है, यह सिर्फ आपराधिक कार्रवाई न होकर राजनीतिक कार्रवाई थी. सत्ता को उखाड़ फेंकने की दिशा में कार्रवाई. उनका मानना था कि राजनीतिक हत्यायें तूफानी माहौल का लक्षण होती हैं और राजनीतिक संकट के पूर्व संकेत भी. त्रॉत्स्की यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि जनता का विकसित हिस्सा एक न एक दिन (स्तालिन) ब्यूरोक्रेसी के खिलाफ जरूर टकरायेगा और इसका कोई

शांतिपूर्ण परिणाम नहीं निकलेगा. उनकी नजर में किरोव की हत्या क्रांति पथ पर आगे बढ़नेवाली घटना थी. यह पुस्तक 1936 में कामेनेव और जिनोव्येव पर राजद्रोह का मुकदमा शुरू होने के थोडे ही दिनों पहले प्रकाशित हुई थी.

अक्तूबर क्रांति के भविष्य पर उन्होंने अपनी पुरानी प्रस्थापना दोहरा डाली कि वह यूरोप और पूरी दुनिया के भविष्य के साथ जुड़ा है. उनका पूरा आकलन कुछ इस प्रकार था : 'ब्यूरोक्रेसी के खिलाफ मजदूरों के विद्रोह की जगह पूंजीपतियों की प्रतिक्रांति आये दिनों की बात होगी. सुधारवादियों और तथाकथित कम्युनिस्टों के संयुक्त भितरघात के बावजूद अगर पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा सत्ता की राह खोज लें, तो सोवियत संघ के इतिहास का नया अध्याय खुल जायेगा. यूरोप में क्रांति की पहली विजय सोवियत जनता के बीच विद्युत प्रवाह की तरह होगी, उन्हें खड़ा कर देगी, उनकी स्वतंत्रता की भावना को उन्नत बनायेगी, 1905 और 1917 की परंपरा को जगा देगी, बोनापार्तवादी ब्यूरोक्रेसी को कुचल देगी और चौथे इंटरनेशनल को वैसा ही महत्व दिलायेगी, जैसा अक्तूबर क्रांति ने तीसरे इंटरनेशनल को दिलाया था.' (स्तालिन क्वेश्चनः वन बिहारी चक्रवर्ती). इस छोटे उदाहरण से त्रॉत्स्की की सारी योजना उजागर हो जाती है.

1936 -1938 में चले राजद्रोह के मुकदमों का सही मूल्यांकन त्रॉत्स्की के इस विश्लेषण के आलोक में किया जा सकता है. जैसा कि हम देख चुके हैं कि सोवियत सत्ता के भिरतघातियों की सैद्धांतिक समझ थी - पश्चिमी यूरोप की मदद के बिना रूस में समाजवाद नहीं आ सकता. इस सिद्धांत के प्रतिपादकों की नजर में रूस में समाजवाद की राह की सबसे बड़ी बाधा ''स्तालिन ब्यूरोक्रेसी'' थी जिसे हटाना उनका पहला काम था. जाहिर है, इस सिद्धांत के जन्मदाताओं में त्रॉत्स्की अग्रणी थे; इसलिए राजद्रोह के हर मामले का तार उनसे जुड़ता था और वे इसके मुख्य संचालक माने जाते थे. फिर भी अलग-अलग श्रेणियों में बांटकर ये मुकदमे इस प्रकार चले थे :

- त्रॉत्स्कीवादी-जिनोव्येववादी आतंकी केन्द्र के खिलाफ (अगस्त 19-अगस्त 24,1936) अभियुक्तः जिनोव्येव, कामेनेव, एव्दोकिमोव, स्मिर्नोव एवं अन्य.

- सोवियत विरोधी त्रॉत्स्कीवादी केन्द्र के खिलाफ (जनवरी 23-जनवरी 30, 1937), अभियुक्तः प्याताकोव, रादेक, सोकोल्निकोव, एवं अन्य.

- दक्षिणपंथियों और त्रॉत्स्कीवादी सोवियत विरोधी ब्लॉक के खिलाफ (मार्च 1-मार्च 13, 1938), अभियुक्तः बुखारिन, रिकोव, यगोदा, क्रेस्तिन्सकी एवं अन्य.

- सैन्य अधिकारियों के खिलाफ (11 जून 1937) अभियुक्तः मार्शल तुखाचेव्सकी, जनरल पुतना, योकिन, फील्डमैन एवं अन्य.

पहले तीन मुकदमे खुले सत्र में चले थे जहां विदेशी कूटनीतिज्ञों और प्रेस प्रतिनिधियों

को बैठने, देखने और सुनने का अवसर प्राप्त था. लेकिन सेना के अधिकारियों के खिलाफ मुकदमा बंद सत्र में चला. इन सब मुकदमों में समानता थी कि सभी अभियुक्तों ने अपराध स्वीकार किये. फिर भी पूंजीवादी जगत में यही धारणा बनी रही कि ये मुकदमे झूठे व आरोपित थे और अभियुक्तों को डरा धमकाकर, दवा या नशीला पदार्थ खिलाकर, यातना देकर अपराध स्वीकार करने को मजबूर किया गया था. यह आरोप वर्ग घृणा की उपज के अलावा कुछ और नहीं हो सकता था.

लेकिन पूंजीवादी जगत में ऐसे लोग भी थे जिन्होने तथ्यों और तर्कों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की कोशिश की थी. इस संदर्भ में 'डेली टेलीग्राफ' (अगस्त 24, 193) ने सवाल खड़ा किया था - 'स्तालिन का सितारा बुलंद है, त्रॉत्स्की का सितारा डूब चुका है. प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्तालिन के औद्योगिकरण की योजना सफलतापूर्वक पूरी हो चुकी है. ऐसी स्थिति में जब सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था, स्तालिन सत्ता को क्या जरूरत पड़ी कि वह जिनोव्येव और कामेनेव को किसी गुप्त कारावास से निकालकर इस मुकदमे में घसीटे'? (स्तालिन क्वेश्चन : वन बिहारी चक्रवर्ती)

पूंजीपतियों का सबसे प्रतिक्रियावादी खेमा इसे स्तालिन की सनक या सत्ता की असुरक्षा की भावना से उत्पन्न कार्रवाई बताकर सभी विवेचनाओं को खारिज कर देता था. उसके प्रतिनिधि आज भी वही कर रहे हैं. अपने 'गोपनीय भाषण' में ख्रुश्चोव ने इसी थीसिस का अनुसरण किया था. लेकिन उसका आचरण सबसे घिनौने पूंजीवादी विचारक से भी ज्यादा घिनौना था, क्योंकि इन सारी कार्रवाईयों में उसने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया था. इससे इस भावना को बल मिलता है कि वह हिटलर के पांचवें दस्ते का हिस्सा था जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी थी.

इन महानुभावों की सोच के विपरीत पूंजीवादी जगत के दूसरे विचारकों, राजनेताओं व कूटनीतिज्ञों ने दूसरी तस्वीर पेश की. 'न्यूज क्रोनिकल' के मास्को संवाददाता ने (26 जनवरी, 1937 को) रिपोर्ट भेजी :

'प्रतिवादियों की पस्तहिम्मती और उचित जवाब दिलवाने के लिए राज्य द्वारा उन्हें नशीले पदार्थ दिये जाने की विदेशों में प्रचलित सभी धारणायें बिल्कुल बकवास हैं. अभियुक्तों की वेश-भूषा अच्छी है, वे ठीक से खाये-पीये लगते हैं और उनका स्वास्थ्य सबसे अच्छी स्थिति में है.

वे अपनी बात कहते हैं, अभियोजक विरले ही रोक-टोक करते हैं, वे अक्सरहां सोच-विचार का समय मांगते हैं और सह प्रतिवादियों के साक्ष्य के समय उन्हें अवसर दिया जाता है.'

जाने-माने अंग्रेज बैरिस्टर तथा नेशनल एक्सक्यूटिव ऑफ सिविल लिबर्टीज के कार्यपालक सदस्य डुडले कौलार्ड की इस मुकदमे के बारे में निम्न धारणा बनी : 'मैंने

धोखाधड़ी, हत्या, जासूसी, भितरघात और आतंक की ऐसी कहानियां कभी नहीं सुनी थीं जैसी कैदियों ने सुनायी. मेरी राय में झूठे मुकदमे का सवाल ही नहीं उठता. सबके सामने बिल्कुल स्पष्ट है कि कैदी ही बढ़-चढ़ कर बोल रहे हैं और स्वत:स्फूर्त आचरण कर रहे हैं जबकि अभियोजक वाइसिंस्की कभी-कभार पूछे जानेवाले सवालों तक सीमित रहते हैं. उनकी सूझ-बूझ और मानसिक क्षमता पूरी तरह उनके नियंत्रण में है. वे किसी भी तरह आतंकित नहीं लगते हैं तथा उनका हाव-भाव ठीक है. उन्हें यह आरोप लगाने से नहीं रोका जा रहा कि उनपर लगाये गये आरोप 'मनगढ़ंत' हैं.' उनकी ये टिप्पणियां 28 जनवरी 1937 को 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित हुई थीं. (स्रोत: स्तालिन क्लेश्चन: वन बिहारी चक्रवर्ती).

प्याताकोव (भारी उद्योग के पूर्व उप कमिसार) ने पहले तो अपने ऊपर लगे आरोपों से इनकार किया. लेकिन साक्ष्य उनपर भारी पड़े और उन्होने स्वीकार किया कि त्रॉत्स्की के निर्देश पर आंतरिक तोड़फोड़ और आतंकी गतिविधियों का दिशा-निर्देश किया और जर्मन व जापान सरकार के संपर्क में रहे. उनकी मानसिक व शारीरिक स्थिति के बारे में जॉसेफ इ.डेविस की टिप्पणी गौरतलब है - 'वे प्रोफेसर की तरह लेक्चर दे रहे थे'. (लाईफ एण्ड टाईम ऑफ स्तालिन: राम.आर.अप्पन).

इन रिपोर्टों से पता चलता है कि आरोप मनगढ़ंत नहीं थे, उन्हें डराया धमकाया नहीं गया था और वे षड्यंत्र में शामिल थे. फिर भी यह सवाल अनुतरित रह जाता है कि समाजवाद के उन्नत स्तर में छलांग लगाने का सपना संजोनेवाली और तदनुसार किसी भी पूंजीवादी देशों के संविधान से मजदूरों, किसानों और सभी राष्ट्रीयताओं को ज्यादा जनवाद की गारंटी वाले संविधान निर्माण की दिशा में अग्रसर सोवियत सत्ता इनके प्रति इतनी आक्रामक और दृढ़ क्यों थी? इस सवाल का पूरा जवाब 1936-38 के बीच सोवियत संघ में अमेरिका के राजदूत रहे जॉसेफ ई.डेविस की पुस्तक 'फिफ्थ कॉलम्निस्ट इन रशिया: ए स्टडी इन हाईंडसाईट' में मिलता है. यह पुस्तक सोवियत संघ पर हिटलर के हमले (1941) के बाद लिखी गयी थी. इसके लिखे जाने की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं है.

लेखक को उनके पुराने यूनिवर्सिटी क्लब की परिचर्चा में वक्ता की हैसियत से बुलाया गया था. यह घटना सोवियत संघ पर नाजी हमले के तीन बाद की है. वक्तव्य के बाद श्रोताओं के बीच से किसी ने पूछ दिया: रूस में पांचवें स्तंभवादियों के बारे में क्या कहना है? दरअसल डेविस ऐसे सवाल के लिए तैयार नहीं थे. फिर भी उन्होने झटके में जवाब दे डाला वहां कोई पांचवां स्तंभवादी नहीं है, उन्हें गोलियों से उड़ा दिया गया है.

हालांकि 'पांचवां स्तंभ' जैसा शब्द स्पेनी गृह-युद्ध के समय से ही वजूद में आ गया था, लेकिन अमेरिकियों के बीच यह शब्द उस समय प्रचलित हुआ जब डायस कमिटी और

एफ.बी.आई ने इसका पता लगाया कि जर्मन एजेंट उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में सक्रिय हैं. उनके माध्यम से वे समझ पाये कि नार्वे, चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया जैसे देशों में घरेलू दलालों के सहयोग से जर्मन एजेंटों का काम कितना खतरनाक था. इन सारी जानकारियों के बाद लेखक ने तीन महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले :

- सोवियत सत्ता के खिलाफ जर्मन योजना के रूप में ये गतिविधियां और तौर-तरीके रूस में वजूद में थे. 1935 से तो जरूर ही.

- 1936 में ही हिटलर ने अपना कुख्यात नुरेम्बर्ग वकतव्य दिया था. इसमें साफ शब्दों में उसने यूक्रेन पर अपनी योजना का संकेत दिया था.

- अब ऐसा लगता है कि सोवियत सरकार उस समय भी जर्मनी के सैन्य व राजनीतिक हाई कमान की योजना से भलीभाँति अवगत थी.

मुख्य प्रतिवादियों ने जर्मनी और जापान सरकार के साथ समझौता किया था कि वे सोवियत संघ पर आक्रमण करने में सहयोग करेंगे. उन्होने सहमति जतायी थी कि वे स्तालिन और मोलोतोव की हत्या की योजना में और तुखाचेव्स्की के नेतृत्व में क्रेमलिन के खिलाफ विद्रोह में सहयोग करेंगे. उन्होने ऐसा किया भी.

उन्होने समझौता किया था कि युद्ध की तैयारी में वे उद्योगों में तोड़-फोड़, रसायन उद्योग में विस्फोट, कोयला खदानों की बर्बादी, परिवहन के क्षेत्र में उथल-पुथल आदि की तैयारी में सहयोग करेंगे. उन्होने ऐसा किया भी.

उन्होने समझौता किया था कि वे जर्मन जनरल स्टाफ की जरूरत और उसके आदेश के अनुसार काम करेंगे, जर्मनी और जापान की सैन्य खुफिया सेवा के साथ सहयोग करेंगे. उन्होने समझौता किया था कि वे जर्मन दूतावास के साथ मिलकर रूस के खिलाफ जासूसी और तोड़-फोड़ में सहयोग करेंगे.

उन्होने जर्मनी और जापान से समझौता किया था कि वे सोवियत सरकार पर हमले में और छोटा सोवियत राज्य के गठन में सहयोग करेंगे. यूक्रेन और यूरोपीय रूस को जर्मनी तथा पूरब के समुद्री क्षेत्रों को जापान की सेवा के लिए सौंप देंगे.

उन्होने समझौता किया कि रूस पर जर्मनी की विजय के बाद लौह अयस्क, मैंगनीज, तेल, कोयला व सोवियत संघ के अन्य संसाधनों में जर्मन कंपनियों को छूट और अन्य तरह की सहूलियतें मिलेंगी.

इन तथ्यों को साबित करने के लिए लेखक ने विस्तार के साथ कोर्ट के उनके वक्तव्य उद्धृत किये हैं. हम उनका सार संक्षेप में यहां देना चाहेंगे : विदेश विभाग के उप कमिसार क्रेस्तंस्किी ने स्वीकार किया था कि 250,000 मार्क प्रतिवर्ष सब्सिडी के एवज में सोवियत संघ में जर्मन जासूसी का जाल फैलाने में सहयोग का समझौता किया था. उसी तरह वित्त

विभाग के कमिसार ग्रिन्को ने माना था वे यूक्रेन के संगठन और लाल सेना से जुड़े, जिसने दुश्मन के लिए मोर्चा खुला छोड़ देने की तैयारी शुरू कर दी थी. वाणिज्य विभाग के कमिसार रोजनगोलज ने स्वीकार किया कि सोवियत संघ की बहुत सारी गुप्त सूचनायें जर्मन सेना के कमांडर को देता रहा. बाद में यह काम सोवियत संघ में जर्मन दूतावास के माध्यम से जारी रहा. ये थे बड़े-बड़े दिग्गज.

इनके छोटे सहयोगियों की भी बहुत सारी स्वीकारोक्तियां गद्दारी की कहानी को पुष्ट करने के लिए मौजूद हैं. एक अभियुक्त ने स्वीकार किया कि 1934 में रेलवे दुर्घटना की संख्या में तेजी से इजाफा हुआ था. इन दुर्घटनाओं को अंजाम देने में उसने भूमिका निभायी थी. ड्रोबिन्स खदानों की दुर्घटना के पीछे दूसरे अभियुक्त का हाथ था ताकि जान-माल की क्षति हो और असंतोष फैले. कुयाजेव ने बताया कि रेलवे के सहायक कमिसार लिवसित्ज ने निर्देश दिया था कि रेलवे को उड़ाने, विस्फोट कराने और जहर देने की तैयारी की जाय और अंजाम दिया जाय ताकि बड़े पैमाने पर जन-धन की क्षति हो. उसी तरह ड्रोबिन्स तथा अन्य ने बताया था कि कुज्नेहस्क बेसिन के कोयला खदानों और रसायनिक उद्योग में तहस-नहस फैलाने की जिम्मेवारी उन्हें सौंपी गयी थी.

गद्दारी की इस कहानी को तुखाचेव्स्की की चर्चा के साथ खत्म करना बेहतर होगा, क्योंकि यह अभियान सबसे घातक था. सेना का यह अफसर पद सोपान में दूसरे स्थान पर था और अपनी साजिश की सफलता के उन्माद में कुछ गलतियां कर बैठा था. अलेक्सजेंडर वर्थ ने अपनी पुस्तक 'मास्को-41' में इस प्रसंग की चर्चा की है कि तुखाचेव्स्की जर्मनी का समर्थक था. अपने प्राग दौरे में शराब के नशे में उसने कह दिया था कि हिटलर के साथ समझौता में ही चेकोस्लोवाकिया और रूस दोनों का भविष्य है. उसके बाद उसने स्तालिन को गाली देना शुरू कर दिया. चेकोस्लोवाकिया वाले इसकी सूचना क्रेमलिन तक पहुंचाने में पीछे नहीं रहे और यहीं तुखाचेव्स्की और उसके अनुयायियों की कहानी खत्म हो गयी. इसकी पुष्टि चर्चिल ने अपने संस्मरण में भी की है: 'बर्नेस को मालूम हो गया कि प्राग के सोवियत दूतावास के माध्यम से रूस के महत्वपूर्ण लोगों और जर्मन सरकार के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान हो रहा है. यह स्तालिन सत्ता को उखाड़ फेंकने और जर्मन समर्थक नयी सत्ता कायम करने के लिए सेना व पुराने कम्युनिस्टों के षड्यंत्र का अंग है. राष्ट्रपति बर्नेस को जो कुछ मालूम हुआ उसे स्तालिन तक पहुंचाने में उसने बिल्कुल देर नहीं की.' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन). यह है सैन्य षड्यंत्र के उजागर होने की कहानी.

अमेरिकी राजदूत ने अपनी पुस्तक में सोवियत विदेश मंत्रालय के पदाधिकारी से बातचीत की चर्चा की है. यह बातचीत 4 जुलाई 1937 को सोवियत विदेश मंत्री मैक्सिम लित्विनोव से हुई थी. इसमें मंत्री ने कहा था कि इन मुकदमों के माध्यम से सोवियत सरकार निश्चित हो

जाना चाहती है कि कोई देशद्रोही बचने न पाये, जो अवश्यंभावी युद्ध छिड़ने पर जर्मनी या जापान सरकार के साथ सहयोग करे. लित्विनोव ने इस मुकदमे के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा था: 'भयावह राजद्रोह से अपनी सरकार की सुरक्षा के लिए हमने जो कुछ किया उसे दुनिया समझेगी....... हिटलर और नाजी विश्व प्रभुत्व की भयावहता से अपनी सरकार की रक्षा कर और इस प्रकार नाजी खतरों के खिलाफ सोवियत संघ को मजबूत अवरोध की तरह खड़ा कर हम सारी दुनिया की सेवा कर रहे हैं.' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन).

लित्विनोव की बात सच साबित हुई. दूसरे विश्वयुद्ध में हिटलर की बर्बादी का कारण सोवियत संघ ही बना. इस प्रकार सोवियत संघ ने न सिर्फ अपने देश में सर्वहारा राज की रक्षा की बल्कि यूरोप के पूंजीवादी जनवाद को भी हिटलर के पद दलन से बचाया और उपनिवेशों व अर्द्ध उपनिवेशों में मुक्ति संघर्ष में नयी जान फूंक दी. याद करने की बात है कि जिन शक्तियों ने उन दिनों सोवियत संघ का सक्रिय विरोध किया था, वे एक-एक कर हिटलर के कैंप में शामिल होते गये. तब का सच आज का भी सच है. अंतर सिर्फ इतना है कि उस समय की तरह न तो सोवियत सत्ता है और न ही कमिंटर्न. फिर भी कम्युनिज्म का भूत साम्राज्यवाद का पीछा कर रहा है. जिस दिन दुनिया के पैमाने पर कम्युनिस्टों की ताकत निर्णायक हो जायेगी उस दिन से मध्यमवर्गीय ताकतों का बिखराव शुरु हो जायेगा और उनका प्रतिक्रियावादी खेमा साम्राज्यवाद के साथ खड़ा होगा और प्रगतिशील खेमा कम्युनिस्टों के साथ..

✦✧✦

दूसरे विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि

दूसरा विश्वयुद्ध पहले विश्वयुद्ध की तुलना में गुणात्मक रूप से भिन्न परिस्थिति में लड़ा गया था. पहला विश्वयुद्ध दो साम्राज्यवादी लुटेरे गिरोहों के बीच का युद्ध था और इसी गलाकाटु संघर्ष के बीच रूस की सर्वहारा क्रांति विजय की मंजिल तक पहुंच गयी थी. युद्ध में जय-पराजय के निर्णय के बाद रूस की सर्वहारा सत्ता सभी साम्राज्यवादी देशों को खटकती रही और उसे बर्बाद कर देने का प्रयास उनकी तरफ से जारी रहा. दूसरा विश्वयुद्ध इस प्रयास का सर्वोच्च रूप था. यही कारण था कि जब हिटलर ने 22 जून 1941 को सोवियत संघ पर बिजली जैसी तेज गति से हमला किया तो पूंजीवादी जगत के लगभग सारे राजनेता, कूटनीतिज्ञ और विचारक एक स्वर में बोल उठे: सोवियत संघ हिटलर का ग्रास बन जायेगा. कुछ ही सप्ताह के प्रतिरोध के बाद इनका एक हिस्सा इस निष्कर्ष की ओर बढ़ने लगा कि हिटलर को अब तक की सबसे कड़ी चुनौती मिल रही है और युद्ध का पासा पलट सकता है.

इस युद्ध की दूसरी विशेषता थी कि इसमें कट्टर विरोधी दो व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष हो रहा था. एक तरफ पूंजीवादी तानाशाही अपने निकृष्टतम जनविरोधी चरित्र के साथ हमला बोल रही थी और दूसरी ओर सर्वहारा अधिनायकत्व अपने लोकप्रिय स्वरूप में उसका मुकाबला कर रहा था. इस संघर्ष ने पूंजीवादी जनवाद को सर्वहारा के पक्ष में आने को मजबूर कर दिया था. इस युद्ध की तीसरी विशेषता थी कि इसमें हथियार ने जितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका कूटनीति ने निभायी थी और यहां भी सर्वहारा ने पूंजीवाद को परास्त कर दिया था. इसलिए रूसी क्रांति के शताब्दी वर्ष में उस प्रक्रिया को याद करना प्रासंगिक है कि यह सब कैसे संभव हुआ.

इस प्रक्रिया को समझने के लिए युद्ध शुरू होने के पहले की विश्व राजनीति पर सरसरी नजर डालना जरूरी है. 1930 के दशक की शुरूआत विश्वव्यापी कम्युनिस्ट विरोधी आक्रामक तेवर के साथ हुई थी और उसके अगुआ थे जर्मनी, जापान और इटली. 1931 में जापान ने एशिया को कम्युनिज्म से बचाने के नाम पर मंचुरिया पर हमला बोला. 1933 में हिटलर ने जर्मनी को कम्युनिज्म से बचाने की घोषणा के साथ पूंजीवादी जनवाद का गला घोंट दिया. 1935 में इटली ने इथियोपिया पर हमला किया. बहाना था बोल्शेविज्म से रक्षा. 1935 में जर्मनी और जापान ने कांमिटर्न विरोधी संधि पर हस्ताक्षर किये, जर्मन और इतालवी सेना ने स्पेन को कम्युनिज्म से बचाने के लिए उसपर हमला किया. 1937 में जर्मनी-जापान-इटली ने बर्लिन-रोम-टोकियो धुरी का निर्माण किया. 1937 में जापान ने चीन पर हमला किया और उसके कई क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया. 1938 में जर्मनी ने

आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया के कुछ भाग पर कब्जा जमा लिया. यह थी दूसरे विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि. इसी बीच सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की अठारहवीं कांग्रेस में स्तालिन ने (10 मार्च 1939) साम्राज्यवादी खेमेबंदी और सोवियत संघ की नीति का खुलासा किया था:

पश्चिमी जनवादी देशों (खासकर इंग्लैंड और फ्रांस) के प्रतिक्रियावदी राजनीतिज्ञों ने सामूहिक सुरक्षा की नीति को खारिज कर दिया है. इसकी जगह वे आज भी सोवियत विरोधी गठबंधन का सपना संजोये हुए हैं. कुछ यूरोपीय और अमेरिकी राजनीतिज्ञ और पत्रकार बेसब्री से सोवियत यूक्रेन पर हमले का इंतजार कर रहे हैं. वे खुद इसका खुलासा कर रहे हैं कि अहस्तक्षेप की नीति के पीछे वास्तव में क्या है. वे खुलेआम बोल रहे हैं, लिख रहे हैं कि जर्मनों ने उन्हें घोर निराशा दी है. वे पूरब की ओर सोवियत संघ के खिलाफ अपना अभियान छेड़ने के बदले पश्चिम का रूख कर रहे हैं. वे उपनिवेशों की मांग कर रहे हैं.' (लाइफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारें चाहती थीं कि हिटलर उनका गुंडा-लठैत बनकर सोवियत संघ को बर्बाद कर दे, लेकिन हिटलर की मंशा थी कि सोवियत संघ से भिड़ने के पहले उपनिवेशों पर हिस्सेदारी का हिसाब चुकता कर ले.

इस कांग्रेस में सोवियत संघ ने अपनी विदेश नीति की घोषणा बड़े साफ शब्दों में कर दी: शांति की स्थापना और सभी देशों के साथ व्यापारिक संबंध, सभी पड़ोसी देशों और आजादी के लिए संघर्षरत देशों का समर्थन, हमलावरों की धमकी से डरने के बजाय सोवियत सीमा का उल्लंघन करने वालों को ईंट का जवाब पत्थर से देने की नीति, राष्ट्रों के बीच दोस्ती और शांति के लिए इच्छुक मजदूरों के साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर दोस्ती.

सोवियत संघ की इन घोषणाओं पर शक की कोई गुंजाईश नहीं थी. अतीत में उसने शांति के लिए बहुत कुछ झेला था. रोटी, शांति और जनवाद के एजेंडा पर सत्ता में आने के बाद इस सोवियत सत्ता ने जर्मनी के साथ अत्यंत अपमानजनक शर्त्तों पर शांति समझौता किया था. इसका कारण था कि शांति सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए जरूरी थी और यही कारण था कि साम्राज्यवादी देश इतनी आसानी से शांति से जीने देने को इच्छुक नहीं थे. रूसी क्रांति के मुख्य शिल्पी लेनिन ने साम्राज्यवाद के बुनियादी चरित्र का विश्लेषण करते हुए बिल्कुल ठीक चिह्नित किया था कि जब तक साम्राज्यवादी लुटेरों का वजूद रहेगा, तब तक स्थायी शांति की उम्मीद नहीं की जा सकती. इसी सिद्धांत के तहत उन्होने उपनिवेशों में गुलामी के खिलाफ संघर्षरत जनता के साथ सहयोग और दोस्ती की नीति अपनायी थी और इसी नीति के तहत उन्होने पहले विश्वयुद्ध में पराजित देशों पर असमान संधि थोपे जाने का विरोध किया था. जाहिर है कि सोवियत संघ की यह नीति जर्मनी के पक्ष

में जाती थी. हिटलर के उदय के बाद जर्मनी सबसे खतरनाक युद्धोन्मादी देश के रूप में सामने आया. अब वह हमले का शिकार देश नहीं था बल्कि कई अन्य देश जर्मनी-जापान और इटली के हमले से पीड़ित थे. दुनिया नये राजनीतिक समीकरण में उलझ गयी थी.

इस बदली परिस्थिति में सोवियत संघ ने इन देशों के आक्रमण के विरूद्ध सामूहिक संधि का प्रस्ताव देना शुरू कर दिया था. इसी सिद्धांत के तहत वह सभी लोकतांत्रिक (पूंजीवादी जनवादी) देशों के बीच गठबंधन का प्रस्ताव लगातार देता रहा. लेकिन चेम्बरलेन के नेतृत्व में ब्रिटेन लगातार हिटलर का समर्थन करता रहा. जो सुविधायें जनवादी जर्मनी को नहीं मिल पायी थीं, वे सब फासिस्ट जर्मनी को मिलने लगीं. जिस जर्मनी को युद्ध के हर्जाने की वसूली में उलझाये रखा गया था, वहां अब पूंजी निवेश कर और कर्ज देकर मदद की जाने लगी. राईन प्रदेश के फिर से सैन्यीकरण की अनुमति दी गयी, नाजी आतंक के साये में जनमत संग्रह हुआ, जर्मनी को शस्त्रीकरण की अनुमति मिली और स्पेन में हिटलर और मुसोलिनी के हस्तक्षेप की छूट मिली. यह बदलाव हुआ सोवियत संघ को मिटा डालने के उद्देश्य से.

इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अन्नालुई स्ट्रांग ने लिखा: 'हिटलर पर इतनी कृपा बरसाने के पीछे ब्रिटिश टोरियो का उद्देश्य सोवियत संघ के खिलाफ अपने 'पहलवान गुंडे' को खड़ा करना था. अगर ब्रिटेन और फ्रांस के विदेश मंत्रालयों के उद्देश्य के बारे में अभी भी कोई संदेह था तो म्युमिख सम्मेलन ने उसे भी समाप्त कर दिया. उन्होंने निहायत बेशर्मी से चेकोस्लोवाकिया को हिटलर के हाथों बेच दिया और उसकी सेना को पूरब की दिशा में आगे बढ़ने के लिए ललचाने वाला तुरूप का पत्ता चल दिया.' (स्तालिन युग)

30 सितंबर 1938 को जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस ने समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसे म्यूनिख समझौता के रूप में जाना जाता है. इस समझौता के माध्यम से ब्रिटेन व फ्रांस ने अमेरिका के समर्थन से फासिस्ट हमलावरों का रास्ता साफ कर दिया. इस समझौते का प्रभाव तत्काल पड़ा: 'जर्मनी द्वारा किसी मांग का दुस्साहस करने के पहले चेम्बरलेन ने सुझाव दे डाला कि हिटलर को चेक प्रदेश सडटनलैंड दे दिया जाय. उस समय ऐसा लगा कि हिटलर की सेना को बिना किसी विरोध के अपने देश में घुसने देने के बजाय चेक सरकार उससे युद्ध लड़ेगी. तब प्राग में मौजूद फ्रांसीसी और ब्रिटिश राजदूतों ने राष्ट्रपति बेनेस को यह कहकर धमकाया कि वे उसी अहस्तक्षेप की नीति का पालन करेंगे जिसके जरिए वे पहले ही स्पेन में लोकतांत्रिक सरकार का खून कर चुके हैं.' (वही)

यहां इतिहास का अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल खड़ा होता है. क्या चेम्बरलेन और देलादियर अपने देश के गद्दार, हिटलर के पांचवें स्तंभवादी थे? अन्यथा वह कौन सी मजबूरी थी कि यूरोप के सर्वोत्तम शस्त्रनिर्माण संयंत्रों में स्थान रखनेवाला स्कोदा संयंत्र हिटलर के हवाले

कर दिया गया? इसका एक ही कारण था बोल्शेविज्म का भय. दरअसल किसी भी दौर में व्यवस्था के पतनशील हिस्सा ऐसी ही दुविधा का शिकार रहता है. ब्रिटेन का विश्वप्रभुत्व बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही लड़खड़ाने लगा था और अमेरिकी प्रभुत्व के लक्षण दिखायी पड़ने लगे थे. ऐसी स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही उपनिवेश स्वामियों को सोवियत संघ सबसे भयावह दुश्मन लगता था. इससे तत्काल बचाव के लिए फासिज्म का विस्तार इन्हें सह्य लगा. लेकिन इन्हें इतना तक पता नहीं था कि हिटलर इनके लिए भस्मासुर का नया अवतार साबित हो सकता है.

सोवियत संघ अकेला देश था जिसने चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर की कार्रवाई को मान्यता नहीं दी. उसने ब्रिटेन के सामने यह प्रस्ताव भी रखा कि तत्काल ब्रिटेन, फ्रांस, पोलैंड, रूमानिया, तुर्की और सोवियत संघ का सम्मेलन आयोजित किया जाय. चेम्बरलेन ने इस प्रस्ताव को असामयिक बताकर ठुकरा दिया. इससे उत्साहित हिटलर ने लिथुआनिया का बंदरगाह मेमेल पर कब्जा जमा लिया और पोलैंड को भी धमकी देने लगा. ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्य प्रतिनिधि इस तथ्य के प्रति सतर्क थे. पूर्व प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने घोषणा की कि सोवियत संघ के साथ एकता ही शांति की हिफाजत कर सकती है. फ्रांस के पूर्व उड्डयन मंत्री पियरे कोत ने कहा कि लोकतांत्रिक देशों को रूस की मदद मिलना बहुत जरूरी है. जनमत संग्रह भी ऐसे संकेत दे रहे थे कि ब्रिटेन की बहुसंख्यक जनता सोवियत संघ के साथ सहयोग और समझौता के पक्ष में थी. इसके बावजूद चेम्बरलेन हिटलर के पक्ष में खड़ा रहा. उसने ब्रिटिश संसद में (3 मई, 1939) घोषणा तक कर डाली कि वह हिटलर के साथ अनाक्रमण संधि करने को तैयार है. इस नीति को ब्रिटिश अनुदारवादी (टोरी) दल के नेता पचा पाने की स्थिति में नहीं थे. विंसटन चर्चिल ने संसद में (17 मई) इस नीति की खुली आलोचना की और मांग की कि सोवियत संघ के साथ समझौता की नीति अपनायी जाये. चेम्बरलेन ने दिखावा के लिए शिष्टमंडल जरूर भेजे, लेकिन यह मामले को टालने का प्रयास भर था.

जिस दिन चैम्बरलेन ब्रिटिश संसद में हिटलर के साथ अनाक्रमण संधि की इच्छा जता रहा था, उसी दिन सोवियत संघ के विदेशी मामलों के कमिसार लित्विनोव अपना पद छोड़ रहे थे और मोलोतोव उस दायित्व को संभाल रहे थे. टालमटोल की इस नीति का खुलासा करते हुए सर्वोच्च सोवियत की विदेश नीति मामलों की सम्मति के अध्यक्ष झदानोव ने 'प्रावदा' में (2 जुलाई) को एक लेख लिखा जिसके अनुसार ब्रिटेन और फ्रांस के साथ बातचीत किसी नतीजे पर नहीं पहुंच रही थी, ये दोनों देश न तो सोवियत संघ के साथ गठबंधन चाहते थे और न हिटलर पर कोई अंकुश. इस विश्लेषण के साथ ही उन्होंने सीधा आरोप लगाया कि ये दोनों देश सोवियत संघ को तब तक फंसाये रखना चाहते हैं, जब तक

कि हिटलर इस समाजवादी देश पर हमला की पूरी तैयारी न कर ले. यह बात दिन के उजाले की तरह तब साफ हो गयी जब ब्रिटेन और जर्मनी के बीच (जून-अगस्त 1939) गुप्त समझौता में तय हुआ कि हिटलर ब्रिटिश उपनिवेशों की तरफ रूख नहीं करेगा और इसके एवज में ब्रिटेन पूरब की तरफ उसके विस्तार में अड़ंगा नहीं डालेगा.

जिस समय ब्रिटेन के साथ यह संधि संपन्न हो रही थी, उसी समय हिटलर सोवियत संघ के साथ अनाक्रमण संधि का प्रस्ताव कर रहा था. हिटलर ने स्तालिन को व्यक्तिगत पत्र (20 अगस्त 1939) लिखकर यह प्रस्ताव दिया कि 22 या 23 अगस्त को उसके विदेश मंत्री मास्को जाकर संधि का प्रस्ताव करना चाहेंगे और उन्हें संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार होगा. 23 अगस्त की रात में तनावपूर्ण माहौल में वार्ता संपन्न हुई. इसके बारे में जर्मन विदेशमंत्री रिबेन्ट्रॉप के मुख्य सहायक ग्रॉस ने लिखा: रिबेन्ट्रॉप ने प्रस्तावना में जर्मन-सोवियत मंत्रीपूर्ण संबंध निर्माण से संबंधित एक दूरगामी जुमला शामिल कर दिया था. इस पर स्तालिन ने विरोध जताया और कहा कि छः वर्षों तक (नाजी सरकार द्वारा प्रचारित) गंदगी के अंबार में सोवियत जनता के दबे रहने के बाद सोवियत सरकार उसके सामने अचानक जर्मन सोवियत मित्रता की घोषणा नहीं कर सकती. इसके बाद प्रस्तावना से यह जुमला हटा दिया गया. ('लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन' में 'सेकेंड वर्ल्डवार' : विंस्टन चर्चिल से उद्धृत).

यह संधि बड़े तनावपूर्ण माहौल में हुई थी, फिर भी इसका बड़ा ही निर्णायक प्रभाव पड़ा. सोवियत जनता शुरू में थोड़ी चिंतित जरूर हुई, लेकिन स्तालिन पर असीम विश्वास में उसने मान लिया कि यह कार्यनीतिक कार्रवाई है और स्तालिन व मोलोतोव स्थिति को नियंत्रण में रखेंगे. इसका पहला संदेश पश्चिमी यूरोप को गया कि हिटलर अब सोवियत संघ पर तत्काल हमले का इरादा नहीं रखता, अब वह पश्चिमी यूरोप की ओर रूख करेगा. दूसरा प्रभाव पड़ा कि उसके दोनों सहयोगियों जापान और इटली का जर्मनी के साथ मनमुटाव पैदा हो गया.

01 सितंबर 1939 को हिटलर ने पोलैंड पर हमला कर दिया. उसके जवाब में ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी पर हमला किया और सही अर्थों में विश्वयुद्ध शुरू हो गया. इसके साथ ही सोवियत संघ के सुरक्षा कवच मजबूत करने की कार्रवाई शुरू हो गयी. पोलैंड दो दिन भी युद्ध में नहीं टिक सका और सरकार अदृश्य हो गयी. हिटलर के जवाब में सोवियत संघ की लाल सेना 17 सितंबर को पोलैंड में घुसी. पूंजीवादी विचारक आरोप लगाते हैं कि हिटलर और स्तालिन ने पोलैंड को बांट लिया था. लेकिन सच्चाई है कि सोवियत संघ की कार्रवाई हिटलर को बाल्टिक क्षेत्र में घुसने से रोकने की थी. यह सोवियत संघ और पूरी दुनिया की सुरक्षा की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था. यही कारण था कि ब्रिटेन में इस कार्रवाई को भरपूर

समर्थन मिला. विंस्टन चर्चिल ने रेडियो प्रसारण (01 अक्तूबर) में कहा कि 'सोवियतों ने पूर्वी पोलैंड में नाजियों का बढ़ना रोक दिया है. मेरी बस यही कामना है कि वे हमारे मित्र के रूप में ऐसा कर रहे हैं.' (स्तालिन युग) हिटलर को पहला धक्का देने के लिए बर्नार्ड शॉ ने स्तानिल को बधाई दी. चेम्बरलेन ने भी संसद में (26 अक्तूबर) घोषणा की : 'जर्मनी के खिलाफ सुरक्षा के लिहाज से लाल सेना के लिए पोलैंड के कुछ हिस्से पर कब्जा करना आवश्यक हो गया था.'

यह कार्रवाई ब्रिटेन और पोलैंड दोनों पर सोवियत संघ की राजनीतिक जीत थी. सोवियत संघ लागतार ब्रिटेन, फ्रांस, पोलैंड व अन्य देशों के साथ समझौता चाहता था, लेकिन प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादी अहंकार में या समाजवाद से घृणा के कारण पोलैंड सरकार लगातार इस पेशकश को ठुकराती रही. लेकिन लाल सेना जिन-जिन क्षेत्रों में गयी उसका कोई प्रतिरोध नहीं हुआ, जनता ने स्वागत किया और राजधानी छोड़कर भाग चुकी पोलैंड सरकार तो इसे युद्ध की कार्रवाई तक घोषित नहीं कर पायी. अन्ना लूई स्ट्रांग ने पोलैंड में लाला सेना के मार्च का बड़ा रोचक विवरण दिया है :

'सोवियत सेना पीछे हटती पोलिश सेना के साथ कदम-ब-कदम मिलाकर बढ़ रही है और यूक्रेनी लड़कियां टैंकों को फूलों का हार पहना रही हैं. ल्वोबनगर में स्थित पोलिश सेना का कमांडर कई दिनों से तीन तरफा जर्मन हमले से लड़ रहा था. जब चौथी तरफ से लाल सेना प्रकट हुई तो उसने तुरंत लाल सेना के सामने यह कहते हुए आत्मसमर्पण कर दिया कि मुझे आदेश देने के लिए कोई सरकार नहीं बची है और मुझे बोल्शेविकों से लड़ने का कोई आदेश नहीं मिला है.' (स्तालिन युग)

पोलैंड का मसला सुलझाने के साथ ही सोवियत संघ ने एक ऐतिहासिक गलती सुधार दी. बीस साल पहले पोलैंड ने लीग ऑफ नेशन्स की अवहेलना कर लिथुआनिया की पुरानी राजधानी विलना पर कब्जा कर लिया था. सोवियत संघ ने विलना लौटाकर लिथुआनिया के साथ अच्छे संबंध के संकेत दिये. इसका प्रभाव भी पड़ा. पोलैंड में सोवियत सेना के प्रवेश के एक महीना के भीतर लात्विया, लिथुआनिया और एस्टोनिया के साथ सोवियत संघ की, सैनिक संधि संपन्न हो गयी.

सोवियत संघ के लिए पोलैंड से भी ज्यादा जटिल मसला फिनलैंड का था. इससे लेनिनग्राद की सुरक्षा का सवाल जुड़ा था. सोवियत संघ फिनलैंड से दो सुविधायें प्राप्त करना चाहता था. पहला मामला भू-क्षेत्र की अदला-बदली का था ताकि सीमा को दूर ठेला जा सके और लेनिनग्राद प्रत्यक्ष जर्मन हमले की जद में आने से बचा रहे. दूसरा समुद्री हैंगो बंदरगाह पर अधिकार से जुड़ा था. सोवियत संघ चाहता था कि हैंगो उसे पट्टे पर मिल जाये. उसने फिनलैंड के साथ जमीन के बदले जमीन की शर्त पर समझौता की पेशकश

की. पहले वह दोगुना जमीन देने को तैयार था, फिर तिगुना तक गया. लेकिन बात नहीं बनी. फिनलैंड की खाड़ी एक पतला जलमार्ग है जो लेनिनग्राद तक जाती थी. सोवियत संघ इसके मुहाने पर हैंगो को नौसेनिक अड्डे के इस्तेमाल के लिए पट्टे पर लेना चाहता था. लेकिन फिनलैंड की सरकार को यह भी मंजूर नहीं था.

अंततः यह मसला युद्ध से निपट पाया. इस युद्ध में ब्रिटेन उसका मददगार नहीं बन सका. इसके दो कारण थे. पहला कारण यह था कि फिनलैंड ने सोवियत संघ की ताकत का कमतर आकलन किया और दूसरा कारण था स्वीडन ने तटस्थता की नीति के तहत अपने भूभाग से ब्रिटिश सेना को गुजरने नहीं दिया. जो भी हो फिनलैंड और सोवियत संघ के बीच 12 मार्च 1940 को शांति संधि संपन्न हो गयी. इस युद्ध में सोवियत संघ ने काफी संयम से काम लिया. उसने सीमा को लेनिनग्राद से 40 कि.मी. पीछे ठेल दिया और फिनलैंड के बंदरगाह पर कब्जा कर लिया, लेकिन सोवियत संघ ने पेत्सामो और उसकी निकेल की खानें वापस कर दी, हर्जाना की मांग नहीं की और भूख से पीड़ित फिनलैंड को अनाज देने को भी तैयार हो गया. इससे सारी दुनिया में यह संदेश गया कि सोवियत संघ ताकतवर है, लेकिन साम्राज्यवादी लुटेरा नहीं है, वह सुरक्षा पट्टी बनाने के लिए प्रतिबद्ध है, उसे किसी भी कीमत पर हासिल कर सकता है, लेकिन उसका प्रयास आत्मरक्षा तक सीमित है और वह विस्तारवादी नहीं है.

सोवियत संघ को इस संयम का लाभ तात्कालिक और दीर्घकालिक दोनों मामलों में मिला. इसका महत्व कोई साम्राज्यवादी लुटेरा नहीं समझ सकता. अन्ना लुई स्ट्रांग ने अपनी पुस्तक 'स्तालिन युग' में ऐसे प्रसंग का जिक्र किया है जिससे साम्राज्यवादी और समाजवादी नीति का अंतर साफ-साफ दिखाई पड़ता है:

'1940 में मैं मास्को स्थित ब्रिटिश दूतावास में राजदूत सर स्टैफोर्ड क्रिप्स से चाय पीते हुए बात कर रही थी. उनका कहना था कि रूसी लोग एक दिन शायद इस बात से दुखी होंगे कि उन्होने आज फिनलैंड से ज्यादा कुछ क्यों नहीं लिया जबकि वे लेने की स्थिति में थे. वह पेत्सामो के बारे में सोच रहा था जो जल्दी ही मर्मान्स्क जानेवाले मित्र राष्ट्रों के जहाजों के खिलाफ नाजियों का नौसेनिक अड्डा बननेवाला था. लेकिन सर स्टैन्फोर्ड गलत थे उनके मुकाबले स्तालिन की राजनीतिक बुद्धि ज्यादा तेज थी. सोवियतों की अपनी शर्तें आसान रखने के लिए अच्छी तरह समझाया गया था. अगर उनकी मांगे लेनिनग्राद की सुरक्षा की स्पष्ट जरूरतों से आगे गयी होतीं, तो स्वीडन की तटस्थता हिल सकती थी. वैसी परिस्थिति में हिटलर के खिलाफ आखिरकार बना विश्व मोर्चा सालभर पहले ही सोवियत संघ के खिलाफ बन गया होता. यह था दीर्घकालिक लाभ.

तात्कालिक लाभ यह हुआ कि बिना किसी संघर्ष के रोमानिया ने बेसारबिया का

इलाका सोवियत संघ को वापस कर दिया. यह रूस का वह इलाका था जिसे रोमानिया ने क्रांति के बाद के गृहयुद्ध के दौर में हथिया लिया था. हिटलर की नजर ल्वोव, बिलना और बेसारबिया पर थी. ये तीनों शहर उसके रणनीतिक महत्व के थे, लेकिन सोवियत रणनीति ने उसे इनसे वंचित कर दिया था. इस कार्रवाई का दूसरा तात्कालिक लाभ उसे लात्विया, लिथुआनिया और इस्टोनिया (बाल्टिम क्षेत्र) में मिला. सैनिक समझौता इन देशों के साथ हो चुका था. लेकिन इन देशों की सरकारों का झुकाव हिटलर की ओर था. पूरब की दिशा में हिटलर के बढ़ने से इनके हौसले बुलंद होने लगे थे. जाहिर है कि यूरोप की हालत खराब हो चुकी थी. ऐसी स्थिति में सोवियत संघ ने अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजने की मांग की. 15 जून 1940 को मित्र देश की हैसियत से सोवियत सेना ने वहां प्रवेश किया. फलस्वरूप जर्मन समर्थक स्थानीय अधिकारी वहां से भाग खड़े हुए. इस कार्रवाई के महत्व को रेखांकित करते हुए विलना में एक संवाददाता ने कहा - 'बाल्टिक में हिटलर को स्तालिन ने चौबीस घंटों के अंतर से हरा दिया.'

हिटलर समर्थक अधिकारियों के भागने के बाद लगा लिथुआनिया में क्रांति ही हो गयी. प्रगतिशील पत्रकार जस्तास पलेत्किस के सत्ता में आने के बाद सारे राजनीतिक बंदी जेल से रिहा कर दिये गये. ट्रेड यूनियनों की स्वतंत्रता हासिल हो गयी, जनप्रतिनिधि सभा के चुनाव हुए और लिथुआनिया को सोवियत गणतंत्र घोषित कर दिया गया. अगस्त 1940 तक ये तीनों देश सोवियत संघ में शामिल हो गये. ये सारी कार्रवाइयां रूस के सुरक्षा कवच की दृष्टि से जरूरी थीं तो साथ ही इसका लाभ ब्रिटेन को भी मिल रहा था. बाद में हिटलर ने सोवियत संघ पर हमला के बहाने के रूप में इस तथ्य का भी उपयोग किया था.

फिनलैंड युद्ध जीत जाने के बावजूद सोवियत संघ अपनी सेना की कार्रवाई से संतुष्ट नहीं था. चीफ मिलिट्री कौंसिल की बैठक को संबोधित करते हुए स्तालिन ने तीखी आलोचना की और सलाह दी कि सभी कमांडरों को आधुनिक युद्ध विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए. गृहयुद्ध के दिनों के अनुभव से काम नहीं चलेगा. उसके बाद युद्धकला में सुधार का एक दौर चल गया.

जिस समय सोवियत संघ हिटलर के संभावित हमले का मुकाबला करने के लिए अपना सुरक्षा कवच मजबूत कर रहा था उसी बीच पश्चिमी यूरोप हिटलर के पैरों तले रौंदा जा रहा था. 1940 के बसंत में उसने डेनमार्क और नार्वे पर कब्जा कर लिया. डेनमार्क की ओर से कोई प्रतिरोध तक नहीं हुआ और वह एक दिन में ही कुचल दिया गया, नार्वे की मदद में गयी ब्रिटिश सेना अपना मिशन छोड़कर भाग खड़ी हुई. हालैंड और बेल्जियम रौंदे जा चुके थे और फ्रांस ग्यारह दिनों तक भी जर्मन हमले के सामने टिक नहीं सका. फ्रांस में पराजय के बाद ब्रिटेन को अपनी औकात का पता चल गया. न सिर्फ फ्रांस में बल्कि बाल्कन देशों में

भी अंग्रेजी फौज की स्थिति लगभग ऐसी ही थी. जर्मन सेना ने यूनान को कुचल डाला था और ब्रिटश सेना को दक्षिणी यूनान के समुद्र में खदेड़ दिया था. रूमानिया और युगोस्लाविया ने प्रतिरोध किया तो उनका सर्वनाश कर दिया गया.

इस परिस्थिति के दबाव में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चैम्बरलेन ने 10 मई 1940 को त्याग पत्र दिया और चर्चिल इस पद पर आसीन हुआ. यह सोवियत नीति की बड़ी जीत थी. सोवियत संघ और जर्मनी की अनाक्रमण संधि के बावजूद दोनों के संबंध तनावपूर्ण थे. हिटलर रूमानिया के तेल क्षेत्र के निकट तक सोवियत उपस्थिति को लेकर परेशान था और सोवियत संघ की चिंता फिनलैंड में जर्मन सेना की उपस्थिति को लेकर थी. इसी बीच जर्मनी, इटली और जापान ने 27 सितंबर 1940 को दस साल का समझौता किया जिसकी सूचना सोवियत संघ को नहीं दी गयी. शह-मात के इस खेल के बीच सोवियत संघ ने बाहरी मोर्चेबंदी तो लगभग पूरी कर ली थी. लेकिन कोई युद्ध सिर्फ बाहरी मोर्चेबंदी से नहीं जीता जा सकता, अत: उसकी भीतरी तैयारी का अध्ययन भी जरूरी है.

झुकोव ने स्तानिल की सुरक्षा की नीति के बारे में कहा 'स्तालिन ने सोवियत संघ की सुरक्षा की तैयारी में 1928-41 के बीच 9000 बड़े कारखाने बनवाये थे. इनमें लगभग 2000 कारखाने, पावर स्टेशन, खदान और अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठान 1939-41 के बीच बने थे. पार्टी की 18वीं कांग्रेस की रिपोर्ट में इस पर जोर दिया गया था कि अगली पंचवर्षीय योजना में सैन्य उद्योगों के विकास और विस्तार को ज्यादा तेज रफ्तार दी जायेगी. ऐसा हुआ भी. उस अवधि में कुल औद्योगिक उत्पादन में 13% की दर से वृद्धि हुई थी, वहीं सैन्य उद्योगों में 39% की दर से.

सितंबर 1939 में सर्वोच्च सोवियत की असाधारण बैठक बुलायी गयी और उसमें कानून बनाकर सबके लिए सैन्य सेवा अनिवार्य कर दिया गया.

सोवियत संघ से हिटलर का मुकाबला

दूसरे विश्युद्ध के बारे में स्तालिन की राय थी कि इस युद्ध का फैसला सिर्फ हथियारों की ताकत से नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में साझे मोर्चों की ताकत से होना था. 5 मई 1941 को रेड आर्मी ग्रेजुएट्स को संबोधित करते हुए उन्होने कहा था कि निकट भविष्य में सोवियत संघ पर जर्मन हमले की संभावना को नकारा नहीं जा सकता. ऐसी स्थिति में युद्ध की बुनियादी रणनीति को रेखांकित करते हुए उन्होने बताया था कि जर्मन लोगों के पास सबसे अच्छी सेना है. हथियार और संगठन दोनों मामलों में. लेकिन वे अगर ऐसा सोच रहे हैं कि उनकी सेना आदर्श और अपराजेय हैं, तो वे गलती कर रहे हैं. कोई सेना अपराजेय नहीं होती. आगे स्तालिन ने इस बात पर जोर दिया कि युद्ध की अच्छी तैयारी के लिए आधुनिक सेना का होना ही पर्याप्त नहीं है, राजनीतिक रूप से तैयार रहना भी जरूरी है.

इसके विपरीत हिटलर की समझ थी कि वह अपनी ताकत के बल पर सारी दुनिया को रौंद सकता है. यह महज दो व्यक्तियों के दृष्टिकोण का सवाल नहीं था, बल्कि दो वर्गों और दो विचारधाराओं बीच अंतर का मामला था. इस नजरिये से देखें, तो जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया उस समय तक वह कूटनीतिक जंग हार चुका था, यूरोप से अमेरिका तक उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल चुकी थी.

इस बात को अमेरिकी सिनेटर हेनरी ट्रूमैनी (जो रूज्वेल्ट की मृत्यु के बाद वहां के राष्ट्रपति बने) के वक्तव्य से समझा जा सकता है. युद्ध के शुरूआती दिनों में उन्होने कहा था कि अगर जर्मन जीत रहे हों, तो हमें रूसियों की मदद करनी चाहिए और अगर रूसी जीत रहे हों, तो हमें जर्मनों की मदद करनी चाहिए और इस तरह उन्हें आपस में ज्यादा से ज्यादा मर-कट जाने देना चाहिए. (न्यूयार्क टाईम्स, 24 जून 1941, स्तालिन युग में उद्धृत).

यह बात व्यवहार में तब उतर सकती थी जब यूरोप पर आक्रमण के पहले हिटलर सोवियत संघ पर हमला कर दिया होता या सोवियत संघ अपने सुरक्षा कवच के निर्माण के क्रम में किसी तरह की भारी गलती कर चुका होता. लेकिन स्थिति कितनी बदल चुकी थी. इसका अंदाजा ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल के बयानों से मिलता है. पहले तो उन्होने रूसियों की निष्ठा की प्रशंसा की और उनके सैन्य संगठन की सराहना भी. लेकिन बाद में वे खुलकर सामने आये और तटस्थता का चोला उतार कर फेंकते हुए घोषणा की 'नाजीवाद के खिलाफ लड़ने वाले हर आदमी को हमारी मदद मिलेगी. रूस पर खतरा हम पर खतरा है.' इस वक्तव्य के बाद युद्ध शुरू होने के एक माह बीतते-बीतते सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच संधि हो गयी. ब्रिटिश राह का अनुसरण करते हुए यूरोप की सारी निर्वासित सरकारों ने ऐसा ही किया. उन्हें पहली बार यह एहसास हुआ कि उनकी घर वापसी भी हो सकती है.

खुद अमेरिका ने ट्रुमैन की नीति का अनुसरण नहीं किया. उसे स्वीकार करना पड़ा कि जर्मनों के सामने जितने प्रतिरोध आये हैं, उनमें रूसी प्रतिरोध सबसे शक्तिशाली है.

हिटलर के हाथ में यूरोप को एकजुट करने का अंतिम अस्त्र था धर्म. उसने अपने युद्ध को बोल्शेविकवाद के विरूद्ध धर्मयुद्ध घोषित किया तो लोगों को उम्मीद जगी कि धर्म गुरूओं का समर्थन उसे मिलेगा, पोप की चुप्पी ने इस उम्मीद को नेस्तानाबूद कर दिया. फासिस्टों की राजनीतिक पराजय के इस माहौल में जर्मनी और सोवियत संघ एक दूसरे से टकरा रहे थे.

'हिटलर के विरूद्ध रूसी प्रतिरोध और विभिन्न निर्वासित सरकारों के गठबंधन ने कम्युनिस्टों से लेकर राजतंत्रवादियों तक सबको प्रतिरोध संघर्ष में एक साथ जोड़ दिया था. हिटलर के औचक आक्रमण से रूस में गहराई तक उतरने तक स्तालिन ने प्रतिरोध संघर्ष में धीमेपन की नीति अपनायी थी. लेकिन यह कोई मूर्खता या उपेक्षा की कार्रवाई नहीं लगती जब हम याद करते हैं कि अमेरिका, यूरोप, और ब्रिटेन में सोवियत विरोधी ताकतें कितनी मजबूत थीं.' (स्तालिन युग) हिटलर ने अपनी इस अपराधिक कार्रवाई को इतिहास का सबसे बड़ा सैन्य अभियान होने का दावा किया था. उसका दावा गलत नहीं था. विशाल जर्मन सेना (38 लाख की) का बहुत बड़ा भाग (32 लाख जवान और अफसर) सोवियत संघ के खिलाफ टूट पड़ा था. इसके अतिरिक्त रूमानिया का 14 डिविजन तथा फिनलैंड का 21 डिविजन उनके समर्थन में था. बाद में इटली, हंगरी, स्पेन और स्लोवाकिया की सेना उनके समर्थन में उतर गयी. अन्ना लुई स्ट्रांग ने दावा किया कि नब्बे लाख रिजर्व में थे. सचमुच यह इतिहास का सबसे बड़ा सैन्य अभियान था.

इतने बड़े हमले के बावजूद सोवियत संघ का आत्मविश्वास डिगा नहीं था. उस की कार्रवाइयों में घबराहट का लेशमात्र भी नहीं था. इस संकट की घड़ी में भी स्तालिन की तेज नजर पूरी निष्ठा से लड़ने के बावजूद हारनेवाले अफसरों और निष्ठाविहीन विश्वासघाती अफसरों के बीच अंतर करने में चूक नहीं करती थी. पश्चिमी मोर्चे पर पराजय के बाद कमांडर पाब्लोव के ट्रायल से यह बात समझी जा सकती है. 28 जून की आधी रात के बाद पश्चिमी मोर्चे पर सोवियत सेना मिंस्क से पीछे हट गयी. शहर में घुसने के बाद जर्मन सेना ने काफी उत्पात मचाया, नागरिकों का कत्लेआम किया और शहर में तोड-फोड़ मचाया. 30 जून को स्तालिन ने झूकोव को आदेश दिया कि पोब्लोव को वापस बुलाया जाये. अगले दिन वे मास्को हाजिर हुए उन्हें पद से हटा दिया गया और इस मोर्चे के अन्य जनरलों के साथ उनपर मुकदमा चलाया गया.

उनकी नीति का दूसरा पहलू था कि हर मोर्चे की कमान विश्वस्त अफसरों के हाथ में हो जो हर हाल में तथ्यपरक रिपोर्ट दे सके. इस खास परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए स्तालिन के नेतृत्व में स्टेट डिफेंस कमिटी बनायी गयी और राज्य, सेना तथा आर्थिक गतिविधि के सारे

मामलों को उसके अधीन कर दिया गया. झुकोव ने अपने संस्मरण में इस कमिटी की कार्यप्रणाली की चर्चा की है. इसकी बैठक कभी भी, दिन हो या रात बुलायी जा सकती थी. इस कमिटी की बैठकों में कई बार गरमा-गरम बहस होती थी. तुरंत सहमति नहीं होने की स्थिति में मामला एक कमीशन को सुपुर्द कर दिया जाता था जिसमें विपक्ष के सदस्य भी शामिल रहते और उन्हें अगली बैठक तक आम सहमति से रास्ता निकालने को कहा जाता था.

युद्ध के पांचवें दिन कम्युनिस्ट पार्टी और कॉम्सोमोल को सदस्यों को सेना में शामिल करने का निर्णय लिया गया. इनकी भूमिका मुख्यत: सैनिक की नहीं बल्कि राजनीतिक योद्धा की होनी थी, इन्हें सेना में पार्टी का मुख्य स्तंभ बनना था. लाल सेना, ऐयर फोर्स और नेवी में कुल मिलाकर 5,63,000 कम्युनिस्ट शामिल थे. युद्ध शुरू होने के 6 महीनों के अंतराल में 11 लाख कम्युनिस्ट मोर्चे पर भेजे गये. इस युद्ध के बारे में सोवियत संघ की नीति पर समग्र नजरिया बनाने के लिए स्तालिन के 3 जुलाई (1941) के संबोधन पर नजर डालना बेहतर होगा. इसमें उन्होंने निम्न बातों पर जोर दिया था -

दुश्मन क्रूर, निष्ठुर और निर्दयी है. वह हमारी जमीन, मेहनत से पैदा किये गये तेल और अनाज पर कब्जा करना चाहता है. वह फिर से जमींदारी और ज़ारशाही की स्थापना चाहता है. वह रूसी, यूक्रेनी, बेलारूसी, लिथुआनियाई, जार्जियाई, अर्मेनियाई और हमारी अन्य राष्ट्रीयताओं को मिटा देना चाहता है, सभी संस्कृतियों को मिटा देना चाहता है. वह सबको जर्मनी का गुलाम बना देना चाहता है. उन्होंने जनता का आह्वान किया कि वह लाल सेना को हर तरह से मदद करे, उन्हें हथियार और भोजन उपलब्ध कराये. लाल सेना के पीछे हटने की स्थिति में सारा माल-असबाब हटा लिया जाना चाहिए. एक भी इंजन, एक भी रेलवे कार, एक पौंड आनाज और एक गैलन तेल दुश्मन के लिए नहीं छोड़ा जाना चाहिए. दुश्मन द्वारा अधिकृत क्षेत्र में हर जगह गुरिल्ला युद्ध चलाया जाये, पुल और सड़क उड़ा दिये जायें, टेलीफोन और टेलीग्राफ लाइनें नष्ट कर दी जायें तथा भंडार गृह तथा यातायात आदि फूंक दिये जायें. अधिकृत क्षेत्रों में दुश्मन और उनके सहयोगियों का जीना दुभर कर दिया जाय. इस युद्ध को सामान्य युद्ध न समझें. यह युद्ध दो सेनायें नहीं लड़ रही हैं, यह सारी जनता का युद्ध है. जनता के इस राष्ट्रवादी युद्ध का उद्देश्य सिर्फ अपने देश पर छाये खतरों को दूर करना नहीं, बल्कि जर्मन फासिज्म के जुए तले दम तोड़ रही यूरोप की सारी जनता को सहयोग करना है. इस मुक्ति युद्ध में हम अकेले नहीं रहेंगे. जर्मन जनता सहित यूरोप और अमेरिका की जनता सच्चे सहयोगी के रूप में हमारे साथ होगी. हमारी मातृभूमि का मुक्ति संघर्ष यूरोप और अमेरिका की जनता की आजादी व जनवादी मुक्ति संघर्ष के साथ एकजुट हो जायेगा. यह स्वतंत्रताप्रेमी तथा हिटलर की फासिस्ट सेना की गुलामी के विरूद्ध खड़ी जनता का संयुक्त मोर्चा होगा. हमारी पांतों में रोने-धोनेवालों, कायरों, भय का

माहौल पैदा करने वालों और भगोडों की कोई जगह नहीं होनी चाहिए.

यह अपील बिजली की गति से सोवियत जनता के बीच फैल गयी. पश्चिमी मोर्चे पर जहां सोवियत सेना पीछे हटने लगी थी, स्टेट डिफेंस कमिटी ने उद्योगों को पूरब की तरफ हटा लेने का निर्देश जारी किया. इसके तहत 1523 औद्योगिक इकाइयां हटा ली गयीं, इनमें 1360 युद्ध के साज़ो-समान बनाने वाले भारी उद्योग थे. इस प्रक्रिया में उत्पादन जरूर घटा, लेकिन थोड़े ही दिनों में उसने रफ्तार पकड़ ली. यह कहना गलत होगा कि इसका प्रभाव सिर्फ सोवियत जनता पर पड़ा, यह कहना बेहतर होगा कि इसका प्रभाव पूरी दुनिया, खासकर यूरोप की जनता, पर पड़ा क्योंकि जर्मन सेना की विजय के बाद उन देशों की जनता ने जो कुछ अनुभव किया था उसे स्तालिन ने आवाज दी थी. यूरोप की जनता के बदलते मिजाज को हम अन्ना लुई स्ट्रांग के इन शब्दों से बेहतर ढंग से समझ सकते हैं :

'हिटलर का विजय अभियान जब शुरू हुआ तब यूरोप के उच्च वर्ग के कुछ हिस्से उसका समर्थन कर रहे थे. बहुत से आम लोगों ने भी 'नयी जर्मन व्यवस्था' के साथ इस उम्मीद में ताल-मेल बिठाने की कोशिश की कि शायद इससे यूरोप में एकता कायम हो जायेगी. पिछले दो वर्षों ने यह दिखा दिया था कि नाजी लोग कोई 'संयुक्त राष्ट्र यूरोप' नहीं बल्कि वर्चस्वकारी जर्मन नस्ल के अलावा तमाम लोगों के लिए भयंकर गुलामी और गरीबी लेकर आये थे. दसियों लाख यहूदी और स्लाव जाति के लोग नजरबंदी शिविरों में मर रहे थे. हिटलर के विरूद्ध विश्व मोर्चा बनाने की प्रक्रिया में एक भूमिका हिटलर के खिलाफ यूरोप की जनता में बढ़ती नफरत की थी.' (स्तालिन युग)

यूरोप के लोग क्रूर शासन की जिस पीड़ा को हिटलरी फासिज्म के दौरान भोग रहे थे, रूस की जनता उससे विभाल्स पीड़ा जारशाही के दौर में भोग चुकी थी और उसे अच्छी तरह पता था कि हिटलर की सेना उसे वैसे ही दुर्दिन में धकेल देगी. वहां सेना के जवान, किसान, मजदूर और बुद्धिजीवी देश की रक्षा के संघर्ष में जी-जान से भिड़ गये थे. उसकी एक झलक यूक्रेन के विवरण में देखने को मिलती है :

'यूक्रेन में जर्मनों का प्रवेश होते ही फसल की कटाई तेजी के साथ शुरू कर दी गयी. इस अनाज को सुरक्षित अपने हाथों में लेना किसानों का पहला दायित्व था. इस काम में मदद करने के लिए छात्र, अध्यापक और कार्यालयों के कर्मचारी खेतों में गये. मुठभेड़ के बीच शांत समय में सेना ने भी फसल कटाई में हिस्सा लिया. दस सितंबर तक जर्मन सेना यूक्रेन के केंद्र में पहुंची. तब तक साठ प्रतिशत अनाज पूरब के अंदरूनी इलाकों में भिजवाया जा चुका था और दसियों लाख किसान अपने ट्रक या ट्रैक्टर चलाकर या लौटती सैनिक रेलगाड़ियों में सवार होकर पूरब की ओर कूच कर गये थे.' (वही)

यूक्रेन के किसानों ने जिस उत्साह से काम किया था, उसी उत्साह से खारकोव ट्रैक्टर

कारखाना के मजदूरों ने काम किया. जब जर्मनों ने इस शहर पर कब्जा कर लिया तो भी यहां टैंकों का बनना एक दिन के लिए भी बंद नहीं हुआ. ज्यादातर मजदूर अपनी मशीनों के साथ पूरब चल गये. लेकिन कुछ मजदूर रूक गये थे जो पहले से तैयार पूर्जों को जोड़कर टैंक तैयार करते रहे. यह प्रक्रिया तब तक चलती रही जब तक अंतिम टैंक तैयार होकर बाहर नहीं निकल गया. यह किसी एक कारखाने की बात नहीं थी. पूरे सोवियत संघ में जहां-जहां लाल सेना को पीछे हटना पड़ता, मजदूर और किसान यही नीति अपनाते. होता यह था कि जैसे-जैसे दुश्मन नजदीक आते जाता वैसे-वैसे वे मजदूर मशीनों के पार्ट-पूर्जे खोल लेते, उनमें ग्रीज लगाकर डिब्बों में बंदकर गड़ियों से सुरक्षित इलाकों में भेजवा देते जहां इन्हें फिर से जोड़कर उत्पादन की प्रक्रिया शुरू कर दी जाती.

महज दो दशक पहले मजदूरों-किसानों की सरकार इन कमजोर वर्गों की रक्षा के लिए साम्राज्यवादी लूटेरे के साथ अपमानजनक समझौते करने को बाध्य थी. आज वे वर्ग इतने मजबूत हो चुके थे कि अपने खोये हुए सम्मान को वापस पाने के लिए तथा इंच-इंच जमीन की रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा रहे थे. इसका प्रभाव इस युद्ध में इतना साफ नजर आ रहा था कि पूंजीवादी जनवादी विचारक इसे स्वीकार करने को मजबूर होते जा रहे थे. इसी संदर्भ में अन्ना लुई स्ट्रांग ने हावर्ड के. स्मिथ की पुस्तक 'लास्ट ट्रेन फ्राम बर्लिन' की चर्चा की है. इसमें बताया गया है कि सोवियत रणनीति ने किस तरह जर्मनों को थका डाला था. लेखक का अनुभव था कि जर्मन लोग यूरोप की लूट पर फले-फूले थे. लेकिन जब हिटलर की सेना ने रूस में प्रवेश किया तो उन्हें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए तरसकर रह जाना पड़ा. ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि दोनों के उत्पादन संबंध अलग-अलग थे. पूंजीवादी दुनिया में मुनाफा केंद्रीय प्रश्न होता है, निजी पूंजी के प्रभुत्व वाले समाज में निजी मुनाफा और निजी संपति संबंध केंद्रीय होते हैं और इन दोनों की रक्षा के लिए पूंजीपति किसी भी सामाजिक संबंध का गला घोंट सकता है, भले ही वह राष्ट्र ही क्यों न हो.

यह थी आर्थिक मोर्चे की मुस्तैदी जहां सेना के जवानों ने मजदूरों-किसानों के साथ सहयोग किया. अब युद्ध भूमि की ओर लौटें जहां मजदूर-किसान जवानों के साथ कदम से कदम मिलाकर काम कर रहे थे. जर्मन सेना को ऐसी स्थिति का सामना किसी पूंजीवादी देश में नहीं करना पड़ा था. ब्रिटेन के बाद फ्रांस सबसे बड़े उपनिवेश का स्वामी था. लेकिन जब हिटलर की सेना पेरिस में घुसी तो उसे किसी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा. वह खुला शहर घोषित हो चुका था. पोलैंड की स्थिति भिन्न नजर आयी. जब सरकार और जनरल भाग खड़े हुए, तो भी वार्सा के नगर प्रमुख ने लड़ाई जारी रखकर दुनिया को चौंका दिया था. लेकिन सोवियत संघ तो अद्भुत था. वहां तो हर शहर और हर गली में लोगों ने

संघर्ष किया. जाहिर है, उन्हें यह प्रशिक्षण (1918-20 के) गृहयुद्ध में मिला था, जिसे उन्होने उत्तरोतर विकसित किया था. इस तरह के युद्ध की तैयारी सोवियत संघ बहुत पहले से कर रहा था. 'स्तालिन युग' में अन्ना लुई ने इस तैयारी की चर्चा काफी बारीक स्तर पर की है. हम युद्ध के दौरान की स्थिति समझने के लिए दो उदाहरण पेश करेंगे.

पहला उदाहरण मास्को में गिरफ्तार जर्मन पायलट के मुँह से. उस पायलट को पलायन कर रही आबादी के बीच आतंक मचाने के लिए भेजा गया था. लेकिन जब उसने देखा कि सोवियत संघ के लोग पलायन करने के बजाय आत्मविश्वास के साथ सेना के इर्द-गिर्द संगठित होकर खाइयां खोद रहे हैं, तो वह खुद आतंकित हो गया. उसने खुद बताया, जब मैने हवाई जहाज से नीचे कामगार जनता के उन बड़े-बड़े समूहों को देखा तो मैं आतंकित हो गया.

जर्मनी और सोवियत संघ के बीच सबसे दिलचस्प युद्ध स्तालिनग्राद का था. हिटलर ने 1942 की गर्मियों में आदेश दिया था कि किसी भी कीमत पर स्तालिनग्राद पर कब्जा करो. यह शहर उसके लिए बहुत महत्वपूर्ण था, क्योंकि इस पर कब्जा से मास्को को दक्षिण दिशा से घेरने का रास्ता खुल जाता; इससे बाकू के तेल और ईरान और भारत की ओर का रास्ता साफ हो जाता, चीनी तुर्किस्तान से होकर जापानियों से मिलने का रास्ता भी साफ हो जाता. यह था स्तालिनग्राद पर कब्जा का महत्व. इसलिए इस शहर पर कब्जा के लिए हिटलर एक हजार हवाई जहाजों और एक हजार टैंकों द्वारा हमला करवा रहा था. सितंबर तक यह संख्या बढ़कर दो हजार हो गयी थी. इतना बड़ा हमला झेलने के बावजूद स्तालिनग्राद के लोगों का नारा था- वोल्गा के उस पार कोई जमीन नहीं है.

स्तालिनग्राद की लड़ाई का जीवंत वर्णन अन्ना लुई स्ट्रांग ने इन शब्दों में किया है: 'वे गली-गली में, घर-घर में, और कमरे-कमरे तक में लड़े. उन्होने बंदूकों, हथगोलों, चाकुओं, रसोई की कुर्सियों और उबलते पानी तक का इस्तेमाल किया. टैंक कारखाने में टैंक बनते और कारखाने के अहाते से सीधा दुश्मन के खिलाफ जंग में उतर जाते. एक जर्मन रिपोर्ट में कहा गया कि एक भी इमारत साबूत नहीं बची है. फिर भी जनता गुफाओं और तहखानो में लड़ती रही. नारा गूंज उठा- अगर साहस हो तो, ईंटों का ढेर एक किला बन सकता है. स्तालिन ने तार भेजा- दुश्मन से एक टीला छीनने से हमें वक्त भी मिल जाता है. इसी तरह एक सौ बयासी दिनों तक स्तालिनग्राद की जनता लड़ती रही. तब जाकर सुदूर साइबेरिया में संगठित और प्रशिक्षित की गयी नयी आरक्षित सेनायें पहुंचीं जिन्होने मैदान से गुजरते हुए दो भुजाओं में नगर को अपने घेरे में ले लिया. तीन लाख से ज्यादा जर्मन सेना इस घेरे में फंस गयी और उसने 2 फरवरी 1943 को आत्मसमर्पण कर दिया.' (स्तालिन युग)

इस युद्ध कला और साहस से अभिभूत होकर न्यूयार्क ट्रिब्यून ने 27 नवंबर 1942 को लिखा था- 'इस तरह की लड़ाइयां रणनीतिक आकलन के दायरे से बाहर होती हैं, इनका

संचालन भीषण घृणा और भारी उत्साह के साथ होता है जिसे लंदन ने जर्मन हवाई हमलों के सबसे बुरे दिनों में भी नहीं महसूस किया था.' (लाइफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन). यह युद्ध कितना क्रूर और भयावह था, इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 19 नवंबर 1942 से लेकर 2 दिसंबर 1943 के बीच 32 डिविजन और तीन ब्रिगेड नष्ट हो चुके थे और अन्य 16 डिविजन का आधा या तीन चौथाई हिस्सा बर्बाद हो चुका था. सोवियत संघ के कैदियों के साथ जर्मन सेना ने कितना क्रूर व्यवहार किया था, इसका अनुमान इन आंकड़ों से लग जाता है. जून 1942 से मई 1944 तक जर्मनों ने 51 लाख 6 0 हजार लोगों को बंदी बनाया था. इनमें 10 लाख 53 हजार लोग मुक्त कराये जा सके. 37 लाख 50 हजार से ज्यादा लोग या तो कत्ले-आम में मारे गये या भूख से मरे या प्राकृतिक आपदा की चपेट में आ गये. इसके पीछे जर्मन सरकार की नीति थी सेना बाहरी स्रोत से पेटभर लेगी, जब्त किया गया सारा अतिरिक्त अनाज जर्मनी भेज दिया जाय क्योंकि वह भयंकर राशनिंग की व्यवस्था से गुज़र रहा था और उसकी मान्यता थी कि रूसी निकृष्ट प्राणी है तथा यहुदियों और बोल्शेविकों की व्यवस्था को मिटा देना है.

इतना भीषण संघर्ष चलते रहने के बावजूद अमेरिका और ब्रिटेन ने यूरोप में दूसरा मोर्चा नहीं खोला. दो साल पहले (12 अगस्त 1942 को) मास्को में स्तालिन चर्चिल वार्ता के दौरान चर्चिल ने यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलने से इनकार कर दिया था और प्रस्ताव दिया था कि ब्रिटेन और अमेरिका के सैन्य अधिकारी मध्य सागर क्षेत्र में 'आपरेशन टार्च' को ज्यादा महत्वपूर्ण समझते हैं. इस प्रस्ताव पर झुंझलाते हुए स्तालिन ने पूछा था- आखिर ब्रिटिश लोग जर्मनों से इतना डरते क्यों हैं? जाहिर सी बात है कि इस दौर में सोवियत संघ को इस सहयोग की सबसे ज्यादा जरूरत थी जो नहीं मिली. फिर भी वह इस अभियान को आगे बढ़ाने का प्रयास करता रहा. अंततः यह सफलता उनसे तेहरान सम्मेलन (28 नवंबर 1943) में मिली. चर्चिल के प्रतिरोध के बावजूद वहां तय हुआ कि 1 मई 1944 तक फ्रांस का दूसरा मोर्चा शुरू हो जायेगा. दरअसल वह 4 जून 1944 को शुरू हुआ. यह समझौता सैन्य दृष्टिकोण से जितना महत्वपूर्ण था उससे ज्यादा भावी दुनिया के राजनीतिक स्वरूप के निर्धारण के लिए महत्वपूर्ण था. इस सम्मेलन की यादगार घटना है कि चर्चिल ने स्तालिन को सम्मान में तलवार भेंट की थी. यह भेंट ब्रिटिश जनता की ओर से किंग जॉर्ज VI ने भेजी थी, जिस पर अंकित था- 'स्तालिनग्राद के जाँबाज नौजवानों के नाम' (टू दी स्टील हार्टेड सिटिजन्स आफ स्तालिनग्राद). यह घटना विश्व सर्वहारा के लिए गर्व की बात थी. तब तक सोवियत संघ पूरी दुनिया के सामने साबित कर चुका था कि वह अपने बूते जर्मनी से निबट सकता है. फिर भी यह घोषणा जरूरी थी क्योंकि सोवियत जनता के लिए युद्ध का एक-एक दिन भारी पड़ रहा था, लोग मारे जा रहे थे. इस घोषणा से युद्ध की

अवधि कम करने में मदद मिल सकती थी. दूसरा मोर्चा खुलने से ऐसा हुआ भी. जुलाई के मध्य तक बेलारूस से जर्मन सेना के खदेड़े जाने के साथ ही सोवियत संघ पूरी तरह जर्मन कब्जे से मुक्त हो चुका था.

इसके बाद सोवियत रणनीतिकारों के बीच चर्चा इस बात पर शुरू हुई कि अगली रणनीति क्या हो? झुकोव और अन्य जनरलों की राय थी कि हमें पूर्वी प्रशिया पर कब्जा कर लेना चाहिए. लेकिन स्तालिन की राय इससे भिन्न थी. उनका मत था कि प्रशिया में जर्मन अंतिम दम तक की लड़ाई में उतर जायेंगे और हम लंबे समय तक फंस जा सकते हैं. इसलिए हमारी रणनीति ल्बोव और पूर्वी पोलैंड पर जीत की होनी चाहिए सोवियत सेना पोलैंड की मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ी और अंततः बर्लिन तक पहुंच गयी. स्थिति बदल चुकी थी 'तीन साल पहले तक जर्मन सेना सबसे मजबूत सेना थी. पर अब सोवियत सेना दुनिया की सबसे मजबूत सेना बन चुकी थी औक जर्मनों को पीछे धकेलती जा रही थी. तीन निर्मम वर्षों ने रूसियों को पीट-पीटकर ठीक कर दिया था. जर्मनों के विपरीत इनके पास हाल के वर्षों में विकसित 'नये इंसानों' वाले गुण थे. इनमें एक गुण था सामुहिक शक्ति से बुनी हुई व्यापक निजी पहलकदमी .... सोवियत सेना ने जिस सटीक लय में अपनी कार्रवाइयां की. वह किसी महान संगीत की रचना के समकक्ष थी.'

इसी लय का एक अंश था कि वार्सा पर कब्जा करने का श्रेय, गौरव और सम्मान पोलिश सेना को लेने का अवसर दिया गया. झुकोव की रूसी सेना ने शहर को चारों ओर से पच्चीस मील की दूरी पर घेर लिया और जर्मनों की संचार व्यवस्था काट डाली. इसके बाद पोलिश सेना हमला करते हुए शहर में घुसी. इसके बाद ही बर्लिन का अभियान शुरू हुआ. यह अभियान ओदेर नदी तट से 18 अप्रैल (1945) को शुरू हुआ था. इसके बारे में 'इज्वेस्तिया' के फोटो संवाददाता कार्मेन ने लिखा था- 'ओदेर के किनारे जो भी लोग थे वे उस सुबह को कभी नहीं भूल सकते जब हजारों तोपें गरज रही थीं और बीसियों सड़कों से होता हुआ पूरा सोवियत देश दुश्मन की राजधानी पर टूट पड़ा था.' (स्तालिन युग अन्ना लुई स्ट्रांग) फासीवाद पर समाजवाद और पूंजीवादी जनवाद की जीत हो चुकी थी. इससे न सिर्फ सोवियत संघ की प्रतिष्ठा नयी ऊँचाई छूने लगी थी, बल्कि सारी दुनिया की जनवादी और मुक्तिकामी जनता को भारी राहत मिली थी. पहले विश्वयुद्ध के अंत में जो रूस जर्मनी के साथ अपमानजनक समझौते के लिए बाध्य हुआ था वही तीन दशक से भी छोटे अंतराल में बर्लिन की धरती पर विजेता की तरह खड़ा था. यह जर्मन जनता पर सोवियत संघ की जनता की जीत नहीं थी बल्कि फासिस्ट तानाशाही पर कम्युनिज्म की जीत थी, सर्वहारा अधिनायकत्व की जीत थी.

◆◇◆

इस श्रृंखला की तीसरी कड़ी में . . .

सोवियत संघ में समाजवाद की शानदार सफलता ने सारी दुनिया को चकित कर दिया था. यह सच है. साथ ही यह भी उतना ही सच है कि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस के बाद से सारी दुनिया को क्रांति की राह दिखाने वाली पार्टी ने क्रांति की राह छोड़ दी, क्रांतिविरोधी राह पर चल पड़ी और वहां की समाज व्यवस्था राजकीय पूंजीवाद के रास्ते निजी पूंजीवादी व्यवस्था में तब्दील हो गयी. यह बदलाव दुनिया भर के क्रांतिकारी खेमे के लिए दुखद भी था और आश्चर्यजनक भी. तब से बहस चल रही है कि यह कैसे हुआ? आम तौर पर इस पतन के लिए स्तालिन की गलती और ख्रुश्चोव की गद्दारी को जिम्मेवार माना गया. यह विश्लेषण गैर मार्क्सवादी और अवैज्ञानिक है क्योंकि इससे हम किसी सकारात्मक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते. इसलिए पराभव के कारणों की तलाश हमें तत्कालीन सोवियत समाज के वर्गीय शक्ति संतुलन में करनी होगी. हम यह समझने की कोशिश करेंगे की सोवियत समाजवाद में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के तत्व किन-किन रूपों में मौजूद थे जिन्हें बाहरी परिस्थितियों ने हवा-पानी देकर जिंदा कर दिया. यह भी अहम है कि वे तत्व इतने लम्बे समय तक अस्तित्व में क्यों बने रहे? इन कारणों की सटीक समझ हासिल करना, उनकी सीखों को सूत्रबद्ध करना भावी क्रांति की राह के निर्माण के लिए जरूरी है. पराजय के वर्तमान दौर में यह सर्वहारा क्रांति के नीति निर्धारकों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यभार है. मार्क्सवाद-लेनिनदाद में नया अध्याय जोड़ने के समान महत्वपूर्ण और चुनौतीपूर्ण.

सोवियत संघ में
समाजवाद के पराभव से
सामाजिक साम्राज्यवाद
के विनाश तक
सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद
Estonian SSR
Latvian SSR
Lithuanian SSR
Byelorussian SSR
Kyrgyz SSR
Moldovian SSR
Tajik SSR
Ukrainian SSR
Turkmen SSR
Georgian SSR
Azerbaijan SSR
Kazakh SSR
Armenian SSR
Russian SSR
Uzbek SSR
'रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की तीसरी कड़ी

सोवियत संघ में समाजवाद के पराभव से सामाजिक साम्राज्यवाद के विनाश तक

('रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की तीसरी कड़ी)

डॉ० राम कवीन्द्र

-: प्रकाशक :-

नवजनवादी लोकमंच

(नजलोम)

प्रथम संस्करण - मई 2017

प्रकाशक :
नवजनवादी लोक मंच
(नजलोम)

बी. के. शर्मा (एडवोकेट)
11, हलधर महतो कॉलोनी
रोड नं० 17, जवाहर नगर
पो०-आजाद नगर, मानगो
जमशेदपुर-831 020

मुद्रक :
अनिता प्रिंटर्स
काशीडीह, साकची,
जमशेदपुर-831 001

कम्पोजिंग एण्ड लेआउट :
डी०के० इडूकेयर एण्ड रेप्रोग्राफिक्स,
डुप्लेक्स नं०-4, रोड नं०-9,
शिव् सिंह बगान एरिया,
एग्रिको, जमशेदपुर-831009

सहयोग राशि 40/-

प्राक्कथन

'रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की तीसरी कड़ी 'सोवियत संघ में समाजवाद के पराभव से सामाजिक साम्राज्यवाद के विनाश तक' की विषय वस्तु पिछली दोनों कड़ियों से काफी भिन्न है। पिछली दोनों कड़ियों में अलग–अलग परिस्थितियों में मजदूर वर्ग की विजयगाथा है। लेकिन इस कड़ी में विजय के उत्कर्ष पर पहुंचकर पराजय की खाई में गिरने की घटना का विश्लेषण। विजय की गौरवशाली गाथा के तुरंत बाद भितरघात के फलस्वरूप पराजय का विश्लेषण अत्यंत अरूचिकर और कष्टसाध्य काम है। खासकर किसी कार्यकर्त्ता के लिए जो पराजय के इस झंझावात को एक बार फिर विजय की तूफान में बदलना चाहता है। मजदूर वर्ग को अगर अपने पूर्वजों की तरह कालचक्र की गति और दिशा का नियंता बनने का गौरव प्राप्त करना है, तो उसके बुद्धिजीवियों को इस अरूचिकर व कष्टसाध्य काम को हाथ में लेना ही पड़ेगा। इतिहास के इसी दायित्वबोध ने हमारे भीतर यह ऊर्जा पैदा की और रूसी समाजवादी क्रांति के शताब्दी वर्ष में हमने इसे अपने हाथ में लिया। साथ ही पिछली दोनों कड़ियों के प्रति पाठकों के उत्साहवर्द्धक रूझान ने यह विश्वास पैदा किया कि हमारा प्रयास निरर्थक नहीं है।

समाजवाद के पराभव से सामाजिक साम्राज्यवाद के विनाश के घटनाचक्र को इस पुस्तिका में अलग–अलग मंजिलों में समेटने की कोशिश की गयी है। पहले दौर की नींव हिटलर की पराजय और उसके फलस्वरूप फासीवाद विरोधी मोर्चे में दरार से पड़ गयी थी। दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार सुनिश्चित हो जाने के साथ ही सोवियत संघ तथा अमेरिका व ब्रिटेन के बीच की दुश्मनी उभरने लगी थी। गठबंधन की राजनीति में आम तौर पर ऐसा होता है कि लक्ष्य हासिल होने के बाद संघर्ष के परिणाम पर कब्जा जमाने के लिए उसके घटक एक–दूसरे के खिलाफ तलवारें खींच लेते हैं। यहां भी यही हुआ। चर्चिल को मलाल रह गया कि हिटलर की सेना के समर्पण का श्रेय समाजवादी सोवियत संघ को क्यों मिला, साम्राज्यवादी अमेरिका को क्यों नहीं ? उनके फुल्टन स्पीच ने तो कम्युनिस्ट व्यवस्था के खिलाफ जंग का एलान ही कर दिया था। जिस समय यह घेराबंदी चल रही थी, उसी समय विश्व कम्युनिस्ट खेमे में युगोस्लाविया की गद्दारी तथा सोवियत संघ में वोज्नेसिंस्की के राजद्रोह ने पूंजीवादी जगत को संकेत दे दिया था कि कम्युनिस्ट खेमा और सोवियत संघ में सब कुछ ठीक–ठाक नहीं है। हालांकि स्तालिन के नेतृत्व में सर्वहारा सत्ता ने मामले को तत्काल दबा दिया था, लेकिन इसकी जड़ें बहुत गहरी थीं।

दूसरा दौर स्तालिन की मृत्यु के बाद शुरू हुआ। उस समय संशोधनवादी काफी मजबूत साबित हुए। सेना के सहयोग से उन्होंने सत्ता पर कब्जा कर लिया और मार्क्सवादी बड़ी आसानी से दरकिनार कर दिये गये। जिस ब्यूरोक्रेसी को लेनिन ने रूस की स्थिति में अपरिहार्य बताया था और जिसके खिलाफ चेतावनी भी दी थी, उसी ब्यूरोक्रेसी ने पार्टी के भीतर विस्तार पाया और समाजवाद का गला घोट दिया। दूसरा विरोधाभास दिखाई पड़ा कि जिस राजकीय पूंजीवाद को लेनिन ने सर्वहारा सत्ता के अधीन समाजवाद में प्रवेश का साधन बनाया था, ख्रुश्चोव ने उसी को पूंजीवाद में वापसी का साधन बना लिया। इस प्रकार ख्रुश्चोव की देखरेख में समाजवाद से पूंजीवाद में संक्रमण की यात्रा शुरू हुई।

ब्रेझनेव के अठारह वर्षों का शासनकाल तीन उपलब्धियों के लिए याद किया जाता है। उसने राजकीय पूंजीवाद को उसकी चरम अवस्था सामाजिक साम्राज्यवाद की मंजिल तक पहुंचाया, भ्रष्टाचार को बढ़ावा देकर निजी पूंजीवाद के फलने–फूलने की जमीन तैयार की और अंततः सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था को अवरोध के दलदल में फंसा दिया। यह भ्रष्टाचार वस्तुतः राजकीय पूंजीवाद के गर्भ में पल रहे निजी पूंजीवाद के लिए आदिम संचय (मार्क्स के शब्दों में आदिम लूट) की तरह था। इस दौर में सामाजिक साम्राज्यवादी देश के रूप में सोवियत संघ उत्कर्ष पर पहुंचा और इसी दौर में उसके पतन के संकेत भी मिलने लगे। ब्रेझनेव की मृत्यु के एक दशक बाद उसके द्वारा निर्मित सामाजिक साम्राज्यवाद की इमारत धराशायी होकर बिखर गयी और रूस दोयम दर्जे का साम्राज्यवादी देश बनकर रह गया। चौथे दौर का यह बदलाव गोर्बाचोव के नेतृत्व में संपन्न हुआ और वह साम्राज्यवादी जगत का लाड़ला बन गया।

इस ऐतिहासिक बदलाव का अध्ययन कई नजरियों से किया जा सकता है। मैंने इस पर सैद्धांतिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया है। आर्थिक व ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग सैद्धांतिक और राजनैतिक प्रस्थापनाओं को मजबूत बनाने के लिहाज से किया गया है। रूसी समाजवादी क्रांति के शताब्दी वर्ष में इस लंबे और बोझिल काम को हाथ में लेने के पीछे हमलोगों का उद्देश्य था कि समाजवाद के पहले प्रयोग की जय–पराजय से सबक लें और उसे व्यवहार में उतारकर भावी क्रांति का मार्ग प्रशस्त करें। इस उद्देश्य में हम कितना सफल रहे, इसका निर्धारण पाठक करेंगे।

– डॉ० राम कवीन्द्र

सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की पृष्ठभूमि

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विश्व परिस्थिति में कई बदलाव आये। इनमें सबसे महत्वपूर्ण था साम्राज्यवादी खेमे के भीतर शक्ति संतुलन में बदलाव और उसके फलस्वरूप नयी औपनिवेशिक व्यवस्था का जन्म। ब्रिटेन के विश्व प्रभुत्व के क्षरण की जो प्रक्रिया बीसवीं सदी के आगमन के साथ शुरू हुई थी, वह इस विश्वयुद्ध के अंत के साथ पूरी हो गयी। विश्व प्रभुत्व की कमान अब ब्रिटेन से खिसककर अमेरिका के हाथों में आ गयी। इस व्यवस्था की पूरी व्याख्या यहां जरूरी नहीं है, लेकिन यह चर्चा जरूरी है कि 1960 का दशक आते–आते नव–उपनिवेशवाद की समझ विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में फूट और बिखराव का एक कारण बन गयी। सोवियत संघ के संशोधनवादी (और अंततः सामाजिक साम्राज्यवादी) चरित्र का एक लक्षण इस व्यवस्था की साम्राज्यवादपरस्त व्याख्या के रूप में प्रकट हुआ। सवाल यहीं से पैदा होता है कि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी जो प्रारंभिक दौर में इस व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया में थी, वही बाद के दिनों में इसकी गलत समझ की चपेट में कैसे आ गयी ?

यह व्यवस्था वस्तुतः दूसरे विश्वयुद्ध के विजेता देशों (सोवियत संघ, अमेरिका और ब्रिटेन) के गठबंधन के आंतरिक शक्ति संतुलन की देन थी। इस संतुलन के ताने–बाने को समझने के लिए हमें इस युद्ध की पृष्ठभूमि पर गौर करना होगा। पहले विश्वयुद्ध के बारे में लेनिन कहा करते थे कि उपनिवेशों के फिर से बंटवारे के लिए यह दो डाकू गिरोहों के बीच युद्ध है। इसमें मजदूर वर्ग के पास खोने के लिए कुछ नहीं है और विश्व सर्वहारा का कर्त्तव्य है कि वह इसे गृहयुद्ध में बदल दे, अपनी–अपनी सरकारों का तख्ता पलटने के लिए संघर्ष तेज कर दे।

इस युद्ध का लक्ष्य थोड़ा अलग था। इसमें एक नया तत्व समा गया था – सोवियत संघ को बर्बाद करना, समाजवादी व्यवस्था का गला घोंट देना। इस युद्ध की विशेषता थी कि युद्धोन्मादी देश (जर्मनी, जापान और इटली) जनता के पूंजीवादी जनवादी अधिकारों को रौंदते हुए फासिज्म की राह पर तेजी से बढ़ रहे थे। कमिंटर्न उनके विकास और विस्तार की राह में अवरोध खड़ा करने का प्रयास कर रहा था और इस अभियान में उसे पूंजीवादी जनवादी शक्तियों के सहयोग की उम्मीद थी। इसी विश्लेषण के आधार पर सोवियत संघ अमेरिका व ब्रिटेन से निरंतर मोर्चाबद्ध होने की अपील करता रहा। उसे सफलता मिली। लेकिन काफी

देर के बाद और भारी कीमत चुकाने के बाद। इस प्रकार यह युद्ध फासीवाद के खिलाफ सर्वहारा अधिनायकत्व और पूंजीवादी जनवाद के संयुक्त प्रयास से विजय की मंजिल तक पहुंचा।

इन बदलावों के कारण विश्व सर्वहारा का कार्यभार थोड़ा बदल गया था। उसने दोहरा रूप धारण कर लिया था। राष्ट्रीय रंगमंच पर उनका काम था क्रांतिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाना और विश्व राजनीति में उनकी जिम्मेवारी बन गयी थी सोवियत संघ के साथ एकजुटता। ये दोनों कार्यभार एक दूसरे के पूरक बन गये थे। दुनिया में सर्वहारा क्रांति के विस्तार के लिए जरूरी था कि सोवियत संघ उत्तरोत्तर मजबूत बने और सोवियत संघ के अस्तित्व के लिए जरूरी था कि दुनिया भर के देशों में क्रांति का विस्फोट हो। उसकी मंजिल चाहे जो हो। इतना ही नहीं, कम्युनिस्ट हमेशा इस बात के कायल रहे हैं कि पूंजीवादी जनवाद सर्वहारा क्रांति के लिए सबसे अनुकूल स्थिति होता है, इसलिए फासीवाद के खिलाफ पूंजीवादी जनवाद के पक्ष में खड़ा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। लेकिन इतिहास में पहली बार ऐसा हो रहा था कि यूरोप का (पूंजीवादी) जनवाद अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विश्व सर्वहारा व सोवियत संघ का मुखापेक्षी बन गया था।

इसने स्थिति को काफी जटिल बना दिया था। दुनिया की बहुतेरी कम्युनिस्ट पार्टियाँ सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयतावाद का जाप करते हुए राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय कार्यभारों के अंतर्संबंध की जटिलता को नहीं समझ पायीं और एकांगी हो गयीं। हमारे देश की कम्युनिस्ट पार्टी इसी एकांगीपन का शिकार होकर रह गयी जबकि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने दोनों कार्यभारों को सही ढ़ंग से पूरा किया। इस दौरान यह पार्टी सैद्धांतिक रूप से इतना पुष्ट हो गयी थी कि जब सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पूंजीवाद की राह पर चल पड़ी तो उसने उसे 'नव उपनिवेशवाद के पैरोकार' और 'सामाजिक साम्राज्यवाद' के रूप में चिन्हित करते हुए अपने–आप को विश्व क्रांति के नेता के रूप में स्थापित करने का साहस दिखाया था।

दरअसल सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय के बीज युद्ध में विजय के साथ ही पड़ गये थे। विजय का गौरव पाने के साथ ही उसकी अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना पूरी तरह तहस–नहस हो चुकी थी। दो करोड़ से अधिक लोग या तो युद्ध में या हिटलर के बंदी शिविरों में मारे गये थे। ढाई करोड़ लोग बेघर हो गये थे। इस युद्ध में लगभग 1710 शहर, 7000 गाँव पूर्णतः या अंशतः नष्ट हो गये थे। उद्योग व कृषि में तबाही का आलम यह था कि लगभग 32000 औद्योगिक

प्रतिष्ठान, 98000 सामूहिक कृषि फार्म, 5000 राजकीय कृषि फार्म तथा 2890 मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन तहस–नहस किये जा चुके थे। दसियों हजार अस्पतालों, शिक्षण संस्थानों और पुस्तकालयों के भवन मलबे के ढेर बन गये थे। लगभग 65000 कि.मी. रेलवे लाईन काम लायक नहीं रह गयी थी और 4000 रेलवे स्टेशन धराशायी हो गये थे। इसके अलावा युद्ध पूर्व औद्योगिक उत्पादन का एक तिहाई तथा कृषि उत्पादन का आधा क्षेत्र दुश्मन के कब्जे में चला गया था। अन्य देशों की बर्बादी से इसकी तुलना की जाय तो वह पूरे यूरोप में हुई बर्बादी से भी ज्यादा थी। अमेरिका की तुलना में यह बर्बादी सैकड़ों गुना थी। (दी लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन् : एम.आर. अप्पन, मॉरिस डॉब की रचना सोवियत इकोनॉमिक डेवेलपमेंट से उद्धृत)।

ब्रिटेन की बर्बादी और तबाही का अंदाजा कॉलिन्स और लापियर के इस विवरण से लगाया जा सकता है : "अब से केवल सत्रह महीने पहले ब्रिटेन मानवता के सबसे भयानक युद्ध से विजेता बनकर निकला था। लेकिन इस विजय के लिए अंग्रेजों को जो मूल्य चुकाना पड़ा था उसने उन्हें लगभग परास्त कर दिया था। ब्रिटेन के उद्योग अपंग हो गये थे, उसका खजाना बिल्कुल खाली हो चुका था, उसका पौंड जो कभी सबसे गौरवान्वित सिक्का समझा जाता था अब अमेरिका और कनाडा के डॉलरों के इंजेक्शन के सहारे सांस ले रहा था, युद्ध का खर्च पूरा करने के लिए उसने जो ढेरों कर्ज ले रखा था उसे अदा करने में उसका खजाना असमर्थ था। हर जगह फैक्टरियाँ और कारखाने बंद हो रहे थे। लगभग बीस लाख ब्रिटेनवासी बेरोजगार थे।

लंदनवासियों के लिए यह नया साल (1947 का साल) जो अब शुरू हो रहा था, आठवां साल था कि उन्हें लगातार अपने इस्तेमाल की हर चीज की कठोर राशनिंग का सामना करना पड़ रहा था : खाना, ईंधन, पीने की चीजें, बिजली, गैस, जूते, कपड़े – हर चीज की। जिन लोगों ने विजय के नारे लगाते हुए हिटलर को हराया था, उनका नारा अब हो गया था : 'भूखे मरो और ठिठुरो'।" (फ्रीडम एट द मिड नाईट से उद्धृत)

युद्ध के बाद सोवियत संघ की सबसे बड़ी चुनौती थी जर्जर व्यवस्था का पुनर्निर्माण। हालांकि यह काम युद्ध खत्म होने के पहले ही शुरू हो चुका था। लोग किस उत्साह से पुनर्निर्माण के काम में लगे थे इसका अंदाजा स्तालिनग्राद के ट्रैक्टर कारखाने के पुननिर्माण से लग जाता है। वहां से जर्मनों को खदेड़े जाने के तीन महीने के भीतर ही इस कारखाने ने नये टैंक बनाकर बाहर भेजना शुरू कर दिया था। उसी तरह 1944 में रूस की सरहदों पर सेना लड़ रही थी, लेकिन द्नीपर बांध और उसके

आस–पास के कारखानों का पुनर्निर्माण शुरू हो चुका था।

किसी भी पूंजीवादी देश में जनता के भीतर राष्ट्र निर्माण के लिए ऐसी स्फूर्ति, इतनी ऊर्जा और यह उत्साह नहीं देखा गया था। युद्ध खत्म होने के बाद सोवियत संघ एक बार फिर योजनाबद्ध विकास की पटरी पर चल पड़ा था। योजना का लक्ष्य रखा गया था कि वर्ष 1950 तक औद्योगिक उत्पादन को युद्ध पूर्व की अवस्था से 15 प्रतिशत आगे तक पहुंचाया जाय। सोवियत संघ के लिए यह लक्ष्य पा लेना कोई अजूबा बात नहीं थी। पहले विश्वयुद्ध और उसके बाद के गृहयुद्ध में हुई बर्बादी के अवशेष पर समाजवाद की आधारशिला रखकर विकास के उत्कर्ष पर पहुंचने का कीर्तिमान वह कायम कर चुका था। इस बार का विध्वंस ज्यादा बड़ा था, तो बर्बादी के बावजूद उसकी बुनियाद समाजवादी थी और उत्पादन की दक्षता कायम थी। फिर भी उसे बड़े पैमाने पर धन की जरूरत थी।

सोवियत संघ को उम्मीद थी कि अमेरिका इस संकट की घड़ी में उसकी मदद करेगा। इस उम्मीद का आधार था राष्ट्रपति रूजवेल्ट का आश्वासन। 1943 में उनके विशेष दूत के रूप में मास्को पहुंचे डोनाल्ड नेल्सन ने छह अरब डालर का पुनर्निर्माण कर्ज देने की बात कही थी। लेकिन रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद ट्रूमैन ने इस सहयोग को बंद कर दिया। यहाँ तक कि न्यूयार्क के बंदरगाह पर खड़े जहाजों पर रूस जाने के लिए लदा माल तक उतार लिया गया। यह कर्ज न मिलने से विजय वर्ष में बहुत से रूसी भूख से मर गये। (स्तालिन युग : अन्ना लुई स्ट्रांग)। युद्ध काल में जो काम हिटलर ने किया था, युद्धोपरांत शांति काल में उसका बीड़ा ट्रूमैन ने उठा लिया। हिटलर की आत्मा अमेरिका में जा बसी।

यह फासीवाद विरोधी गठबंधन में दरार की शुरूआत थी। साम्राज्यवाद का नवोदित सरदार अमेरिका विश्व क्रांति के केन्द्र सोवियत संघ को बर्बाद कर देने की नीति पर कदम बढ़ाने लगा था। इसमें चकित होने जैसी कोई बात नहीं थी, क्योंकि अमेरिका के राष्ट्रपति वही ट्रूमैन बने थे, युद्धकाल में जिनकी नीति थी – जर्मन जीत रहे हैं तो सोवियत का साथ दो, सोवियत जीत रहे हैं तो जर्मनों का साथ दो और दोनों को लड़–कट कर मर जाने दो। अब तो स्थिति बिल्कुल साफ थी। पूरी दुनिया पर अमेरिकी प्रभुत्व स्थापित करने में जर्मन कोई बाधा नहीं थे, लेकिन सोवियत संघ था और तात्कालिक तबाही व बर्बादी के बावजूद वह विजेता के तमगे के साथ उभरा था। पूरी दुनिया में उसकी प्रतिष्ठा कई गुना बढ़ गयी थी।

जिगरी दोस्त बने रहने की घोषणा से शुरू हुई राजनीतिक यात्रा जानी दुश्मनी में कैसे बदल गयी ? इस सवाल का जवाब खोजने के लिए हमें तेहरान सम्मेलन से पॉट्सडम सम्मेलन तक की प्रक्रिया पर गौर करना होगा। तेहरान

सम्मेलन (28–29 नवंबर 1943) उस समय हुआ था जब युद्ध में हिटलर की पराजय और सोवियत संघ की विजय के संकेत मिलने लगे थे। याल्टा सम्मेलन (4–11 फरवरी 1945) के समय तक जर्मनी का भविष्य इन तीनों नेताओं की मुट्ठी में बंद हो चुका था और पॉट्सडम सम्मेलन में दुनिया को अपने–अपने प्रभावक्षेत्र में बांटने की खींचतान शुरू हो गयी थी।

इन देशों के रूख में बदलाव के कारण क्या थे ? हम देख चुके हैं कि प्रारंभिक दौर में ब्रिटेन सहित सभी साम्राज्यवादी देशों ने हिटलर की पीठ थपथपायी थी और इस उम्मीद में उसे पाला–पोसा था कि वह सोवियत संघ को नष्ट कर उन्हें सदा–सर्वदा के लिए चिंता मुक्त कर देगा। लेकिन तेहरान सम्मेलन के समय तक स्थिति बदल चुकी थी। तीनों देशों के बीच निकटता बढ़ गयी थी। इसका आभास रूजवेल्ट और चर्चिल के वक्तव्य से मिलता है। रूजवेल्ट ने इस अवसर पर कहा था कि रूसी, अमेरिकी और ब्रिटिश लोग पहली बार युद्ध जीतने के एकमात्र उद्देश्य के साथ एक टेबुल के इर्द–गिर्द बैठे हैं। चर्चिल ने दुनिया को यह समझाने की कोशिश की थी कि युद्ध की संभावित विजय और मानव जाति का भविष्य इन तीन राष्ट्र प्रमुखों की मुट्ठी में है। (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन : एम.आर. अप्पन)।

बाद में ठीक इसी बात पर मतभेद उभरे कि युद्ध के बाद मानव जाति का भविष्य किसके हाथ में जाये और किस हद तक जाये। इस संभावना की झलक तेहरान सम्मेलन के इस मूल्यांकन में मिलती है : 'स्तालिन ने रूजवेल्ट के इस विचार से सहमति व्यक्त की कि औपनिवेशक साम्राज्य के दिन लद गये। वे चर्चिल के ब्रिटिश उपनिवेशों की आजादी का विरोध करने और भारत संबंधी उनके पुराने विचारों पर अमेरिकी राष्ट्रपति की मजाकिया टिप्पणी से भी सहमत थे। इस प्रकार भावी विश्व के निर्माण की शुरूआत हो रही थी। इस सम्मेलन के अंत में साझा नीति की घोषणा की गयी जिसमें युद्धोपरांत स्थायी शांति कायम करना और छोटे–बड़े सभी देशों के बीच शांति व सहयोग कायम करना शामिल था।

यह दीर्घकालिक मामला था। तात्कालिक तौर पर भी स्तालिन अपना लक्ष्य हासिल करने में सफल रहे थे। यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलने का निर्णय लेने, बाल्कन क्षेत्र में आंग्ल–अमेरिकी हस्तक्षेप के चर्चिल के प्रस्ताव को टाल देने और नाजी–सोवियत समझौते की उपलब्धियों को बचा लेने में।

याल्टा सम्मेलन (4–11 फरवरी 1945) तक तीनों देशों के बीच एकजुटता का रूख कमोबेश जारी रहा। इसी सम्मेलन में बिना शर्त समर्पण के बाद जर्मनी के विभाजन तथा दुनिया की गतिविधियों के शांतिपूर्ण संचालन के लिए संयुक्त राष्ट्र

संघ की स्थापना का निर्णय लिया गया। साथ ही जर्मनी पर चौतरफा हमला करने की रणनीति भी तैयार की गयी। इस समय युद्ध बिल्कुल निर्णायक मोड़ पर था और राजनीतिक रूप से सबसे जटिल स्थिति का सामना कर रहा था। एक तरफ चर्चिल रूजवेल्ट के साथ मिलकर स्तालिन को अलग–थलग करने का प्रयास कर रहे थे, तो दूसरी ओर हिटलर के सहयोगी ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अलग से शांति संधि का प्रस्ताव भेज रहे थे। तीसरी तरफ स्तालिन झुकोव को बर्लिन पर जितना जल्द हो कब्जा करने का निर्देश दे रहे थे। शह–मात के खेल को उन्हीं लोगों के शब्दों में समझना बेहतर होगा।

चर्चिल ने अप्रैल 1945 में रूजवेल्ट को लिखा : 'रूसी सेना निस्संदेह पूरे आस्ट्रिया को रौंदते हुए वियना में प्रवेश कर जायेगी। अगर वे बर्लिन पर भी कब्जा कर लेंगे तो क्या उनके मन में यह भावना नहीं भर जायेगी कि हमारी साझा विजय में भारी योगदान उनका है और क्या इससे उनके भीतर ऐसा रूझान पैदा नहीं हो जायेगा जो भविष्य में हमारे लिए भारी परेशानी पैदा कर दे और उसे दबा पाना मुश्किल हो जाये ? इसलिए मेरा विचार है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से हमलोग जितना संभव हो जर्मनी में घुस जायें, बर्लिन हमारे कब्जे में रहेगा तो हम निश्चय ही उसे हथिया लेंगे।' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन : एम.आर. अप्पन, चर्चिल : सेकंड वर्ल्ड वार खंड 6 से उद्धृत)।

चर्चिल की चिंता का कारण बिल्कुल साफ था। सोवियत सेना की जीत की तेज रफ्तार। जनवरी, फरवरी और मार्च (1945) के पैंतालीस दिनों के अंतराल में सोवियत सेना ने पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के बड़े भू–भाग को मुक्त करा लिया था। उसने प्रशिया के पूर्वी भाग जर्मनी के सिलेसिया पर कब्जा कर लिया था। इस प्रहार से डरकर यूरोप में हिटलर का सहयोगी रूमानिया युद्ध से बाहर हो चुका था। 16 मार्च से 15 अप्रैल यानी एक महीने के अंतराल में विजयी सेना ने दक्षिण में जर्मनी के बड़े हिस्से को, प्रशिया की राजधानी वियेना को कब्जे में लेते हुए बर्लिन की दिशा में कदम बढ़ा दिया था। स्तालिन लाल सेना की 27वीं जयंती (23 फरवरी) के संबोधन में युद्ध नीति की घोषणा कर चुके थे : 'हमारी जीत जितनी नजदीक आती जायेगी, हमें उतना ही ज्यादा सतर्क रहना होगा और दुश्मन पर उतनी ही भारी चोट करनी होगी। जाहिर है कि स्तालिन जिस समय दुश्मन (फासिस्ट जर्मनी) पर निर्णायक व अंतिम प्रहार के समय पूरी चौकसी की नीति की सलाह दे रहे थे, उसी समय गठबंधन के "मित्र" अंदरूनी तिकड़मबाजी की योजना बना रहे थे।

सहयोगी देशों के इस तिकड़मबाजी के प्रति भी वे सतर्क थे। मोर्चे की स्थिति

जानने के लिए उन्होंने 15 मार्च को झुकोव को मास्को बुलाया और हमला तेज करने का निर्देश दिया। फासीवाद विरोधी मोर्चे की राजनीतिक स्थिति से अवगत कराते हुए उन्हें जर्मन एजेंटों का पत्र दिखाया। उसमें सहयोगी देशों से अलग शांति वार्ता संपन्न करने का आग्रह किया गया था। इस पर स्तालिन ने आशंका जतायी थी कि इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता और इस स्थिति में जर्मन ब्रिटिश और अमेरिकी सेना को जर्मनी में घुसने का रास्ता खोल देंगे।

इस संदर्भ में उनकी यह टिप्पणी राजनीतिक स्थिति को बिल्कुल साफ कर देती है : 'मुझे लगता है कि रूजवेल्ट याल्टा समझौते का उल्लंघन नहीं करेंगे, लेकिन जहां तक चर्चिल की बात है, वे कुछ भी करने से नहीं हिचकेंगे।' (जी. झुकोव : संस्मरण खंड–2)। इस स्थिति से उत्पन्न उत्साह से भरपूर सोवियत सेना ने 30 अप्रैल, 1945 को बर्लिन पर कब्जा किया और राइखस्टाग पर धावा बोल दिया। इस समाचार के बाद ही प्रतिशोध के भय से त्रस्त हिटलर ने अपने बंकर में आत्महत्या कर ली। 1 मई, 1945 (मजदूर दिवस के दिन) को राइखस्टाग पर लाल झंडा फहरा दिया गया।

ऐतिहासिक जीत के गौरव के बावजूद ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल रूजवेल्ट और उनके सेना प्रमुख आइजेनहावर की आलोचना कर रहे थे कि वे सोवियत सेना के पहले बर्लिन पर कब्जा नहीं कर सके। तथ्य बताते हैं कि वे ऐसा कर सकते थे। माडेल के नेतृत्व वाली सेना के घिर जाने के बाद उनके सामने कोई बड़ी चुनौती नहीं थी। यह बात 'राइज एण्ड फॉल ऑफ थर्ड राइख' का लेखक विलियम एल. शिरेर की निम्न पंक्तियों से उजागर होती है : 'बर्लिन पहुंचने का रास्ता खुला पड़ा था, क्योंकि दो अमेरिकी सेनाओं और जर्मन राजधानी के बीच कुछेक बिखरे हुए असंगठित जर्मन डिविजन थे। 11 अप्रैल (1945) की शाम को दिनभर में 60 मील आगे बढ़ने के बाद अमेरिकी नौवीं सेना का अग्रदल मैग्डेबर्ग के निकट एल्बे नदी तक पहुंच गया था। अमेरिकी सेना बर्लिन से मात्र 60 मील की दूरी पर थी।' ऐसी स्थिति में चर्चिल और उनके सेना प्रमुखों की झुंझलाहट समझी जा सकती है।

दरअसल आइजनहावर के दिमाग में उस समय दूसरी योजना काम कर रही थी। वे रूसी सेना से मिलकर जर्मनी को इसी नदी तट से दो भागों में बाँट देना चाहते थे। मैग्डेबर्ग और ड्रेस्डेन के बीच दो भाग। वे रूसियों से मिलकर तथाकथित 'नेशनल रिडाउट (National Redoubt), पर कब्जा करने के लिए दक्षिण पूर्व में बढ़ना चाहते थे। उस समय उन्हें विश्वास था कि हिटलर अंतिम लड़ाई लड़ने के उद्देश्य से अपनी बची–खुची सेना को दक्षिणी बावरिया और

पश्चिमी आस्ट्रिया के लगभग अभेद्य अल्पाइन पहाड़ी श्रृंखला में जमा कर रहा है। उन्होंने यह धारणा अपनी सेना की खुफिया रिपोर्ट के आधार पर बनायी थी जो एक महीना पहले (11 मार्च) से उन्हें दी जा रही थी।

खुफिया रिपोर्ट में बताया गया था कि प्राकृतिक सुरक्षा घेरे के बीच जर्मनी के शासक आधुनिकतम हथियारों से सुसज्जित योद्धाओं के बल पर जर्मनी के पुनरूत्थान के लिए संघर्ष करेंगे। यहाँ बमप्रुफ कारखानों में हथियार बनाये जायेंगे, गुफाओं में खाने पीने की व्यवस्था रहेगी और गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित योद्धा जर्मनी पर कब्जा जमाने वाली शक्तियों के खिलाफ युद्ध का संचालन करेंगे। इस तरह की सुचनाओं ने अमेरिकी सेना में भय पैदा कर दी थी। सच्चाई यह थी कि 'नेशनल रिडाउट' का अस्तित्व ही नहीं था, यह गेबेल्स की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं था। उसके शैतानी दिमाग के झूठे प्रचार के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस काल्पनिक प्रचार ने अमेरिकी सेना को बूरी तरह डरा दिया था और इस खतरे की घाटी में उतरने के पहले उन्हें सोवियत सेना के सहयोग की जरूरत थी। दूसरी तरफ अमेरिका यह भी समझता था कि सोवियत संघ की सेना सबसे संगठित और सक्षम है तथा जापान के खिलाफ संघर्ष में उसका सहयोग जरूरी है। भय व जरूरत के गर्भ से उत्पन्न इस कार्रवाई ने चर्चिल की आशा पर पानी फेर दिया और स्तालिन को विजेताओं के बीच शीर्ष स्थान पर बैठा दिया। यह परिस्थिति महज संयोग नहीं थी। यह तो दो व्यवस्थाओं (पूंजीवादी तथा समाजवादी) में पली–बढ़ी और प्रशिक्षित सेनाओं के आत्मविश्वास की उपज थी।

युद्ध भूमि में चल रही चालबाजी और शह–मात के इस खेल का राजनीतिक रंगमंच जर्मनी की भूमि पर पॉट्सडम सम्मेलन (17 जुलाई–2 अगस्त, 1945) में सज गया। तेहरान और याल्टा सम्मेलनों की तुलना में इस सम्मेलन की परिस्थिति काफी भिन्न थी। जर्मनी और इटली का किला फतह हो चुका था, अमेरिकी राष्ट्रपति रूज्वेल्ट का देहांत हो गया था और उनकी जगह ट्रुमैन ने ले ली थी, जिस दिन सम्मेलन शुरू हो रहा था, उसी दिन अमेरिका मैलहाटन परमाणु विस्फोट प्रोजेक्ट को सफल बनाकर दुनिया की अकेली आणविक शक्ति बन गया था तथा इस सम्मेलन के दौरान ब्रिटिश संसद के चुनाव में चर्चिल की पार्टी पराजित हो गयी थी, वे (25 जुलाई को) वापस लौटे थे और उनकी जगह एटली ने ले ली थी।

जर्मनी की पराजय के बाद ब्रिटेन, अमेरिका और सोवियत संघ की दोस्ती पर दुश्मनी का रंग चढ़ने लगा था, क्योंकि दोस्ती तात्कालिक थी और कुछ शर्तों पर बनी थी, लेकिन दो व्यवस्थाओं (साम्राज्यवाद और समाजवादी) की दुश्मनी शाश्वत

थी। इस दोस्ती के आधार तीनों के लिए अलग–अलग थे। ब्रिटेन अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को बचाना चाहता था, अमेरिका उसे नये सांचे में ढालकर हड़पना चाहता था और सोवियत संघ इस साम्राज्य के आर्थिक व राजनीतिक आधार को मिटा देना चाहता था।

ब्रिटेन ने स्थिति की सच्चाई को भांपते हुए नयी औपनिवेशिक दुनिया में अमेरिका की अगुवाई में काम करना स्वीकार कर लिया था और दोनों का साझा लक्ष्य बन गया था सोवियत संघ का प्रसार रोकना और उसके विनाश के रास्ते की तलाश करना। रूज्वेल्ट की मौत और हैरी एस. ट्रूमैन का राष्ट्रपति बनना इसकी गति में तेजी लानेवाला था। इस बदलाव के कारण को समझने के लिए रूज्वेल्ट और ट्रूमैन के व्यक्तित्व के अंतर के बारे में अन्ना लुई स्ट्रॉंग की इन पंक्तियों (स्तालिन युग) पर गौर करना काफी होगा – 'वे (रूज्वेल्ट) एक विश्वस्तरीय कूटनीतिज्ञ थे और उन्हें इतिहास का ज्ञान था। लेकिन राष्ट्रपति पद पर हैरी एस. ट्रूमैन के आरोहन का बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद की संकीर्णतावादी और हड़पू प्रवृतियों को एक छोटे शहर के अदने से राजनीतिज्ञ के रूप में अपना औजार मिल गया जिसके हाथों में परमाणु बम के एकाधिकार का घमंड था और जिसके पास इतिहास का कोई बोध नहीं था'। पॉट्सडम सम्मेलन आणविक हथियार से सुसज्जित दुनिया के एक मात्र महाबली के नेतृत्व में विश्व साम्राज्यवाद के आतंक के नये दौर में प्रवेश का साक्षी बन रहा था।

तेहरान सम्मेलन में भाईचारा और एकजुटता की जो सद्भावना दिखाई गयी थी, वह आणविक ऊर्जा की गर्मी में जलकर खाक हो गयी थी। अब अमेरिकी नेतृत्व यह समझ चुका था कि जापान के खिलाफ युद्ध में उसे सोवियत संघ के सहयोग की जरूरत नहीं है। इसलिए इस सम्मेलन में सोवियत संघ के खिलाफ अमेरिका और ब्रिटेन की गुटबाजी खुलकर सामने आ गयी। चर्चिल ने अमेरिका की मातहती की जिस नीति का सूत्रपात किया था, लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री एटली ने उसका अक्षरशः पालन किया। इन दोनों की हड़पू नीतिं और उसके विरोध में स्तालिन के चट्टानी प्रतिरोध के कारण यह सम्मेलन निर्धारित एजेंडा पर कोई ठोस निर्णय लेने में विफल रहा।

इस सम्मेलन के सामने दो कार्यभार थे। युद्धोपरांत यूरोपीय देशों का निबटारा और जनतांत्रिक सिद्धांत के आधार पर जर्मनी का पुनर्निर्माण। इनमें दूसरा एजेंडा सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण था। मार्शल झुकोव इस सम्मेलन में शामिल थे और अपने संस्मरण (खंड–2) में उन्होंने इसमें हुई गरमागरम बहस का जीवंत विवरण पेश किया है। उनके अनुसार याल्टा सम्मेलन के बाद चर्चिल और ट्रूमैन ने जर्मनी को

तीन भाग में बांटने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन स्तालिन ने इसका डटकर विरोध किया : 'हम इस प्रस्ताव को खारिज करते हैं, यह प्रकृति के विपरीत है : जर्मनी का विभाजन नहीं होना चाहिए, इसे जनवादी व शांतिप्रिय देश बनाया जाना चाहिए।'

पॉट्सडम सम्मेलन में सोवियत प्रतिनिधियों के दबाव के कारण गठबंधन की शक्तियों को जर्मनी में केंद्रीय प्रशासनिक विभागों के गठन की नीति माननी पड़ी। हालांकि इस नीति को कभी लागू नहीं किया गया। इसी तरह जर्मनी के आर्थिक उत्थान के लिए शांतिपूर्ण उद्योगों और कृषि के विकास की नीति को मान्यता दी गयी और उसकी सैन्य शक्ति तथा नाजी संगठनों को नष्ट करने के रास्ते तय किये गये। लेकिन पॉट्सडम सम्मेलन के अन्य निर्णयों की तरह गठबंधन की शक्तियों द्वारा इसे भी लागू नहीं किया गया। झुकोव ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है। स्तालिन और सोवियत प्रतिनिधिमंडल पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और जर्मनी की जनता को क्षति पहुंचाने वाले निर्णयों के प्रति भी काफी संवेदनशील थे।

इसी वर्गीय खींचतान में पॉट्सडम सम्मेलन विदेश मंत्रियों की एक परिषद के गठन के साथ ही 2 अगस्त को खत्म हो गया। बाद के दिनों में इस कौंसिल ने सोवियत संघ में मजदूर वर्ग के तख्ता पलट में अंतरराष्ट्रीय सूत्रधार का काम किया। यह आशंका वनबिहारी चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'स्तालिन क्वेश्चन' में व्यक्त की है। 'व्यक्ति पूजा' की संस्कृति पर बहस की शुरूआत हो चुकी थी। इसके बावजूद स्तालिन के ऊपर खुला हमला शुरू नहीं हुआ था। 1955 में उनकी जयंती बड़े धूमधाम से मनायी गयी थी। 12 जनवरी 1956 को 'तास' और 'लिटरेचरया गजेता' ने स्तालिन की संकलित रचनाओं का चौदहवां खंड प्रकाशित करने की घोषणा भी की। लेकिन अचानक उसे रोक दिया गया। इसका संभावित कारण जुलाई 1955 में चार देशों के सम्मेलन तथा नवंबर 1955 में विदेश मंत्रियों के सम्मेलन में सोवियत संघ और साम्राज्यवादी देशों की बढ़ती प्रगाढ़ता में खोजा जा सकता है।

याल्टा सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया था कि जर्मनी पर विजय के बाद सोवियत संघ जापान के खिलाफ मोर्चा खोलेगा। यह रूज्वेल्ट के नेतृत्व में लिया गया निर्णय था जो ट्रूमैन की नजर में महत्वहीन हो गया था। जापान विरोधी संघर्ष की रणनीति में अब फासिज्म विरोधी मोर्चा व्यवहारतः अपना महत्त्व खो चुका था। 6 अगस्त और 9 अगस्त को क्रमशः हिरोशिमा और नागासाकी पर बमबारी का निर्णय लेते समय भी सोवियत संघ को सूचित नहीं किया गया था। फिर भी याल्टा सम्मेलन के निर्णय के आधार पर उसने 8 अगस्त 1945 को जापान के खिलाफ

अपना मोर्चा खोल दिया। उसके सामने यहां भी एक बड़ा लक्ष्य था : अमेरिकियों के पहुंचने के पहले याल्टा सम्मेलन में स्तालिन द्वारा निर्देशित क्षेत्रों पर कब्जा कर लेना। इस उद्देश्य के तहत सोवियत संघ ने मंचूरिया, पोर्ट आर्थर, उत्तरी कोरिया तथा अन्य कुछ द्वीपों पर कब्जा जमा लिया।

इस तरह दूसरे विश्वयुद्ध का अंत हुआ। इस अवसर पर (02 सितंबर, 1945) राष्ट्र के नाम संबोधन में स्तालिन ने इस संकट की घड़ी में सोवियत संघ की जनता के उत्साह और बलिदान की भूरि–भूरि प्रशंसा की : 'हमारी सोवियत जनता ने जीत के लिए न तो शक्ति में और न परिश्रम में कोई कोर कसर छोड़ा। हमें अत्यंत कठिन दिन झेलने पड़े। लेकिन अब हममें से हर कोई कह सकता है : 'हमारी विजय हुई है। आज से हमलोग अपने देश को पश्चिम में जर्मन आक्रमण और पूरब में जापानी आक्रमण के खतरे से मुक्त समझ सकते हैं। सारी दुनिया की जनता के लिए चिर प्रतिक्षित शांति आ गयी है।' (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)।

युद्ध खत्म हो गया था। लेकिन शांति स्थापना के प्रयास के लिए गठित विदेश मंत्रियों की कौंसिल ने पॉट्सडम सम्मेलन के निर्देश के अनुसार अपना काम ठीक से शुरू भी नहीं किया था कि उसके सामने बड़ा अवरोध आ गया। इसी बीच चर्चिल के कुख्यात फुल्टन स्पीच (5 मार्च 1946) ने उसकी दिशा उलट दी। सोवियत संघ पर हमला करते हुए उसने कहा : 'कोई नहीं जानता कि सोवियत रूस और उसका कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का निकट भविष्य में क्या करने का इरादा है या उनकी सीमा क्या है। उनके विस्तारवादी और कम्युनिस्ट व्यवस्था में बदलने के रूझान की कोई सीमा है भी या नहीं..... बाल्टिक क्षेत्र में स्तेतिन से लेकर ऐड्रियेटिक में त्रेस्ते तक लोहे की दीवार खड़ी हो गयी है। इसके पीछे मध्य और पूर्वी यूरोप के सभी देशों के राजधानी नगर – वार्सा, बर्लिन, प्राग, वियेना, बुडापेस्ट, बेलग्रेड और सोफिया आ चुके हैं।' ये सभी प्रख्यात शहर और वहां के निवासी न सिर्फ सोवियत प्रभाव में हैं, बल्कि मास्को के बहुत ज्यादा और बढ़ते नियंत्रण में है। (लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)

चर्चिल के इस वक्तव्य के प्रतिवाद में स्तालिन ने उसे तीसरे विश्वयुद्ध का युद्धोन्मादी बताया और सारी दुनिया को याद दिलाया कि रूस के पहले गृहयुद्ध के दौर में चर्चिल ब्रिटिश सरकार के युद्ध मंत्री थे और उन्हें करारी हार का सामना करना पड़ा था। इस बार वे और उनके सहयोगी अगर पूर्वी यूरोप के खिलाफ हथियारबंद अभियान चलाने में सफल हो गये तो विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति और बदतर ही होगी। साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि

इस बार उसका अभियान सफल नहीं हो पायेगा क्योंकि करोड़ों लोग शांति के आग्रह के साथ मैदान में डटे हैं।

विश्वयुद्ध से उबरने के बाद दुनिया शीतयुद्ध के दौर में प्रवेश करने जा रही थी। हालांकि चर्चिल के फुल्टन स्पीच पर पक्ष विपक्ष में कई प्रतिक्रियाएं आयीं, लेकिन इस दिशा में सबसे ठोस कदम सामने आया ट्रूमैन डॉक्ट्रिन के रूप में। अमेरिकी राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन ने संसद के दोनों सदनों में और रेडियो पर अपना संदेश प्रसारित किया : संयुक्त राज्य अमेरिका को उन स्वतंत्र देशों को सहयोग करना चाहिए जो हथियारबंद अल्पमत की अधीनता स्वीकार करने या बाहरी दबाव के खिलाफ प्रतिरोध कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि स्वतंत्र देशों को अपनी तरह से अपनी नियति तय करने का अधिकार है। मेरा विश्वास है मुख्यतः आर्थिक और वित्तीय ढंग से उन्हें सहायता दी जानी चाहिए जो आर्थिक स्थायित्व और व्यवस्थित राजनीतिक प्रक्रिया के लिए जरूरी है।' (लाइफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन)।

यह कदम कम्युनिस्टों के व्यापक प्रचार–प्रसार को रोकने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों की मदद पहुंचाने का साधन मात्र था। इसका खुलासा तुरंत हो भी गया। ग्रीस और तुर्की की प्रतिक्रियावादी राज्य व्यवस्था के प्रत्यक्ष मदद के रूप में और बुलगारिया में अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप के रूप में। इस क्रूर सच को अन्ना लुई स्ट्रांग ने 'स्तालिन युग' में इन शब्दों में व्यक्त किया था : 'पश्चिम में अमेरिका ने बुल्गारिया को आदेश दिया कि अगर वह मान्यता चाहता है, तो उसे अपने मंत्रिमंडल में अमेरिका की पसंद वाले कुछ लोगों को शामिल करना पड़ेगा।' भावी दुनिया में अप्रत्यक्ष अमेरिकी 'आदेश' ही 'स्वतंत्र देशों को अपनी तरह से अपनी नियति' तय करने का रास्ता बन गया था। यही उनकी 'स्वतंत्रता' की सीमा थी, यही उनके 'अधिकार' की सीमा थी।

उस ठोस परिस्थिति में सोवियत संघ की सीमा को उजागर करते हुए वह लिखती हैं : '1945–46 में किये गये रूस के हर काम से यही संकेत मिलता है कि अमेरिका और ब्रिटेन के साथ अपनी युद्धकालीन मित्रता को बरकरार रखने के लिए पूर्वी यूरोप में बहुत सारी रियायतें देने के लिए स्तालिन तैयार थे। इसके उदाहरण थे रूमानिया में सम्राट माइकल की नृशंस प्रतिक्रियावादी सरकार के प्रति लंबे समय तक सहिष्णुता का रवैया, यूनान में लड़ रहे कम्युनिस्टों को रूसी सहायता से वंचित रखना, अमेरिकी आपत्ति के बाद बुल्गारिया में चुनावों का मुल्तवी किया जाना और वार्सा के मंत्रिमंडल में लंदन के तीन पोलैंडवासियों को स्वीकार करना।

ये मामले नीतिगत नहीं थे, बल्कि तत्कालीन परिस्थिति में शक्ति संतुलन की देन थे। यह बात 1947 में इनफॉरमेशन ब्यूरो ऑफ कम्युनिस्ट एण्ड वर्कर्स पार्टीज के गठन के लिए पोलैंड में आयोजित बैठक में अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति पर सोवियत नीति की घोषणा से साफ होती है। इस नीति वक्तव्य का मुख्य जोर निम्नलिखित बातों पर था :

◆ विस्तारवादी अमेरिकी नीति का उद्देश्य दुनिया पर वर्चस्व स्थापित करना है। इसका लक्ष्य अमेरिकी एकाधिकारवादी नीति को सुदृढ़ करना है। यह एकाधिकार दो सबसे महत्वपूर्ण प्रतियोगी जर्मनी और जापान के सर्वनाश और ब्रिटेन तथा फ्रांस के कमजोर हो जाने के फलस्वरूप पैदा हुआ है।

◆ यह नीति बड़े पैमाने के सैन्य, आर्थिक व राजनीतिक कार्यक्रम की बुनियाद पर टिकी है। इसके लागू होने से दायरे में आने वाले देशों पर अमेरिका का आर्थिक व राजनीतिक वर्चस्व कायम हो जायेगा और वह देश पिछलग्गू बन जायेगा। इन देशों में ऐसी राज्य व्यवस्था कायम की जायेगी जो अमेरिकी पूंजी के अबाध शोषण में आने वाली हर बाधा को हटा देगी।

◆ अमेरिकी सैन्य नीति की इस योजना के लिए अमेरिका से सुदूर इलाकों में इस शांति काल में बहुतेरे सैनिक अड्डों, हथियार के जखीरों का निर्माण जरूरी है। इन सबका उपयोग सोवियत संघ तथा अन्य जनवादी गणराज्यों के खिलाफ किया जायेगा।

◆ अमेरिका की सारी उम्मीदें पूंजीवादी जर्मनी की पुनर्स्थापना पर टिकी है। उसका मानना है कि वह यूरोप की जनवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष में उसकी (अमेरिका की) सफलता सुनिश्चित करेगा।

◆ विश्व प्रभुत्व की अपनी महत्वाकांक्षा की राह में अमेरिका को सोवियत संघ, नव जनवादी देशों और दुनिया के मजदूरों से टकराना होगा। साम्राज्यवाद विरोधी–फासीवाद विरोधी केंद्र के रूप में सोवियत संघ का अंतरराष्ट्रीय कद बढ़ गया है और नव जनवादी देश आंग्ल अमेरिकी प्रभाव से बच निकलने में सफल रहे हैं।

◆ अमेरिका और साम्राज्यवादी खेमे की इस नयी दिशा पर समझौता इन देशों को ज्यादा आक्रामक बना देगा। यही कारण है कि कम्युनिस्ट पार्टियों को विस्तार और आक्रमण की साम्राज्यवादी योजना के खिलाफ प्रतिरोध मैदान में उतरना होगा। (स्रोत : 'लाईफ एण्ड टाईम्स ऑफ स्तालिन' में 'अनॉदर व्यू ऑफ स्तालिन' : लयूडो मार्टियस से उद्धृत)।

बैंठक में यह प्रपत्र सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी(बी) के पॉलित ब्यूरो के

सदस्य अंद्रेई ए. झाद्नोव ने पेश किया था।

वर्ष 1949 की तीन घटनाओं ने एकतरफा शक्ति संकेंद्रण की तस्वीर बदल दी। पहली घटना थी 4 अप्रैल को नॉर्थ अटलांटिक संधि पर वाशिंगटन में अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों का हस्ताक्षर। दूसरी घटना थी सितंबर 1949 में सोवियत संघ का आणविक विस्फोट और तीसरी घटना थी 1 अक्टूबर 1949 को चीनी क्रांति की विजय। बाद की दोनों घटनाएं अमेरिका की बढ़ती दादागीरी के खिलाफ महत्वपूर्ण कदम साबित हुईं। शक्ति संतुलन में इस बदलाव के बावजूद सोवियत संघ की शांति नीति में कोई मौलिक बदलाव नहीं आया। ट्रूमैन की युद्धोन्मादी नीति के खिलाफ स्तालिन विश्व शांति की नीति पर अटल रहे। सोवियत संघ शांति प्रयास का तथा शांतिकामी लोगों की गोलबंदी का केंद्र बन गया।

अप्रैल 1949 में पेरिस में शांतिकामी जनता के विश्व सम्मेलन के साथ ही शांति अभियान अमेरिका के युद्ध अभियान के खिलाफ जवाबी हथियार बन गया। इस अभियान ने शांति स्थापना के प्रयास के रूप में स्टॉकहोम सम्मेलन के लिए करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर करवाये जो कम्युनिस्ट आंदोलन के अंग नहीं थे। इस अवसर पर पिकासो ने शांति के प्रतीक के रूप में कबूतर की तस्वीर पेश की थी। यह था युद्धोन्माद के खिलाफ शांति अभियान का जवाब। यह शांति सोवियत संघ के लिए उतना ही महत्व रखती थी जितना क्रांति की जीत के तुरंत बाद। उस समय शांति के लिए जर्मनी के साथ अपमानजनक संधि करनी पड़ी थी, लेकिन आज वह दुनिया के सामने सम्मानजनक शांतिदूत का प्रतीक बनकर खड़ा था। दुनिया में नये किस्म का ध्रुवीकरण हो रहा था। युद्धोन्मादी अमेरिका–ब्रिटेन के इर्द–गिर्द जमा हो रहे थे और शांतिकामी सोवियत संघ के इर्द–गिर्द।

जिस समय सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व अंदरूनी संरचना और अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में व्यस्त था तथा दुनिया के पैमाने पर साम्राज्यवाद की नयी चुनौतियों से निबटने के उपाय खोज रहा था, यह साजिश उस समय चल रही थी जब पार्टी नेतृत्व पुनर्निर्माण की तेज रफ्तार की सफलता पर गर्व महसूस कर रहा था और देश की जनता इस उपलब्धि के नशे में मस्त थी। उसी समय देश में भितरघात की घिनौनी साजिश चल रही थी जिससे वह अनजान था, उसी समय नीति–निर्धारकों के बीच बीच बहस चल रही थी कि सोवियत संघ किधर? समाजवाद के अगले चरण में या पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की ओर? पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में प्रयत्नशील सिद्धांतकारों की आलोचना करते हुए स्तालिन ने अपनी थीसिस पेश की थी – समाजवादी सोवियत गणराज्य की आर्थिक

समस्यायें। यह बहस तेज होती जा रही थी और इस बहस का गला घोंटने के लिए साजिश रची जा रही थी।

7 नवंबर 1952 को अक्तूबर क्रांति के उत्सव समारोह के थोड़े ही दिनों के बाद क्रेमलिन के पॉलिक्लिनिक में कार्यरत एक महिला चिकित्सक डा० लीदिया तिमोशक का पत्र स्तालिन को मिला। इसमें डा० विनोग्रादोव एवं अन्य सात डाक्टरों पर आरोप लगाया गया था कि वे सोवियत संघ के गणमान्य हस्तियों को मार डालने के उद्देश्य से गलत इलाज करने की साजिश में शामिल हैं। इस साजिश के तहत पार्टी के पॉलित ब्यूरो के सदस्य झाद्नोव तथा शेखाकोव को मार डालने और मार्शल वासिलोव्स्की, कोनेर तथा शतेमेन्को सहित कई अन्य अफसरों को अपंग बना देने का आरोप था। इन डाक्टरों को गिरफ्तार कर लिया गया। ये सभी अमेरिकी और ब्रिटिश खुफिया संगठन के लिए काम कर रहे थे। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि ये सभी यहुदी थे और यहुदियों के अंतरराष्ट्रीय वेलफेयर ऐसोसिएशन से संबद्ध थे।

यह अंतरराष्ट्रीय साजिश था जिसका केन्द्र सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के शीर्ष नेतृत्व के भीतर था। यह किरोव की हत्या की साजिश की याद ताजा कर देने वाली घटना थी जिसका खुलासा होना बाकी था। एक बार फिर पार्टी के भितरघातियों का सफाया होना था। लेकिन इतिहास ने वह अवसर नहीं दिया। स्तालिन की आकस्मिक मृत्यु के बाद इतिहास की दिशा उलट गयी। यह संदेह हमेशा बना रहेगा कि उनकी मृत्यु सचमुच आकस्मिक दुर्घटना थी या भितरघातियों की गहरी साजिश का परिणाम। अल्बानिया की लेबर पार्टी के नेता अनवर होजा ने अपने संस्मरण (दी खुश्चोवाइट्स) में इस तरह की साजिश की संभावना का उल्लेख इन शब्दों में किया है :

'स्तालिन की मृत्यु के तुरंत बाद गॉटवाल्ड की मौत हुई। यह आकस्मिक और आश्चर्यजनक मौत थी। ..... बाद में कामरेड बैरूत की मौत हुई जिसकी कोई उम्मीद नहीं थी। कहने की जरूरत नहीं कि महान दिमित्रोव भी वहीं मरे। दिमित्रोव, गॉटवाल्ड और बैरूत सभी मास्को में मरे। कैसा संयोग था! वे तीनों महान स्तालिन के कामरेड थे।'

अनवर होजा इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि ये सब सुनियोजित हत्यायें थीं और इनका मकसद था उन देशों में ख्रुश्चोवपंथियों की पकड़ मजबूत करने की राह का रोड़ा हटाना।

***

पार्टी नेतृत्व पर पूंजीवाद के राहियों का कब्जा

इतिहास को देखने–समझने का भाववादी नजरिया उसकी व्याख्या नायक/नायकों के व्यक्तित्व और कृतित्व को केंद्र में रखकर करता है और उसकी नजर में ये नायक ही इतिहास बनाने वाले मुख्य कारक होते हैं। इसके विपरीत भौतिकवादी (मार्क्सवादी) नजरिया उसकी व्याख्या उत्पादक शक्तियों के विकास और तदनुसार उत्पादन संबंधों में आ रहे बदलावों (वर्ग संघर्ष) को केंद्र में रखकर करता है। उसके अनुसार ये दोनों इतिहास के विकास/निर्माण के मुख्य कारक होते हैं और जो व्यक्ति इनके विकास और बदलाव के नियम की सटीक समझ हासिल कर समाज को आगे बढ़ाने में उसका नेतृत्व करता है, वह इतिहास का नायक बन जाता है। हालांकि मार्क्स–एंगेल्स ने किसी क्रांति का नेतृत्व नहीं किया था, फिर भी वे इतिहास निर्माता के रूप में जाने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने वर्ग संघर्ष के नियम का पता लगाकर यह सूत्र स्थापित किया कि पूंजीवादी समाज मानव समाज के विकास का उच्चतम रूप नहीं है। इसका विनाश औद्योगिक मजदूर वर्ग के हाथों होगा और वही समाज के अगले विकास का नायक होगा। मार्क्स–एंगेल्स ने पूंजीवाद से समाजवाद में, पूंजीवादी समाज से सर्वहारा समाज में संक्रमण के जिस नियम का पता लगाया, वह औद्योगिक पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण का नियम था।

इसी नियम की बुनियाद पर लेनिन ने साम्राज्यवाद के युग में वित्तीय पूंजी की गति के नियम का पता लगाया और सर्वहारा क्रांति के नये सूत्र निरूपित किये। इस सूत्र के आधार पर पहले विश्वयुद्ध के दौरान उन्होंने समझ लिया कि रूस में वर्गीय शक्ति संतुलन इस अवस्था में है जहां मजदूर–किसान गठबंधन पूंजीपति–जमींदार वर्ग से सत्ता छीनकर मार्क्स–एंगेल्स के विश्लेषण को सही साबित कर सकता हैं। उन्होंने ऐसा कर दिखाया और अपने युग के नायक बन गये। उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए स्तालिन ने समाजवाद की आधारशिला रखी और बाहरी–भीतरी हमलों से बचाते हुए उसे आगे बढ़ाया। उनके योगदान को देखते हुए अन्ना लुई स्ट्रांग ने ठीक ही लिखा है कि इतिहास का यह कालखंड 'स्तालिन युग' के रूप में याद किया जाएगा।

इस विजयगाथा के बीच यह सवाल लाजिमी है कि सोवियत समाजवाद की वह कौन सी अंतर्भूत कमजोरी थी जिसके कारण स्तालिन के जीवन के साथ ही

उसका अंत हो गया ? यह स्तालिनोत्तर विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन का मुख्य सवाल बन गया है। इस पर बहुत कुछ मंथन हो चुका है, लेकिन इसका माकूल जवाब अब तक नहीं खोजा जा सका है। उल्टे, हुआ यह है कि सही जवाब खोजने की आड़ में गलत दिशा में भागने की प्रवृति तेज हो गयी। सांगठनिक सिद्धांत के रूप में जनवादी केंद्रीयता और राज्य के स्वरूप में सर्वहारा अधिनायकत्व की बुनियाद पर ही हमला किया गया। लगभग दो दशकों तक इस हमले का औचित्य चीन की सांस्कृतिक क्रांति में खोजने की कोशिश हुई। लोगों को समझाने की कोशिश होती रही कि स्तालिन ने उपर्युक्त दोनों मामलों में सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर गलती की। इसके फलस्वरूप खुश्चोव जैसे गद्दार पैदा होते रहे और उन्हें पता तक नहीं चला।

इसके कारण का उल्लेख करते हुए कहा गया कि स्तालिन ने वर्ग संघर्ष में जनता की भागीदारी को बढ़ावा देने के बजाय राज्य मशीनरी पर ज्यादा भरोसा किया, ब्यूरोक्रेसी को बढ़ावा दिया और इसके फलस्वरूप जन–पहलकदमी को अवरूद्ध कर दिया। सांस्कृतिक क्रांति इस कमी को दूर करने की दिशा में सही कदम है, क्योंकि सर्वहारा राजसत्ता का सवाल जनता की पहलकदमी से हल किया जा रहा है। इस प्रकार लोगों की उम्मीद इसकी विजय पर टिकी रही। लेकिन घोर निराशा तब हुई जब सोवियत संघ का इतिहास चीन में दोहरा दिया गया। माओ–त्से–तुंग की मृत्यु के बाद चीन में भी पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की प्रक्रिया शुरू हो गयी। लगभग वैसे ही जैसे सोवियत संघ में हुई थी और वह भी उसी देंग के नेतृत्व में जिसे माओ ने पूंजीवाद का राही बताते हुए चीन की जनता को सचेत किया था।

इस प्रकार मामला एक बार फिर वहीं आकर उलझ गया जहां से शुरू हुआ था। वर्ष 1991 में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के विखंडन के बाद तो स्थिति और बदतर हो गयी। इसलिए वर्तमान परिस्थिति जीवंत मार्क्सवाद या विकासमान मार्क्सवाद के अध्येताओं से मांग करती है कि वे भाववादी तरीके से इतिहास पढ़ने और समझने की आदत से बाज आयें और भौतिकवादी तरीके से उसका विश्लेषण करें। यह विश्लेषण कैसे होगा, इसका व्यावहारिक मानदंड क्या होगा ? इन सवालों का जवाब हमें पेरिस कम्यून पर मार्क्स के विश्लेषण तथा जर्मनी की क्रांति (1848–51) की पराजय के एंगेल्स के विश्लेषण के तरीकों से मिलता है। 'जर्मनी में क्रांति तथा प्रतिक्रांति' शीर्षक लेख में एंगेल्स ने लिखा :

'यदि हम पिट जाते हैं तो हमारे पास करने को और कुछ नहीं रह जाता कि हम फिर नये सिरे से काम शुरू करें। और सौभाग्यवश हमें आंदोलन के पहले अंक

के पटाक्षेप और दूसरे अंक के आरम्भ के बीच आराम करने का जो अत्यल्प समय मिलता है, वह हमें एक अत्यंत जरूरी काम करने का वक्त दे देता है : उन कारणों का अध्ययन करना जिसके फलस्वरूप क्रांति का विस्फोट हुआ और पराजित हुई, उन कारणों का अध्ययन करना जिन्हें कुछ नेताओं के आकस्मिक प्रयत्नों, प्रतिभा, त्रुटियों, गलतियों या गद्दारी में नहीं, वरन उथल-पुथल ग्रस्त राष्ट्रों में से हरेक की आम सामाजिक स्थिति में तथा उनके अस्तित्व की अवस्थाओं में ढूंढ़ा जाना चाहिए।'

एंगेल्स यहीं नहीं रूकते। वे उन लोगों को फटकारते भी हैं जो किसी व्यक्ति की गलती या गद्दारी में पराजय के कारण ढूंढ़ने के आदी हैं : 'उस पार्टी का भविष्य कितना अफसोसनाक है जिसकी पूरी की पूरी पूंजी बस इतने एक तथ्य की जानकारी है कि अमूक-अमूक सज्जन पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए।'

इस तरीके को अपनाते हुए हम अब इस बात की जांच करें कि क्या स्तालिन ने सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने के लिए सममुच पार्टी में और राज्य मशीनरी में ब्यूरोक्रेसी को मजबूत बनाया ? यह आरोप मुख्यतः त्रॉत्स्की और उसके अनुयायियों का रहा है। इनकी विशेषता है कि ये लोग लेनिन पर कोई दोषारोपण नहीं करते, बल्कि हमेशा यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि लेनिन के सच्चे अनुयायी स्तालिन नहीं, बल्कि वे खुद थे। इसलिए इस मामले पर लेनिन के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करेंगे कि सोवियत समाजवाद में ब्यूरोक्रेसी के बने रहने का आधार क्या था और उसके मिटने की शर्तें क्या हो सकती थी ? तब हमें यह समझने में सहुलियत होगी कि स्तालिन लेनिन की नीतियों का अनुसरण कर रहे थे या उनका उल्लंघन ?

मार्क्सवाद की लेनिन की व्याख्या समझने के लिए हमें उनकी यह उक्ति याद रखनी पड़ेगी कि उनका मार्क्सवाद मार्क्स के मार्क्सवाद का खंडन प्रतीत हो सकता है, लेकिन सिर्फ स्वरूप में, अंतर्वस्तु में यही मार्क्सवाद है। इस प्रकार जो लोग सोवियत संघ में राजसत्ता की खामियों की आलोचना के संदर्भ में 'पेरिस कम्यून' के मार्क्स के उद्धरण का उल्लेख करते हैं, वे भूल जाते हैं कि उनका उल्लेख मृत मार्क्सवाद है, बेकार है। उतना ही बेकार जितना किसी हिंदू के दैनिक व्यावहारिक जीवन में वेद सूत्र का उल्लेख। लेनिन ने रूस में समाजवादी राज की स्थापना के पहले ही यह साफ कर दिया था कि ब्यूरोक्रेसी मजदूर-किसान राज के लिए अनिवार्य होगी। अपने प्रसिद्ध लेख 'क्या बोल्शेविक राजसत्ता को हाथों में रख सकते हैं' में उन्होंने लिखा :

'हमें बैंकिंग और उद्यमों के एकीकरण के कामों में अच्छे संगठनकर्ताओं की

आवश्यकता है (इन मामलों में पूंजीपतियों को अधिक अनुभव प्राप्त है और अनुभवी लोगों को प्राप्त करना अधिक आसान होता है, हमें पहले के किसी भी समय की अपेक्षा अधिक इंजीनियरों, कृषिविज्ञों, तकनीशियनों तथा हर प्रकार के वैज्ञानिक प्रशिक्षणयुक्त विशेषज्ञों की आवश्यकता है। हम ऐसे कार्यकर्त्ताओं को उसी तरह के कार्यभार सौपेंगे जिनके वे अभ्यस्त हैं और जिन्हें वे निभा सकते हैं। संक्रमण काल में ऐसे विशेषज्ञों के लिए अधिक वेतन की छूट देते हुए सभी कामों के लिए समान वेतन को शायद हम धीरे–धीरे ही करेंगे। लेकिन हम उन्हें मजदूरों के व्यापक नियंत्रण में रखेंगे, हम इस नियम का पालन पूरी तरह और बिना किसी शर्त के करेंगे कि : जो काम नहीं करता, वह खायेगा भी नहीं।'

लेनिन ने यह बात अक्टुबर समाजवादी क्रांति की पूर्व वेला में कही थी। इस लंबे लेख में उन्होंने रूस की सर्वहारा सत्ता के अधीन राज्य मशीनरी के ढांचे पर प्रकाश डाला था और अपने विरोधियों की आशंका को तथ्यों और तर्कों के आधार पर खारिज करने का प्रयास किया था। इसके बाद इस दिशा में कदम बढ़ाते हुए 26 मई 1918 को इकोनॉमिक कौंसिल की पहली कांग्रेस को संबोधित करते हुए उन्होंने 'वैज्ञानिक रूप से प्रशिक्षित असंख्य विशेषज्ञों के प्रशिक्षण' और 'पूंजीवादी विशेषज्ञों को उपयोग में लाने के कार्यभार' पर जोर दिया। इस नीति के फलस्वरूप राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सुप्रीम कौंसिल में अधिकारियों की संख्या मार्च 1918 में 300 से बढ़कर अगले छह महीनों में 2500 हो गयी थी। निस्संदेह इनमें अधिकांश लोग गैर सर्वहारा थे।

उस समय भी शोरगुल शुरू हुआ था कि ब्यूरोक्रेसी को फिर से जीवित किया जा रहा है और पूंजीवादी नेतृत्व की पुनर्स्थापना हो रही है। इस शोरगुल के बीच लेनिन की नीति जारी रही, उसे पार्टी और जनता का समर्थन मिलता रहा। इससे साफ है कि मामला इस जनविरोधी संस्था को मिटाने का नहीं था, बल्कि सर्वहारा के नेतृत्व में चलनेवाले मजदूर–किसान राज के अधीन मजदूरों–किसानों के हित में इसके उपयोग का था। साथ ही, इस पर प्रभावी नियंत्रण कायम करने का था।

यहाँ दूसरी उल्लेखनीय बात है कि जब 19 अप्रैल 1919 को राज्यादेश के बदौलत पीपुल्स कमिसारियत ऑफ स्टेट कंट्रोल का गठन किया गया तो स्तालिन उसके कमिसार बनाये गये। उस समय सोवियत सरकार में वे राष्ट्रीयताओं के मामले के कमिसार थे और साथ ही पॉलित ब्यूरो और संगठन ब्यूरो के सदस्य भी। इसके बावजूद यह जिम्मेवारी उन्हें ही दी गयी। इसके बाद 7 फरवरी 1920 को इस संस्था को मजदूर–किसान निरीक्षण (रेबक्रिन) का रूप दिया गया, जिसका विशेष कार्यभार अफसरशाही और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाना था। इसकी भी

जिम्मेवारी स्तालिन को सौंपी गयी और वे इस पद पर पार्टी के महासचिव बनने तक बने रहे। यह स्थिति लेनिन के जमाने की है जिसकी नीतियों पर स्तालिन विरोधियों का कोई प्रश्न नहीं है। उस दौर में भी स्तालिन सबसे योग्य और जिम्मेवार व्यक्ति माने जाते थे और ब्यूरोक्रेसी को नियंत्रण में रखने की जिम्मेवारी उन्हीं को सौंपी गयी थी।

यहां तीसरी उल्लेखनीय बात है कि इस बिमारी के इलाज के क्रम में कुछेक बार लेनिन की ओर से उनपर अफसरशाहों के प्रति ज्यादा आक्रामक होने का आरोप भी लगा। इतिहास का यही संकट है। लेनिन के दौर में अफसरशाही को नियंत्रण में रखने के काम के लिए जो व्यक्ति सबसे ज्यादा योग्य और सबसे ज्यादा जिम्मेवार समझा गया, उसी पर अफसरशाही को बढ़ाने का सबसे ज्यादा आरोप लगा। शर्म की बात यह नहीं है कि यह आरोप कम्युनिस्ट खेमे में बैठे पूंजीवादी दलालों ने लगाया, शर्म की बात यह है कि क्रांतिकारी खेमा या तो इस आरोप पर मौन रहा या आंशिक रूप से इसके समर्थन में खड़ा हुआ। इसलिए रूसी क्रांति के इस शताब्दी वर्ष में सोवियत संघ में पूजीवाद की पुनर्स्थापना के भौतिक (आर्थिक–सामाजिक) कारणों की सही व्याख्या कर शर्म की इस चादर को उतार फेंकने की जरूरत है।

अब मामले का दूसरा पक्ष। लेनिन ने ब्यूरोक्रेसी के विरोध में हो हल्ला करनेवालों का निबटारा कैसे किया ? इस दृष्टिकोण के सबसे कट्टर विरोधी त्रॉत्स्की थे। 11 अप्रैल 1922 को लेनिन ने सोवियत सरकार के मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष की हेसियत से एक राज्यादेश जारी किया था। इसके अनुसार मंत्रिपरिषद के उपाध्यक्षों और श्रम तथा रक्षा मंत्रालय को जिम्मेवारी सौंपी गयी थी कि वे लाल फीताशाही और अफसरशाही वाली कार्यपद्धति पर अंकुश लगायें। इस आदेश में यह भी कहा गया था कि मजदूर–किसान निरीक्षण का मंत्रालय उपाध्यक्षों के स्टाफ की तरह काम करेगा, अब अफसरशाही कार्यपद्धति के लिए दण्डित करने का काम पहले की तुलना में ज्यादा होगा और न्याय मंत्रालय ऐसे मामलों पर मुकदमा शुरू करेगा। त्रॉत्स्की ने इस आदेश पर जोरदार हमला बोला था।

ये सारे उपाय करने के बावजूद लेनिन संतुष्ट नहीं थे। अपने अंतिम दिनों में (जो निश्चय ही काफी विवादास्पद था) वे रेबक्रिन के काम–काज से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव दिया था कि रेबक्रिन और कंट्रोल कमीशन को एक साथ मिला दिया जाय। लेनिन की इस उलझन से साफ है कि रूसी मजदूर वर्ग के आर्थिक–शैक्षणिक और सांस्कृतिक विकास की ठोस अवस्था में इन विशेषज्ञों के सहयोग के बिना राज चलाना मुश्किल था और इन्हीं से मजदूर राज के

अस्तित्व को खतरा भी था। ये दोनों बातें लेनिन की नजर में बिल्कुल साफ थीं, इसीलिए ब्यूरोक्रेसी का नाम सुनते ही नाक–भौं सिकोड़ने वाले नेताओं से वे खरी–खरी बातें किया करते थे। इसके कुछ नमूने गौर करने लायक हैं।

त्रॉत्स्की का पर्चा 'ट्रेड यूनियनों की भूमिका और कार्यभार' (दी रोल एण्ड टास्क्स ऑफ दी ट्रेड यूनियंस) का जवाब देते हुए लेनिन ने दो बातें कही थी। पहली बात थी सेना के बारे में :

'बहादुरी, उत्साह इत्यादि सैन्य अनुभव के सकारात्मक पक्ष हैं, लाल–फीताशाही और दम्भ सबसे खराब किस्म के सैन्य अनुभव के नकारात्मक पक्ष हैं। त्रॉत्स्की का इरादा चाहे जो हो, उनकी थीसिस सैन्य अनुभव के बारे में सर्वोत्तम रूझान का नहीं, निकृष्टतम रूझान का प्रदर्शन करती है। यह बात दिमाग में रहनी चाहिए कि कोई राजनीतिक नेता सिर्फ अपनी नीतियों के प्रति ही नहीं, अपने अनुयायियों के कार्यकलापों के प्रति भी जिम्मेवार होता है।'

ट्रेड यूनियन के मामले में उनकी थीसिस का सार–संकलन करते हुए वे आगे कहते हैं : 'कामरेड त्रॉत्स्की की थीसिसें राजनीतिक रूप से हानिकारक है। उनकी नीति का निष्कर्ष ट्रेड यूनियनों को अफसरशाही उत्पीड़न का शिकार बनाना है। मैं आश्वस्त हूँ कि पार्टी कांग्रेस इसकी निंदा करेगी और इसे खारिज कर देगी।'

ब्यूरोक्रेसी की जरूरत और उसके विरोधियों के प्रति लेनिन के दृष्टिकोण का सबसे सटीक खुलासा होता है एम.एफ. सोकोलोव के नाम लेनिन के पत्र (16 मई, 1921) से। इस पत्र में लेनिन अपनी बात के पहले सोकोलोव की पंक्ति उद्धृत करते हैं – 'जनता की स्वतंत्र गतिविधि तभी संभव है, जब हम इस धरती से उस घाव का विलोप कर दें, जिसे अफसरशाही के प्रमुखों का प्रशासन और केंद्रीय बोर्ड कहा जाता है।'

निस्संदेह, यह बात सुनने में बड़ी क्रांतिकारी लगती है, लेकिन लेनिन की नजर में रूस की ठोस परिस्थिति में यह घोषणा 'बकवास' थी, 'नौसिखुआ' थी। इसके जवाब में लेनिन के शब्द थे : 'इस तरह के घाव को काटकर निकाल फेंकना असंभव है। यह घाव सिर्फ भर सकता है। इस मामले में सर्जरी बेकार है, असंभव है। यह सिर्फ धीरे–धीरे भर सकता है। बाकी सब बकवास है, नौसिखुआपन थी।'

लेनिन यहीं नहीं रूकते। वे आगे कहते हैं : 'एंगेल्स का आपका उद्धरण किसी काम का नहीं है। क्या वह कोई बुद्धिजीवी नहीं था जिसने आपको इस उद्धरण की सलाह दी ? यह बदतर नहीं तो बेकार का उद्धरण है। इससे किसी सिद्धांतकार की बू आती है'..... इस पत्र का सबसे दिलचस्प पहलू है, सोकोलोव की यह स्वीकृति कि उन्होंने ब्यूरोक्रेसी से टकराने की कोशिश दो–तीन बार की, लेकिन

हर बार असफल रहे। इस पर लेनिन का जवाब था : 'आपको दो–तीन बार ही प्रयास नहीं करना है, बल्कि 20–30 बार करना होगा। इस प्रयास में लगे रहिए।' इस पत्र के अंत में लेनिन की अंतिम सलाह सामने आती है, जिससे मामले की गंभीरता का अंदाज मिलता है : आपको उन्हें बाहर नहीं फेंकना होगा, उनकी सफाई करनी होगी, घाव को भरने देना होगा। घाव को भरने दीजिए और सफाई कीजिए, दस बार और सौ बार। और हिम्मत मत हारिए, (स्तालिन क्वेश्चन : वन बिहारी चक्रवर्ती, लेनिन की संकलित रचनायें खंड–35)।

यह लेनिन की व्यक्तिगत समझ नहीं थी, बल्कि आठवीं कांग्रेस के बाद से यह पार्टी की समझ बन गयी थी। 1921 में खनिकों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस में कम्युनिस्ट ग्रुप के बीच बहस में बोलते हुए लेनिन ने याद दिलाया था : '1919 के कार्यक्रम में हमलोगों ने लिखा था कि ब्यूरोक्रेटिक प्रैक्टिस मौजूद है। जो भी सामने आता है और इस प्रैक्टिस को रोक देने की मांग करता है, वह जन–भावना को भड़काने वाला (बड़बोला) है।..... हमलोग आगामी कई वर्षों तक ब्यूरोक्रेसी की बुराई से लड़ते रहेंगे, और जो इसके विपरीत सोचता है, वह जन भावना के साथ खिलवाड़ करता है, (बड़बोलेपन का शिकार है) उसके साथ फरेब करता है। इसका कारण है कि ब्यूरोक्रेसी की बुराइयों पर काबू पाने के लिए सैकड़ों तरीकों (उपायों) की जरूरत पड़ेगी, समग्र (wholesale) साक्षरता, संस्कृति और मजदूर–किसान निरीक्षण में भागीदारी।' (वही, लेनिन की संकलित रचनाएं, खंड–32)

इस दृष्टिकोण से दो बातें बिल्कुल साफ हो जाती हैं। पहली यह कि ब्यूरोक्रेसी की यह समस्या दीर्घकालिक थी और दूसरी बात यह कि रूसी कम्युनिस्ट पार्टी इस में मतभेद का शिकार है। बहुत थोड़े से लोग थे जिनका नजरिया सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर बिल्कुल साफ था। दूसरे छोर पर वे लोग थे जिनका नजरिया न तो साफ था और न वे समझना चाहते थे। वे समाजवाद का बिल्ला लगाकर समाजवाद विरोधी गतिविधियों में संलग्न रहते थे। इससे परिस्थिति को कोई अंतर नहीं पड़ता था कि वे यह काम जान–बूझकर करते थे या अनजाने। इन दोनों के बीच मध्यमार्गी लोगों का बड़ा खेमा था जो यह देखकर निर्णय लेता है कि किसका पलड़ा भारी है। अंतिम संघर्ष में यह खेमा निर्णायक भूमिका निभाता है। हर जगह ऐसा ही होता है और सोवियत संघ में भी ऐसा हुआ। लेनिन अपने कार्यकाल तक निर्विवाद नेता बने रहे और उनके सामने इन अवसरवादियों की दाल नहीं गली।

लेनिनोत्तर काल में जब पार्टी की कमान स्तालिन के हाथ में आयी, तो उन्होंने

इस मामले में लेनिन की नीति–सफाई करो और घाव भरने दो का अनुसरण किया। ब्यूरोक्रेसी के प्रभाव को घटाने के लिहाज से उनके दो कदमों पर ध्यान दें – मजदूरों के बीच तकनिकी और प्रबंधन के ज्ञान के प्रचार–प्रसार पर जोर और इस दिशा में कदम उठाने वालों को राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान। इन दोनों कदमों की चर्चा हम इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी में विस्तार के साथ कर चुके हैं। यहां ब्यूरोक्रेसी पर नियंत्रण का शिकंजा कसने की दिशा में उनके द्वारा उठाये गये कदमों की चर्चा करेंगे।

स्तालिन ने 16 मई 1928 को यंग कम्युनिस्ट लीग की आठवीं कांग्रेस में ब्यूरोक्रेसी के अस्तित्व और उसके खिलाफ संघर्ष के तरीकों पर नये ढंग से प्रकाश डाला। इसमें न सिर्फ राज्य मशीनरी की ब्यूरोक्रेसी की चर्चा हुई, बल्कि कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेसी का मामला भी एजेंडा में आ गया। लेनिन ने त्रॉत्स्की की गलतियों को रेखांकित करने के क्रम में ट्रेड यूनियन में ब्यूरोक्रेसी के खतरों की ओर इशारा किया था, लेकिन संभवतः पार्टी में फूट को रोकने के लिए उन्होंने इस मामले पर ज्यादा जोर नहीं दिया। वैसे भी नयी आर्थिक नीति के दौर में समाजवाद और राजकीय पूंजीवाद के गठबंधन के बल पर निजी पूंजीवाद और निम्नपूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष करने की नीति अपनायी गयी थी। कहने की जरूरत नहीं कि राजकीय पूंजीवाद ब्यूरोक्रेसी का सबसे बड़ा संबल था और स्वाभाविक था कि छूत की यह बिमारी पार्टी के भीतर भी पहुंच जाये।

स्तालिन जिस समय पार्टी की कमान संभाल रहे थे, उस समय स्थिति काफी बदल चुकी थी। सोवियत संघ समाजवादी क्रांति के दौर में प्रवेश कर रहा था, उस समय निजी पूंजीवाद और निम्न पूंजीवाद का नाश करने के साथ–साथ राजकीय पूंजीवाद तथा ब्यूरोक्रेसी पर प्रभावकारी अंकुश लगाना जरूरी भी था और संभव भी। इसी क्रम में पार्टी संरचना में व्याप्त ब्यूरोक्रेट्स की चर्चा स्तालिन ने इन शब्दों में की थी : 'जब लोग ब्यूरोक्रेट्स के बारे में बातें करते हैं तो उनका इशारा पुराने गैर पार्टी अधिकारियों की ओर होता है : अगर बात यहीं तक होती, तो ब्यूरोक्रेसी के खिलाफ संघर्ष आसान रहता। परेशानी यह है कि यह पुराने ब्यूरोक्रेट्स का मामला नहीं है। यह नये का मामला है, वैसे ब्यूरोक्रेट्स का जो सोवियत सरकार के साथ हमदर्दी रखता है। अंततः यह कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेट्स का मामला है। कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेट सबसे खतरनाक किस्म का ब्यूरोक्रेट है। ऐसा क्यों ? क्योंकि वह अपनी ब्यूरोक्रेसी पार्टी सदस्य की उपाधि में छुपा लेता है। और दुर्भाग्यवश, हमारे पास ऐसे बहुतेरे कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेट्स हैं।'

इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं – 'निस्संदेह, आप इससे इनकार

नहीं करेंगे कि यंग कम्युनिस्ट लीग में जहां—तहां ऊपर से नीचे तक भ्रष्ट तत्व भरे पड़े हैं जिनके खिलाफ निर्मम संघर्ष बिल्कुल जरूरी है। लेकिन हम भ्रष्ट तत्वों की बात छोड़ दें। यंग कम्युनिस्ट लीग के भीतर व्यक्तियों के इर्द—गिर्द जमा विभिन्न ग्रुपों द्वारा संचालित सिद्धांतविहीन संघर्ष के हाल के तथ्यों पर विचार करें। यह ऐसा संघर्ष है जो यंग कम्युनिस्ट लीग के भीतर के माहौल में जहर घोल रहा है।'

तब अगला सवाल है कि इससे निबटने का उपाय क्या हो ? इसके जवाब में स्तालिन कहते हैं :

'इसका एकमात्र उपाय है, नीचे से नियंत्रण स्थापित करना, मजदूर वर्ग की विशाल जनता की ओर से हमारी संस्थाओं की ब्यूरोक्रेसी, उनकी खामियों और गलतियों की आलोचना शुरू करना।'

ऊपर से नीचे तक यह संघर्ष ब्यूरोक्रैसी पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए चल रहा था। लेकिन इससे भी बड़ा सवाल था कि इसे सर्वहारा वर्ग की शक्तियों से विस्थापित कैसे किया जाय ? इसका एक ही रास्ता था — मजदूरों को प्रशिक्षित कर उत्पादन की तकनीक और प्रबंधन का विशेषज्ञ बनाया जाय। इसी बात को ध्यान में रखकर स्तालिन ने पार्टी की सोलहवीं कांग्रेस में नारा दिया था 'तकनीक से सब कुछ तय होगा' और सतरहवीं कांग्रेस में इसे आगे बढ़ाते हुए उनका नारा बन गया — कैडर के बिना तकनीक मुर्दा है। इन बातों की चर्चा हम इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी में कर चुके हैं। इन सारी बातों को एक साथ समेटकर हम देखें तो तस्वीर साफ हो जायेगी कि लेनिन ने ब्यूरोक्रेसी पर अंकुश लगाने तक पार्टी नीति को सीमित रखा था। स्तालिन ने उसे धीरे—धीरे नष्ट कर देने की नीति तक आगे बढ़ाया।

यह कैसे हुआ ? इसका जवाब खोजने के लिए हमें मजदूर—किसान राज में पूंजीवादी ब्यूरोक्रेसी को बचाये रखने की मजबूरी के आर्थिक आधार पर गौर करना होगा। इस आधार की व्याख्या करते हुए लेनिन ने 'जिन्सी टैक्स के बारे में' शीर्षक लेख में कहा : 'हमारे यहां नौकरशाहियत की आर्थिक जड़ दूसरी ही है, अर्थात **छोटे पैमाने के उत्पादन का छिन्न—भिन्न बिखरा हुआ स्वरूप, उसकी दरिद्रता, संस्कृति का अभाव, सड़कों का अभाव, निरक्षरता, कृषि तथा उद्योगों के बीच विनिमय का अभाव।'** जिस समय स्तालिन ब्यूरोक्रेसी को मिटाने के लिहाज से मजदूर वर्ग को साधन संपन्न कर रहे थे, उस समय तक उसका आर्थिक आधार तो नष्ट हो चुका था, लेकिन शिक्षा और संस्कृति के मामले में वह तब भी पूंजीपति वर्ग की तुलना में पिछड़ा था, यह पिछड़ापन ब्यूरोक्रेसी के बने रहने तथा पैदा होने का निरंतर स्रोत बन सकता था और अगर अनुकूल परिस्थिति मिले तो वह पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का आधार भी बन सकता था।

यही कारण था कि पार्टी की अठारहवीं कांग्रेस (1939) में रिपोर्ट पेश करते हुए स्तालिन ने मजदूर वर्ग के सांस्कृतिक उत्थान पर सर्वाधिक जोर दिया था। यह रिपोर्ट बहुत गंभीरता से पढ़ने और सीखने लायक है। लेकिन अफसोस की बात है कि स्तालिनोत्तर कम्युनिस्ट आंदोलन में उसकी उतनी ही उपेक्षा हुई। इस रिपोर्ट से एक उद्धरण बार–बार उद्धृत किया गया और साबित करने की कोशिश की गयी कि स्तालिन अपने अनुभव से व्यावहारिक काम तो ठीक–ठाक कर लेते थे, लेकिन सिद्धांत के मामले में वे काफी कमजोर थे, वे समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष के नियम को नहीं समझ पाये थे और उनकी इसी नासमझी (या गलत समझ) का परिणाम है कि सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुर्नस्थापना हो गयी। विरोधियों और अर्द्धसमर्थकों की बात तो छोड़ ही दीजिए, उनके कट्टर समर्थक तक इस आरोप के सामने झेंप जाते हैं। इस मामले पर विस्तृत सैद्धांतिक चर्चा हम इस श्रृंखला की अगली (और अंतिम) कड़ी में 'सोवियत संघ में समाजवाद के उत्थान–पतन के सबक' पर चर्चा के दौरान करेंगे। यहां उन बिंदुओं पर केंद्रित करेंगे कि इस रिपोर्ट में सीखने की गंभीर बातें क्या थीं।

सबसे पहली बात तो यह थी कि यह कांग्रेस जब हो रही थी, तब दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो चुका था। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और वहां की जनता भलीभांति जानती और समझती थी कि इस युद्ध में हमले का मुख्य केंद्र उनकी समाजवादी व्यवस्था को ही बनना है। इस रिपोर्ट में सतर्कता, तैयारी और ईंट का जवाब पत्थर से देने की प्रतिबद्धता और साहस तो दिखाई पड़ता है, लेकिन भय का लेशमात्र भी नहीं। ऐसा लगता है कि सोवियत संघ की जनता यह जानती थी कि अगर युद्ध उस पर थोपा गया तो जीत उसकी ही होगी।

उनके अटूट विश्वास का स्रोत उनकी दृढ़ एकता थी। स्तालिन ने अपनी रिपोर्ट में इस एकता को रेखांकित भी किया था। इसे सोवियत समाज की खासियत बताते हुए कहा था कि हमारे देश में वर्गों के बीच शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध खत्म हो चुका है। मजदूर–किसान और बुद्धिजीवी समूह गैर शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध के साथ सामंजस्यपूर्वक अस्तित्व में हैं। उनके इस विश्लेषण की पुष्टि युद्ध के दौरान भी हुई जब पूंजीवादी नेताओं और विचारकों की आशा के विपरीत सोवियत संघ में पांचवें स्तंभवादियों की छाया तक दिखाई नहीं पड़ी। कुछेक पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ने तो प्रारंभिक दौर में ही घोषणा कर दी थी कि रूस में पांचवें स्तंभवादी नहीं मिलेंगे क्योंकि उनका सफाया किया जा चुका है। दूसरी ओर हिटलर को उम्मीद थी कि इस सफाया अभियान के बाद सोवियत संघ आंतरिक कलह का शिकार होगा तथा जर्मन सेना जैसे ही हमला करेगी, वैसे ही विभीषणों

की फौज भीतर से हमला बोल देगी और चुटकी बजाते हीं जर्मन फौज विजय पताका फहरा देगी। उसने अपने सैन्य अधिकारी जॉड से कहा था – 'हमलोगों को दरवाजे पर सिर्फ एक लात मारना है, सड़ा–गला पूरा ढ़ांचा भरभराकर गिर जायेगा।' (राइज एण्ड फॉल ऑफ थर्ड राइख)

थोड़े से देशद्रोहियों और गद्दारों को छोड़कर सचमुच इस युद्ध में सारा देश एकजुट था। इसका बड़ा दिलचस्प उदाहरण हमें 'राइज एण्ड फॉल ऑफ थर्ड राइख' में मिलता है। लेखक जर्मन सेना अधिकारी गुदेरियन के हवाले से बताता है कि ओरेल में उसकी मुलाकात जारशाही के जमाने के रिटायर्ड जनरल से हुई और उससे बातचीत ने पांचवें स्तंभवादी मिलने की संभावना पर पानी फेर दिया। उसके एक–एक शब्द गौर करने लायक है : 'अगर तुमलोग बीस साल पहले आये होते, तो हम तुम्हारा आलिंगन करते। लेकिन अब बहुत देर हो चुकी है। हमलोगों ने अभी–अभी अपने पैरों पर खड़ा होना शुरू किया है। अब तुमलोग आये हो और बीस साल पीछे धकेल रहे हो, ताकि हमलोगों को फिर नये सिरे से शुरू करना पड़े। अब हमलोग रूस के लिए लड़ रहे हैं और इस उद्देश्य के लिए हम सब एकजुट हैं।'

बीस वर्षों के बोल्शेविक शासन में रूस इतना बदल चुका था। यह तथ्य स्तालिन के उपर्युक्त विश्लेषण की पुष्टि करता है। लेकिन इसी में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के तत्व भी छुपे थे, क्योंकि उस रिटायर्ड जनरल की बात से इसका खुलासा नहीं होता कि वह पूंजीवादी राष्ट्रवादी की हैसियत से अपनी बात कह रहा था या कम्युनिस्ट के लिहाज से। कुछ भी हो, उस समय इस बारीक अंतर को समझ पाना असंभव था क्योंकि व्यापक जनता की एकता समय की मांग थी।

इस मामले में हिटलर गलत साबित हुआ। इसके विपरीत स्तालिन की नीति सही साबित हुई कि गद्दारों को मार डालने से जनता की एकजुटता मजबूत होती है।

रूसी जनता की इस चट्टानी एकता का अभिवादन करते हुए कमांडरों के सम्मान में आयोजित भोज में स्तालिन के ये शब्द याद करने लायक है :

'हमारी सरकार ने कम गलतियां नहीं की है। एक समय था जब हमारी स्थिति हताशा वाली हो गयी थी। जैसा कि 1941–42 में। जब हमारी सेना यूक्रेन, बेलारूस, मोल्दाविया, लेनिनग्राद, बाल्टिक–करेलो, फिनिश गणराज्य के क्षेत्र में गाँवों और शहरों को छोड़कर पीछे हट रही थी, क्योंकि दूसरा कोई विकल्प नहीं था। दूसरे देश की जनता सरकार को कह देती : आप हमारी उम्मीदों पर खरा नहीं उतरे हो। बाहर जाओ। हम दूसरी सरकार लायेंगे जो जर्मनी के साथ शांति समझौता कर हमारे लिए शांति सुनिश्चित करेगी। लेकिन रूस की जनता ने ऐसा

नहीं किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उनकी सरकार जो नीति लागू कर रही है, वह सही है और उन्होंने जर्मनी की पराजय सुनिश्चित करने के लिए कुर्बानियां दीं। और सोवियत सरकार में रूसी जनता का यह विश्वास मानव जाति के दुश्मन पर, फासिज्म पर हमारी जीत सुनिश्चित करने में निर्णायक तत्व साबित हुआ।'

पूंजीवादी विचारक इस विश्वास को बंदूक के बल पर थोपी गयी एकता कह कर समाजवाद की उपलब्धियों को खारिज करने की कोशिश करते हैं। मार्क्सवादी खेमे के जो लोग उसी तर्ज पर इसे खारिज करते हैं, उन्हें हम पूंजीपतियों के दलाल या भेदिये के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं!

तीसरी महत्वपूर्ण बात थी, सोवियत संघ के विकास की उपलब्धि। स्तालिन ने आंकड़ों से साबित किया था कि सोवियत समाज विकास की उस मंजिल पर पहुंच गया है जहां से वह कम्युनिज्म की नीचली मंजिल से उच्च मंजिल की ओर प्रस्थान कर सकता है। मार्क्स–एंगेल्स ने उस मंजिल में पहुंचने के लिए उत्पादन की प्रचुरता की जो शर्त्त बतायी थी सोवियत संघ उसे पूरा करने की दिशा में कदम बढ़ाने जा रहा था। उसके पास उत्पादन की उन्नत तकनीक आ गयी थी, उत्पादन में दक्ष व प्रशिक्षित लोग थे, उसे अगले पड़ाव की ओर बढ़ने के लिए सबसे जरूरी तत्व था कि उसे शांतिपूर्ण विकास का लम्बा कालखंड उपलब्ध हो। लेकिन यही 'समय' उसे नहीं मिला। दूसरे विश्वयुद्ध में हालांकि उसने विजेता का गौरव हासिल किया, लेकिन भारी कीमत चुकाकर। जो समय, धन और ऊर्जा उसे समाजवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण में लगानी थी, वह अपने को बचाने और फासिस्ट शक्तियों को तहस–नहस करने में लगी।

इस युद्ध ने सोवियत संघ (और साथ ही विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन) को काफी गहरे ढंग से प्रभावित किया। धन और जन की बर्बादी का आकलन किया जा चुका है, लेकिन देश की राजनीति और संस्कृति को उसने जिस तरह पीछे हटने को मजबूर किया, उसका आकलन पूंजीवादी व निम्न पूंजीवादी विचारक और राजनेता नहीं कर सकते। दुनिया के पैमाने पर इस प्रभाव को सबसे पहले और सबसे प्रखर रूप से कमिंटर्न को भंग करने की प्रक्रिया में देखा जा सकता है। यह निर्णय उस परिस्थिति में जितना जरूरी था, बाद के लिए उतना ही खतरनाक भी था। ऐसा नहीं है कि यह निर्णय सिर्फ मित्र राष्ट्रों के दबाव में लिया गया। यह महत्वपूर्ण कारण था। साथ ही दुनिया की कई कम्युनिस्ट पार्टियां भी महसूस कर रही थीं कि विभिन्न पूंजीवादी ताकतों के दुष्प्रचार के कारण फासिस्ट विरोधी 'लोक जनवादी मोर्चा' के गठन में परेशानी हो रही है। इस मोर्चाबंदी के तहत स्वाभाविक था कि पूंजीवादी जनवाद और समाजवाद के बीच घालमेल की स्थिति पैदा हो।

इसका प्रभाव सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पर भी पड़ा। इस प्रभाव को आंतरिक संकट के काल में और युद्धकाल में पार्टी विस्तार की स्थिति से समझा जा सकता है। अठारहवीं कांग्रेस में पार्टी की सदस्य संख्या 16 लाख बतायी गयी थी जो सत्रहवीं कांग्रेस की सदस्य संख्या 27 लाख से काफी कम थी। इसका कारण था कि किरोव की हत्या के बाद उत्पन्न परिस्थिति में बड़ी संख्या में लोग निकाले गये थे और पार्टी में नये सदस्यों की भर्ती रोक दी गयी थी। लेकिन इस युद्ध की पृष्ठभूमि को देखते हुए इस नीति में ढील दी गयी। इसीलिए युद्ध के बाद पता चला कि दो करोड़ वीरगति पाये लोगों में लगभग 35 लाख कम्युनिस्ट थे और एक तिहाई कम्युनिस्ट सदस्य ही बचे रह गये थे। उद्योग, कृषि, यातायात आदि जैसी आर्थिक संरचनाओं के क्षेत्र में हुई क्षति की भरपाई बहुत तेजी से कर ली गयी, लेकिन पार्टी संरचना में हुई बर्बादी अपूरणीय साबित हुई।

ऐसा दो कारणों से हुआ। पहला यह कि जिन लोगों ने राष्ट्रहित में अपनी जान तक दे दी उनकी निष्ठा, शौर्य और प्रतिबद्धता पर शक की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि पार्टी की रीढ़ टूट गयी थी। ऐसी हालत में पार्टी की सही नीति भी लागू होती तो कैसे ! दूसरी बात इससे भी ज्यादा घातक थी। 'सारी जनता का युद्ध' के नारे ने सारे देश को आंदोलित तो कर दिया, लेकिन कम्युनिस्टों और पूंजीवादी राष्ट्रवादियों के बीच की विभाजन रेखा को भी धूमिल कर दिया। जो बात विश्व राजनीति पर लागू हो रही थी, वही बात सोवियत संघ में भी पांव जमा रही थी। और पार्टी की कमजोर (कहें जर्जर) संरचना उनके लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा कर रही थी। इस स्थिति का लाभ उठाकर घात लगाये पूंजीवाद के राहियों ने पार्टी नेतृत्व पर वैसे ही कब्जा किया जिसका अनुमान स्तालिन ने लगाया था और अठारहवीं कांग्रेस में कार्यकर्त्ताओं को चेताया था।

***

पूंजीवाद के राहियों की उत्पत्ति का आधार

स्तालिन की चेतावनी के बावजूद भितरघातियों की जमात पैदा हुई। इस बार इनकी जमात इतनी मजबूत थी कि सत्ता पर काबिज होकर समाजवादी उत्पादन संबंधों को धीरे–धीरे नष्ट करने में सफल हो गयी। लगभग तीन दशकों के बाद माओ की चेतावनी के बावजूद चीन में भी ऐसा ही हुआ। चूंकि चीन हमारी इस परिचर्चा का विषय नहीं है, इसलिए हम तत्कालीन सोवियत संघ के अंदरूनी वर्गीय शक्ति संतुलन तक सीमित रहेंगे। इस मामले में बेहतर होगा कि शुरूआत दूसरे विश्वयुद्ध के पहले के सोवियत संघ में विभिन्न वर्गों की स्थिति के विश्लेषण से हो। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) की अठारहवीं कांग्रेस में पेश रिपोर्ट में इस विषय पर स्तालिन के मूल्यांकन से : 'जो विशेषता सोवियत समाज को आज किसी पूंजीवादी समाज से अलग करती है, वह यह है कि इसमें अब शत्रुतापूर्ण, परस्पर–विरोधी चरित्रवाला वर्ग नहीं है, शोषक वर्ग नष्ट किये जा चुके हैं और सोवियत समाज का निर्माण करने वाले मजदूर, किसान और बुद्धिजीवी मित्रतापूर्ण सामंजस्य के साथ काम करते हैं और जीवन–यापन करते हैं।'

स्तालिन का यह मूल्यांकन सबसे ज्यादा विवादास्पद रहा है। इसी को उद्धृत कर बार–बार उन पर आरोप लगता रहा कि पूंजीपति वर्ग के पुनरूत्थान और सत्तारोहन की संभावना उनकी सोच से बाहर की बात हो चुकी थी। ऐसा निष्कर्ष निकालने वाले लोग आज भी मौजूद हैं, लेकिन उनकी आवाज मद्धिम हो गयी है। फिर भी विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन और मार्क्सवाद के ज्ञान भंडार को काफी क्षति हो चुकी है।

मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों के बीच मित्रतापूर्ण सामंजस्य को लेकर कई तरह की आशंकाएं व्यक्त की जाती रही हैं। इसका स्पष्टीकरण देते हुए स्तालिन ने तत्कालीन सोवियत समाज में बुद्धिजीवी समुदाय की संरचना और उसकी भूमिका की विस्तृत व्याख्या की। इस क्रम में उन्होंने इस समुदाय को दो भागों में बांटा था – पुराने किस्म के बुद्धिजीवी और नये बुद्धिजीवी जो क्रांति के बाद पैदा हुए। फिर पुराने किस्म के बुद्धिजीवियों को भी तीन श्रेणियों में बांटकर देखा गया। पुराने समाज के सबसे प्रभावशाली और सबसे ज्यादा शिक्षित बुद्धिजीवी अक्तूबर क्रांति के पहले दिन से ही विरोध में खड़ा हुए और उन्होंने भितरघाती की भूमिका निभायी। इसका दण्ड उन्हें मिला। बचे हुए अधिकांश लोग

विदेशी शक्तियों के एजेंट की भूमिका में खड़े हुए। पुराने बुद्धिजीवियों का दूसरा खेमा कम शिक्षित था और संख्या में ज्यादा था। वह बहस–मुहाबसा में ज्यादा समय लगाकर अपने लिए अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा करता रहा। अंततः पछताकर उसने हार मान ली और सोवियत सरकार के साथ सामंजस्य बैठाकर काम करने लगा। पुराने बुद्धिजीवियों का तीसरा खेमा सबसे नीचला हिस्सा था और उसकी संख्या सबसे ज्यादा थी। वह शुरू से ही सोवियत सरकार के साथ सामंजस्य बैठाकर काम करने को इच्छुक था।

इनसे अलग क्रांति के बाद किसानों और मजदूरों के बेटे बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी बने, खुद मज़दूरों व किसानों को विश्वविद्यालय में शिक्षा के लिए भेजा गया। इस प्रकार सोवियत समाज ने नये बुद्धिजीवी पैदा किये और दोनों किस्म के बुद्धिजीवियों के मिलने से नये किस्म का बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हुआ।

उपर्युक्त सूत्र की आलोचना के क्रम में प्रश्न उठाया जाता है कि जब तत्कालीन सोवियत समाज में दमन के लिए कोई दुश्मन वर्ग का अस्तित्व नहीं था, तो राज्य के बने रहने की जरूरत क्या थी ? ऐसा नहीं था कि स्तालिन उस समय ऐसे सवालों से कतराकर निकल गये थे। उसी रपट में 'सिद्धांत से जुड़े कुछ सवाल' (सम क्वेश्चन्स ऑफ थ्योरी) उपशीर्षक में ऐसे सवालों का जवाब उन्होंने दिया था। सबसे पहले उन्होंने स्पष्ट किया था कि राज्य के बारे में मार्क्स–एंगेल्स का नजरिया चारों तरफ साम्राज्यवादी देशों से घिरे सोवियत राज्य व्यवस्था पर उसी रूप में लागू नहीं होता। इसलिए वहां की ठोस परिस्थिति में उनके कई सूत्र प्रासंगिक नहीं रह जाते। इसका साफ मतलब है कि स्तालिन इन अनुभवों को सैद्धांतिक सूत्रों में पिरोना चाहते थे, लेकिन समय की कमी के कारण पूरा करने में समर्थ नहीं थे। आगे उन्होंने यह खुलासा किया कि देश के अंदरूनी मामलों में सोवियत राज्य की दमनकारी भूमिका समाप्त हो गयी है और उसकी भूमिका विदेशी हमलों, घुसपैठियों और विदेशी जासूसों आदि को नियंत्रित करने और उसका दमन करने तक सीमित रह गयी है। अंदरूनी मामलों में उसकी सीमित भूमिका को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं : **'इस अवधि में (राज्य का) प्रधान कार्यभार पूरे देश में समाजवादी अर्थव्यवस्था संगठित करना और पूंजीवादी तत्वों के अंतिम अवशेषों को मिटाना, सांस्कृतिक क्रांति को संगठित करना और देश की रक्षा के लिए पूरी तरह आधुनिक सेना का निर्माण करना है।** (शब्दों पर जोर हमारा)

यह उद्धरण स्वतः इतना स्पष्ट है कि इसकी व्याख्या की कोई जरूरत नहीं। राज्य के कार्यभार की व्याख्या करते हुए वे आगे कहते हैं : 'अब देश के भीतर हमारे

राज्य का मुख्य कार्यभार शांतिपूर्ण आर्थिक व सांगठनिक तथा सांस्कृतिक व दंड विधायी अंगों और खुफिया सेवाओं, शैक्षणिक कामों में निहित रह गया है। जहां तक हमारी सेना, का संबंध है, उनकी धार अब देश के भीतर नहीं मुड़ती, बल्कि बाहर की ओर, बाहरी दुश्मनों के खिलाफ मुड़ी रहती है।'

अब हम देखें ऐसी स्थिति के बारे में लेनिन क्या कहते हैं ? 'अंतिम बात यह कि केवल कम्युनिज्म ही राज्य को पूर्ण रूप से अनावश्यक बनाता है, क्योंकि दबाये जाने के लिए कोई नहीं रह जाता। इस 'कोई नहीं' का मतलब वर्ग से है, आबादी के एक निश्चित अंग के खिलाफ व्यवस्थित लड़ाई से है। हम कल्पनावादी नहीं हैं और हम इस संभावना और अनिवार्यता से जरा भी इनकार नहीं करते कि इक्के–दुक्के लोग ज्यादतियां कर सकते हैं और न इस बात की जरूरत से इनकार करते हैं कि इस तरह की ज्यादतियों को रोकना चाहिए। ...... और दूसरे हम जानते हैं कि ज्यादतियों का, जो सामाजिक आदान–प्रदान के नियमों के उल्लंघन में निहित है, मूल सामाजिक कारण, जनता का शोषण, उसकी तंगी और उसकी गरीबी है। इस मुख्य कारण के दूर हो जाने पर ज्यादतियों का भी "धीरे–धीरे विलोप" शुरू हो जायेगा। हम नहीं जानते कि कितनी जल्दी और किस क्रम से, लेकिन हम यह जानते हैं कि वे धीरे–धीरे विलुप्त हो जायेंगे। उनके धीरे–धीरे विलुप्त हो जाने के साथ राज्य भी धीरे–धीरे विलुप्त हो जायेगा।'

जाहिर है कि लेनिन अपने उद्धरण में समाजवाद की उच्च मंजिल की बात कर रहे थे जबकि स्तालिन निचली मंजिल से ऊपरी मंजिल में संक्रमण की अवस्था की। लेनिन कम्युनिज्म के दौर में भी राज्य की भूमिका स्वीकार करते हैं और नहीं बता सकते कि उसके विलोप में कितना समय लगेगा। एंगेल्स 'पेरिस कम्यून' की भूमिका में राज्य के विलोप की एक शर्त निरूपित करते हैं जिससे इसपर ज्यादा बेहतर रोशनी पड़ती है। उनकी शर्त है – 'जब तक मुक्त सामाजिक परिस्थितियों में पली नयी पीढ़ी राज्य के पूरे कुड़े–कबाड़ को धूर के ढेर पर डाल देने में समर्थ नहीं हो जाती।' यह है मार्क्सवादी विचारकों का दृष्टिकोण। लेकिन स्तालिन के आलोचक चाहते हैं कि समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण का दौर शुरू हुआ नहीं कि राज्य को जबरन मिटा देना चाहिए। लेनिन और एंगेल्स के उपर्युक्त मापदंड पर ये खरा नहीं उतरते। मार्क्सवादी नैसर्गिक प्रक्रिया में सर्वहारा राज्य के विलोप में विश्वास करते हैं जबकि अराजकतावादी किसी भी राज्य को जबरन मिटा देने में। भले ही वह सर्वहारा राज्य ही क्यों न हो। इस प्रकार क्रांतिकारी लफ्फाजी के मुखौटे में वे अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीवाद की सेवा करते हैं।

अब हम सोवियत संघ में मौजूद संक्रमण की अवस्था पर विचार करें।

दरअसल किसी संक्रमणशील अवस्था में दोनों संभावनायें मौजूद रहती हैं। अनुकूल परिस्थिति में वह आगे बढ़ती है, लेकिन प्रतिकूल परिस्थिति में पीछे भी लौट सकती है। स्तालिन इस बात को अच्छी तरह समझते थे और इस कांग्रेस में पार्टी ने सोवियत समाज को आगे बढ़ाने के कई कार्यभार निर्धारित किये थे। ये कार्यभार तीन तरह के थे :

औद्योगिक उत्पादन (खासकर उत्पादन के साधनों के उतपादन) में प्रतिव्यक्ति उत्पादन की दर के मामले में उन्नत पूंजीवादी देशों से आगे निकल जाना और उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में इतना अतिरेक उत्पादन का लक्ष्य हासिल कर लेना कि हर किसी को 'जरूरत के अनुसार' जीवन–यापन के साधन उपलब्ध कराये जा सकें। इसमें कृषि क्षेत्र का उत्पादन भी शामिल है।

शिक्षा और संस्कृति का विकास कर इसे उच्चतर स्तर तक ले जाना जहां शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच का अंतर मिट जाये।

सेना और सैन्य उपकरणों का आधुनिकीकरण करना ताकि किसी पूंजीवादी देश के हमले से सोवियत संघ की रक्षा की जा सके।

पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण की यह पद्धति साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवाद के टेढ़े–मेढ़े विकास की देन है जहां समाजवाद का पहला प्रयोग एक पिछड़े पूंजीवादी देश में हुआ और उन्नत पूंजीवादी देश उसका गला घोंट देने के फिराक में घात लगाये बैठे थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्तालिन को घोषणा करनी पड़ी थी कि जब तक सोवियत संघ के खिलाफ शत्रुतापूर्ण संबंध वाले पूंजीवादी देशों का घेरा बना रहेगा तब तक कम्युनिज्म में संक्रमण के बावजूद राज्य का अस्तित्व बना रहेगा और इसके समाप्त हो जाने की अनिवार्य शर्त बन गयी थी कि उसके चारों तरफ समाजवादी देशों का घेरा बने। इस तरह की समझ और समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण की दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) की अठारहवीं कांग्रेस संपन्न हुई थी। उस समय सोवियत संघ के योजना आयोग के अध्यक्ष तेज तर्रार युवा नेता निकोलाई वोज्नोसेंस्की थे। बाद में वे उप प्रधानमंत्री भी बने। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद वही पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के मुखर प्रवक्ता बने, 1949 के 'लेनिनग्राद अफेयर्स' के अभियुक्त बने और अंततः उन्हें मौत की सजा मिली। यह है दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के बदलाव का नमूना।

इस बदलाव को समझने के लिए एक बार फिर अठारहवीं कांग्रेस की ओर लौटें। समाजवाद से साम्यवाद में संक्रमण की संभावना का उल्लेख करते हुए स्तालिन ने घोषणा की थी कि सोवियत संघ में इस दिशा में छलांग लगाने के सारे

तत्व – उत्पादन के आधुनिक साधन, उन साधनों को उपयोग में लाने के लिए जरूरी मानव शक्ति, कच्चा माल आदि मौजूद हैं। इसलिए अब जरूरत इस बात की थी कि इस दिशा में प्रगति के लिए उसे शांतिपूर्ण समय मिले। वह समय कितना लंबा होगा, स्तालिन इसका आकलन नहीं कर पा रहे थे। लेकिन इस दिशा में कदम उठाते हुए दो निर्णय लिये गये। पहला यह कि पार्टी की आठवीं कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम की जगह नये कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक 27 सदस्यीय कमिटी गठित की गयी जिसमें स्तालिन के साथ वोज्नेसिंस्की, ख्रुश्चोव और कोसिजीन जैसे सारे लोग थे जो बाद के दिनों में समाजवाद के कातिल और पूंजीवाद के संस्थापक के रूप में कुख्यात हुए। दूंसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि 1940 का मध्य आते–आते वोज्नेसिंस्की ने एक 15 वर्षीय योजना पेश की। उनका अनुमान था कि इसे लागू कर इस अवधि में समाजवाद से साम्यवाद में प्रवेश की प्रक्रिया पूरी हो सकती है। इस योजना को सोवियत सरकार और पार्टी की केंद्रीय कमिटी की मंजूरी भी मिल गयी थी। इसकी बुनियादी रूप रेखा भी तैयार कर ली गयी थी। लेकिन इसी बीच सोवियत संघ पर नाजी हमले (22 जून 1941) ने सारी योजनाओं पर पानी फेर दिया। सोवियत संघ को साम्यवाद की नयी दुनिया का मॉडल तैयार करने के लिए जिस 'समय' की जरूरत थी, हिटलर और उसके गुर्गों ने उसे तहस–नहस कर दिया।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ में हुई तवाही और बर्बादी और विश्व राजनीति के बदलते तेवर का जिक्र हम कर चुके हैं। इसके पुनर्निर्माण में भागीदारी में जन उत्साह और पुनर्निर्माण की तेज रफ्तार की चर्चा भी हम कर चुके हैं। यहां चर्चा का विषय होगा कि पार्टी के शीर्ष नेतृत्व मंडल में अर्थनीति के मामले में यू–टर्न कैसे हो गया। पार्टी की अठारहवीं कांग्रेस में नेतृत्व मंडल की सोच में पूर्ण एकरूपता का दृश्य हम देख चुके हैं। यह वह समय था जब पार्टी बड़े पैमाने पर भितरघातियों का सफाया कर पूरी तरह ऊर्जावान बनकर निकली थी। लेनिन के शब्दों में कहें तो 'घाव में भरे मवाद' की सफाई की जा चुकी थी अब उसके भरने की प्रक्रिया का इन्तजार करना था। दूसरे विश्वयुद्ध के प्रहार ने इस घाव को हरा कर दिया और फासीज्म विरोधी साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ मेल–जोल से उत्पन्न इन्फेक्शन ने उसमें इतना मवाद भरा कि पूरी पार्टी की काया में जहर बनकर वह फैल गया। यह था आंतरिक और वाह्य कारणों के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध और उनके बीच अंतःक्रिया का आधार। अब पार्टी की केंद्रीय कमिटी और सरकारी तंत्र में बहस का सार तत्व इस रूप में प्रकट होने लगा कि सोवियत संघ पूंजीवाद की ओर लौटे या साम्यवाद की दिशा में छलांग लगाये।

रूस की जनता दूसरे विश्वयुद्ध के खात्मे के बाद पुनर्निर्माण के काम में वामन के डग भरने लगी थी। एक बार फिर यह साबित होने लगा था कि समाजवाद की तुलना में पूंजीवाद निकृष्ट सामाजिक व्यवस्था है। इसी बीच सोवियत संघ में सैद्धांतिक बहस का विस्फोट हुआ। योजना आयोग के अध्यक्ष निकोलाई अलेक्सेविच वोज्निसिंस्की की पुस्तक 'दी वार इकोनॉमी ऑफ यूएसएसआर ड्यूरिंग दी पिरियड ऑफ द पेट्रिऑटिक वार' 1947 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में लेखक ने उजागर किया कि इस युद्ध के दौरान विभिन्न उद्योगों के बीच श्रम का वितरण मूल्य के नियम के अनुसार होता था। अपने विश्लेषण का उपयोग उन्होंने यह निष्कर्ष निकालने के लिए किया कि सोवियत संघ में वितरण की व्यवस्था बाजार के अनुसार तय की जानी चाहिए। वे यहीं तक नहीं रूके। उन्होंने अपनी थीसिस 1 जनवरी 1949 को लागू करनी शुरू भी कर दी। मूल्य के सिद्धांत पर थोक बिक्री की कीमतें तय की गयीं जिसके फलस्वरूप खुदरा बाजार में कीमतें दोगुनी हो गयीं। उसका दूसरा प्रयास केंद्रीय योजना संस्थानों को कमजोर कर उसे स्थानीय स्तर पर शिफ्ट करने की ओर था। तीसरा (और सबसे घातक) कदम यह प्रस्ताव था कि उत्पादन के साधनों (मशीनों आदि) की कीमतें बाजार में उनके मूल्य (उत्पादन में लगे अनिवार्य श्रम काल) के आधार पर तय की जायें। स्पष्ट तौर पर ये सब पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के प्रयास थे। इसलिए इन्हें पूंजीवादी जगत् में खूब सराहा गया।

सोवियत समाजवाद की विकास यात्रा के इस मोड़ पर पार्टी की 18वी कांग्रेस में स्थापित वर्गीय संबंधों का संतुलन बिखरकर असंतुलित हो गया। मजदूर, किसान और बुद्धिजीवी जिस सौहार्द्रपूर्ण माहौल में जी रहे थे, उसके तहस–नहस की शुरूआत हो गयी। स्तालिन ने इस बदलाव को भली–भाँति समझा और वोज्नेसिंस्की पर आरोप लगाया कि वे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में कदम उठा रहे हैं। समाजवाद को बचाने के लिहाज से इस प्रयास के खिलाफ स्तालिन ने मोर्चा खोला। वोज्नेसिंस्की के दृष्टिकोण का खंडन करते हुए उनकी पुस्तक 'दी इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ यूएसएसआर' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने स्वीकार किया कि समाजवाद में मूल्य के नियम सीमित दायरे में काम करते हैं, लेकिन वे उसके उत्पादन व वितरण की पद्धति का नियमन नहीं करते। यह महत्वपूर्ण सैद्धांतिक विश्लेषण था जिसकी बाद के दिनों में घोर उपेक्षा हुई। हालांकि स्तालिन ने अपने विश्लेषण में वोज्नेसिंस्कि का नाम नहीं लिया, लेकिन उनकी प्रस्थापना के खिलाफ तीन तर्क पेश किये :

- हल्के उद्योग सबसे ज्यादा लाभकारी हैं, लेकिन उनका विकास सबसे

ज्यादा नहीं हुआ है और भारी उद्योगों की तुलना में उन्हें ज्यादा अहमियत नहीं दी गयी है जबकि भारी उद्योग कम लाभकारी हैं, कभी–कभी तो अलाभकारी भी हो जाते हैं।

◆ भारी उद्योग के कई संयंत्र अलाभकारी हैं जहां मजदूरों का श्रम उचित मुनाफा नहीं कमाते, फिर भी वे बंद नहीं हुए हैं। इसके विपरीत ज्यादा लाभ कमाने वाले हल्के उद्योग नहीं खोले गये हैं।

◆ कम लाभकारी (लेकिन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी) उद्योगों से मजदूरों का तबादला ज्यादा लाभकारी (मूल्य के नियम के अनुकूल काम करने वाले) उद्योगों में नहीं किया गया।

औद्योगिक विकास की यह दिशा साबित करती है कि मूल्य के नियम सोवियत संघ की अर्थनीति का नियमन नहीं करते थे।

इस बहस पर हम बाद में आयेंगे। पहले इस बात की चर्चा की जाय कि वोज्नेसिंस्की और उस खेमे के कई अन्य लोग अपने–अपने पदों से हटाये गये थे, उनपर मुकदमा चला था और उन्हें मौत की सजा दी गयी थी। पूंजीवादी इतिहासकार इस पर एकांगी दृष्टिकोण अपनाते हुए यह आरोप लगाते हैं कि राजनीतिक मतभेद के कारण उन्हें यह सजा दी गयी। संधोधनवादी इस व्याख्या का समर्थन करते हैं और ढुलमुल मार्क्सवादी झेंपते हुए स्तालिन की आलोचना (निंदा की हद तक) स्वीकार कर लेते हैं। दरअसल ये इतिहासकार अपनी वर्गीय पक्षधरता के कारण सोवियत सरकार के खिलाफ बहुत बड़ी साजिश पर पर्दा डालते हैं।

वर्ष 1948 में युगोस्लाविया के एक शिष्टमंडल का सोवियत दौरा हुआ था। उन दिनों युगोस्लाविया और सोवियत संघ (तथा अन्य समाजवादी गणराज्यों) के बीच संबंध तनावपूर्ण थे, उस पर यहां तक शक होने लगा था कि वह कम्युनिस्ट खेमे में यूरोप और अमेरिका के लिए जासूसी करता है। इस तनावपूर्ण संबंध का असर मास्को में साफ–साफ दिखाई पड़ा था। लेकिन जब वही शिष्टमंडल लेनिनग्राद गया, तो उसका स्वागत बड़ी गर्मजोशी से हुआ। सोवियत संघ की केंद्रीय सत्ता ने इसे बहुत गंभीरता से लिया और इस बात की छानबीन शुरू हो गयी कि किन–किन सूचनाओं का आदान–प्रदान हुआ और राजद्रोह की दृष्टि से ये कितने गंभीर हैं। इसके मुख्य अभियुक्त वेज्निसेंस्की, रूसी समाजवादी गणराज्य के प्रधानमंत्री रादिओनोव तथा सुप्रीम कोर्ट के अध्यक्ष मंडल के सदस्य पेत्रपोकोव थे।

घटनाक्रम पर विचार करें तो इनके कार्यकलापों पर संदेह पैदा होना लाजिमी

है। यह अकारण नहीं हो सकता कि 1948 में शिष्टमंडल का दौरा होता है और जनवरी 1949 में लेनिनग्राद की सत्ता मास्को के खिलाफ बगावती तेवर का एलान कर देती है। पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की अपनी अर्थनीति पर अमल करना शुरू कर देती है। इसके बाद केंद्रीय सोवियत के अधिवेशन में संविधान (1936 का) में संशोधन कर राजद्रोह और ऐसे ही संगीन अपराधों के लिए मौत की सजा का प्रावधान शामिल किया जाता है। यह सोवियत संघ में एक दशक (1939–49) में आये सामाजिक–राजनीतिक बदलावों का प्रकटीकरण था और निस्संदेह, दूसरे विश्वयुद्ध और उसके बाद विश्व राजनीति में आये बदलावों ने इसमें निर्णायक भूमिका निभायी थी। अब हमारे सामने विचारणीय विषय ये हैं कि इस बाहरी कारक का आंतरिक आधार क्या था, और इसे समझने और इसके खिलाफ संघर्ष की रणनीति तय करने में स्तालिन के नेतृत्व में मार्क्सवादियों–लेनिनवादियों की भूमिका क्या थी।

हम देख चुके हैं कि राजद्रोह और भितरघात का जवाब राजकीय दमन से दिया गया और वोज्निसिंस्किी के आर्थिक सिद्धांत का खंडन सोवियत समाजवाद के तथ्यपरक विश्लेषण के आधार पर। पूंजीवाद के राहियों के दोहरे घात के खिलाफ दोहरा प्रतिघात। स्तालिन ने अपनी रचना 'इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स इन यू. एस.एस.आर.' में समाजवाद के दौरान उत्पादन और वितरण के नियम का उल्लेख किया और अगले चरण में विकास के नियम का पता लगाया। इस पुस्तिका का प्रकाशन 1952 में हुआ था। वोज्नेसिंस्की की थीसिस के प्रकाशन के पांच साल बाद। संभवतः इस देर के लिए स्तालिन का खराब स्वास्थ्य, रूसी जनता की बेहतरी के लिए विकास का नियमन तथा अमेरिका और यूरोप की सोवियत विरोधी संघबंदी के खिलाफ तैयारी में व्यस्तता थी। इसमें स्तालिन ने स्वीकार किया कि समाजवाद के दौरान मूल्य के नियम कई क्षेत्रों में काम कर रहे थे, लेकिन वे व्यवस्था का नियमन नहीं कर रहे थे, व्यवस्था के संचालन में उनकी भूमिका निर्णायक नहीं थी। यह इसलिए संभव हो पा रहा था कि किसी पूंजीवादी समाज के विपरीत वहां उत्पादन के साधन पर निजी मिल्कियत नहीं थी, समाज की मिल्कियत थी और उत्पादन में अराजकता की जगह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संतुलित विकास की नीति काम कर रही थी।

इस विश्लेषण से समाजवादी और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के बीच का अंतर साफ हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में लाभ कमाने की इच्छा (यानी अतिरिक्त मूल्य पैदा कर उसे हड़पने की इच्छा) उसकी आत्मा होती है, इसके बिना उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। इसके विपरीत समाजवाद के अंतर्गत समाज की

विशाल आबादी (खसकर मेहनतकश आबादी) की जरूरतों की पूर्ति उसकी आत्मा होती है और इसके बिना उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। दूसरी तरफ वोज्नेसिंस्की (और बाद में खुश्चोव) के उदय ने मार्क्स–एंगेल्स के इस सूत्र को भी सही साबित कर दिया कि समाजवाद पूंजीवाद से साम्यवाद (कम्युनिज्म) में संक्रमण की अवधि होती है और जब तक समाज विकास की इस मंजिल में रहेगा, तब तक पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का खतरा बना रहेगा। मूल्य के नियम का अस्तित्व में बने रहना (भले ही वह निर्णायक भूमिका न निभाता हो) इस बदलाव का आंतरिक आधार है और समाजवादी देश का चारों तरफ से साम्राज्यवादी देशों से घिरा रहना और निरंतर उनके हस्तक्षेप से जूझते रहना उसका वाह्य कारक है।

यह सामान्य सूत्र की तरह है। अब इसका निरूपण युद्धोत्तर सोवियत समाज की वर्गीय स्थिति पर करते हुए देखा जाय कि उसमें पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की गुंजाईश कहां–कहां मौजूद थी ? इसके लिए एक बार फिर हम स्तालिन की उपर्युक्त रचना पर गौर करेंगे। तत्कालीन सोवियत समाज के विभिन्न आर्थिक संवर्गों के आंतरिक संबंधों की चर्चा करते हुए उन्होंने रेखांकित किया कि उद्योग और कृषि के संबंधों (शहर और देहांत के संबंधों) में, शारीरिक और मानसिक श्रम के संबंधों में तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में वह गुंजाईश है जहां से पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में कदम बढ़ाया जा सकता है।

स्तालिन ने इस रचना में कृषि और उद्योग के अंतर को चिन्हित किया। उन्होंने बताया कि सोवियत समाजवाद की तत्कालीन मंजिल में उद्योग और कृषि के बीच पहला अंतर तो उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल लोगों के जीवन की परिस्थितियों में है। लेकिन इससे ज्यादा महत्वपूर्ण उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया में है : 'उद्योग में उत्पादन के साधनों तथा उत्पाद पूरी तरह सार्वजनिक स्वामित्व के अधीन आ गये हैं जबकि कृषि में सार्वजनिक स्वामित्व नहीं, बल्कि ग्रुप का स्वामित्व, सामूहिक फार्म का स्वामित्व हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि यह परिस्थिति माल परिचालन के बनाये व बचाये रखने की दिशा में ले जाती है। जब उद्योग और कृषि का यह अंतर पूरी तरह मिट जायेगा, तभी माल उत्पादन और उससे जुड़े सारे प्रतिफल पूरी तरह मिट पायेंगे।' तब इस खतरे से निबटने का एक ही रास्ता बचता था कि सामूहिक फार्म व्यवस्था से आगे बढ़कर कृषि का भी राष्ट्रीयकरण किया जाय। इस समय तक सोवियत समाज इस छलांग के लिए परिपक्व नहीं हो सका था।

यही बात शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच मौजूद अंतर के बारे में भी कही जा सकती है। यहां भी मूल्य का नियम काम करता है। तब सवाल उठता है

कि अंतर की इस खाई को कैसे पाटा जाय ? स्तालिन के शब्दों में यह काम 'मजदूरों के तकनिकी और सांस्कृतिक स्तर को तकनिकी विशेषज्ञों के स्तर तक उन्नत बनाकर' किया जा सकता है। सोवियत संघ में समाजवाद के शिल्पियों को इस सूत्र का महत्त्व समझने में कोई दिक्कत नहीं थी। 1930 के दशक में मजदूरों ने समाजवादी प्रतियोगिता के दौर में (स्ताखानोवपंथी आंदोलन के दौर में) तकनिकी ज्ञान के उत्थान में अपने जज्बे और अपनी क्षमता का परिचय दिया था। उल्लेखनीय है कि उस समय मजदूरों ने तकनिकी ज्ञान हासिल करने के परंपरागत रास्ते का अनुसरण नहीं किया था। इसके विपरीत इस राह को छोड़कर और तकनिशियनों की चुनौती का सामना कर उन्होंने अपनी मंजिल हासिल की थी। सोवियत संघ एक बार फिर छलांग लगाने के लिए ऐसे ही चौराहे पर खड़ा था, मजदूरों में ऐसा ही जज्बा पैदा करने की जरूरत थी और स्तालिन इसी दिशा में कदम उठाने की कोशिश कर रहे थे।

अब तीसरे पक्ष पर चर्चा की जाय। अलेक्जेंडर इल्यिच नॉत्किन के आरोपों का जवाब देते हुए माल उत्पादन के मामले में सोवियत समाज की स्थिति का खुलासा किया गया था। इस क्रम में स्तालिन ने माल की चारित्रिक विशेषता को इन शब्दों में व्यक्त किया था : 'माल ऐसा उत्पाद होता है जिसे किसी क्रेता के हाथों बेचा जा सकता है। जब उसका मालिक उसे बेच देता है, तो उस पर अपनी मिल्कियत खो देता है और क्रेता उसका मालिक बन जाता है जिसे वह फिर से बेच दे, बंधक रख दे या सड़ने के लिए छोड़ दे।'

इस विशेषता के आलोक में विचार किया गया कि सर्वहारा राज्य जब कृषि फार्म को ट्रैक्टर या उत्पादन की अन्य मशीन उपलब्ध कराता है, तो क्या वे माल की श्रेणी में आयेंगे ? इसका जवाब था – नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए तीन तर्क दिये गये :

- उत्पादन के ये साधन कृषि फार्म को बेचे नहीं जाते, राज्य द्वारा उपयोग के लिए उनके हवाले किये जाते हैं।

- कृषि फार्मों को सुपुर्द करने के बावजूद उनपर राज्य की मिल्कियत बनी रहती है।

- तीसरी व अंतिम बात यह है कि सामूहिक कृषि फार्म के निदेशक जिनको मशीनें सुपुर्द की जाती हैं, वे खुद राज्य के करिंदे होते हैं।

ये सारे पहलू साफ कर देते हैं कि सर्वहारा राज्य और सामूहिक कृषि फार्म के बीच ये लेन–देन माल–परिचालन की श्रेणी में नहीं आते। भले ही औपचारिक रूप में माल–परिचालन की तरह दिखाई पड़ते हों।

माल–परिचालन के विशिष्ट लक्षणों को और साफ करने के उद्देश्य से स्तालिन ने विदेश व्यापार का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया कि वहां सोवियत समाजवादी राज्य माल–परिचालन के दायरे में काम करता है। ऐसा इसलिए कि जब सोवियत राज्य उत्पादन की कोई मशीनरी किसी अन्य देश को बेचता है तो वह अपनी मिल्कियत पूरी तरह खो देता है और उस देश की सरकार की उसपर मिल्कियत पूरी तरह कायम हो जाती है। अंतवर्स्तु और स्वरूप दोनों में।

स्तालिन ने समाजवाद में मौजूद इन खतरों से निबटने के उपाय भी बताये थे। यारोसेन्को का दृष्टिकोण था कि 'सामाजिक उत्पादन में उत्पादक शक्तियों का सर्वोच्च वैज्ञानिक संगठन साम्यवाद है।' इस दृष्टिकोण को खारिज करते हुए स्तालिन ने लिखा : 'वे नहीं समझते कि न तो समाज की सारी जरूरतों को पूरा करने में सक्षम उत्पादों की प्रचुरता और न 'हर किसी को उसकी जरूरत के अनुसार भुगतान' के सूत्र की दिशा में बदलाव तब तक हासिल किया जा सकता जब तक सामूहिक फार्म, ग्रुप संपत्ति, माल परिचालन आदि अस्तित्व में बने रहेंगे।' कामरेड यारोसेन्को नहीं समझते कि 'हर किसी को उसकी जरूरत के अनुसार' के सूत्र की मंजिल तक पहुंचने के पहले हमें आर्थिक (विकास) और समाज की सांस्कृतिक शिक्षा–दीक्षा की अनेक मंजिलों से होकर गुजरना पड़ेगा।'

इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए स्तालिन तीन कदम सुझाते हैं :–

◆ उत्पादक शक्तियों की संतुलित व्यवस्था हो जिसमें उत्पादन के साधनों के उत्पादन की रफ्तार थोड़ा अधिक हो।

◆ वे स्वीकार करते हैं कि समाजवाद में भी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंध में अंतरविरोध रहते हैं। वे इस बिंदु पर बहुत खरी–खरी चेतावनी देते हैं : **दिशा निर्देशक संस्थाओं की ओर से सही नीति अपनाये जाने की हालत में ये अंतरविरोध शत्रुतापूर्ण नहीं बन सकते... लेकिन अगर हम गलत नीति अपनायेंगे तो बात दूसरी होगी।** (शब्दों पर जोर हमारा)

इस मामले में दूसरी चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि हमारे समाज में सामूहिक कृषि फार्म और माल परिचालन उत्पादक शक्तियों के छलांग लेने में बाधक साबित हो रहे हैं। साथ ही उन्होंने सुझाव दिया कि धीरे–धीरे सामूहिक फार्म को सार्वजनिक संपत्ति में बदलने और उसी रफ्तार को माल परिचालन का वस्तु विनिमय में बदलने की दिशा में कदम उठाना होगा। निश्चय ही यह काम एक झटके में नहीं होनेवाला था।

◆ 'समय' से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था कि इस विकास की प्रक्रिया क्या होगी ? इसके लिए उन्होंने बताया कि समाज की ऐसी प्रगति सुनिश्चित करनी होगी

जिसमें उसके सभी सदस्यों की शारीरिक और मानसिक क्षमता का सर्वांगीण विकास हो। इसके बाद ही वे मनमाफिक रोजगार चुनने में सक्षम होंगे। इसे हासिल करने के लिए ठोस सुझाव देते हुए उन्होंने कहा –

- मजदूरों के काम के घंटे छह और बाद में पांच किये जायें ताकि वे शिक्षण–प्रशिक्षण का भरपूर समय पा सकें।
- पॉलिटेकनिक शिक्षण को अनिवार्य बना दिया जाय।
- मजदूरों के रहन–सहन की स्थिति में सुधार हो। तथा
- उनकी तनख्वाह दोगुनी कर दी जाय। इसके लिए दोनों ही रास्ते अपनाये जायें। एक तरफ उनकी तनख्वाह बढ़ायी जाय और दूसरी तरफ वस्तुओं के दाम घटाये जायें।

यह था स्तालिन की नजर में सोवियत समाज के अगले विकास का रोड मैप।

इन तथ्यों के विश्लेषण से तस्वीर साफ हो जाती है कि सोवियत संघ में समाजवाद और साम्यवाद में कदम बढ़ाने के रास्ते क्या हो सकते थे और साथ ही पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के आधार (अंशतः या पूर्णतः) अर्थव्यवस्था के किन–किन क्षेत्रों में मौजूद थे। इससे यह भी साफ हो जाता है कि समाजवाद का खोल ओढ़कर वोज्नेसिंस्की जैसे लोग सत्ता हड़पने में पूरी तरह कामयाब हो जायें तो इन आधारों का उपयोग कर वे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की राह आसान बना सकते हैं और खुश्चोव, ब्रेझनेव और उनके अनुयायियों ने यही राह अपनाया था।

'इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज्म इन दी यूएसएसआर' का प्रकाशन सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के खतरों से लोगों को आगाह करने और पार्टी के भीतर मौजूद पूंजीवाद के राहियों का भंडाफोड़ करने के उद्देश्य से किया गया था। पार्टी की उन्नीसवीं कांग्रेस में इस रचना की सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं की अनुगुंज सुनाई पड़ रही थी और उम्मीद जगने लगी थी कि सोवियत संघ समाजवाद की अगली मंजिल में छलांग लगायेगा। इसकी भौतिक परिस्थितियां तैयार हो रही थी। सोवियत संघ का उत्पादन 1948–49 में युद्धपूर्व की स्थिति में था और 1952 में उससे 50 प्रतिशत ऊपर जा चुका था। यह था समृद्धि का स्तर। अमेरिका के अणुबम के आतंक का जवाब देने में भी वह सक्षम हो चुका था। 1953 में हाइड्रोजन बम बनाने में वह सफल हो गया था। इस प्रकार समृद्धि और शक्ति के उसके दोनों स्तंभ समान रूप से मजबूत बन गये थे।

वर्ष 1923 के बाद पहली बार स्थिति उभरी थी जिसमें पार्टी कांग्रेस में रिपोर्ट स्तालिन नहीं पेश कर रहे थे। यह काम जार्ज मेलेन्कोव कर रहे थे। 'इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज्म इन दी यूएसएसआर भी उन्होंने ही पेश की। सांगठनिक

रिपोर्ट में दोनों पक्षों पर जोर दिया गया। अतीत के अनुभवों को सहेजते हुए यह बताया गया कि दूसरे विश्वयुद्ध के पहले (1937–38 में) पार्टी के भीतर जड़ जमाये वर्ग दुश्मनों का सफाया वस्तुतः पांचवें स्तंभवादियों का सफाया था और यह जरूरी था, अन्यथा युद्ध के बीच उन्होंने देश के भीतर एक मोर्चा खोल दिया होता, हम दोनों तरफ उलझ जाते और युद्ध हार जाते। साथ ही इसमें भविष्य के लिए संकेत दिया गया कि पार्टी के भीतर एक बार फिर कचड़े भर गये हैं और उसके बेहतर स्वास्थ्य के लिए उनकी सफाई निहायत जरूरी है।

इस रिपोर्ट में इन कचड़ों की पहचान पार्टी के भीतर मौजूद सर्वहारा राजनीति के लिए विजातीय प्रवृतियों के रूप में की गयी –

◆ पार्टी के भीतर अफसरशाही की प्रवृति मौजूद है जो नीचे से उठ रही आलोचना को दबाने की कोशिश करती है जिससे कार्यकर्त्ताओं की पहलकदमी खत्म होती है। पार्टी के भीतर बैठे अफसरशाह पार्टी व क्रांति के दुश्मन हैं।

◆ पार्टी के भीतर ऐसे लोग हैं जो सच्चाई पर पर्दा डालते हैं। राज्य मशीनरी में ऐसे लोग हैं जो भूल जाते हैं कि उनकी देखरेख में जो संस्थान सौंपे गये हैं वे सार्वजनिक हैं और उन्हें निजी संस्थान बनाकर हड़पने की कोशिश करते हैं। ऐसे भी लोग हैं जो समझते हैं कि वे नियम कानून से ऊपर हैं। देश में दो तरह के कानून चलते हैं। जनता और नीचले स्तर के कार्यकर्त्ताओं के लिए अलग और उन जैसे शीर्षस्थ कर्मचारियों और नेताओं के लिए अलग। ऐसे लोगों को पार्टी और राज्य मशीनरी से निकाल फेंकना चाहिए।

◆ पार्टी और राज्य मशीनरी में ऐसे लोग भी बैठे हैं जो राजनीतिक सूझबूझ वाले कार्यसक्षम लोगों को उनका उचित स्थान देने के पहले पक्षपात के आधार पर अयोग्य लोगों को बढ़ावा देते हैं। इसके फलस्वरूप पार्टी की नीतियां नीचले स्तर तक नहीं पहुंच पातीं और व्यवहार में नहीं बदल पातीं। इसका दूसरा घाटा यह होता है कि अच्छा से अच्छा कार्यकर्त्ता भी टूट जाता है, अफसरशाही प्रवृति के नीचे दम तोड़ देता है और धीरे–धीरे उसका अंग बन जाता है।

◆ अंत में रिपोर्ट ने इस सच को उजागर किया कि पार्टी के बहुतेरे नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने सैद्धांतिक कामों की उपेक्षा की है तथा पूंजीवादी विचारों को पार्टी में घुसने और उसे प्रभावशाली बनने का अवसर दिया है।

उन्नीसवीं कांग्रेस में पेश यह रिपोर्ट सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके भीतर घात लगाकर बैठे पूंजीवाद के राहियों की मजबूत स्थिति को बयान कर देती है। साथ ही वह यह खुलासा करती है कि पार्टी नेतृत्व एक बार फिर सोवियत संघ की जनता और पार्टी कार्यकर्त्ताओं का आह्वान कर पार्टी और राज्य

मशीनरी की संरचना में भारी उलट–पुलट करने की योजना बना रहा था। इस कांग्रेस में प्रस्तुत राजनीतिक सांगठनिक रिपोर्ट और समाजवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण इस दिशा में कदम बढ़ाने के या कहें जन–चेतना जागृत करने के दो हथियार के रूप में उभर रहे थे। इस अभियान के केंद्र में एक बार फिर स्तालिन थे। सोवियत सर्वहारा और किसान जनता के प्रिय नेता और महान शिक्षक। लेकिन अठारहवीं कांग्रेस में स्तालिन के शब्दों को याद कीजिए जब उन्होंने कहा था कि सोवियत संघ में कम्युनिज्म की नीचली मंजिल से ऊपरी मंजिल में संक्रमण की सारी स्थितियां तैयार हैं। अब हमें 'समय' की जरूरत है। विकास और निर्माण का शांतिपूर्ण काल। तब इतिहास ने उन्हें 'समय' नहीं दिया था। साम्राज्यवादी लुटेरों ने वह 'समय' छीन लिया था। एक बार फिर स्थिति बनी थी और एक बार फिर उन्हें 'समय' की जरूरत थी। लेकिन इस बार काल के क्रूर हाथों ने सोवियत संघ और विश्व की क्रांतिकारी जनता से महानायक को ही छीन लिया और यहीं से समाजवाद की पराजय और उसके सभी नये–पुराने गढ़ों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का दौर शुरू हो गया।

***

खुश्चोव का उदय

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) की उन्नीसवीं कांग्रेस समाजवाद की दिशा में अंतिम पड़ाव साबित हुई। स्तालिन की मृत्यु के बाद समाजवाद के राही इतने कमजोर पड़े कि पूंजीवाद के राहियों ने उन्हें आसानी से दरकिनार कर दिया। इससे यह अंदाज लगाना आसान हो जाता है कि पार्टी की उन्नीसवीं कांग्रेस में जिन अंदरूनी कमजोरियों की चर्चा की गयी थी उनकी जड़ें कितनी गहरी थीं, उनका विस्तार कितना व्यापक था और उनके फल कितने जहरीले थे। पार्टी की बीसवीं कांग्रेस (1956) इन तीनों आयामों का मापदंड और सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक शब्द उन्नीसवीं कांग्रेस में हटा दिया गया था) के मार्क्सवाद से भटकाव और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की शुरूआत का साक्षी बनी। इसी कांग्रेस में स्तालिन निंदा का अभियान शुरू हुआ और इसी में शांतिपूर्ण बदलाव के सिद्धांत की नींव रखी गयी। ये दोनों बातें न सिर्फ सोवियत संघ बल्कि पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आंदोलन में टूट–फूट और उथल–पुथल का कारण बनीं।

स्तालिन निंदा अभियान की शुरूआत इस कांग्रेस में खुश्चोव के 'गोपनीय वक्तव्य' (सिक्रेट स्पीच) से हुई। उस समय तक वह पार्टी के सर्वोच्च पद तक पहुंचने में सफल हो चुका था। उसके इस भाषण का मुख्य विषय था – 'व्यक्ति पूजा और उसका परिणाम'। 24–25 फरवरी 1956 की आधी रात का यह वक्तव्य अत्यंत गोपनीय था। इसमें दूसरे देशों की विरादराना पार्टियों के प्रतिनिधियों को शामिल नहीं किया गया था। इसकी चर्चा 'प्राव्दा' में भी नहीं हुई थी। इस भाषण का मूल रूप आधिकारिक रूप से कभी प्रकाशित नहीं किया गया। लेकिन यह गोपनीय नहीं रह सका। दरअसल खुश्चोव का मकसद इसे अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से और सोवियत संघ के कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं से गोपनीय रखना था, लेकिन पूंजीवादी जगत को गद्दारी की इस करतूत से अवगत कराना था ताकि दोनों एक दूसरे का विश्वासपात्र बन सकें।

साम्राज्यवादी जगत के अखबारों में यह वक्तव्य अलग–अलग रूपों में प्रकाशित होने लगा। सबसे पहले इसका प्रकाशन 4 जून 1956 को अमेरिकी विदेश विभाग की ओर से किया गया। विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में इसकी विश्वसनीयता पर बहस छिड़ी और अंततः सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बाइसवीं कांग्रेस (1961) में चली बहस में इसका असली रूप खुलकर सामने आया जब स्तालिन पर अल्बानियाई पार्टी के दृष्टिकोण पर हमला करते हुए खुश्चोव ने

अपना वक्तव्य रखा। इस प्रकार पांच वर्षों तक इस वक्तव्य पर लुका–छिपी का खेल चलता रहा और इन्हीं पांच वर्षों में सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का वैचारिक और राजनीतिक आधार पुख्ता होता रहा।

अपनी रिपोर्ट में ख्रुश्चोव ने चर्चा का विषय बनाया कि स्तालिन की "व्यक्ति पूजा" ने पार्टी सिद्धांत, पार्टी में जनतंत्र तथा क्रांतिकारी वैधानिकता को गंभीर क्षति पहुंचायी थी। इस आरोप पर विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में तीखी बहस चली, लेकिन जो गुत्थी मार्क्सवादी खेमे के सैद्धांतिक बहस से नहीं सुलझ सकी, उसे ऐतिहासिक विकास के अनुभव ने सुलझा दिया। आज रूस में पूंजीवाद का नंगा नाच चल रहा है, इस पर कोई बहस नहीं है। और इस पर भी कोई बहस नहीं है कि विकास की यह दिशा स्तालिन निंदकों के सत्तासीन होने के बाद की देन है। अपने पूंजीवादी (बाद में सामाजिक साम्राज्यवादी) चेहरों को छुपाने के लिए ख्रुश्चोव और उसके अनुयायियों ने मार्क्सवादी मुखौटे का सहारा लिया था।

स्तालिन की निंदा करने के क्रम में उन्होंने मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन के उद्धरण पेश किये थे। मार्क्सवादी खेमे के अंदरूनी संघर्ष के इतिहास में इस तरह की घपलेबाजी पहली बार नहीं हो रही थी। मार्क्सवाद के खिलाफ भितरघात की जो परंपरा बर्न्सटीन से शुरू हुई थी, ख्रुश्चोव और उसके अनुयायी उसी की अगली कड़ी थे। अपने पूर्वजों की तरह वे भी मार्क्स–एंगेल्स के उद्धरणों को संदर्भ से काटकर पेश कर रहे थे या बदली हुई परिस्थिति का हवाला देकर उसकी गलत व्याख्या कर रहे थे। लेकिन यह संघर्ष अतीत के संघर्षों से बुनियादी रूप से भिन्न साबित हो रहा था। अतीत में अवसरवादी हारते रहे थे, मार्क्सवाद विजेता की तरह उभरता रहा था, इस बार अवसरवाद जीत रहा था और मार्क्सवाद हार रहा था। इसका बड़ा कारण यह था कि अवसरवादियों के हाथ में राजसत्ता थी। मार्क्सवाद की बुनियाद पर स्थापित राजसत्ता, जिसपर विश्व सर्वहारा का अटूट विश्वास रहा था।

ख्रुश्चोव के भाषण के बाद 60 साल गुजर चुके हैं। संशोधनवाद क्लासिकीय पूंजीवाद के हाथों पराजित हो चुका है। यह मार्क्सवादियों–लेनिनवादियों के लिए सुअवसर है, लेकिन सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के विखंडन के पचीस साल गुजरने के बाद भी मार्क्सवादी–लेनिनवादी वैचारिक संघर्ष में विजय की दिशा में अग्रसर नहीं हैं। दरअसल मुकम्मल संघर्ष चल ही नहीं रहा है। यह प्रयास उसी दिशा में एक कदम है। इसकी शुरूआत हम इस जांच–पड़ताल से करेंगे कि ख्रुश्चोव ने व्यक्ति पूजा के बहाने स्तालिन पर हमला के क्रम में मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन को किस तरह तोड़–मरोड़ कर पेश किया था।

खुश्चोव ने विल्हेल्म ब्लॉस के नाम मार्क्स के पत्र (नवंबर 10, 1877) को उद्धृत किया था जिसमें उसने साबित करने की कोशिश की कि मार्क्स निजी प्रशंसा से घृणा करते थे। लेकिन उसने जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में चल रहे वैचारिक संघर्ष और मार्क्स–एंगेल्स को अलग–थलग करने की साजिश पर पर्दा डाल दिया। उस दौर (1870 के दशक) की सच्चाई थी कि जर्मन सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के भीतर लासाल और ड्यूरिंग की निम्नपूंजीवादी अवसरवादी विचारधारा तेज रफ्तार में प्रवेश कर रही थी।

इस भटकाव पर इन दोनों विचारकों की चिंता को पार्टी के बारे में उनकी इस टिप्पणी से समझा जा सकता है :

'जर्मनी में हमारी पार्टी में सड़े–गले विचार की धमक महसूस हो रही है। जनता से अधिक नेताओं (उच्च स्तरीय नेताओं और कार्यकर्त्ताओं) में। लासालपंथियों के साथ समझौता ने दूसरे अधकचरे तत्वों के साथ भी समझौता का रास्ता खोल दिया है : बर्लिन में ड्यूरिंग और उसके प्रशंसकों के साथ, इससे भी बढ़ाकर अर्द्धपरिपक्व विद्यार्थियों और अतिविद्वान पीएचडी शोधकर्त्ताओं के पूरे गिरोह के साथ, जो समाजवाद को "श्रेष्ठ, आदर्शवादी" रूझान देना चाहते हैं या यों कहें कि जो उसके भौतिकवादी आधार (जो इसे व्यवहार में उतारने वालों से गंभीर वस्तुपरक अध्ययन की मांग करता है) की जगह न्याय, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा की देवियों के साथ आधुनिक धर्मशास्त्र (माइथोलॉजी) को स्थापित कर देना चाहते हैं। (मार्क्स का पत्र फ्रेडरिक एडॉल्फ सोर्ज के नाम अक्टुबर 19, 1877)

इस पृष्ठभूमि में मार्क्स–एंगेल्स के उस समय के पत्राचार को देखा और समझा जाना चाहिए। खुश्चोव ने जिस ब्लॉस के नाम पत्र का उद्धरण दिया है, वे जर्मन सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के दक्षिणपंथी धड़े के प्रतिनिधि थे और इस अर्थ में वे अवसरवाद के मूर्त रूप थे। लेकिन उस समय भटकाव का यह मामला दक्षिणपंथी धड़े तक सीमित नहीं था। स्थिति यहां तक बदतर हो गयी थी कि ड्यूरिंग के अनुयायी उनके विचारों को मार्क्सवाद के आसन पर स्थापित करना चाहते थे और उस समय के जर्मनी के मार्क्सवादी उनके प्रभाव में आ गये थे। बर्न्सटीन ने ड्यूरिंग के बारे में अतिविह्वल होकर अपना नजरिया पेश किया। बेबेल ने 'ए न्यू कम्युनिस्ट' लेख में भरपूर प्रशंसा की और लिब्कनेख्त ने एंगेल्स को आश्वस्त करते हुए लिखा कि 'ड्यूरिंग पूरी तरह ईमानदार हैं और दृढ़तापूर्वक हमलोगों के पक्ष में हैं'। (बन बिहारी चक्रवर्ती, स्तालिन क्वेश्चन)।

ड्यूरिंग और मार्क्स–एंगेल्स की सोच में कितना अंतर था, इसकी जानकारी एंगेल्स की रचना 'ड्यूरिंग मतखंडन' पढ़ने से मिल जाती है। समाजवाद पर

पेट्टीबुर्जुवा कल्पनावादी दृष्टिकोण के खिलाफ संघर्ष में यह पुस्तक आज भी प्रकाशस्तंभ मानी जाती है। साथ ही मार्क्स–एंगेल्स और जर्मन सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के शीर्षस्थ नेताओं के विचारों में कितना अंतर था, इसकी तस्वीर साफ हो जाती है।

गोथा कांग्रेस–1875 तक मार्क्स–एंगेल्स वैचारिक संघर्ष में हाशिए पर आ गये थे। इसका विवरण बन बिहारी चक्रवर्ती की उपर्युक्त पुस्तक में मिलता है। तब उन लोगों ने ड्यूरिंग के विचारों के खिलाफ संघर्ष का निर्णय लिया। पार्टी के मुखपत्र 'वोरवाट्र्स' में एंगेल्स के लेखों का प्रकाशन 3 जनवरी 1877 से शुरू हुआ, लेकिन गोथा कांग्रेस (मई 1877) में ड्यूरिंगपंथियों ने इतना हो–हल्ला मचाया कि प्रकाशन का यह सिलसिला बंद कर दिया गया।

इस परिस्थिति से तंग आकर इन दोनों विचारकों ने जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी से अपने को लगभग अलग ही कर लिया था। इस परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए विल्हेलम ब्लॉस को लिखे गये मार्क्स के पत्र पर विचार करने की जरूरत है। एक तरफ उनके विचारों की अवहेलना हो रही थी और दूसरी तरफ जर्मनी में उनकी बढ़ती ख्याति का हवाला दिया जा रहा था। ऐसी स्थिति में ये दोनों विचारक क्या करते! सिद्धांत की बलि चढ़ानेवालों से मिली ख्याति पर गदगद होते! अवसरवादी ऐसा कर सकते थे, लेकिन मार्क्स–एंगेल्स ने ऐसा नहीं किया और ब्लॉस को बता दिया कि उन्होंने लोकप्रियता की रत्ती भर परवाह नहीं की। मतलब यह कि सिद्धांत पर समझौता की कीमत पर लोकप्रियता की परवाह नहीं की।

इस उद्धरण में खुश्चोव ने दूसरे पक्ष की भरपूर अवहेलना की। वह था मजदूर वर्ग के वैचारिक चिंतन पर प्राधिकार का पक्ष। इस बहस में मार्क्स–एंगेल्स लोकप्रियता की परवाह नहीं कर रहे थे, तो इसलिए कि उनके प्राधिकार पर आंच न आने पाये और वे सही साबित हुए। उनका प्राधिकार आज भी कायम है क्योंकि उन्होंने उसे बचाने के लिए व्यक्तिगत लोकप्रियता को तिलांजलि दे दी। उनकी अन्य रचनाओं की लंबी श्रृंखला को छोड़ दें, तो भी उस बहस के दौर की दोनों रचनाएं–'ड्यूरिंग मतखंडन' और 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' आज भी सर्वहारा क्रांतिकारियों के लिए मार्गदर्शक हैं। ये अलग–थलग किस्म की घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि मार्क्स–एंगेल्स के जीवनपर्यंत संघर्ष की कड़ियाँ हैं।

मार्क्स–एंगेल्स सिद्धांत से परे लोकप्रियता की रत्ती भर परवाह नहीं करते थे। यह सच है। लेकिन इससे बड़ा सच यह है कि सर्वहारा के राजनीतिक सिद्धांत को भ्रष्ट करने की कोई कोशिश वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, इस मामले में अपने प्राधिकार पर कोई समझौता वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। यह बात फरवरी 1851 में मार्क्स के

नाम एंगेल्स के एक पत्र से खुलकर सामने आती है : 'अब अंततः एक बार फिर हमें यह दिखाने का अवसर मिला है कि हमें लोकप्रियता की जरूरत नहीं है, किसी देश की किसी पार्टी के समर्थन की जरूरत नहीं है और हमारा स्थान ऐसे तुच्छ विवादों से पूरी तरह स्वतंत्र है। अब से हमलोग सिर्फ अपने कामों के लिए जिम्मेवार हैं और जब समय आयेगा कि इन महानुभावों को हमारी जरूरत पड़ेगी, हम अपनी शर्तें थोपने की स्थिति में होंगे।' (स्तालिन क्वेश्चन : बन बिहारी चक्रवर्ती)

यह वह दौर था जब यूरोप की क्रांतियां पराजित हो गयी थीं, कम्युनिस्ट लीग बिखर गया था और 'घोषणा पत्र' पर इतिहास के अंधेरे में डूब जाने का खतरा मंडराने लगा था। उस समय का इतिहास साक्षी है कि सिद्धांत की रक्षा के लिए जब–जब जरूरत पड़ी तब–तब उन्होंने किसी व्यक्ति या संगठन से संबंध विच्छेद करने में तनिक संकोच नहीं किया। दूसरी ओर जब–जब उन्होंने ऐसे कठोर कदम उठाये, तब–तब अवसरवादियों, समझौतावादियों और भितरघातियों के ओर से उनपर असहिष्णु और तानाशाह होने के आरोप लगाये गये। यही कारण है कि मार्क्सवादी जगत में सबसे बड़े प्राधिकार के रूप में वे मौजूद हैं और आगे भी रहेंगे।

क्रांतिकारी प्राधिकार की उत्पत्ति कैसे होती है या समाज को उसकी जरूरत क्यों पड़ती है ? इसका जवाब एंगेल्स इन शब्दों में देते हैं : 'मनुष्य अपना इतिहास खुद बनाते हैं, लेकिन अब भी सामूहिक योजना के अनुसार, सामूहिक इच्छाशक्ति से या यहां तक कि स्पष्टतः निर्धारित सामाजिक अवस्था में नहीं। उनकी इच्छाएं टकराती हैं और इसी कारणवश इस तरह के सभी समाज आवश्यकता से शासित होते हैं जिसकी पूर्त्ति और अभिव्यक्ति अप्रत्याशित संयोग होती है। जो जरूरत सभी अप्रत्याशित घटनाओं (संयोगों) के माध्यम से अपने–आप को मजबूती से सामने लाती है वह एक बार फिर अंततः आर्थिक जरूरत होती है। इस संदर्भ में व्यक्ति को तथाकथित महान लोगों से सरोकार पड़ता है। इससे यह बात साफ हो जाती है कि जब तक मनुष्य आर्थिक जरूरतों के अधीन रहेगा, जब तक हर व्यक्ति की ऐसी आवश्यकता दूसरे से टकराती रहेगी, तब तक समाज में महान हस्तियों की जरूरत उसे पड़ेगी और ऐसे लोग पैदा होते रहेंगे।' (स्रोत – वही)

इस दृष्टिकोण के आलोक में स्तालिन की समीक्षा होनी चाहिए कि उन्होंने ''व्यक्ति पूजा'' को बढ़ावा दिया या मजदूर वर्ग के हितों और समाजवाद की रक्षा के लिए संघर्ष में निरंतर जीत के फलस्वरूप उनकी लोकप्रियता और उनके प्राधिकार में बढ़ोतरी हुई।

खुश्चोव का आरोप था कि स्तालिन ने आत्म महिमा–मंडन को बढ़ावा दिया, 'स्तालिन संस्कृति' को प्रोत्साहित किया तथा लेनिन की भूमिका को घटाकर

दिखाने की कोशिश की। इन आरोपों की जांच पड़ताल के लिए विभिन्न स्रोतों की पर्याप्त सामग्री मौजूद है। इसका पहला स्रोत है स्तालिन के बारे में विभिन्न संस्मरण, लेख, इंटरव्यू आदि। इससे भी बड़ा दूसरा स्रोत है स्तालिन शासन और स्तालिनोत्तर शासन के नतीजे। दूसरा स्रोत तो इतना मजबूत है कि बहस की कोई गुंजाईश ही नहीं बचती है। घटनाओं ने साफ कर दिया है कि स्तालिन के शासन में चाहे "जितनी गड़बड़ी" हुई हो, समग्रता में उसने समाजवाद की सेवा की है, वहीं स्तालिन निंदकों के शासनकाल में चाहे "जितने सही रास्ते" अपनाये गये हों, उनसे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हुई और यह बात पूरी दुनिया के पैमाने पर लागू हुई। इससे भिन्न हो भी नहीं सकता था, क्योंकि रूसी क्रांति और समाजवाद सभी क्रांतियों के प्रेरणास्रोत और पथ–प्रदर्शक बन गये थे। इसलिए आज तस्वीर उभर रही है कि स्तालिन नहीं रहे, समाजवाद नहीं रहा। दिन के उजाले की तरह दिखाई पड़ता यह तथ्य भी खुश्चोवपंथियों और किस्म–किस्म के आधे–अधूरे संशोधनवादियों को स्वीकार्य नहीं हैं।

दरअसल प्रकृति विज्ञान और समाज विज्ञान में यही बुनियादी फर्क है। पहले में सच्चाई तथ्य व तर्क से स्थापित होती है, लेकिन दूसरी स्थिति में वर्ग हित से। अगर यह मानने से कि किसी त्रिभुज में तीन भुजायें होती हैं, पूंजीवादी हितों को हानि होती, तो वह इस सूत्र के खिलाफ एड़ी–चोटी का प्रयास करता। इसी तर्ज पर खुश्चोवपंथी यह मानने को तैयार नहीं होते कि गोर्बाचोव के दौर में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का विखंडन और नग्न पूंजीवाद की स्थापना खुश्चोव की नीतियों की तार्किक परिणति है। तब हमारे विरोधी सवाल उठा सकते हैं कि इसे स्तालिन की नीतियों की तार्किक परिणति क्यों नहीं मानी जाय ? इसलिए कि खुश्चोव और उसके अनुयायियों ने स्तालिन की अर्थनीति को पूरी तरह उलट दिया था।

बन बिहारी चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'स्तालिन क्वेश्चन' में ऐसे बहुत सारे तथ्य इकट्ठा किये हैं जिनसे खुश्चोव के आरोपों की जांच पड़ताल के लिए बहुत सारी सामग्री मिल जाती है। ये तथ्य 1926–52 तक के इतिहास से लिये गये हैं। वर्ष 1926 में सोवियत समाजवाद के निर्माता तथा विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के शिल्पी के रूप में वे अपनी भूमिका शुरू कर रहे थे और 1952 में विश्व इतिहास में अपनी विजय पताका लहरा चुके थे। इस अवधि के महत्वपूर्ण उद्धरणों को देख लिया जाय, तस्वीर साफ हो जायेगी।

मुख्य रेलवे वर्कशॉप, तिफ्लिस के मजदूरों के बधाई संदेश (जून 8, 1926) के जवाब में स्तालिन ने कहा : 'मेरे बारे में यहां जितनी भव्य बातें कही गयी हैं, उनमें

कई बातों का हकदार मैं नहीं हूँ। इनसे ऐसा लगता है, मैं अक्तूबर क्रांति का नायक हूँ, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का नेता, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का नेता, दन्तकथाओं के नायक योद्धा तथा ऐसा ही बहुत कुछ हूँ। यह बकवास है, गैरजरूरी अतिशयोक्ति है'। इस जवाब के अंत में प्रारंभिक दिनों के मजदूर साथियों को नमन करते हुए उन्होंने कहा : 'अपने रूसी शिक्षकों को कामेरडाना धन्यवाद और महान शिक्षक लेनिन की याद में श्रद्धापूर्वक नमन'।

इवान सेनोफोन्तोव ने अपने पत्र में जब खुद को लेनिन–स्तालिन का शिष्य घोषित किया, तो इसके जवाब में उन्होंने इस रुझान को हतोत्साहित करते हुए कहा कि मैं खुद लेनिन का शिष्य हूँ और कोई किसी शिष्य का शिष्य कैसे हो सकता है। जाहिर है कि इवान अक्तूबर क्रांति के दौरान उन जाने–माने बोल्शेविकों में एक थे जिन्होंने जार की सेना में बोल्शेविक केंद्र स्थापित करने में भूमिका निभायी थी। उसी तरह जर्मन लेखक एमिल लुडविग के साथ साक्षात्कार (13 दिसंबर 1931) स्तालिन ने उतनी ही विनम्रता से स्वीकार किया कि वे लेनिन के शिष्य हैं और उनके जीवन का उद्देश्य उनका योग्य शिष्य बनना है।

इसी साक्षात्कार में स्तालिन ने इतिहास के निर्माण में जनता की भूमिका और महान लोगों के योगदान के अंतर्संबंध पर अपना दृष्टिकोण रखा था। इसके अनुसार :

'जनता इतिहास का निर्माण अपनी कल्पना की आवाज (आह्वान) के अनुसार नहीं करती। वह इसलिए भी नहीं करती कि कोई कल्पना उसके दिमाग में घुस जाती है। हर नयी पीढ़ी जब पैदा होती है तो उसका सामना पहले से बनी–बनायी कुछ खास परिस्थितियों से होता है। महान लोग किसी काम लायक सिर्फ उसी हद तक बन पाते हैं जिस हद तक वे उन परिस्थितियों की ठीक समझ हासिल करने और उन्हें बदलने के तरीकों को समझने के योग्य होते हैं। अगर वे उन परिस्थितियों को समझने में विफल हो जाते हैं और अपनी कल्पना की आवाज के अनुसार उन्हें बदलने की कोशिश करते हैं, तो डॉन क्विक्जोट की परिस्थिति में उलझकर रह जाते हैं।'

विश्लेषण पद्धति के विवेचन की इस श्रृंखला में हमें एक उदाहरण जोड़ लेना चाहिए। 19 फरवरी 1933 को सामूहिक कृषि शॉक ब्रिगेड्स की पहली अखिल रूसी कांग्रेस को संबोधित करते हुए स्तालिन ने नेताओं को नहीं, मेहनतकश जनता को इतिहास का निर्माता घोषित किया था : 'वे दिन गुजर गये जब नेताओं को इतिहास का अकेला निर्माता माना जाता था, जब मजदूरों किसानों की गिनती नहीं होती थी। अब राष्ट्रों और राज्यों के भाग्य सिर्फ नेताओं से नहीं, बल्कि मेहनतकश जनता की विशाल आबादी से निर्धारित होती है।'

जाहिर है, स्तालिन अतिशय प्रशंसा करने और महानता और देवत्व आरोपित करने की जनता की पिछड़ी प्रवृति को हमेशा हतोत्साहित करते थे और अपनी इस नीति पर जीवन पर्यंत कायम रहे। इस संदर्भ में 01 फरवरी 1952 की उनकी टिप्पणी एक लाक्षणिक उदाहरण है। प्रस्ताव था कि 'ड्राफ्ट टेक्स्ट बुक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी' में समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र के संस्थापक के रूप में लेनिन, स्तालिन के योगदान पर एक अध्याय जोड़ा जाय। स्तालिन ने इस प्रस्ताव को खारिज कर दिया था। इसमें उनकी विनम्रता और महानता दोनों परिलक्षित होती है।

इसी सवाल पर हम एंगेल्स के विचार उद्धृत कर चुके हैं। अब एंगेल्स और स्तालिन के विचारों की तुलना कर लीजिए, तस्वीर साफ हो जायेगी कि स्तालिन की सोच और कार्यपद्धति मार्क्सवादी शिक्षकों की सोच से मिलती–जुलती थी, उन्होंने अपना व्यक्तित्व थोपा नहीं था, बल्कि विकास की प्रक्रिया में उनकी सोच सही साबित हुई थी और वे सोवियत जनता के स्वाभाविक नायक के रूप में स्थापित हुए थे।

खुश्चोव ने अपने भाषण में स्तालिन पर अत्याचारी और आततायी होने का आरोप लगाया था। लेकिन पूरी धूर्तता के साथ उसने यह सच्चाई छुपा ली थी कि सर्वहारा सत्ता को इतना दमनकारी रूख क्यों अख्तियार करना पड़ा और दमन की इन कार्रवाइयों में उसकी निजी भूमिका क्या थी ? खुश्चोव ने जिस चीज को छुपाने की कोशिश की थी, स्तालिन उसे बहुत पहले एमिल लुडविग के साथ साक्षात्कार में स्वीकार कर चुके थे। उनकी यह स्वीकारोक्ति उल्लेखनीय है : 'निस्संदेह आबादी का छोटा हिस्सा है जो सोवियत सत्ता से भयभीत रहता है और उसके खिलाफ संघर्ष करता है। मेरे दिमाग में मृत्यु की कगार पर पहुंचे वर्गों के अवशेष हैं जिनका सफाया किया जा रहा है। इनमें मुख्य हैं किसानों का अत्यंत छोटा भाग कुलक। ... सबको मालूम है कि इस मामले में हम बोल्शेविक इनके दमन तक सीमित रहने वाले नहीं हैं, बल्कि आगे बढ़ने वाले हैं। इस पूंजीवादी वर्ग को मिटा देने के लक्ष्य तक।

लेकिन आप सोवियत समाजवादी गणराज्य की श्रमिक जनता को लें, मजदूरों और मेहनतकश किसानों को लें तो आप पायेंगे कि वे सोवियत सत्ता के पक्ष में हैं और उनका बड़ा हिस्सा इस शासन को सक्रिय समर्थन देता है। ये लोग आबादी के 90% से कम का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। ये सोवियत व्यवस्था का समर्थन करते हैं क्योंकि वह इनके मौलिक हितों की सेवा करती है।'

समाजवाद में सर्वहारा सत्ता के अंतर्गत इससे भिन्न स्थिति नहीं हो सकती।

लेकिन समाजवाद के लंबे दौर में समाज के बदलते वर्ग संतुलन के अनुसार सर्वहारा अधिनायकत्व का रूप बदलता है। इस बदलाव का हवाला न देते हुए खुश्चोव ने स्तालिन पर लेनिन की नीतियों से भटकने का आरोप लगाया। यह कुछ वैसा ही है, जैसे लेनिन पर मार्क्स–एंगेल्स की नीतियों से भटकने का आरोप लगाया गया था। लेकिन खुश्चोव यहाँ भी इसी दायरे में सीमित नहीं रहा था। मार्क्स की तरह लेनिन को भी उसने तोड़–मरोड़कर और संदर्भ से काटकर उद्धृत किया था। खुश्चोव की चालबाजी का जिक्र करने के पहले हम बदली हुई परिस्थिति में सर्वहारा राज्य की बदलती भूमिका का जिक्र करें।

लुडविग के साथ बातचीत में स्तालिन ने 'कुलक' की चर्चा ऐसे वर्ग के रूप में की जिसे मिटा दिया जाना था। याद करें, लेनिन के दौर में क्या था ? उस समय सर्वहारा सत्ता का लक्ष्य वर्ग के रूप में कुलकों को मिटा देना नहीं था, बल्कि सीमित दायरे में फलने–फूलने का मौका देना था। ऐसी स्थिति में बुखारिन जैसे कुलक समर्थक पार्टी में बने रह सकते थे, फल–फूल सकते थे। लेकिन दूसरे दौर में जब कुलकों के साथ संघर्ष जीवन–मरण के दौर में जा चुका था, तब पार्टी में भी उनके समर्थकों के खिलाफ जीवन–मरण का संघर्ष स्वाभाविक था। लेकिन खुश्चोव ने इस स्वाभाविक प्रक्रिया को अस्वाभाविक घोषित कर इसके पक्ष में लेनिन को गलत ढ़ंग से और संदर्भ से काटकर उद्धृत किया।

खुश्चोव के कुकृत्यों पर लौटने के पहले सर्वहारा सत्ता के बढ़ते दमनकारी चरित्र पर हम स्तालिन की खुली स्वीकारोक्ति पर एक नजर डाल लें। एमिल लुडविग के साक्षात्कार में वे कहते हैं : 'जब बोल्शेविक सत्ता में आये तो शुरू में उन्होंने दुश्मनों के साथ नरमी बरती। मेंशेविक कानूनी रूप से अस्तित्व में बने रहे और अपना अखबार निकालते रहे। समाज़वादी क्रांतिकारी भी कानूनन अस्तित्व में बने रहे और उनका अखबार चलता रहा। यहां तक कि कैडेट्स भी अखबार निकालते रहे। जब जनरल क्रास्नोव ने लेनिनग्राद के खिलाफ प्रति–क्रांतिकारी अभियान चलाया और हमारी पकड़ में आ गया, तो हमलोग युद्ध के नियम के अनुसार बंदी बनाकर रख सकते थे। वस्तुतः हमें उसे गोलियों से उड़ा देना चाहिए था। लेकिन हमलोगों ने 'उसकी बातों पर भरोसा कर उसे छोड़ दिया। और हुआ क्या ? तुरंत साफ़ हो गया कि इस तरह की नरमी ने सिर्फ सोवियत सरकार की ताकत को नजरअंदाज करने में मदद की। हमलोगों ने मजदूर वर्ग के दुश्मनों के प्रति इस तरह की नरमी दिखाकर गलती की। इस गलती को बरकरार रखना मजदूर वर्ग के खिलाफ अपराध होता और उनके हितों के खिलाफ धोखाधड़ी होती। तुरंत यह साफ हो गया कि दुश्मनों के प्रति हम जितनी नरमी बरतते हैं

उतना ही उनका प्रतिरोध बढ़ता जाता है।'

स्तालिन ने अपनी बातें बिना लाग–लपेट के, बड़ी बेबाक ढ़ंग से कही थी। लेनिन के योग्य शिष्य की तरह। खुश्चोव का हमला ठीक उसी बेबाक नीति पर था। पिछले साठ वर्षों में यह साफ हो गया कि उसने दुनिया के मजदूर वर्ग के खिलाफ अपराध किया था, उनके हितों के साथ धोखाधड़ी की थी और खुश्चोवपंथी आज भी यही काम कर रहे हैं।

अब हम लेनिन के खिलाफ खुश्चोवी जालसाजी की ओर लौटते हैं। उसने स्तालिन को लेनिन विरोधी घोषित करने के चक्कर में (2 फरवरी 1920) ऑल यूनियन सेंट्रल एक्सक्यूटिव कमिटी में लेनिन के भाषण का हवाला दिया था। इसमें उसने दिखाने की कोशिश की थी कि लेनिन गृहयुद्ध के बाद मृत्युदंड के प्रावधान के खिलाफ थे और गृहयुद्ध के दौरान भी यह सजा उन्हें ऐंटेंट के दबाव में देनी पड़ रही थी। यहां हम उसके उद्धृत अंश के दूसरे पाराग्राफ को ले रहे हैं : 'जैसे ही हमलोगों को निर्णायक जीत मिल गयी वैसे ही हमलोगों ने मृत्युदंड को तिलांजलि दे दी। यहां तक कि युद्ध खत्म होने के पहले ही, रोस्तोव पर कब्जा के ठीक बाद। इस प्रकार हमने साबित किया कि हम अपना कार्यक्रम वैसे ही लागू करने का इरादा रखते हैं जैसे वायदा किया था। हम कहते हैं कि हिंसा का प्रयोग पूंजीपतियों को कुचल डालने के निर्णय से पैदा होता है, जैसे ही यह पूरा हो गया हमने सभी असाधारण तरीकों का इस्तेमाल करना छोड़ दिया'। (स्रोत : स्तालिन क्वेश्चन)

इस पुस्तक के संपादक बन बिहारी चक्रवर्ती ने अंत में दिये नोट्स में खुलासा किया है कि यह उद्धरण अपूर्ण है। लेनिन ने इसी में यह भी कहा था कि : 'ऐंटेंट के फिर से युद्ध शुरू करने का कोई प्रयास हमें पुराने आतंक को फिर से लागू करने के लिए बाध्य कर देगा। (हमें मालूम है कि हम जंगल कानून के युग में जी रहे हैं, जहां मधुर शब्द किसी काम के नहीं आते। (सं० र० खंड – 30 पृ. 327) अगला सच यह है कि 15 मई 1922 को उन्होंने मृत्युदंड को जारी रखने का प्रस्ताव रखा था। (खंड–42, पृ. 419)। लेकिन खुश्चोव ने स्तालिन को लेनिन विरोधी और खुद को लेनिनपंथी साबित करने के लिए उद्धरण को गलत ढंग से पेश किया।

ऐसा माना जाता है कि लेनिन पार्टी कामरेडों के मामले में ज्यादा सहनशील थे और स्तालिन कम। ऐसी अवधारणा स्तालिन के समर्थकों के बीच भी पायी जाती है। लेकिन सच यह है कि भितरघातियों के बारे में लेनिन उतने ही सख्त थे। जब संघाधिपत्यवादियों और अराजकतावादियों की ओर से फूट का खतरा पैदा हो गया था, तो लेनिन ने कौन सी रणनीति अपनायी थी, यह याद करने की बात है। 'पार्टी एकता के बारे में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस (1921)' के

प्रस्ताव की प्रारंभिक मसविदा में एकता की जरूरत पर जोर देते हुए वे भितरघातियों के खिलाफ इन शब्दों में चेतावनी देते हैं :

'ये शत्रु इस बात को भली भांति समझ चुके हैं कि खुलेआम सफेदगार्डियों के झंडे के नीचे प्रतिक्रांति कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिए वे अब एड़ी–चोटी का जोर लगाकर इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि वे रूसी कम्युनिस्ट पार्टी में पाये जानेवाले मतभेदों का फायदा उठायें और सत्ता उस राजनैतिक पक्ष को सौंपकर किसी न किसी प्रकार से प्रतिक्रांति को बढ़ावा दें, जो देखने में **सोवियत सत्ता स्वीकारने के अधिक से अधिक निकट** प्रतीत हों।' (शब्दों पर जोर हमारा)

लेनिन के इस दृष्टिकोण के आलोक में उनके नेतृत्व में 1921 में चलाये गये निष्कासन अभियान पर नजर डाली जाय और तब स्तालिन के अभियान का मूल्यांकन हो। लेकिन ख्रुश्चोव ने अपनी रपट में इसका जिक्र तक नहीं किया। दरअसल ख्रुश्चोव लेनिन द्वारा वर्णित भीतरघातियों का लाक्षणिक और सबसे धूर्त प्रतिनिधि था जिसे स्तालिन तक नहीं पकड़ पाये।

इसी तरह की गलतफहमी से भरा–पूरा एक अन्य उदाहरण। स्तालिन की एक उक्ति उद्धृत की जाती है कि हम समाजवाद के जितने करीब जाते हैं, हमारे दुश्मनों की संख्या उतनी ही बढ़ती जाती है और हमें सतर्कता बरतने की जरूरत पड़ती है। यह समझाने की कोशिश होती है कि यह धारणा गलत है, मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन की नीतियों के विरूद्ध है। लेकिन रूस की क्रांति के अनुभवों को समेटते हुए पार्टी की नौवीं कांग्रेस में लेनिन ने कुछ ऐसा ही सूत्र प्रतिपादित किया था : 'अन्य किसी भी क्रांति की अपेक्षा हमारी क्रांति ने इस नियम को सिद्ध कर दिया है कि किसी भी क्रांति की शक्ति, उसके आक्रमण की शक्ति, उसका ओज, उसका संकल्प, उसकी विजय की धूमधाम पूंजीपति वर्ग के विरोध को और उग्र बना देती है। हमारी विजय जितनी ही अधिक होती है, पूंजीपति शोषक उतना ही ज्यादा एका करना सीखते हैं और उतने ही ज्यादा दृढ़संकल्पी आक्रमण करते हैं...'

दूसरे विश्वयुद्ध के दौर में निम्नपूंजीवादी रूझान के विस्तार के लिए सबसे अनुकूल वातावरण मिला। फासीवाद के खिलाफ संघर्ष के क्रम में साम्राज्यवादी पूंजीपतियों से अबाध संपर्क का भी भरपूर मौका मिला। ऐसी स्थिति में पार्टी के भीतर अवसरवादियों और भितरघातियों का दबदबा तैयार होना स्वाभाविक था। ख्रुश्चोव और वोज्नेसिंस्की जैसे लोग इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे। तब स्तालिन पर ख्रुश्चोव का यह आरोप सही था कि वे पार्टी के तत्कालीन नेतृत्व पर भरोसा नहीं करते थे और उनकी जगह नेतृत्व की नयी टीम तैयार करना चाहते थे। ख्रुश्चोव

की नजर में यह "झक्की, अविश्वासी, व्यक्तिवादी" का सत्तामोह था, लेकिन वास्तव में उनका नजरिया मार्क्सवाद के अनुकूल था। यहां एक बार फिर लेनिन को याद करने की जरूरत है जब नयी आर्थिक नीति के पक्ष में दलील देते हुए उन्होंने रूसी और विश्व सर्वहारा को चेताया था :

'वे समाजवाद या कम्युनिज्म में विश्वास नहीं करते और जब तक सर्वहारा की आंधी सर के ऊपर से गुजर न जाये, तब तक चुप बैठे रहते हैं। या तो हम उस पूंजीपति वर्ग को अपने नियंत्रण और अपने हिसाब–किताब के मातहत करें (हम यह कर सकते हैं, अगर हम गरीबों को यानी आबादी के अधिकांश को या अर्द्धसर्वहारा को वर्ग चेतन सर्वहारा के हरावल के इर्द–गिर्द संगठित करें) नहीं तो वह हमारी मजदूर सत्ता को वैसे ही निश्चित रूप से और वैसे ही अनिवार्य रूप से उलट देगा, जैसे नेपोलियनों और कैवेन्याकों ने क्रांति को उलट दिया था, जो ठीक उसी छोटी मिल्कियत की मिट्टी से पैदा हुए थे। सवाल की यही, केवल यही नवैयत है ..... (जिन्सी टैक्स के बारे में)

यहां 'वे' का मतलब निम्न पूंजीपति वर्ग से है। इस प्रक्रिया में लेनिन यह भी सलाह देते हैं कि राजकीय पूंजीवाद को अधिक खिराज दिया जाना हमें बर्बाद नहीं करेगा, बल्कि समाजवाद की ओर ले जायेगा। तब सवाल उठता है, आखिर यह खिराज कब तक। इस पर लेनिन का जवाब था :–

'जब मजदूर वर्ग छोटी मिल्कियतों की अराजकता से राज्य व्यवस्था की रक्षा करना सीख लेगा, जब वह राजकीय पूंजीवादी ढंग से उत्पादन के एक महान राष्ट्रव्यापी संगठन का निर्माण करना सीख लेगा, तब उसके हाथ में तुरूप के सारे पत्ते होंगे और समाजवाद की संहति सुनिश्चित हो जायेगी।'

पार्टी की अठारहवीं कांग्रेस तक सोवियत संघ इस स्थिति के काफी करीब पहुंच चुका था। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध में और उसके बाद 'बंदरों ने पक्षियों के घोंसले' उजाड़ दिये। उन्नीसवीं कांग्रेस में स्तालिन उसी को बचाने का प्रयास कर रहे थे। इस पूरे विवरण से तस्वीर उभरती है कि पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में जिन शक्तियों ने समाजवाद का गला घोंट दिया, वे उसकी जड़ में मौजूद थीं और उसके शिल्पी इस कमजोरी के प्रति सजग और सतर्क भी थे। इस जानलेवा शक्ति को ढोने का जोखिम उठाना उनकी मजबूरी थी। साम्राज्यवाद से घिरे एक पिछड़े पूंजीवादी देश में समाजवाद के निर्माण की मजबूरी।

इस मजबूरी की अवधि में खुश्चोव सर्वहारा सत्ता की सेवा करते हुए सही अवसर की घात में बैठा रहा। उसके इस विरोधाभासी चरित्र की सबसे खतरनाक अभिव्यक्ति स्तालिन के मूल्यांकन में उभरकर सामने आती है। वर्ष 1949 में

(स्तालिन के 70वें जन्म दिन पर उसने उनके बारे में कितने शानदार शब्दों का उपयोग किया था : कामरेड स्तालिन का नाम सोवियत जनता का विजय पताका है, पूंजीवादी दासता और राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ, शांति और समाजवाद के लिए दुनिया के मजदूरों के संघर्ष का लहराता परचम है।'

इसके आगे : 'लेनिन और स्तालिन के उद्देश्यों, अंतरराष्ट्रीयतावाद के उद्देश्य के प्रति निष्ठा का निर्णय और परख सोवियत संघ के प्रति रूख से होता है, जो जनवाद और समाजवाद की शक्तियों के शीर्ष पर है। सोवियत संघ और सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयतावाद से गद्दारी अनिवार्यतः राष्ट्रवाद, फासिज्म और साम्राज्यवादी प्रतिक्रिया के खेमे में धकेल देगी। हत्यारों और जासूसों का टीटो–रैन्कोविक गिरोह इसका उदाहरण है। उसने राष्ट्रवाद से फासीवाद में संक्रमण की यात्रा पूरी कर ली है और साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष एजेंट में तब्दील हो गया है। वह जनवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में उसका हथियार बन गया है।'

इतना से भी उसका मन नहीं भरा। उसने आगे कहा : 'हमारे पूज्य पिता, बुद्धिमान शिक्षक, सोवियत जनता की पार्टी और दुनिया के मजदूरों के प्रतिभाशाली नेता कामरेड स्तालिन यशस्वी हों।'

बीसवीं कांग्रेस में इन सभी मामलों में उसने यू टर्न ले लिया और "अपने पूज्य पिता" और "बुद्धिमान शिक्षक" स्तालिन के बारे में इतने गंदे व गालीनुमा शब्दों का प्रयोग किया जिन्हें दोहराना यहां न तो जरूरी है और न उचित। दरअसल वह जन्मजात गद्दार था।

उसके जीवनी लेखक विलियम टॉबमैन का मानना है कि शुरूआती दौर में वह मेंशेविक था। क्रांति की विजय के बाद (1918 में) बोल्शेविक खोल में रहने के बावजूद वह अंततः मेंशेविक ही बना रहा। उसने साबित कर दिया, काले कंबल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। स्तालिन के 70वें जन्म दिन (21 दिसं. 1949) के अपने भाषण में उसने टीटो के बारे में जो व्याख्या दी थी वह बीसवीं कांग्रेस के बाद स्वयं उसपर निरूपित हो गया – जनवादी व समाजवादी से पतित होकर फासिस्ट और जनविरोधी कारनामों में साम्राज्यवाद का अग्रदूत। अपनी इन करतूतों से भी उसने साबित कर दिया कि स्तालिन अपने समय के सबसे विलक्षण मार्क्सवादी–लेनिनवादी थे जिन्होंने देख लिया था कि सोवियत समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूजीवाद की पुनर्स्थापना के तत्व कहाँ–कहाँ मौजूद हैं। ख्रुश्चोव ने उन्हीं बिंदुओं पर प्रहार किया और पूंजीवाद की दिशा में यात्रा शुरू की।

***

पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में ठोस कदम

पिछले अध्यायों के विश्लेषण से हम देख चुके हैं कि सोवियत समाज में समाजवाद की विजय के बावजूद पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के भौतिक आधार मौजूद थे। इन्हें अनुकूल परिस्थितियों का इंतजार था और ये परिस्थितियां उन्हें दूसरे विश्वयुद्ध के बाद मिल गयीं। आज विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के सामने यक्ष प्रश्न यह है कि इस कार्यभार को अंजाम किसने दिया ? ख्रुश्चोव ने या गोर्बाचोव ने ? 1956 में संपन्न सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस से यह प्रक्रिया शुरू हुई ? या 1991 में ग्लास्नोस्त और पेरेस्त्रोइका की आंधी में अचानक समाजवाद का महल बालू की भीत की तरह भरभराकर गिर गया ?

हालांकि त्रॉत्स्की ने 1936 में अपनी पुस्तक 'रिवोल्यूशन बिट्रेड' के माध्यम से घोषणा कर दी थी कि स्तालिन के नेतृत्व में जो कुछ हो रहा है, वह समाजवाद नहीं है। उनकी नजर में लेनिन की मृत्यु के बाद या ज्यादा से ज्यादा सोवियत संघ से उनके निष्कासन के बाद वहां समाजवाद का सितारा डूब गया था। उनकी नजर में सोवियत संघ में नौकरशाहों की सत्ता चल रही थी जिसे उखाड़ फेंकने की कोशिश भी उन्होंने की थी और उसमें विफल रहे थे। चूँकि इतिहास ने इस मामले को सुलझा दिया था और यह मान लिया गया था कि सोवियत संघ विश्व समाजवाद का गढ़ है, इसलिए उस विवाद में पड़ना यहां जरूरी नहीं है।

इतिहासकारों की नजर में यह विवाद सिर्फ तिथि निर्धारण का मामला हो सकता है, लेकिन कम्युनिस्ट खेमे में इस बहस से तय होता है कि कौन क्रांतिकारी है और कौन संशोधनवादी ? आगे चलकर इससे यह तय होगा कि विश्व सर्वहारा क्रांति का भविष्य क्या होगा ? वह साम्राज्यवाद को बर्बाद करने का अपना ऐतिहासिक लक्ष्य हासिल करेगी या उसके मकड़जाल में फंसकर फड़फड़ाकर दम तोड़ देगी ? फिलहाल दूसरी संभावना भारी पड़ रही है और इस स्थिति को बदलना मार्क्सवाद–लेनिनवाद के सच्चे अनुयायियों (क्रांतिकारियों) का मुख्य लक्ष्य बन गया है।

ऐसा नहीं है कि इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए रास्ते की तलाश का काम हम पहली बार शुरू कर रहे हैं। इस सवाल पर 1960 के दशक में विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में बहस चली थी। इस बहस के केंद्र में था – सोवियत संघ किधर ? समाजवाद की राह पर या पूंजीवाद की दिशा में ? तब सत्तासीन मजदूर वर्ग की दो

पार्टियों (चीन और अल्वालिया) ने आरोप लगाया था कि सोवियत संघ पूंजीवाद की दिशा में कदम बढ़ा रहा है, वहां की कम्युनिस्ट पार्टी संशोधनवाद की राह पर चल पड़ी है। उसी समय सोवियत संघ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक सुव्यवस्थित बहस चली थी जिसे 'महान विवाद' के नाम से जाना जाता है। यह बहस अकादमिक नहीं थी, बल्कि इसका राजनीतिक उद्देश्य था – दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियों को सोवियत प्रभाव से मुक्त कर उन्हें क्रांति की दिशा में मोड़ना।

इस प्रयास के बावजूद आंदोलन इस लक्ष्य को हासिल करने से काफी दूर है। अब तो ऐसा लगता है कि 1960–70 के दशक में संशोधनवाद के खिलाफ मार्क्सवाद का हमला जितना तीखा था, आज उसकी तुलना में काफी मंद पड़ गया है। उस समय ज्यादा जोर इस बात पर रहा कि लेनिन के बाद सर्वहारा राज्य के मुख्य शिल्पी स्तालिन से सिद्धांत और व्यवहार संबंधी कुछेक गलतियां हुईं जिनके कारण भितरघातियों की पहचान समय रहते नहीं हो सकी। क्रांतिकारी खेमे में यह मान लिया गया कि ये उस महान हस्ती की ऐसी गलतियां थीं जो समाजवाद के विकास की अगली मंजिलों पर भारी पड़ गयीं।

वह चीन में सांस्कृतिक क्रांति का दौर था। सारी दुनिया को उम्मीद थी कि सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रथम सफल प्रयोग की भूल–गलती सांस्कृतिक क्रांति के प्रयोग से ठीक हो जाएगी। लेकिन माओत्से तुंग की मृत्यु के बाद चीन में भी पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी। वह भी पूंजीवाद के घोषित राही देंग के नेतृत्व में। इससे चीन की कम्युनिस्ट पार्टी (खासकर सांस्कृतिक क्रांति) के प्रभाव में बनी कम्युनिस्ट पार्टियां संशोधनवाद की राह पर चल पड़ीं या उनके बीच निराशा का माहौल पैदा हुआ। इस माहौल में मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच की बहस मद्धिम पड़ी और धीरे–धीरे दोनों के बीच की विभाजन रेखा धूमिल पड़ गयी। ऐसी परिस्थिति में रूसी क्रांति की जय–पराजय का वस्तुगत विश्लेषण का यह दौर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच व्याप्त जड़ता और हताशा को खत्म कर सकता है। इस अर्थ में समाजवाद की पराजय का वस्तुगत विश्लेषण अतीत की तुलना में भविष्य के लिए ज्यादा प्रासंगिक है।

इसलिए भावी क्रांतिकारी पीढ़ियों के लिए जरूरी है कि वे ख्रुश्चोव से गोर्बाचोव तक की विकास यात्रा को समझें और अपने क्रांतिकारी कार्यभार का निर्धारण करें। ख्रुश्चोवपंथियों की नजर में सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना गोर्बाचोव की गलतियों (या गद्दारी) के कारण हुई। यह आत्मस्वीकृति तब सामने आयी जब सोवियत संघ बिखर गया और उसके विभिन्न गणराज्यों के शासकों ने लाल नकाब उतारकर तथा लाल झंडा फेंककर यह घोषणा कर दी कि

हम अब कम्युनिस्ट नहीं रहे। लेकिन क्रांतिकारी खेमा यह मानता रहा कि पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की नींव ख्रुश्चोव के शासन काल में रखी जा चुकी थी। तब का पूंजीवाद राजकीय पूंजीवाद के रूप में काम कर रहा था। इसी बुनियाद पर सामाजिक साम्राज्यवाद की इमारत भी खड़ी हुई। लेकिन इसी बीच एक अन्य धारा भी पनप रही थी। राजकीय पूंजीवाद के गर्भ में निजी पूंजीवाद की धारा। 1991 में निजी पूंजीवाद पूरी तरह परिपक्व रूप में सामने आया और उसने राजसत्ता पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार 1991 में जो कुछ हुआ वह समाजवाद का पतन नहीं था, राजकीय पूंजीवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद का पतन था।

ख्रुश्चोव के नेतृत्व में संपन्न सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस (फरवरी 1956) पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की यात्रा में मील का पत्थर थी। यह कांग्रेस स्तालिन के निंदा अभियान के रूप में सबसे ज्यादा जानी जाती है। लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं रही थी। वैसे भी, स्तालिन महज एक व्यक्ति नहीं थे। अपने लंबे व राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण योगदानों के कारण मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन की श्रृंखला की अटूट कड़ी बन गये थे। वे अपने पूर्वजों की तरह सर्वहारा अधिनायकत्व, सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयतावाद तथा पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के नाश का प्रतीक बन गये थे, समाजवाद का प्रतीक बन गये थे। अतः यह संभव नहीं रह गया था कि जिस कांग्रेस में सोवियत संघ और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को स्तालिन के प्रभावों से मुक्त करने का अभियान चले, उसमें समाजवाद की जड़ खोदने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में कदम न उठाये जायें। इन कदमों की जांच पड़ताल के लिए हम ब्रेझनेव–कोसिजिन शासनकाल में (1970 में) प्रकाशित सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के संक्षिप्त इतिहास (ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दी सोवियत यूनियन, प्रोग्रेस पब्लिशर्स) के तथ्यों पर निर्भर करेंगे।

सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के प्रारंभ की चर्चा हम बीसवीं कांग्रेस में स्तालिन के समग्र मूल्यांकन से शुरू करते हैं। गोपनीय भाषण में ख्रुश्चोव के हमले से अलग कांग्रेस ने स्तालिन के सकारात्मक योगदानों को स्वीकार करते हुए उनकी "व्यक्ति पूजा" की संस्कृति पर हमला किया। कांग्रेस ने स्तालिन का समग्र मूल्यांकन इन शब्दों में किया : 'पार्टी तथा सरकार के अन्य नेताओं के साथ मिलकर विशिष्ट संगठनकर्त्ता और सिद्धांतकार की हैसियत से स्तालिन ने समाजवादी सुधारों को आगे बढ़ाने का काम किया, लेनिनवाद के दुश्मनों (त्रात्स्कीपंथियों, दक्षिणपंथी अवसरवादियों तथा पूंजीवादी राष्ट्रवादियों) के खिलाफ संघर्ष का नेतृत्व किया, पूंजीवादी घेराबंदी की साजिश का भंडाफोड़ किया और सोवियत संघ की

सुरक्षा क्षमता को आगे बढ़ाने की दिशा में काफी काम किया। इससे भी बढ़कर विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन और सभी मुक्ति आंदोलनों को ऊपर उठाने में काफी योगदान दिया। इन सबसे उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता काफी बढ़ी।

लेकिन समय बीतने के साथ पार्टी के नेतृत्व में सोवियत जनता की सभी उपलब्धियों का श्रेय उन्हीं को मिलने लगा। धीरे–धीरे स्तालिन की व्यक्ति पूजा की संस्कृति पनपी। स्तालिन ने पार्टी और समग्र सोवियत जनता की सफलता में अपने योगदान का बढ़–चढ़कर मूल्यांकन किया। उन्हें यक़ीन हो गया कि वे भूल–गलती और आलोचना से ऊपर (इनफॉलिबल) हैं और उन्होंने अपने हाथ में संचित सत्ता का दुरूपयोग शुरू कर दिया। उनके चरित्र के कुछ नकारात्मक लक्षणों से इसमें और बढ़ोतरी हुई। सामूहिक नेतृत्व और पार्टी जीवन के तौर–तरीकों के लेनिनवादी सिद्धांत से वे भटकने लगे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने खास किस्म की गंभीर गलतियां कीं। वे गलतियां जनवाद पर अनुचित प्रतिबंध, समाजवादी वैधानिकता का जघन्य उल्लंघन और दमन की बेबुनियाद कार्रवाइयां थीं।'

स्तालिन के जीवन के अंतिम दिनों की गलतियों का साफ इशारा वोज्निसेंस्की की साजिशपूर्ण कार्रवाइयों के दमन की ओर है। जो भी हो, ऊपर के समग्र मूल्यांकन से एक बात साफ है कि स्तालिन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के लिए अतीत की वस्तु बन चुके थे जिनका उपयोग भविष्य निर्माण के लिए नहीं किया जाना था। यहीं से स्तालिन के प्रभाव से (वस्तुतः मार्क्सवाद–लेनिनवाद के प्रभाव से) सोवियत संघ और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को मुक्त करने का काम शुरू हो चुका था। इसके अगले क़दम के रूप में समाजवाद के निर्माण की बुनियादी अर्थनीति पर हमला शुरू हुआ था।

इस दिशा में सबसे पहला कदम कृषि अर्थव्यवस्था से जुड़ा था, राजकीय मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन तथा सामूहिक कृषि फार्म के संबंधों में बदलाव से जुड़ा था। तर्क यह दिया गया कि : 'जब सामूहिक फार्म बड़े हो गये और उनकी आर्थिक क्षमता बढ़ गयी, तो वे खुद जरूरत की सभी मशीनों को हासिल करने और उनका उपयोग करने में सक्षम हो गये। इसलिए मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन समाप्त कर दिये गये और उनके सारे औजार सामूहिक फार्म को बेच दिये गये। अब जमीन और खेती से जुड़े सारे औजार सामूहिक फार्म के हाथों में केंद्रित हो गये।' (ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ सोवियत यूनियन–पृ. 351)

इस विश्लेषण के संदर्भ में 'इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज्म इन द यूएसएसआर' में स्तालिन के दृष्टिकोण को याद कीजिए, जिसकी चर्चा हम पिछले

अध्याय में कर चुके हैं। उस समय पूंजीवाद के राहियों ने सर्वहारा सत्ता पर आरोप लगाया था कि सामूहिक फार्म को कृषि के औजार बेचने से उत्पादन के साधन माल के रूप में तब्दील हो जाते हैं। इस पर स्तालिन ने खंडन करते हुए कहा था कि ऐसा नहीं होता, क्योंकि उत्पादन के साधनों से राज्य का स्वामित्व खत्म नहीं होता। सामूहिक फार्म को इन औजारों के उपयोग का अधिकार दिया जाता है और इसके बदले में उनके उत्पाद का एक भाग ले लिया जाता है। लेकिन बीसवीं कांग्रेस में जो निर्णय लिया गया उसके अनुसार कृषि के उत्पादन के औजार पूरी तरह माल में तब्दील हो गये। मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार सर्वहारा राज्य उत्पादन के साधनों को निजी स्वामित्व से छीनकर राज्य के स्वामित्व में और राज्य के विलोप की स्थिति में पूरे समाज के स्वामित्व में लाने की कोशिश करता है। लेकिन यहां उत्पादन के साधनों को राज्य के स्वामित्व से अलग कर उससे पिछड़े रूप की सामूहिक संस्था के स्वामित्व में दे दिया जाता है। यह पूंजीवाद की दिशा में कदम था, अनिवार्यतः प्रतिक्रियावादी कदम था।

जाहिर था कि इसके पूरक अन्य कदम भी उठाये जाते और वे उठाये भी गये। राज्य और सामूहिक फार्म के बीच के संबंध पूरी तरह माल के परिचलन के आधार पर तय होने लगे। इस सच को स्वीकार करते हुए उपर्युक्त पुस्तक में कहा गया : 'राष्ट्र हित में राज्य यह तय करने का अधिकार सुरक्षित रखता था कि सामूहिक फार्मों से कितनी वस्तुएं खरीदी जायें और कीमतों के नियमन के लिए वह इस खरीद का भुगतान करता था। इस प्रकार राज्य और सामूहिक फार्मों के बीच के आर्थिक संबंध पूरी तरह माल विनिमय के आधार पर तय होने के लिए छोड़ दिये गये।'

मार्क्सवाद का ककहरा जाननेवाला व्यक्ति भी इतना समझता है कि समाजवाद के विकास और सुदृढ़ीकरण के लिए जरूरी है कि माल के उत्पादन और परिचालन तथा मूल्य के नियम पर अंकुश लगाये जायें। यह काम संबद्ध समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। सोवियत संघ की ठोस परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए स्तालिन ने 'इकोनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ सोशलिज्म इन दी यूएसएसआर' में इस दिशा में कदम उठाने का सुझाव रखा था कि सामूहिक फार्मों को राजकीय संपत्ति बनाने तथा मूल्य के नियम को खत्म करने की दिशा में कदम बढ़ाये जायें। इन कदमों की चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। लेकिन "ख्रुश्चोवी समाजवाद" में हम अर्थव्यवस्था को उल्टी दिशा में बढ़ते हुए पाते हैं। जाहिर है, दोनों समाजवाद नहीं हो सकते।

दूसरा सच यह है कि बीसवीं कांग्रेस में ख्रुश्चोवपंथियों ने भी यह आरोप लगाया कि अंतिम दिनों में स्तालिन की कार्रवाइयों से समाजवाद को क्षति जरूर

पहुंची, फिर भी वह समाजवाद था। तब उसी अंदाज में यह निष्कर्ष निकालना आसान हो जाता है कि खुश्चोवपंथियों के शासन काल में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के बीज बो दिये गये थे। सामूहिक फार्मों पर राज्य का नियंत्रण कमजोर कर तथा उनकी आय बढ़ाने के लंबे चौड़े दावे कर किसानों के बीच वर्ग विभाजन की बुनियाद रखी जाने लगी थी। हम इससे इन्कार नहीं करते कि इसकी जमीन समाजवाद के दौर में भी मौजूद थी। हम जानते हैं कि इस व्यवस्था में व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करता है और काम के अनुसार भुगतान पाता है। यह ऊपर से देखने में समान लगता है, लेकिन वस्तुतः असमान होता है, क्योंकि समान मजदूरी पानेवाले मजदूरों के पारिवारिक खर्च और बचत के स्तर अलग–अलग हो सकते हैं। यह असमानता पूंजीवाद के लिए जमीन का काम कर सकती है। खुश्चोवपंथियों ने इसमें पूंजीवाद के बीज डाले और उनके फलने–फूलने के लिए खाद–पानी का इंतजाम किया।

इस दिशा में तीसरा कदम उठाया गया औद्योगिक प्रबंधन में छेड़छाड़ कर। उद्योगों पर नियंत्रण और उनकी देखभाल करनेवाले मंत्रालय खत्म किये गये और उनकी व्यवस्था इकोनॉमिक कौंसिल के हवाले कर दी गयी। यह उद्योगों को स्वायतता देते हुए पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का गंभीर प्रयास था। इस दिशा में दूसरा कदम उठाया गया कि उद्योगों की व्यवस्था जहां उनकी शाखाओं के आधार पर होती थी, अब उसकी व्यवस्था क्षेत्रीय आधार पर की जाने लगी। यह उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण कमजोर करते हुए उन्हें क्षेत्रीय स्तर पर स्वायतता देने की कोशिश थी। यह देखने में जनवादी कदम लग सकता है, लेकिन अपने चरित्र में यह पूंजीवादी था। सर्वहारा सत्ता के अधीन जनता का जनवाद कैसा होता है और उसमें निर्णय कैसे लिये जाते हैं, इसका नमूना हम इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी में पेश कर चुके हैं जहां प्रारंभिक योजना का स्वरूप क्षेत्रीय स्तर पर तय होता था जिससे यह तस्वीर साफ होती थी कि वहां के लोगों को क्या चाहिए और वे क्या बना सकते हैं। राष्ट्रीय स्थिति के मद्देनजर इसे अंतिम रूप केंद्रीय स्तर पर दिया जाता था और इसके आधार पर केंद्रीय स्तर से विशेषज्ञ और संसाधन मुहैय्या कराये जाते थे। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसके बारे में अमेरिकी विशेषज्ञों ने राय व्यक्त की थी कि यह तो योजना है ही नहीं। इसे ही मार्क्सवादी शब्दावली में कहा जाता है 'जनता से, जनता को'। इस जनवादी नीति के कारण उत्पादन से लेकर दूसरे विश्वयुद्ध में भागीदारी तक में जन पहलकदमी की कैसी मिसाल पेश हुई, उसे यहां दोहराने की जरूरत नहीं। खुश्चोवी नीतियों के तहत इसी पहलकदमी को नष्ट–भ्रष्ट करने की साजिश शुरू हो चुकी थी।

इस आंतरिक बदलाव का प्रभाव अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर भी पड़ा। विश्व परिस्थिति का मूल्यांकन किया गया कि साम्राज्यवाद का संकुचन और समाजवाद का विस्तार हुआ है। लेनिन की नीतियों का हवाला देते हुए दुनिया के कम्युनिस्टों और जनता को समझाने की कोशिश हुई कि दो विभिन्न व्यवस्थाओं पर आधारित राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व संभव है। इस तर्क को एक कदम और आगे बढ़ाया गया : 'पहले जब पूंजीवाद एकल विश्वव्यापी व्यवस्था था, तब जैसा कि लेनिन ने बताया था कि क्रांति के शांतिपूर्ण विकास की संभावना विरल थी। लेकिन अब समाजवादी देशों का शक्तिशाली समूह मौजूद है और दुनिया भर की क्रांतिकारी शक्तियों की ताकत बढ़ गयी है, समाजवादी क्रांति के शांतिपूर्ण विकास की संभावना व्यापक हो गयी है। समाजवाद में बदलाव के विशिष्ट रूप ज्यादा समृद्ध हो गये हैं और बहुत सारे रूप धारण करने लगे हैं।' (पृ. 343–44)

शांतिपूर्ण बदलाव के इस सिद्धांत को पुष्ट करने के लिए नया रास्ता भी सुझाया गया कि 'मजदूर जनता के सक्रिय समर्थन से वह (कम्युनिस्ट पार्टी) संसद को पूंजीवाद का हित साधनेवाली संस्था से मजदूरों का हित साधनेवाली संस्था में बदल सकती है। इस प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से क्रांतिकारी राजनीतिक और आर्थिक सुधार लानेवाली परिस्थितियां बनायी जा सकती है।' (पृ. 344) सर्वज्ञात है कि लेनिन ने पूंजीवादी संसद को ऐतिहासिक रूप से बेकार संस्था घोषित कर दिया था। वे जीवन पर्यंत इसे सूअरबाड़ा कहते आये थे। लेकिन ख्रुश्चेवपंथियों ने लेनिन के नाम का हवाला देकर लेनिनवाद की पीठ में छुरा घोंप दिया था। पेरिस कम्यून के विश्लेषण के बाद मार्क्स ने जो विशेष निष्कर्ष निकाला था कि मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग की बनी बनायी मशीनरी से अपना काम नहीं चला सकता, उसे एक ही झटके में कुड़े–कचरे के ढेर पर फेंक दिया गया।

लेकिन पूंजीपतियों के दलाल बड़े शातिर होते हैं और ख्रुश्चोव और उसके सहयोगी तो इस कला में माहिर थे। उन्होंने लोगों की नजरों के सामने झांसे की पट्टी भी बनाये रखी। कहा गया कि : 'अगर शोषक मजदूर जनता के खिलाफ हथियार का प्रयोग करते हैं, तो मजदूर जनता भी उसी तरह हथियारों के बल पर पूंजीवादी सत्ता को उखाड़–फेंककर अपनी सत्ता कायम करने के लिए बाध्य हो जायेगी। समाजवाद में संक्रमण के विशिष्ट रूप चाहे जितने बहुविध हों, उनकी अंतवर्स्तु है : मेहनतकश किसानों के साथ गठबंधन कायम कर सर्वहारा द्वारा राज्य पर क्रांतिकारी कब्जा, एक या दूसरे रूप में सर्वहारा का अधिनायकत्व और मार्क्सवादी–लेनिनवादी पार्टियों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग द्वारा सामाजिक निर्माण का राजनीतिक नेतृत्व।'

शानदार प्रतीत होनेवाले ये खोखले और बेजान शब्द उस दौर में धोखाधड़ी के प्रतीक बनकर उभरे। मार्क्सवादी विद्वानों और अकादमिशियनों को इसमें कोई घपलेबाजी नजर नहीं आयी। लेकिन मार्क्सवाद–लेनिनवाद में शिक्षित–दीक्षित क्रांतिकारी बुद्धिजीवी समझते थे कि कोई पार्टी जब चाहे तब और जैसे चाहे वैसे हथियारबंद संघर्ष का उद्घोष नहीं कर सकती। इसकी वैचारिक व राजनीतिक तैयारी शुरू से करनी पड़ती है। इस तैयारी का नमूना पहले विश्वयुद्ध के दौर में बोल्शेविक पार्टी की गतिविधियों में और दूसरे विश्वयुद्ध के समय चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों में खोजी जा सकती है। रूसी क्रांति की सफलताओं के शानदार अध्याय पर चिंतन–मनन करते समय जर्मन सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी और अन्य देशों की पार्टियों की राजनीति पर नजर डालनी चाहिए। तब पता चलेगा कि विश्वयुद्ध को गृहयुद्ध में बदलने के नारे पर सहमति के बावजूद बोल्शेविकों को छोड़कर इसे लागू करने में अन्य पार्टियों के हाथ–पांव क्यों फूलने लगे। ऐसा इसलिए हुआ कि अन्य पार्टियों ने न तो वैचारिक स्तर पर इसकी तैयारी मुकम्मल ढ़ंग से की थी, न जनसंगठन के स्तर पर और न सामरिक स्तर पर। इसके बाद समझना आसान हो जायेगा कि बोल्शेविक पार्टी और लेनिनवाद की परंपरा के नाम पर खुश्चोव दोहरा खेल खेल रहा था।

एक तरफ वह संसदीय रास्ते से क्रांतिकारी बदलाव के नारे पर मुहर लगाकर पूंजीवाद के सामने विश्व सर्वहारा को आत्मसमर्पण की दिशा में प्रेरित कर रहा था, उन्हें निहत्था बना रहा था और दूसरी तरफ जब जैसा तब तैसा संघर्ष का खोखला नारा देकर उन्हें दिग्भ्रमित कर रहा था। इसके पीछे उसका तर्क था कि दूसरे विश्वयुद्ध के पहले साम्राज्यवाद एकल विश्वव्यापी व्यवस्था का स्वामी था, सारी दुनिया एक प्रकार से उसके अधीन थी और सोवियत संघ पूंजीवाद के महासमुद्र में समाजवाद का एकलौता टापू था जिसके सर पर जानलेवा बाहरी हस्तक्षेप का खतरा हमेशा बना रहता था। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद का एकल विश्वव्यापी प्रभुत्व खत्म हो गया, सोवियत संघ की पूंजीवादी घेराबंदी समाप्त हो गयी और साम्राज्यवाद के सामने समाजवादी देशों का समूह एक बड़ी चुनौती बनकर उभरा। इस प्रकार खुश्चोव और उसके सहयोगी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दुनिया में समाजवाद और साम्राज्यवाद के बीच का शक्ति संतुलन बदल गया है। हालांकि यह निष्कर्ष अतिरंजित था, फिर भी अगर यह सही भी होता कि मार्क्सवादी–लेनिनवादी का आह्वान होता कि **कमजोर पड़ रहे साम्राज्यवाद को कुचल डालो, वर्ग दुश्मन का अंतिम विनाश सुनिश्चित करो।** लेकिम खुश्चोव के नेतृत्व में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने उल्टा निष्कर्ष निकाला –

शांतिपूर्ण बदलाव की संभावना पर अमल करो, वर्ग दुश्मन को संभलने और दुनिया के मजदूर वर्ग को कुचल डालने का मौका दो। इस प्रकार सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस (ख्रुश्चोव के नेतृत्व में पहली कांग्रेस) अपने तीन महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में गद्दारी का प्रतीक बन गयी। ये निर्णय थे :

- सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में अर्थनीतिक बदलाव।
- पूंजीवादी संसद के मजदूर वर्ग के हित में काम करने की संभावना और इस पर जोर।
- विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को निहत्था बनाकर पूंजीवाद के सामने समर्पण की साजिश और उसमें फूटपरस्ती की शुरूआत।

बीसवीं कांग्रेस में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की जो आधारशिला रखी गयी, उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य सुपरस्ट्रक्चर का निर्माण जरूरी था। यह काम इक्कीसवीं (1959) और बाइसवीं कांग्रेस (1961) में पूरा हुआ। आर्थिक आधार और सुपरस्ट्रक्चर के निर्माण के साथ ही पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का पहला चक्र पुरा हुआ और इसके साथ ही ख्रुश्चोव के राजनीतिक जीवन का अंत भी हो गया। उसके अनुयायी ब्रेझनेव और कोसिजिन गुट ने उसे धक्का देकर बाहर कर दिया और उससे ज्यादा धूर्तता के साथ पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के कार्यभार को आगे बढ़ाया।

इक्कीसवीं कांग्रेस आते–आते सर्वहारा अधिनायकत्व को पूरी तरह नष्ट कर पूंजीवादी राज्य की पुनर्स्थापना के लिए नया पाखंड रचा गया। विश्व साम्राज्यवाद की कमजोरियों को बढ़ा–चढ़ाकर पेश करते हुए यहां तक घोषणा कर दी गयी कि अब उसमें सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की ताकत नहीं बची, समाजवादी समाज पर विजय पाने की ताकत नहीं बची। अन्य समाजवादी देशों के बारे में कहा गया कि उन्हें अब समाजवाद की विजय सुनिश्चित करने की जरूरत नहीं रह गयी है। उन्हें सोवियत संघ तथा विश्व समाजवादी व्यवस्था की ओर से सहायता मिलती रहेगी। इस बदलती परिस्थिति का हवाला देकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुंची की वह विकास के नये दौर में प्रवेश कर चुकी है, वहां कम्युनिस्ट समाज (साम्यवादी समाज) का निर्माण शुरू होने जा रहा है।

विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को इस सांचे में ढालने की कोशिश भी शुरू हो गयी। 1960 में मास्को में संपन्न दुनिया भर की कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों की बैठक में विश्व परिस्थिति का मूल्यांकन इन शब्दों में किया गया : 'आज के समय

की मुख्य अंतर्वस्तु महान अक्तूबर क्रांति द्वारा शुरू किया गया पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण है। यह दो विरोधी व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष का काल है, समाजवादी क्रांतियों और राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों का काल है, **साम्राज्यवाद के विघटन, औपनिवेशिक व्यवस्था के उन्मूलन का काल है,** अधिक से अधिक राष्ट्रों के समाजवादी पथ पर संक्रमण का काल है, यह विश्व स्तर पर समाजवाद और साम्यवाद की विजय का काल है।' (ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ द सोवियत यूनियन पृ. 357)

अठारहवीं कांग्रेस में भी सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि वहां समाजवाद की जीत हो चुकी है, लेकिन वह इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंची कि वहां आनन–फानन में साम्यवाद के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। तब स्तालिन का नेतृत्व था और उन्होंने माना था कि समाजवाद से साम्यवाद तक की यात्रा तुरंत आनन–फानन में न तो शुरू की जा सकती है और न उसे पूरा किया जा सकता है। इसके लिए अनिवार्य भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का निर्माण किया जाना चाहिए। भौतिक परिस्थिति के निर्माण का मतलब था कि समाज में उत्पादन का स्तर इतना बढ़ जाय कि हर कोई अपनी क्षमता के अनुसार काम कर सके और हर कोई अपनी जरूरत के अनुसार उत्पादित कोष से प्राप्त कर ले। सांस्कृतिक क्रांति से उनका तात्पर्य था कि विकास की प्रक्रिया में ऐसे नागरिक तैयार हो जायें जो राज्य के नियमन के बिना काम करने और जीने के आदी हों। उस स्थिति में राज्य की दमनकारी भूमिका समाप्त हो जायेगी और वह उत्पादन और उसके वितरण का हिसाब–किताब तक सीमित होकर रह जायेगा। लेकिन तब यह महसूस किया गया था कि यह अचानक हासिल नहीं हो सकता। इसके लिए समय की जरूरत है। शांतिपूर्ण विकास का लंबा अंतराल, जो नहीं मिला। 'इकोनॉमिक प्राब्लॅम्स ऑफ सोशलिज्म इन दी यूएसएसआर' में समाजवाद से साम्यवाद की दिशा में कदम बढ़ाने के लिए स्तालिन न्यूनतम शर्त मानते थे कि कृषि व्यवस्था को सामूहिक फार्म से ऊपर उठाकर राजकीय फार्म के स्तर पर लाया जाय। लेकिन खुश्चोव उद्योग और कृषि के बीच पूरी तरह माल आधारित अर्थव्यवस्था की बुनियाद पर कम्युनिज्म की इमारत खड़ा करने के मंसूबे बना रहा था।

अक्तूबर 1961 में संपन्न पार्टी की बाइसवीं कांग्रेस में नया कार्यक्रम स्वीकार किया गया। कम्युनिस्ट समाज के निर्माण का आधार तैयार करनेवाला कार्यक्रम। इस कार्यक्रम के मुख्य कार्यभार को निम्नलिखित तीन बिंदुओं के अंतर्गत चिन्हित किया गया :

- साम्यवाद के भौतिक व तकनिकी आधार का निर्माण
- कम्युनिस्ट सामाजिक संबंधों का निर्माण
- नये मानव की शिक्षा–दीक्षा (वही पृ. 367)

एक बार फिर धोखाधड़ी, एक बार फिर घपलेबाजी। शब्दों में उपर्युक्त कार्यभारों के पूरा करने की योजना बनायी जा रही थी, लेकिन व्यवहार में पूंजीवाद की जमीन तैयार की जा रही थी। इस व्यावहारिक योजना के अनुसार ही राज्य के स्वरूप में बदलाव किया जा रहा था। अब एक नया सिद्धांत निरूपित किया गया कि 'समाजवाद की विजय के साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व का राज्य सारी जनता का राजनीतिक संगठन बन जाता है जिसमें नेतृत्वकारी भूमिका मजदूर वर्ग की होती है। सारी जनता का राज्य सारी जनता के हितों और आकांक्षाओं को व्यक्त करता है।'

ये ख्रुश्चोव और उसके अनुयायियों के शब्द थे। अब हम देखें कि मार्क्स ने इस विषय पर अपने विचार किन शब्दों में व्यक्त किये थे। पाठकों की समझ को ज्यादा साफ करने के उद्देश्य से मार्क्स की रचना 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से उनकी दो बातों को उद्धृत करेंगे। कार्ल मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज में बदलाव अचानक नहीं हो जाता, इसमें समय लगता है और यह समय कितना लंबा होगा, यह कई कारकों पर निर्भर करता है। बदलाव की इस अवधि में राज्य का स्वरूप अनिवार्यतः सर्वहारा अधिनायकत्व होगा।

'पूंजीवादी और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक से दूसरे में क्रांतिकारी रूपांतरण का एक काल है। इसका समवर्ती एक राजनीतिक संक्रमण काल भी है, जिसमें राज्य सर्वहारा के क्रांतिकारी अधिनायकत्व के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। (शब्दों पर जोर लेखक का)'

इससे पूंजीवाद से साम्यवाद में बदलाव की पहली मंजिल में जिसे आम तौर पर समाजवाद कहा जाता है, सर्वहारा अधिनायकत्व की अनिवार्यता उजागर होती है। ख्रुश्चोव और उसके अनुयायियों का कहना था कि सोवियत समाज संक्रमण की इस पहली मंजिल को पार कर चुका है। यहां बहस दो बिंदुओं पर है। पहला यह कि इस संक्रमण की उच्चतर मंजिल की विशेषता क्या होगी ? और दूसरा यह कि इसमें राज्य का स्वरूप क्या होगा ?

पहले सवाल का जवाब मार्क्स के इस उद्धरण में मिलता है : 'कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था में **व्यक्ति की श्रम विभाजन के प्रति दासत्वपूर्ण अधीनता और उसी के साथ–साथ मानसिक तथा शरीरिक श्रम के अंतर्विरोध का लोप हो जाने के बाद, श्रम के जीवन के मात्र एक साधन ही नहीं, प्रत्युत**

जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकने के बाद; व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साथ–साथ उत्पादक शक्तियों के भी बढ़ जाने और सामाजिक संपदा के सभी स्रोतों के अधिक वेग से प्रवाहमान होने के बाद – इनके बाद ही कहीं जाकर पूंजीवादी अधिकार के संकीर्ण क्षितिज को पूर्णतः लांघा जा सकेगा और समाज अपने पताका पर अंकित कर सकेगा : 'प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार।' (गोथा कार्यक्रम की आलोचना)

इस मापदंड के आधार पर जांचने–परखने की जरूरत है कि क्या तत्कालीन सोवियत समाज इन विशिष्टताओं को हासिल कर चुका था ? क्या वहां शारीरिक और मानसिक श्रम का अंतर मिट गया था ? और क्या समाज उत्पादन की उस दहलीज पर पहुंच गया था जहां समाज के हर व्यक्ति को उसकी जरूरत के अनुसार वस्तुएं मुहैय्या करायी जा सकें ? इन सभी सवालों का जवाब नकारात्मक होगा। सोवियत समाज इन उपलब्धियों को हासिल कर पाने के लक्ष्य से काफी दूर था। ब्रेझनेव काल में लिखा गया इतिहास भी भविष्य में इस स्थिति को हासिल करने की मंशा जाहिर करता है। वह बताता है कि कम्युनिस्ट समाज में देहात और शहर तथा शारीरिक व मानसिक श्रम का अंतर मिट जायेगा। ऐसी स्थिति में तर्क का तकाजा यह था कि इन स्थितियों को हासिल करने के बाद ही राज्य के स्वरूप को बदलने की घोषणा की जाती। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। "समाजवाद की विजय की घोषणा" के साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व की जगह 'समूची जनता के राज्य' की घोषणा कर दी गयी।

मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार राज्य के विकास की प्रक्रिया में सर्वहारा अधिनायकत्व की अगली मंजिल के रूप में **राज्य का विलोप** होगा, 'समूची जनता का राज्य' नहीं। समाजवाद की निचली मंजिल से ऊपरी मंजिल में विकास का अनिवार्य लक्षण है कि शारीरिक और मानसिक श्रम का अंतर मिट जाये। अगर ऐसा नहीं होता, तो मामला गड़बड़ है और ख्रुश्चोवी सोवियत संघ में यही गड़बड़ी हो रही थी। आखिर इस गड़बड़ी का स्रोत क्या था ? और उन्हें ऐसा करने की जरूरत क्यों पड़ रही थी ? जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि सोवियत समाज में एक बार फिर समाजवाद के खोल में मालों का उत्पादन और विनिमय को बढ़ावा देने की नीति अपनायी जाने लगी थी, तो उनके लिए जरूरी हो गया था कि उसके अनुरूप (सुपरस्ट्रक्चर) राज्य का निर्माण करें और वह भी समाजवाद का मुखौटा बचाते हुए।

जैसा कि हम देख चुके हैं, ख्रुश्चोव ने स्तालिन की निंदा करते हुए मार्क्स–एंगेल्स और लेनिन के नामों का सहारा लिया था। इसलिए बेहतर होगा कि हम देखें कि इस प्रश्न पर लेनिन के विचार क्या थे ? 'राज्य और क्रांति' में सर्वहारा

अधिनायकत्व के बाद वाले राज्य के स्वरूप पर चर्चा के क्रम में लेनिन एंगेल्स के इन शब्दों को उद्धृत करते हैं : 'सर्वहारा अभी भी जब तक राज्य का उपयोग करता है, स्वतंत्रता के हितों में नहीं करता, वरन् अपने शत्रुओं को दबाने के लिए करता है और जैसे ही स्वतंत्रता की बात करना संभव हो जाता है, वैसे ही स्वयं राज्य का अस्तित्व भी जाता रहता है।' (अगस्त बेवेल के नाम पत्र — 18–28 मार्च 1875)

एंगेल्स के इस उद्धरण से यह खुलासा हो जाता है कि सर्वहारा अधिनायकत्व की जरूरत कब तक बनी रह सकती है। लेकिन लेनिन इसका खुलासा और सरल शब्दों में कर देते हैं — 'जब तक कम्युनिज्म की उच्चतम अवस्था नहीं आती, तब तक समाजवादियों की मांग है कि समाज और राज्य द्वारा श्रम और उपभोग की मात्रा पर सख्त से सख्त नियंत्रण हो, लेकिन इस नियंत्रण की शुरुआत होनी चाहिए पूंजीपतियों की संपति को छीनकर, पूंजीपतियों पर मजदूरों का नियंत्रण कायम कर और उसे चलाया जाना चाहिए हथियारबंद मजदूरों के राज्य द्वारा, न कि नौकरशाहों के राज्य द्वारा।'

लेकिन खुश्चोव की थीसिस में इसके विपरीत एक नयी प्रस्थापना पाते हैं — 'समाजवाद की विजय के साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व का राज्य समुची जनता का राजनीतिक संगठन बन जाता है।' इस खुश्चोवी प्रस्थापना में न सिर्फ निष्कर्ष गलत है, बल्कि इस बदलाव की प्रक्रिया की समझ भी गलत है। मार्क्सवाद के अनुसार सर्वहारा राज्य का विलोप धीरे–धीरे क्रमिक विकास की प्रक्रिया में होता है। लेकिन खुश्चोव के सिद्धांत में यह सब कुछ 1959 से लेकर 1961 के बीच अचानक हो जाता है। उनकी इच्छा जगती है और 'सर्वहारा राज्य' 'समुची जनता का राजनीतिक संगठन' घोषित हो जाता है। इससे खुश्चोव और उसके अनुयायियों की हकीकत खुलकर सामने आ जाती है कि वे लोग समाजवाद को आगे बढ़ाकर साम्यवाद की दिशा में नहीं ले जा रहे थे, बल्कि पूंजीवाद की दिशा में प्रतिक्रांतिकारी बदलाव के वाहक बन गये थे; वे मार्क्सवाद–लेनिनवाद का अनुसरण नहीं कर अवसरवाद का अनुसरण कर रहे थे। मार्क्सवाद और समाजवाद की खोल में पूंजीवाद के सेवा करना ही संशोधनवाद है।

संशोधनवाद की इस विजय पर या कहें कि पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के इस सफल प्रयास पर उस समय भी प्रश्न उठे थे। 'महान विवाद' में खुश्चोव के इस कम्युनिज्म को 'नकली कम्युनिज्म' कहा गया था। इस दौरान कई उदाहरणों से यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी थी कि सोवियत संघ में कई औद्योगिक प्रतिष्ठानों में तथा कई सामूहिक फार्मों में निजी पूंजी जमा करने और निजी औद्योगिक प्रतिष्ठान कायम करने की प्रक्रिया चोरी–चोरी चल रही थी। सोवियत

संघ में प्रकाशित विभिन्न अखबारी स्रोतों का हवाला देकर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने कई उदाहरणों से साबित करने की कोशिश की थी कि वहां ख्रुश्चोवी कम्युनिज्म की आड़ में पूंजीवादी उत्पादन संबंध तैयार हो रहे हैं। इसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

- लेनिनग्राद के फौजी सामान बनानेवाले एक कारखाने में नेतृत्व करनेवाले कार्यकर्त्ताओं ने तमाम मुख्य पदों पर अपने आदमी बहाल कर दिये और सरकारी कारोबार को निजी कारोबार में बदल डाला। उन्होंने चोरी–छुपे गैर फौजी सामान बनाया तथा सिर्फ फाउन्टेन पेन की बिक्री से ही 12 लाख पुराने रूबल हड़प लिये। उनमें एक आदमी 1920–30 में एक नेपमैन था तथा जिन्दगी भर चोर रहा था। (क्रास्नाया ज्वेज्दा, 19 मई 1961)
- रूसी फेडरेशन के एक कारखाना मैनेजर ने दूसरे कारखाने के डिप्टी मैनेजर व अन्य कार्यकर्त्ताओं के साथ गिरोह कायम करके जिसमें कुछ 43 व्यक्ति थे, नौ से ज्यादा करधे चुरा लिये और उन्हें मध्य एशिया, कजाकिस्तान, काकेशियस तथा अन्य स्थानों में बेच दिया जहां के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने उन्हें गैरकानूनी उत्पादन में इस्तेमाल किया। (कोमसोमोल्सकाया प्राव्दा, 9 अगस्त 1963)
- किरधिज सोवियत समाजवादी लोकतंत्र में चालीस से ज्यादा गबनकारियों और भ्रष्टाचारियों ने दो कारखानों पर कब्जा जमा कर गुप्त रूप से उत्पादन किया तथा तीन करोड़ रूबल से ज्यादा राजकीय संपत्ति की लूट–खसोट की। इस गिरोह में उक्त लोकतंत्र के योजना आयोग के अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग का एक उपमंत्री, लोकतंत्र की मंत्री परिषद, राष्ट्रीय आर्थिक परिषद और राजकीय नियंत्रण परिषद के सात ब्यूरो प्रधान और डिविजन प्रधान तथा एक बड़ा कुनबा जो निर्वासित किये जाने के बाद बचकर वहां पहुंच गया था, शामिल थे। (सोविएस्काया किरधिजिया, 8 जनवरी 1962)।

'महान विवाद' में इस तरह की लूट–खसोट के कई उदाहरण सामूहिक फार्मों के भी दिये गये हैं। जाहिर है कि इस प्रक्रिया में स्थानीय मैनेजर स्तर से लेकर सर्वोच्च शिखर के लोग तक शामिल थे। इन्हीं भ्रष्टाचारी रास्तों से राजकीय पूंजीवाद के गर्भ में निजी पूंजीवाद का भ्रूण पल–बढ़ रहा था, 'आदिम संचय' की प्रक्रिया चल रही थी। इसे पूरी तरह विकसित होने में 35 साल लगे और इसे पैदा कराने का श्रेय (पूंजीवादी जगत में यश और मार्क्सवादियों के बीच अपयश) गोर्बाचोव को मिला। 1956 में ख्रुश्चोव को समाजवादी मुखौटा धारण करना जरूरी लग रहा था, लेकिन गोर्बाचोव के लिए जरूरी हो गया था कि इसे उतार फेंके।

***
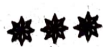
सामाजिक साम्राज्यवाद की ओर

सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का प्रधान शिल्पी ख्रुश्चोव जिस तेजी के साथ सर्वशक्तिमान बनकर उभरा था, उसी तेजी के साथ (और नाटकीय ढंग से) उसका पतन भी हुआ। अक्तूबर 1964 में वह स्कैंडिनेविया और चेकोस्लोवाकिया की राजकीय यात्रा से लौटा था। उसे अपने खिलाफ षड्यंत्र की भनक तक नहीं थी। वह छुट्टी मनाने के लिए काला सागर के तट पर एक रिसॉर्ट में चला गया। इसी बीच मिखाइल सुस्लोव ने उसे फोन कर सोवियत कृषि व्यवस्था पर चर्चा के लिए मास्को बुलाया। तब उसे महसूस हुआ कि संभवतः गड़बड़ी हो चुकी है। आश्चर्य की बात नहीं कि लौह पुरुष जैसा दिखने वाला यह व्यक्ति मोम की गुड़िया बन गया। बिना किसी प्रतिकार के वह सक्रिय राजनीति से अज्ञातवास में चला गया जहां 1971 में उसकी मौत हो गयी।

कैसी विडंबना है कि ''सामूहिक नेतृत्व'' की दुहाई देकर सत्तासीन होनेवाला नेता सामूहिक नेतृत्व की उपेक्षा का आरोप झेलते हुए सत्ताच्यूत हुआ। सोवियत संघ की ''कम्युनिस्ट'' पार्टी की ओर से अक्तुबर 1964 में सोवियत जनता सहित सारी दुनिया को बताया गया कि ख्रुश्चोव की इच्छानुसार उसे पार्टी और सरकार के सभी पदों से मुक्त कर दिया गया है। लेकिन लोगों को यह समझते देर नहीं लगी कि यह स्वेच्छा से सेवा निवृति का मामला नहीं है। इसके विपरीत यह सत्ता से जबरन बेदखली का मामला है, ख्रुश्चोव को बेआबरू कर क्रेमलिन से बाहर धकेल दिया गया है। थोड़े ही दिनों के बाद तस्वीर साफ हो गयी और पार्टी ने ख्रुश्चोव की गलत नीतियों से पार्टी और सोवियत जनता को हुई क्षति पर चर्चा शुरू कर दी। सोवियत संघ की ''कम्युनिस्ट'' पार्टी के ब्रेझनवी इतिहास ने ख्रुश्चोव के सत्ताच्यूत किये जाने के कारणों की चर्चा कुछ इस अंदाज में की है :

- पार्टी को कृषि पार्टी और औद्योगिक पार्टी में बांटने के पीछे अनुमान था कि इससे दोनों क्षेत्रों को फायदा होगा। लेकिन यह अनुमान गलत साबित हुआ। उल्टे, दोनों को क्षति पहुंचने लगी। दरअसल, दोनों के बीच उचित संबंध स्थापित करने और उसके नियमन के लिए कोई एकीकृत संस्था रही ही नहीं। इसके फलस्वरूप शहर से देहात की ओर मदद का प्रवाह रूकने लगा और समग्र गतिविधियों पर मजदूर वर्ग की पकड़ ढीली पड़ने लगी। इसे ध्यान में रखते हुए इस निर्णय को पलटकर क्षेत्रीय स्तरों पर पुनगर्ठित करने की नीति अपनायी गयी। यह निर्णय ख्रुश्चोव के पतन का पहला कारण बना।

◆ खुश्चोव के शासन काल में आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में एक अत्यंत महत्वपूर्ण फैसला लिया गया था। पहले उद्योगों की विभिन्न शाखाओं के संचालन और जांच–पड़ताल के लिए अलग–अलग मंत्रालय हुआ करते थे। खुश्चोव काल में इन मंत्रालयों को भंग कर ये सारे कार्यभार क्षेत्रीय स्तरों पर गठित इकोनॉमिक कौंसिल के हवाले कर दिये गये। इसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच प्रतियोगिता की भावना मजबूती से पैदा हुई, क्षेत्रीय हित ज्यादा मजबूत बनकर उभरे और राष्ट्रीय व संघीय हितों की अनदेखी होने लगी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए वर्ष 1966 में इकोनॉमिक कौंसिल की व्यवस्था खत्म की गयी और फिर से केंद्रीय योजना संस्थानों और मंत्रालयों की व्यवस्था बहाल की गयी। यह तुगलकी निर्णय खुश्चोव के पतन का दूसरा कारण बना।

इन दो आर्थिक–राजनीतिक मामलों से जुड़े आंतरिक कारणों के अलावा विश्व राजनीति से जुड़े कुछेक कारण भी थे जिनकी गिनती खुश्चोव के पतन की प्रक्रिया को गति देनेवालों कारकों के रूप में की जाती है। इनमें महत्वपूर्ण हैं – 1960 में सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमेरिका के बीच पेरिस सम्मेलन तथा 1962 में क्यूबा में मिसाइल तैनाती और वापसी की नीति। ये दोनों घटनायें खुश्चोवी सोवियत संघ की ढुलमुल नीति का परिचायक बन गयी थीं। इससे दुनिया को लगने लगा था कि सोवियत संघ की विदेश नीति में कोई निरंतरता व एकरूपता नहीं है।

एक तरफ खुश्चोव पेरिस सम्मेलन के विश्व शांति के लिए बहुत उपयोगी होने का दावा करता था और दूसरी ओर वह (मई 1960 में) अमेरिकी जासूसी विमान को मार गिराने की कार्रवाई करता था। अपनी इस कार्रवाई के बावजूद उसे उम्मीद थी कि पेरिस में अमेरिका अपनी गलती के लिए क्षमा याचना करेगा या अन्य साम्राज्यवादी देश उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करेंगे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। उल्टे, अमेरिका ने ऐसी कार्रवाई दोबारा करते रहने की धमकी दे डाली। इस प्रकार साम्राज्यवाद की शांतिकामी आकांक्षा की खुश्चोवी नीति टाँय–टाँय फिस्स हो गयी और इससे सोवियत संघ की काफी किरकिरी हुई। ऐसी ही स्थिति 1962 में क्यूबा के मामले में पैदा हुई थी जब उसने क्यूबा में न्यूक्लियर प्रक्षेपास्त्र स्थापित कर दिया और बाद में अमेरिकी घुड़की के बाद उसे वापस भी ले लिया। इन ढुलमुल नीतियों के कारण सेना के उच्चस्थ पदाधिकारी और सैन्य नीतिकार भी उससे संतुष्ट नहीं थे।

अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में भी खुश्चोव की प्रतिष्ठा पर आंच आने लगी थी। नवंबर 1960 में दुनिया की 81 पार्टियों के मास्को सम्मेलन में लीपापोती

के सारे प्रयासों के बावजूद आंदोलन दो भागों में बंट चुका था और सोवियत नेताओं को यह डर सताने लगा था कि इस बिमारी ने अगर महामारी का रूप धारण कर लिया तो सारी ख्याति मिट्टी में मिल सकती है। इसलिए उन्होंने बेहतर समझा कि इस बदनाम चेहरे से छुटकारा पाकर अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन और विश्व जनमत को धोखा देने का नया हथकंडा अपना लिया जाय। व्यक्ति की बलि चढ़ाकर व्यवस्था की साख बचा ली जाय।

वे अपने उद्देश्य में बहुत हद तक सफल भी रहे। उनकी सफलता को 'महान विवाद' में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बदलते तेवर से समझा जा सकता है। इस बहस में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत संघ की "कम्युनिस्ट" पार्टी के 30 मार्च 1963 को प्रेषित पत्र पर नौ टिप्पणियां की हैं। इनमें तत्कालीन प्रश्नों का खुलकर विवेचन किया गया है। मेरी नजर में इन टिप्पणियों में सबसे आक्रामक सातवीं टिप्पणी है – 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हमारे समाज के सबसे बड़े फूटपरस्त हैं।' फूटपरस्ती की परिभाषा तय करते हुए और उसका स्रोत बताते हुए दस्तावेज कहता है – 'कम्युनिस्ट कतारों में फूटपरस्त वे हैं जो पूंजीपति वर्ग की जरूरतों को पूरा करने के लिए मार्क्सवाद–लेनिनवाद से, क्रांतिकारी सर्वहारा पार्टी से और क्रांतिकारी सर्वहारा पार्टी तथा मेहनतकश जनता के व्यापक समूह से फूट करते हैं और वे तब भी फूटपरस्त ही रहते हैं जब कुछ समय के लिए वे बहुमत में होते हैं और नेतृत्व के पदों पर होते हैं।'

फूटपरस्ती की जड़ों को चिन्हित करते हुए वे आगे कहते हैं – 'अवसरवाद और संशोधनवाद फूटपरस्ती की राजनैतिक और विचारधारात्मक जड़े हैं। और फूटपरस्ती अवसरवाद और संशोधनवाद की संगठनात्मक अभिव्यक्ति है। यह भी कहा जा सकता है कि अवसरवाद और संशोधनवाद फूटपरस्ती के साथ–साथ संकीर्णतावाद भी हैं। संशोधनवादी कम्युनिस्ट आंदोलन के सबसे बड़े फूटपरस्त और संकीर्णतावादी हैं।'

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का यह विश्लेषण लेनिनवादी विश्लेषण से पूरी तरह मेल खाता है। ध्यान देने की बात है कि फूटपरस्ती, संकीर्णतावाद और संशोधनवाद का उनका आरोप सिर्फ ख्रुश्चोव पर नहीं था, बल्कि सोवियत संघ की पार्टी के संपूर्ण नेतृत्वमंडल पर था। लेकिन ख्रुश्चोव के पतन के बाद लगता है, उन्हें सोवियत पार्टी के सही दिशा में बढ़ने के संकेत मिले, और 'ख्रुश्चोव का पतन क्यों हुआ' ? शीर्षक टिप्पणी में पार्टी ने उसके पतन को 'दुनिया के क्रांतिकारी कार्य के लिए लाभदायक' 'दुनिया के मार्क्सवादी–लेनिनवादियों के अनवरत संघर्ष की महान विजय' और 'संशोधनवाद का दिवालियापन' घोषित किया था। बाद के

अनुभव ने इस विश्लेषण को गलत साबित कर दिया। और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी भूल सुधार किया। अपनी रूस यात्रा के बाद प्रधानमंत्री चाउ एन लाई ने टिप्पणी की : खुश्चोव हट गया, लेकिन खुश्चोववाद चल रहा है (खुश्चोविज्म विदाउट खुश्चोव)।

ब्रेझनेव–कोसिजिन गठजोड़ जिसने उसे धकिया कर बाहर निकाला था, संशोधनवाद का उससे भी शातिर प्रतिनिधि साबित हुआ। खुश्चोव ने राजकीय पूंजीवाद की जो आधारशिला रखी थी, उसपर इस जोड़ी ने सामाजिक साम्राज्यवाद की आलीशान इमारत खड़ी कर दी। उसे सत्ता से बाहर करना इस जोड़ी के लिए इसलिए जरूरी था कि पूंजीवाद के विस्तार में उसकी नीतिगत विसंगतियों से छुटकारा पाकर उसे ज्यादा सुसंगत बनाया जा सके। हालांकि सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी चरित्र का पर्दाफाश कर उसके खिलाफ विश्वव्यापी मोर्चा खोलने में अग्रणी भूमिका निभाने का श्रेय चीन की कम्युनिस्ट पार्टी को जाता है, फिर भी इस क्षणिक विचलन ने विश्व सर्वहारा की पांत में दुविधा की स्थिति पैदा की और उसकी राजनीति को दिग्भ्रमित किया।

इस टिप्पणी में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्व राजनीति में खुश्चोवी नीतियों के दुष्प्रभावों की चर्चा की है। खुश्चोव ने पूरी दुनिया में यह भ्रम फैलाने की कोशिश की थी कि सोवियत संघ और अमेरिका मिलकर 'मानव जाति के भाग्य का निर्णय करेंगे' और यह कि अमेरिकी शासक 'शांति के प्रति हार्दिक आकांक्षा रखते हैं।' कहने की जरूरत नहीं कि खुश्चोव के इन नीति वक्तव्यों के कारण सोवियत संघ की छवि अमेरिका के पिछलग्गू जैसी बनने लगी थी। इसी क्रम में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने 'आंशिक नाभिकीय परीक्षण निषेध संधि' पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया। उसने खुश्चोव पर आरोप लगाया कि नाभिकीय धौंस की अमेरिकी साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते हुए समाजवादी चीन को नाभिकीय शक्ति बनने से रोकने के लिए उसने अपने देश की सुरक्षा संबंधी क्षमताओं के साथ समझौता किया। इस तरह की समझौतावादी नीतियों के कारण सोवियत संघ की छवि चौतरफा खराब हो रही थी। समाजवादी खेमे में भी संदेह पैदा हो रहा था और उत्पीड़ित देशों में भी दुविधा और संशय की स्थिति पैदा हो रही थी।

दुनिया भर में नयी साम्राज्यवादी हस्ती के रूप में उभरने के लिए इस समर्पणवादी नीति से छुटकारा पाना जरूरी था और इसीलिए खुश्चोव से छुटकारा पाना भी जरूरी था। खुश्चोव के पतन के बाद ब्रेझनेव–कोसिजिन के नेतृत्व में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का उदय किसी भी दृष्टि से प्रगतिशील कदम नहीं था। वह अमेरिकी साम्राज्यवाद के एकछत्र प्रभुत्व के लिए भले ही एक चुनौती

के रूप में उभर रहा था, लेकिन इससे साम्राज्यवाद का मजबूत स्तंभ खड़ा हो रहा था और विश्व समाजवाद कमजोर हो रहा था।

दरअसल ब्रेझनेव–कोसिजिन शासनकाल में सोवियत संघ को पूंजीवाद का मजबूत गढ़ बनाने के लिए ख्रुश्चोव की नीतियों को काट–छांट कर उन्हें सुसंगत बनाने की दिशा में कदम उठाये जा रहे थे। हम पहले बता चुके हैं कि कृषि और औद्योगिक पार्टी का विभाजन खत्म हो चुका था और इकोनॉमिक कौंसिल की व्यवस्था समाप्त की जा चुकी थी। इन कदमों का उद्देश्य समाजवाद की ओर लौटना नहीं था, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में अराजकता का अंत कर उत्पादन और वितरण पर नवोदित पूंजीवादी राज्य की पकड़ मजबूत करना था। इसके लिए उत्पादन और वितरण के मुख्य निर्धारक तत्वों को राज्य के अधीन किया गया, जैसे :–

संचय का मूल संकेंद्रण राज्य के हाथ में हो,
निवेश के मुख्य क्षेत्रों का निर्धारण राज्य करे,
अर्थव्यवस्था की हर शाखा में उत्पादन की मात्रा और कीमतों का निर्धारण राज्य करे,
कच्चे माल तथा अन्य सामग्रियों के वितरण का नियमन राज्य करे,
उत्पादन में नयी मशीनरी और प्रौद्योगिकी का प्रवेश राज्य की देख–रेख में हो।

राजकीय नियंत्रण के इस बड़े हाव–भाव को सामने रखकर यह बताने की कोशिश हो रही थी कि सोवियत संघ समाजवाद से विचलित नहीं हो रहा है। इसी को विस्तार देते हुए हमारे देश के सोवियत समर्थक कम्युनिस्टों ने इंदिरा गांधी के बैंक राष्ट्रीयकरण को समाजवाद की ओर कदम बताना शुरू कर दिया था। उस समय मार्क्सवाद की मूल शिक्षा भुला दी गयी थी कि समाजवाद के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व अनिवार्य तत्व है। ऐसे लोगों को फटकार लगाते हुए एंगेल्स ने (ड्यूरिंग मतखंडन) चेताया था कि राष्ट्रीयकरण की हर कार्रवाई को समाजवाद नहीं माना जा सकता। अगर ऐसा होता तो बिस्मार्क, मेट्टरनिख और नेपोलियन की गिनती भी समाजवाद के संस्थापकों में होती। सुदूर इतिहास के इन उदाहरणों को भूल जाना थोड़ी देर के लिए क्षम्य हो सकता है, लेकिन समकालीन इतिहास में हिटलर की राजकीय भूमिका को कैसे भुला जा सकता है।

इसके साथ ही एंगेल्स की एक चेतावनी और थी। उन्होंने बताया था कि पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत राजकीय पूंजीवाद कई स्थितियों में प्रतिक्रियावादी कदम भी हो सकता है। बैंक राष्ट्रीयकरण के थोड़े ही दिनों बाद इंदिरा गांधी की इमरजेंसी ने साबित कर दिया था कि एंगेल्स सही थे और हमारे देश के

सोवियतपरस्त कम्युनिस्ट प्रतिक्रियावाद के एजेंट बन गये थे।

अब हम देखें कि सोवियत संघ में क्या हो रहा था? राजकीय नियंत्रण की इस मूलभूत नीति के अंतर्गत औद्योगिक इकाइयों की आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ा दी गयी। यहां विचारणीय विषय है कि इस स्वतंत्रता का बुनियादी रूझान किधर था ? समाजवाद की ओर या पूंजीवाद की ओर? इसे समझने के लिए राज्य और उत्पादन की इकाइयों के बीच बदलते संबंधों पर गौर करना होगा –

राज्य की ओर से हर औद्योगिक इकाई के लिए उत्पादन का कोटा तय कर दिया जाता था और इसे पूरा करने की जिम्मेवारी संबद्ध इकाई के प्रबंधन और स्टाफ की होती थी। इसमें अपनी नीतियों में सीमित हेर–फेर के लिए वे स्वतंत्र होते थे।

इन इकाइयों की सारी अचल संपत्ति–कारखाने की जमीन, भंडारगृह, मशीनरी तथा अन्य औजारों – का स्वामित्व उन इकाइयों को सौंप दिया गया था। इसके एवज में वे राज्य को किराया के रूप में निर्धारित राशि का भुगतान करते थे।

सभी उत्पादक इकाइयों को आपस में तथा राजकीय वाणिज्यिक इकाइयों के साथ अपने उत्पादों के विनिमय का अधिकार दे दिया गया। यह विनिमय मूल्य के नियम के आधार पर मालों के विनिमय के रूप में होता था। इस नीति को सुसंगत और सुचारू बनाने के लिए उनके उत्पादन सूचकांक मापने का पैमाना बदल दिया गया। पहले यह कुल उत्पादन के आधार पर तय होता था अब इसका निर्धारण बिक्री किये गये माल की मात्रा से तय होने लगा था।

हर औद्योगिक इकाई को योजनाबद्ध ढ़ंग से निर्धारित राजकीय कोटा के अतिरिक्त उत्पादन की छूट दी गयी। यह उत्पादन मुनाफा केंद्रित था। इस मुनाफा का एक भाग राजकोष में जाता था और दूसरा संबद्ध इकाई के पास रह जाता था जिसका उपयोग वे अपनी इकाई के लिए नये औजार–खरीदने से लेकर स्टाफ और मजदूर को बोनस या अन्य पुरस्कार देने के लिए करते थे।

कृषि क्षेत्र में भी ऐसे ही सुधार किये गये। वहां भी सरकारी और सामूहिक फार्मों के लिए उनकी खेती के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए उनसे अनाज तथा अन्य उत्पादों को उनके विवेकसम्मत उपयोग के लिए छोड़ दिया गया। इस अतिरिक्त उत्पाद को राज्य भी खरीद सकता था, लेकिन अधिक दाम देकर। इससे जाहिर है कि राज्य और कृषि फार्मों के बीच का विनिमय संबंध बाजार के नियम और मुनाफा के सिद्धांत के आधार पर तय होने लगा था।

सुधारों की इस श्रृंखला को कोसिजिन सुधार या लिबरमैन सुधार के रूप में जाना जाता है। यह सुधार अचानक आसमान से नहीं टपका था। इसकी पृष्ठभूमि

खुश्चोव काल में तैयार होने लगी थी। अर्थशास्त्रियों के बीच सोवियत संघ की भावी नीति को लेकर बहस चली थी जिसे लिबरमैन डिबेट के रूप में जाना जाता है। इसका केंद्रीय उद्देश्य था आर्थिक गतिविधियों के केंद्र में मुनाफा के लक्ष्य को स्थापित करना। मार्क्सवाद का न्यूनतम ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी जानता है कि मुनाफा केंद्रित उत्पादन पूंजीवाद की आत्मा है। अब सोवियत संघ में समाजवाद के शरीर में पूंजीवाद की आत्मा प्रवेश कर गयी थी। वोज्निसिंस्कि जहां हार गया था खुश्चोव जीत गया।

उत्पादन और विनिमय के क्षेत्र में उठाये गये ये कदम किस दिशा में बढ़ने के संकेत दे रहे थे ! निश्चय ही पूंजीवाद की दिशा में। स्तालिन ने जिन पूंजीवादी संबंधों पर मर्मांतक प्रहार किया था, उन्हें संजीवनी घूंटी पिलाने का प्रयास खुश्चोव ने शुरू किया और ब्रेझनेव–कोसिजिन गुट के ये कदम उन प्रयासों को सुसंगत रूप देकर आगे बढ़ा रहे थे।

पूंजीवादी आधार का निर्माण और कम्युनिज्म की पाखंडी घोषणा के बीच दरार पैदा होना निश्चित था और पार्टी की तेइसवीं कांग्रेस (मार्च–1966) आते–आते यह दरार दिखाई पड़ने लगी। सबसे पहली दरार अंतरराष्ट्रीय संबंधों के मूल्यांकन में दिखाई पड़ी। साम्राज्यवाद और समाजवाद के शक्ति–संतुलन के मूल्यांकन में। पार्टी की इक्कीसवीं और बाइसवीं कांग्रेस में विश्व परिस्थिति का मूल्यांकन इन प्रस्थापनाओं पर आधारित था कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद का आर्थिक आधार (उपनिवेशवाद) नष्ट हो चुका है और वह काफी कमजोर हो गया है; इसके विपरीत समाजवाद का विस्तार हुआ है और एक शक्तिशाली समाजवादी खेमा बन गया है; पहले सोवियत संघ साम्राज्यवादी देशों से घिरा समाजवाद के एक टापू की तरह था जहां बाहरी हस्तक्षेप से पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की तलवार लटकती रहती थी, लेकिन अब यह घेराबंदी खत्म हो गयी है; समाजवादी देशों में हस्तक्षेप कर पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की साम्राज्यवादी देशों की क्षमता नष्ट हो चुकी है; नाभिकीय हथियारों से लैस इस दुनिया में सोवियत संघ की बढ़ती नाभिकीय शक्ति समाजवाद की सुरक्षा की गारंटी है और इस प्रकार दुनिया एक नये युग में प्रवेश कर गयी है, जहां समाजवाद में शांतिपूर्ण बदलाव, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और शांतिपूर्ण प्रतियोगिता संभव है।

महज पांच वर्षों के अंतराल में ही परिस्थिति इस तरह बदली कि ऊपर के सारे मूल्यांकन धराशायी हो गये। दूसरे विश्वयुद्ध में क्षत–विक्षत साम्राज्यवादी देश एक बार फिर शक्ति संचय कर और अमेरिका के नेतृत्त्व में एकजुट होकर अपना विषैला फन सारी दुनिया में फैलाने लगे थे। इस बार नये उपनिवेशवादी के रूप में।

सोवियत संघ की ''कम्युनिस्ट'' पार्टी की तेइसवीं कांग्रेस (मार्च 1966) तक में इस बदलाव की अनुगुंज सुनाई पड़ने लगी थी।

'समाजवादी देशों और नवोदित राष्ट्रों के खिलाफ सत्ता पलट और उत्तेजक कार्रवाइयों में तेजी लाकर साम्राज्यवादी दुनिया भर में तनाव बढ़ा रहे थे। अमेरिकी साम्राज्यवादी वियतनामी जनता के खिलाफ आपराधिक युद्ध चला रहे थे, क्यूबा में उनकी उत्तेजक कार्रवाइयाँ जारी थीं और एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देशों के आंतरिक मामलों में उनका जघन्य हस्तक्षेप जारी था।' (ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ दी कम्युनिस्ट पार्टी आफ दी सोवियत यूनियन, पृ० 413)।

इसी दौर में यह भी स्वीकार किया जाने लगा था कि नाटो में शामिल देशों ने यूरोप में स्थिति भयावह बना दी है। यह स्थिति अचानक नहीं बनी थी, बल्कि उस समय भी जारी थी जब ख्रुश्चोव अमेरिका को ''शांति का आकांक्षी'' होने का प्रमाण पत्र दे रहा था। उनके अपराधों की सूची काफी लंबी है :

1956 में हंगरी में प्रतिक्रांति को उकसावा;

इसी वर्ष स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के खिलाफ मिस्र पर हमला

वर्ष 1958 में सिरिया के खिलाफ तुर्की को भिड़ाने की साजिश, लेबनान और जार्डन में अमेरिकी और ब्रिटिश सैन्य टुकड़ी का हमला, इराक में सेना उतारने की योजना;

वर्ष 1961 में नाटो की ओर से यूरोप में तनाव पैदा करने की कोशिश, विशेष रूप से अमेरिका और पश्चिमी जर्मनी की ओर से पूर्व जर्मनी और सोवियत संघ को धमकाने की कोशिश;

1961–62 में क्यूबा में प्रतिक्रांतिकारी हस्तक्षेप और सेना उतारने की साजिश;

1967 में इस्राइल की ओर से मिस्र पर हमला;

इन सब में सबसे महत्वपूर्ण था वियतनाम में अमेरिकी हमला।

इस विवरण से साफ है कि साम्राज्यवाद के धराशायी होने, और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और शांतिपूर्ण बदलाव के सिद्धांत के परखचे उड़ चुके थे। स्थिति इतनी भयावह हो चुकी थी कि उत्पीड़ित देशों की अमेरिका विरोधी सरकारों का तख्ता पलट की साजिश हो रही थी या क्षेत्रीय युद्ध भड़काये जा रहे थे या उन देशों की जनता संगठित होकर साम्राज्यवाद के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष में जूझ रही थी। ऐसी स्थिति में किसी मार्क्सवादी का कर्तव्य था कि वह गलत मूल्यांकन की अपनी जिम्मेवारी स्वीकार करता, उन गलतियों की परिस्थिति और उनके स्रोतों का पता लगाता, सही तथ्यों के आधार पर सही नीति स्थापित करता और इस आधार पर सही कार्यक्रम निरूपित कर दुनिया की जनता को उसके कार्यान्वयन

की दिशा में आंदोलित करता। उस समय की ठोस परिस्थिति में सही कदम यही हो सकता था कि साम्राज्यवाद के बारे में लेनिनवादी प्रस्थापना की ओर लौटा जाय : जब तक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक वह समाजवाद तथा उत्पीड़ित देशों में जनवाद का तख्ता पलटने की कोशिश करता रहेगा, उसकी कोशिश का तरीका और हस्तक्षेप की तीव्रता चाहे जो हो। और इस प्रस्थापना से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि साम्राज्यवाद के संपूर्ण नाश के लिए संघर्ष जारी रखना क्रांतिकारी व जनवादी शक्तियों का परम कर्त्तव्य है।

लेकिन ब्रेझनेव और उसके सहयोगी इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचे। उनके नेतृत्व में संपन्न तेइसवीं कांग्रेस में यह निष्कर्ष निकाला गया कि : दुनिया में तनाव बढ़ाने के लिए साम्राज्यवादी षड्यंत्र की इस परिस्थिति में सोवियत संघ की सुरक्षा शक्ति में वृद्धि की जाय और अन्य समाजवादी देशों के साथ–साथ विश्व समाजवादी व्यवस्था की सामूहिक सुरक्षा सुनिश्चित की जाय। उस कांग्रेस ने साम्राज्यवादी षड्यंत्र के संदर्भ में सावधानी बरतने का आह्वान सोवियत जनता से किया।

तेइसवीं कांग्रेस का यह निर्णय संशोधनवाद के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ। यह लेनिन और स्तालिन के जमाने में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के विपरीत था। उस समय यह मानकर निर्णय लिया जाता था कि हर देश की क्रांति वहां के मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता के संघर्ष के फलस्वरूप विजयी होगी; विश्व क्रांति के अगुआ दस्ता के रूप में सोवियत पार्टी की भूमिका उस संघर्ष में सहयोग करना है तथा दुनिया भर में समाजवादी या साम्राजयवाद विरोधी जनवादी क्रांति का विकास व विस्तार सोवियत संघ की सुरक्षा की गारंटी है। लेकिन अब यह कहा जाने लगा कि दुनिया भर में समाजवाद और साम्राज्यवाद विरोधी जनवाद की सुरक्षा की गारंटी सोवियत संघ की बढ़ती सैन्य शक्ति में है, अन्य देश उसकी इच्छा व जरूरत के अनुसार सहयोगी या पिछलग्गू की भूमिका निभायें। इस विपरीत निष्कर्ष का मतलब क्या था ? इसका मतलब सिर्फ यही हो सकता था कि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का वर्ग चरित्र उलट चुका था। तब वह मार्क्सवादी थी, अब संशोधनवादी हो गयी थी और सामाजिक साम्राज्यवाद की दिशा में कदम बढ़ा रही थी। सैन्य संगठन और राष्ट्रीय सुरक्षा के मामले में सोवियत संघ पर निर्भरता का यह सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय स्तर पर असमान श्रम विभाजन के क्षेत्र में एक नया अध्याय था।

इस तरह के श्रम विभाजन की प्रक्रिया कौंसिल फॉर म्यूचुअल इकोनॉमिक असिस्टेंस (कॉमेकन या सीएमईए) के स्वरूप में आये बदलावों के माध्यम से शुरू हो चुकी थी। इस संस्था का गठन जनवरी 1949 में हो चुका था। उस समय

इसका मकसद था – पूर्वी यूरोप के समाजवादी गणराज्यों के आर्थिक विकास में तेजी लाना और उनके बीच समन्वय स्थापित करना। गठन के समय इस संस्था के छः सदस्य थे : सोवियत संघ, बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैंड और रूमानिया। फरवरी 1949 में अल्बानिया इसका सदस्य बना, लेकिन 1961 में सोवियत संघ से मतभेद के कारण उसने इस संगठन को छोड़ दिया। बाद के दिनों में मंगोलिया (1962), युगोस्लाविया (1964), क्यूबा (1972) और वियतनाम (1974) इसके सदस्य बने।

शुरूआती दिनों में (1949–53) में इस संगठन की गतिविधियां सदस्य देशों के बीच द्विपक्षीय व्यापार और कर्ज लेन–देन तक सीमित रहती थीं। उत्पादन और वितरण के संदर्भ में निर्णय लेने के मामलों में सभी देश स्वतंत्र थे। 1953 के बाद इसकी नीति और गतिविधि में महत्वपूर्ण बदलाव आने लगे। यह संगठन 'समानता, स्वतंत्रता और आपसी सहयोग' की आड़ में कमजोर देशों की अर्थनीति और राजनीति में हस्तक्षेप का औजार बन गया। अब सदस्य देशों के बीच औद्योगिक दक्षता अपनाने और समानांतर उत्पादन को खत्म करने की नीति अपनायी जाने लगी। इसका मतलब था कि जो देश जिस वस्तु के उत्पादन में दक्ष है, वे उसका उत्पादन करें और बाकी देश उसका आयात करें। असमान आर्थिक व प्रौद्योगिक विकास वाले देशों के बीच इस तरह का समझौता अनिवार्यतः असमान श्रम विभाजन को जन्म देता है। यह अनिवार्यतः दो तरह के देशों की श्रेणियां पैदा करता है – प्रभुत्वशाली देश और निर्भरशील देश। उपनिवेशवाद के खात्मे के बाद अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी देशों ने नवोदित राष्ट्रों पर दासता का जुआ थोपने के लिए इसी असमान श्रम विभाजन और निर्भरशील औद्योगिक नीति का हथकंडा अपनाया था। तब उनके चेहरे पर औपनिवेशिक गुलामी के खिलाफ स्वतंत्रता और जनवाद का मुखौटा था और सोवियत संघ के चेहरे पर पूंजीवाद के खिलाफ समाजवाद का।

इस श्रम विभाजन का उपयोग अलग–अलग देशों के विकास की स्थिति के अनुसार किया जाने लगा। लेकिन इस विविधता में समानता यह थी कि सभी देशों की व्यवस्थायें सोवियत संघ की जरूरत के अनुसार और उसके इर्द–गिर्द संचालित होने लगीं। चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड जैसे देशों में मशीनों का उत्पादन सोवियत उद्योगों की जरूरत के अनुसार होने लगे और ये देश उसपर निर्भरशील बन गये। उसी तरह बुल्गारिया और मंगोलिया जैसे देशों को कहा गया कि वे कुछेक उद्योगों का विकास न करें क्योंकि वे सोवियत संघ में मौजूद हैं। इन देशों से कहा गया कि वे सोवियत उद्योगों के लिए कच्चा माल की आपूर्ति करें।

बुल्गारिया को सस्ते श्रम की भी आपूर्त्ति करनी पड़ी। इस समझौता के तहत प्रति वर्ष हजारों बुल्गारियाई मजदूर (लकड़ी काटने वालों सहित) सोवियत संघ जाया करते थे। (स्रोत : हाउ कैपिटलिज्म वाज रिस्टोर्ड इन सोवियत यूनियन, 1974 के प्रथम संस्करण का 1990 रीप्रिंट)

इस प्रकार कॉमेकन और वार्सा संधि के रूप में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के दोनों स्तंभ – आर्थिक व सैन्य – तैयार हो चुके थे और उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती आ गयी थी कि अमेरिकी साम्राज्यवादी ब्लॉक को पीछे धकेलकर दुनिया को अपने प्रभुत्व क्षेत्र में समेट लिया जाय। इसके लिए दब्बू और पिछलग्गू जैसा दिखनेवाली खुश्चोवी नीति का परित्याग कर विश्व विजय की प्रतियोगिता में टक्कर देनेवाले प्रतियोगी की तरह उभरने की नीति अपनाना जरूरी था। सोवियत संशोधनवाद के इतिहास में ब्रेझनेव को इसी उपलब्धि के लिए याद किया जाता है।

इस काम को दक्षतापूर्वक अंजाम देने के लिए कुछेक नये सिद्धांत रचे–गढ़े गये। नवोदित राष्ट्रों को यह समझाने की कोशिश हुई कि उनके सामने विकास के दो रास्ते हैं – पूंजीवादी और गैरपूंजीवादी। पूंजीवादी रास्ता उन्हें नये किस्म के पूंजीवाद की ओर ले जायेगा और गैर पूंजीवादी रास्ता समाजवाद की ओर। सामाजिक साम्राज्यवाद के सिद्धांतकारों ने इन देशों में अपनी स्थिति मजबूत बनाने और व्यापक जनाधार तैयार करने के लिहाज से वर्ग विभाजन और वर्ग हित का हवाला दिया और बताया कि साम्राज्यवादी देश इन देशों के पूंजीपतियों के हितों के रक्षक हैं और उनके साथ गठजोड़ करते हैं। इस आधार पर उन्होंने आह्वान किया कि समाजवाद का रास्ता कठिन है; पूंजीपति इसमें कई बाधाएं पैदा करते हैं; इसमें सबसे बड़ी बाधा है आदत की बाधा, यानी पूंजीवादी जीवन पद्धति में जीने की आदत की बाधा और पूंजीवादी चुनौतियों से निबटने और इन बाधाओं को दूर करने के लिए मजदूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों और सभी प्रगतिशील शक्तियों को सचेतन ढंग से एकजुट होना पड़ेगा। इस आह्वान का प्रभाव भी पड़ा। इन देशों में कार्यरत सोवियत खेमे की कम्युनिस्ट नामधारी पार्टियां आज्ञाकारी सेवक की तरह इसे अंजाम देने में जुट गयीं। नतीजा यह हुआ कि मजदूरों, किसानों की विशाल आबादी समाजवाद की आशा में साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार बन गयीं। जिन्हें क्रांति के लिए संघर्ष करना था, वे वर्गच्यूत होकर प्रतिक्रांति के औजार बन गये।

उसी समय एक और प्रपंच रचा गया। इन सिद्धांतकारों ने बताया कि अब इन देशों की पूर्ण मुक्ति का संघर्ष एक नयी मंजिल में प्रवेश कर गया है। पाठकों को

याद दिला देना उचित होगा कि दूसरे विश्वयुद्ध के अंत के साथ ही जब उपनिवेशवाद को ख़त्म कर नव उपनिवेशवाद की नींव रखी जा रही थी उसी समय सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बो) की ओर से यह विश्लेषण पेश किया गया था कि इन देशों का मुक्ति संघर्ष नयी मंजिल में प्रवेश करने जा रहा है। इन दोनों विश्लेषणों में फर्क था। इस विश्लेषण का मकसद यह बताना था कि इन देशों के मुक्ति संघर्ष के अगले चरण में पूंजीपति वर्ग सकारात्मक व नेतृत्वकारी भूमिका नहीं निभा पायेगा, यह दायित्व मजदूर वर्ग को निभाना पड़ेगा। लेकिन ख्रुश्चोवी विश्लेषण की नयी मंजिल में यह समझाया जाने लगा कि साम्राज्यवाद से इन देशों की पूर्ण मुक्ति के लिए राजनीतिक संघर्ष की जरूरत नहीं है, सोवियत संघ के सहयोग से आर्थिक प्रगति कर वे नये किस्म की औपनिवेशिक गुलामी से वे मुक्त हो पायेंगे। यह अर्थवाद था, बन्सर्टीनवाद का आधुनिक संस्करण।

इस विस्तारवादी नीति के अनुरूप सोवियत संघ की औद्योगिक नीति में भी बदलाव किया गया। सुविचारित ढंग से यह निर्णय लिया गया कि उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि दर को उत्पादन के साधनों के (यानी मशीनों के उत्पादन) की वृद्धि दर के आसपास लाना होगा। यह बदलाव वर्ष 1929 से अपनायी गयी औद्योगिक नीति को उलटने जैसा काम था। जिन्होंने समाजवादी दिशा को उलटकर पूंजीवाद की बुनियाद रखी थी, उनसे इससे भिन्न किसी काम की उम्मीद कैसे की जा सकती थी। यहां यह भी उल्लेख जरूरी है कि इसी बदलाव के साथ सोवियत संघ में सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन की जमीन भी तैयार होने लगी थी। 1973 आते–आते उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि दर उत्पादन के साधनों के उत्पादन की वृद्धि दर से आगे निकल गयी थी। इसी अवधि को सोवियत अर्थव्यवस्था के अवरूद्ध होने की अवधि के रूप में जाना जाता है।

इन पाखंडपूर्ण नीतियों के आवरण में नवोदित साम्राज्यवाद का विस्तार तेजी से हुआ। अपनी नीति की सफलता का दावा करते हुए सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का ब्रेझनवी इतिहास (1977 में प्रकाशित) लिखता है कि सोवियत तकनिकी सहयोग से 31 नवोदित राष्ट्रों में 600 औद्योगिक इकाइयां और परियोजनायें या तो पूरी हो चुकी हैं या निर्माण की प्रक्रिया में हैं। इनमें भारत का भिलाई स्टील संयंत्र और मिस्र में नील नदी पर अश्विन बांध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन विश्व परिस्थिति की विशेषता थी कि सोवियत संघ और अमेरिका की होड़ में दुनिया पीस रही थी और तीसरे विश्वयुद्ध के खतरे से लोग आतंकित थे।

तब क्या इस आतंक और कष्ट से गुजरने के बावजूद उत्पीड़ित देशों के

पूंजीवादी समाज के गर्भ से समाजवादी चुज्जे निकलने की उम्मीद थी ? यही मुख्य सवाल है और इसका जवाब खोजने के लिए भारत की स्थिति का विश्लेषण काफी लाभदायी हो सकता है; क्योंकि यह देश सोवियत अर्थनीति और राजनीति से प्रभावित देशों के बीच लाक्षणिक उदाहरण था। उस समय सोवियतपरस्त कम्युनिस्ट पार्टी इसका वर्णन समाजवादी कदम के रूप में भले ही कर रही हों, लेकिन सच्चे क्रांतिकारी इसे नयी गुलामी की दिशा में एक कदम मान रहे थे। उनका मानना था कि भारत पर सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का एकछत्र प्रभुत्व कायम हो रहा है। आपातकाल ने साबित कर दिया कि सोवियत सहयोग देश को प्रगति और समाजवाद की ओर नहीं, बल्कि पूंजीवादी तानाशाही की ओर ले जा रहा था। उस समय हमारे देश का कम्युनिस्ट आंदोलन इस तरह दो भागों में बंट गया था कि उनमें सुलह–समझौता की कोई गुंजाईश ही नहीं रह गयी थी। एक तरफ सोवियतपरस्त भाकपा थी जो इमरजेंसी को भी समाजवाद की दिशा में कदम बताते हुए उसका समर्थन कर रही थी और दूसरी तरफ मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि के रूप में नक्सलवादी थे जो इंदिरा सत्ता के अमानवीय जुल्म का शिकार हो रहे थे। इन दोनों के बीच आम जनता के बीच यह धारणा पुष्ट हो रही थी कि अगर यही समाजवाद है, तो बेहतर है कि न आये। सोवियत सहयोग से इंदिरा गांधी की देखरेख में समाजवाद की ऐसी ही छवि का निर्माण हो रहा था।

लोगों की धारणा निराधार नहीं थी। उन्होंने सोवियत संघ में लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में सर्वहारा की तानाशाही की जो कहानी विभिन्न माध्यमों से सुन रखी थी, इंदिरा गांधी की तानाशाही ठीक उसके विपरीत थी। पहली अवस्था में जनता का राज था और पूंजीपति पीड़ित थे और दूसरी अवस्था में पूंजीपतियों का राज था और आम जनता पीड़ित थी। यह तानाशाही लेनिन–स्तालिन के नेतृत्व में स्थापित तानाशाही जैसी नहीं थी, बल्कि हिटलर की तानाशाही जैसी थी। वह लेनिन–स्तालिन का रास्ता इसलिए नहीं अपना सकती थी, क्योंकि उसका वर्ग चरित्र भिन्न था और सत्ता में आने का रास्ता भी भिन्न था। इन दोनों मामलों में वह हिटलर की राह का अनुसरण कर रही थी। उसी की तरह उसने समाजवाद और अंधराष्ट्रवाद (बांग्लादेश युद्ध के माध्यम से) की जमीन पर फासीवाद की इमारत खड़ी की थी। लेकिन यह समानता सिर्फ उसके स्वरूप तक सीमित थी, अंतर्वस्तु में दोनों एक दूसरे के विपरीत थे। हिटलर पूरी दुनिया को जर्मन नस्ल के अधीन करने का सपना संजोए था, लेकिन इंदिरा गांधी सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के चंगुल में काम कर रही थी। भारत जैसे कमजोर रीढ़

वाले पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि से इससे बेहतर की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसकी नियति है कि किसी न किसी साम्राज्यवादी देश के साथ आबद्ध रहकर ही अपने अस्तित्व की रक्षा व विस्तार कर सकता है।

जिस समय हमारे देश पर सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का एकछत्र प्रभुत्व कायम हो रहा था, उस समय अमेरिकापरस्त शक्तियां इस एकाधिकार को तोड़ने का प्रयास कर रही थीं। उन्हें सफलता भी मिली और एक बार जब वह एकाधिकार टूट गया तो फिर से स्थापित नहीं हो सका। इंदिरा गांधी जब दोबारा सत्ता में आयीं तो उन्हें अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ समझौता करना पड़ा था और धीरे–धीरे भारतीय पूंजीपति वर्ग अमेरिकी नीति की तरफ खिसकने लगा था।

मिस्र की स्थिति भी इससे मिलती–जुलती रही। राष्ट्रपति अब्दुल नसर के शासनकाल तक मिस्र सोवियत खेमे में बना रहा। अर्थनीति, राजनीति और सैन्य नीति तक में सोवियत सलाहकारों की पैठ बनी रही। यह स्थिति अमेरिका सहित सभी साम्राज्यवादी शक्तियों को नागवार गुजर रही थी। सबसे ज्यादा परेशानी का कारण था अरब राष्ट्रवाद के प्रतीक के रूप में उनका उभरना। उनकी इस छवि को मिट्टी में मिला देने के उद्देश्य से 1967 में मिस्र पर इस्रायल से हमला करवाया गया। मिस्र की हार हुई। यह सिर्फ मिस्र की हार नहीं थी, बल्कि अरब राष्ट्रवाद की हार थी, अफ्रीकी देशों में अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ उठ रही आवाज की हार थी और अंततः सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद की हार थी। इस हार से अब्दुल नसर काफी आहत हुए थे। उन्होंने राष्ट्रपति पद से इस्तीफा तक दे डाला था। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष तथा बाद में भूमि सुधार कार्यक्रम के कारण वे इतने लोकप्रिय थे कि जन दबाव में उन्हें इस्तीफा वापस लेना पड़ा।

उनके शासन काल तक मिस्र सोवियत प्रभुत्व का मुख्य केंद्र बना रहा। लेकिन वर्ष 1970 में उनकी आकस्मिक मृत्यु के फलस्वरूप अनवर सदात के सत्तासीन होने के बाद यह समीकरण बदल गया या कहें, उलट गया। तब सवाल पैदा होता है कि सोवियत प्रभाव के काल में मिस्र समाजवाद की दिशा में बढ़ रहा था या अर्थव्यवस्था में नयी छलांग के बावजूद सोवियत संघ पर निर्भरशील देश बन रहा था? इसमें दूसरी बात सच है। जिस तरह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौर में मिस्र के कपास व्यापार पर ब्रिटेन का एकाधिकार था, उसी तरह इस नये दौर में कपास के व्यापार पर सोवियत संघ का एकाधिकार बन गया। दूसरी ओर सैन्य उपकरणों की आपूर्ति के मामले में भी सोवियत संघ का एकाधिकार बन गया और इस प्रकार असमान व्यापारिक संबंध का निर्माण हुआ। इस असमान चरित्र का अंदाजा इसी

से लगा सकते हैं कि 1967 के इस्रायल युद्ध में बर्बादी के बाद हथियारों व अन्य सैन्य उपकरणों की आपूर्त्ति के समझौते में मिस्र पर यह शर्त थोपी गयी कि इसका उपयोग वे नये इस्रायली हमले का जवाब देने के लिए ही कर सकते हैं, युद्ध में खोये हुए क्षेत्र पर फिर से कब्जा करने के लिए नहीं। अन्य क्षेत्रों में भी व्यापार की ऐसी एकतरफा शर्त्तें थोपी गयीं और इसका नतीजा यह हुआ कि मिस्र भारी कर्ज के बोझ के नीचे दब गया। भारत में भी लगभग ऐसा ही हुआ था।

नये उपनिवेशवाद के दौर में यानी साम्राज्यवाद के अप्रत्यक्ष प्रभुत्व के दौर में असमान श्रम विभाजन और असमान व्यापारिक समझौते शोषण व राष्ट्रीय उत्पीड़न के दो मुख्य आधार बने। अमेरिका से लेकर सोवियत संघ तक इसी नीति का अनुसरण करते थे। अंतर सिर्फ यह होता था कि अमेरिका और उसके सहयोगी स्वतंत्रता और जनवाद के मुखौटा के पीछे अपना चेहरा छुपाते थे और सोवियत संघ समाजवाद के मुखौटा के पीछे। यह थी सोवियत "समाजवाद" की लाक्षणिक विशेषता। भारत और मिस्र इस समाजवाद के तहत अन्य देशों के साथ सोवियत संघ के बनते संबंधों के लाक्षणिक उदाहरण मात्र थे। इनसे यह समझना आसान हो जाता है कि नवोदित राष्ट्रों में राजकीय उद्योगों के क्षेत्र में सोवियत संघ का सहयोग समाजवाद की दिशा में कदम नहीं था, बल्कि नयी गुलामी थोपने का "समाजवादी" हथकंडा था। इसी हथकंडा के तहत इराक के तेल तथा ईरान और अफगानिस्तान के गैस स्रोतों पर कब्जा करने की कोशिश की गयी। इस दौर में अमेरिका और सोवियत संघ की तनातनी से साम्राज्यवाद के कमजोर होने का बोध भले ही होता हो, लेकिन वास्तव में उस दौर में साम्राजयवाद मजबूत हुआ था। उसे नया स्तंभ मिल गया था।

जिस रफ्तार में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का विस्तार हो रहा था, उसी रफ्तार में उसके खिलाफ असंतोष भी पनपने लगा था। इस असंतोष का स्तर अलग–अलग था। कहीं जनांदोलन का विस्फोट हो रहा था तो कहीं विद्रोह के स्वर फूट रहे थे। भारत और मिस्र का उदाहरण हम देख चुके हैं। सोवियत प्रभाव वाले समाजवादी देशों में भी विद्रोह का दौर शुरू हो गया था। 1968 में चेकोस्लोवाकिया और 1981 में पोलैंड का सॉलिडरिटी आंदोलन इस सूची में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस श्रृंखला की अंतिम कड़ी बना अफगानिस्तान। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद का वाटरलू। तब कहा जाने लगा था कि 'ब्रेझनेव तेरा कब्र खुदेगा, एशिया के मैदान में। और ऐसा ही हुआ भी।

❋❋❋

विनाश की राह पर

ब्रेझनेव सोवियत संघ की सत्ता पर काफी लंबे समय तक काबिज रहा। स्तालिन के बाद सबसे ज्यादा समय तक। सोवियत संघ के संशोधनवादी नेताओं की सूची में वह सबसे ज्यादा लोकप्रिय था। पूंजीवादी विश्लेषकों का मानना है कि वह बीसवीं सदी का सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता था। लेनिन से भी ज्यादा। यह मूल्यांकन थोड़ा खटकता है, लेकिन सच भी हो सकता है। लेनिन–स्तालिन समाजवाद के प्रवर्त्तक व संस्थापक की हैसियत से लोकप्रिय थे और जिस समय लोकप्रियता का यह पैमाना तय किया जा रहा था उस समय तक मजदूर राजनीति की आड़ में पूंजीवाद की स्थापना की नीति के तहत पली–बढ़ी पीढ़ी अपनी पैठ बना चुकी थी।

उसके बाद (1982–85) की अवधि में दो महासचिवों यूरी आंद्रोपोव और कोन्तास्तिन चेरनेन्को का कार्यकाल समाप्त हो गया। चेरनेन्को की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की कमान मिखाईल गोर्बाचोव के हाथों में आयी और इसीकी देखरेख में जारी सुधार की प्रक्रिया–ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका के फलस्वरूप सामाजिक साम्राज्यवाद की इमारत लड़खड़ा कर गिर गयी, सोवियत संघ बिखर गया, कम्युनिस्ट पार्टी को प्रतिबंधित कर दिया गया और इस प्रकार संशोधनवादियों की नजर में भी साफ हो गया कि दुनिया में समाजवाद की पहली इमारत ढह गयी। अब रूस में निर्विवाद रूप से पूंजीवाद कायम हो चुका है और वह दोयम दर्जे का साम्राज्यवादी देश है।

दरअसल समाज में कोई घटना अचानक नहीं घटती। अचानक जैसी दिखनेवाली युगांतकारी घटनायें भी वर्षों (दशकों, कभी–कभी तो शताब्दी) की जारी प्रक्रिया का संचित परिणाम होती हैं। वर्ष 1917 की रूसी क्रांतियों (फरवरी क्रांति व अक्तूबर क्रांति) पर यही बात लागू होती है और प्रतिक्रांति के इस मर्मांतक प्रहार पर भी।

संशोधनवादी सोवियत संघ के नेताओं में तीन बातें साझा थीं। सबने अपने पूर्ववर्ती नेता को पूर्णतः या अंशतः खारिज किया, लेकिन सबने पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की नीति को आगे बढ़ाया और सबने लेनिन के नेतृत्व में लागू नयी आर्थिक नीति को अपना ढाल बनाया। जरा इस सिलसिला पर नजर डालें। संशोधनवाद का संस्थापक खुश्चोव बेआबरू कर सत्ता के गलियारे से बाहर फेंक दिया गया था। उसके उत्तराधिकारी ब्रेझनेव ने सत्ता पर अपनी पकड़ काफी मजबूत बना ली थी, तो भी उसके उत्तराधिकारी यूरी आंद्रोपोव ने उस पर

अर्थव्यवस्था को गतिरोध में फंसाने, व्यक्ति पूजा और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने का अरोप लगाया, हालांकि 'गतिरोध का दौर' जैसे शब्दों का प्रयोग गोर्बाचोव ने किया था। आंद्रोपोव को भ्रष्टाचार–उन्मूलन के दिशा में सख्त कदमों के लिए ही याद किया जा सकता है। उसने मात्र पंद्रह महीनों के छोटे शासन काल में पंद्रह मंत्रियों और विभिन्न स्तर के अठारह सचिवों को शासन से हटाने की दिशा में कदम उठाया। जिन लोगों पर आंद्रोपोव शासन की गाज गिरी, उनमें ब्रेझनेव का दामाद भी शामिल था। आंद्रोपोव के बाद तेरह महीनों तक कोन्तास्तिन चेरनेन्को सत्ता पर क़ाबिज रहा, लेकिन उसकी कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं रही। उसके बाद मिखाइल गोर्बाचोव के शासन काल में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की प्रक्रिया अपनी चरम परिणति तक पहुंच गयी।

सोवियत शासकों में यूरी आंद्रोपोव को सबसे ज्यादा दमनकारी और खुंखार समझा जाता था। हंगरी विद्रोह के समय वह वहां का राजदूत था और विद्रोह के दमन में उसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। पूंजीवादी मीडिया में उसे बुडापेस्ट का कसाई भी कहा जाता है। इसके बाद वह लंबे समय तक केजीबी का प्रधान रहा। अपने कार्यकाल में उसने 'चेकोस्लोवाकिया स्प्रिंग' के दमन के लिए सेना भेजने के लिए ब्रेझनेव को उकसाया। आतंरिक राजनीति में ब्रेझनेव शासनकाल की दमनकारी कार्रवाइयों के लिए वह प्रत्यक्षतः जिम्मेवार था। उस दौर में विरोध के स्वर बढ़ने लगे थे, तो दमन का शिकंजा उसी रफ्तार में कसने लगा था। ब्रेझनेव के विरोधियों को पागल करार देकर पागलखाने भेज दिया जाता था। उन दिनों सोवियत संघ में पागलखानों की संख्या तेजी से बढ़ी थी और इन सभी कार्रवाइयों में आंद्रोपोव का हाथ था। कई विश्लेषकों का मानना है कि वह पूंजीवादी सुधारों का कट्टर पक्षधर था और अगर उसे मौका मिला होता तो सोवियत संघ बिना बिखरे पूंजीवादी देश में पूरी तरह तब्दील हो सकता था। जो भी हो, आंद्रोपोव के दमन के तरीकों में यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि वर्ष 1969 में (22 जनवरी) ब्रेझनेव की गाड़ी पर जानलेवा हमला करनेवाले सिपाही विक्टर इलिन को मौत की सजा न देकर पागलखाने में भेज दिया गया था।

ख्रुश्चोव से गोर्बाचोव तक ने दिखावा के तौर पर लेनिन की नयी आर्थिक नीति का हवाला बार बार इसलिए दिया कि सोवियत संघ सहित सारी दुनिया के मजदूरों और सभी जनवादी शक्तियों की आँखों में धूल झोंका जा सके, क्योंकि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और अल्बानिया की लेबर पार्टी लगातार यह आरोप लगाये जा रही थीं कि सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्स–लेनिन का रास्ता छोड़कर बर्नस्टीन और काउत्सकी का रास्ता अपना चुकी है। इन पार्टियों के

आरोप के जवाब में सोवियत संघ के नेता यह दिखाने का प्रयास करते रहे कि जिस तरह लेनिन ने सीमित पूंजीवाद को थोड़े समय तक बढ़ावा देकर अंततः समाजवाद की रक्षा की थी, उसी तरह सोवियत संघ के वर्तमान नेतागण भी समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध हैं। लेकिन जिस तरह स्तालिन की "व्यक्ति पूजा की संस्कृति" के विरोध में और अपने सामूहिक नेतृत्व के पक्ष में खुश्चोव ने मार्क्स और लेनिन को गलत संदर्भ में उद्धृत किया था, उसी तरह 1960–70 के दशक में लेनिन की नयी आर्थिक नीति की तुलना करना गलत था। बेमेल परिस्थितियों की तुलना नहीं की जा सकती। ऐसा करना मार्क्सवादी चिंतन के खिलाफ संगीन अपराध है।

लेनिन जिस समय रूस में समाजवाद की नींव रख रहे थे, उस समय वह पिछड़ा पूंजीवादी देश था जिसके आधार पर समाजवाद की मजबूत आधारशिला नहीं रखी जा सकती थी। बोल्शेविक सत्ता आने के बाद पितृसत्तात्मक व्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी गयी थी, लेकिन खेत छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटे थे, रूस हल–बैल से खेती करनेवाला देश था; बड़े–बड़े उत्पादकों का अभाव था और लघु उत्पादकों की बहुतायत थी; परिवहन व संचार की व्यवस्था कमजोर थी, संक्षेप में कहें तो रूस निम्न पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाला देश था। मार्क्सवादी सोच के अनुसार समाजवाद की आधारशिला पूंजीवाद की जमीन पर ही रखी जा सकती है। पूंजीवादी संबंध जितने उन्नत, समाजवाद उतना ही मजबूत। इसलिए मार्क्स–एंगेल्स शुरू में इस बात के कायल थे कि सर्वहारा क्रांति उन्नत पूंजीवादी देशों में ही संभव है। लेकिन बाद में समस्त यूरोप के अनुभवों के वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद दोनों विचारक इस नतीजे पर पहुंचे कि रूस क्रांति का केंद्र बनेगा। यह औद्योगिक पूंजीवाद से वित्तीय पूंजीवाद में संक्रमण का काल था। संक्रमण की प्रक्रिया पूरा होने के बाद लेनिन ने निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी पहले टूटेगी और विश्व सर्वहारा को जहाँ मौका मिले सत्ता अपने हाथ में ले लेनी चाहिए, समाज के विकास की मंजिल चाहे जो हो। विकास की बाकी प्रक्रियाएं सर्वहारा सत्ता के अधीन पूरी की जायेंगी। इसी सिद्धांत के तहत वे रूस में सर्वहारा सत्ता के अधीन पूंजीवादी विकास की छूट दे रहे थे। यह रूस की मजबूरी थी।

1960–70 के दशक में ऐसी कोई मजबूरी नहीं थी। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) अपनी सत्रहवीं कांग्रेस (1934) में यह घोषणा कर चुकी थी कि नयी आर्थिक नीति के दौर में लेनिन ने रूस में जिस वर्ग संबंध की चर्चा की थी, वह खत्म हो चुका है। अठारहवीं कांग्रेस में तो समाजवाद का काम भी

पूरा हो चुका था। तब से अब तक समय बहुत बदल चुका था। इसके साथ ही सोवियत संघ के नेतृत्व का तेवर भी बदल चुका था। इसके बावजूद उन्हें यह स्वीकार करना पड़ रहा था कि सोवियत संघ में कम्युनिज्म की मंजिल की भौतिक परिस्थितियां मौजूद थीं। इसी निरंतरता में हम यह जोड़ देना चाहेंगे कि सोवियत संघ का संविधान (1977) भी इस सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ता कि सोवियत समाज विकसित औद्योगिक समाज है।

बाइसवीं पार्टी कांग्रेस (1961) के अवसर पर नये पार्टी प्रोग्राम की जरूरत बताने के क्रम में कृषि व्यवस्था की अवस्था की चर्चा इन शब्दों में की गयी : 'सोवियत ग्रामीण क्षेत्र में' दो तरह की अर्थव्यवस्थाएँ – राजकीय फार्म और सामूहिक फार्म अस्तित्व में हैं। राजकीय फार्म के व्यावहारिक अनुभव से बड़े पैमाने की समाजवादी अर्थव्यवस्था का लाभ दिखाई पड़ चुका है और ग्रामीण क्षेत्र में कृषि उत्पादन के संगठन में राजकीय फार्म नेतृत्वकारी भूमिका का निर्वाह करते रहेंगे। चूंकि सामूहिक फार्म किसानों के लिए कम्युनिज्म के स्कूल हैं, इसलिए कृषि–उद्योग का वह रूप भी फलता–फूलता रहेगा।' (ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ कम्युनिस्ट पार्टी आफ सोवियत यूनियन–1977 में प्रकाशित पृ. 370)'

ब्रेझनेवी इतिहास का यह उद्धरण अपने–आप में बहुत स्पष्ट हैं। रूसी किसान अब छोटे माल उत्पादन के आधार नहीं थे, वे कम्युनिज्म के स्कूल में दाखिल हो गये थे। यह विश्लेषण सवाल छोड़ जाता है कि सोवियत संघ की कृषि व्यवस्था विकास की इस मंजिल तक पहुंच गयी थी, तो लेनिन की नयी आर्थिकि को याद करने की जरूरत ब्रेझनेव–कोसिजिन और उनके अनुयायियों को क्यों पड़ गयी ? यह सवाल और तीखा तब हो जाता है, जब हम पार्टी की तेइसवीं कांग्रेस (1971) की पृष्ठभूमि में सोवियत समाज की यह तस्वीर देखते हैं :

'सोवियत समाज की संरचना में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं। मजदूर वर्ग की संख्या देश में सबसे ज्यादा हो गयी है, कम्युनिज्म के निर्माण में इसकी भूमिका बढ़ती जा रही है, सामूहिक फार्म के किसानों के साथ इसका गठबंधन उत्तरोत्तर मजबूत हो रहा है और मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों के बीच मेल–मिलाप जारी है जिनकी संख्या निरंतर बढ़ रही है।' (स्रोत : वही पृ. 443)।

यह विश्लेषण नया नहीं है। पाठक याद करें तो लगेगा कि आठरहवीं कांग्रेस (1939) के विश्लेषण को चुरा लिया गया है। लेकिन विश्लेषण ही चुराया गया, इससे निकले निष्कर्ष का अनुसरण नहीं किया गया। उस समय स्तालिन ने नयी आर्थिक नीति के अनुसरण की बात नहीं कही थी, बल्कि मार्क्सवाद के सर्जनात्मक विकास की बात कही थी। वे आगे बढ़ने की बात कर रहे थे, ब्रेझनेव–कोसिजिन

और उनके अनुयायी पीछे लौटने की। इन महानुभावों की स्थिति धूमिल की इन पंक्तियों से बयान होने लगी थी – **हमारे देश का समाजवाद स्टेशन पर टंगी बाल्टी की तरह है, जिस पर आग लिखा रहता है, लेकिन भीतर बालू भरा रहता है।** दरअसल वे लोग लेनिन का साईनबोर्ड लगाकर उल्टी दिशा में जा रहे थे – पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की दिशा में।

दूसरी बात यह कि लेनिन (और बाद में स्तालिन) के दिमाग में साफ था कि सर्वहारा अधिनायकत्व के दौर में पूंजीवादी विकास की सीमा क्या हो सकती थी। वह सीमा थी – उत्पादन के साधनों के उत्पादन, वित्तीय संस्थानों, अंतरराष्ट्रीय व्यापार जैसी शाखाओं पर सर्वहारा राज्य का एकाधिकार होगा। इसके दायरे में ही पूंजीवादी उत्पादन को बढ़ने व फलने–फूलने की छूट दी जा सकती है। लेकिन ख्रुश्चोव और उसके सहयोगियों के दिमाग में साफ था कि पूंजीवादी उत्पादन को असीम छूट दी जा सकती है। कोसिजिन सुधार 1965, 1973 और 1979 के दौरान उठाये गये कदम 1940 के दशक में वोज्निसिंस्की द्वारा उठाये गये कदमों के जारी रूप थे तो दूसरी ओर वे मिखाइल गोर्बाचोव के अंतिम सुधार के लिए जमीन तैयार कर रहे थे। इन्हें गोर्बाचोव के सुधारों की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है।

इस क्रम में जरूरी लगता है कि ब्रेझनेव काल की विशेषताओं को याद कर लिया जाय जिनसे पूंजीवादी संबंधों की सड़ांध आने लगी थी। हम देख चुके हैं कि पार्टी की तेईसवीं कांग्रेस में यह निर्णय लिया गया था कि औद्योगिक उत्पादन में उपभोक्ता क्षेत्र को मशीनों के उत्पादन की बराबरी के स्तर पर लाया जायेगा। लेकिन यह बराबरी के स्तर पर नहीं रूका, बल्कि 1973 आते–आते मशीनों के उत्पादन से आगे निकल गया। सोवियत संघ में समाजवाद की स्थापना से अब तक यह संबंध कायम था कि मशीनों के उत्पादन की दर उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन दर से अधिक रहती थी। विकास की इसी नीति का नतीजा था कि सोवियत संघ अत्यंत छोटी अवधि में दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन गया था और पूंजीवादी अर्थशास्त्री तक अनुमान लगा रहे थे कि आनेवाले दिनों में वह अमेरिका को पीछे छोड़ देगा। लेकिन सुनियोजित ढ़ंग से इस औद्योगिक नीति को बदले जाने के कारण पहली बार ऐसा हुआ कि 1973 के तेज संकट से उपजी मंदी से यूरोप के पूंजीवादी देश पहले निकल गये और सोवियत संघ उसमें फंसा रह गया। यही स्थिति पूर्वी यूरोप के अन्य समाजवादी गणराज्यों के साथ उत्पन्न हुई।

सोवियत संघ के इतिहास में यह पहली घटना थी जब वह इस तरह की उलझन में फंसा था। 1930 की महामंदी में जब सारा पूंजीवादी जगत मंदी की चपेट में दम तोड़ रहा था, सोवियत अर्थव्यवस्था उत्पादन के नये–नये रिकार्ड बना

रही थी। पूंजीवादी विचारकों की राय में इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि सुधारों की प्रक्रिया पूरी तरह नहीं लागू की जा रही थी। कोसिजिन सुधार–1965 के बारे में पार्टी दुविधा का शिकार थी। खुद ब्रेझनेव इतनी तेज रफ्तार में बढ़ने का दुस्साहस नहीं दिखा रहा था और चेकोस्लोवाकिया में विद्रोह की घटना से इनकी हिम्मत और पस्त हो गयी। इसके बाद इन सुधारों के जनक की प्रतिष्ठा पार्टी हलकों में तेजी से गिरने लगी। दरअसल सोवियत संघ की स्थिति उलझ गयी थी। वह पूर्ण विकसित पूंजीवादी समाज की तरह आचरण नहीं कर पा रहा था, क्योंकि उसके लिए जरूरी आधार उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का वर्चस्व नहीं था और पार्टी का नेतृत्व समाजवादी रास्ते का अनुसरण करना नहीं चाहता था। इस उलझन और जनता की नजरों में गिरने के भय के कारण कोसिजिन सुधार–1965 अपना लक्ष्य पूरी तरह हासिल नहीं कर सका।

इस स्थिति में कोसिजिन ने सुधारों की दूसरी घूंटी वर्ष 1973 में पिलायी। इसके तहत औद्योगिक इकाइयों का स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर एसोसिएशन बनाया गया। इस सुधार का मकसद केंद्रीय मंत्रालयों की शक्ति और भूमिका को कम करना था। इन एसोसिएशनों के बीच प्रौद्योगिकी, अनुसंधान और शिक्षा सभी मामलों में सहयोग स्थापित करना था। यह सुधार भी ठीक से लागू नहीं हो सका। यह किसी को संतुष्ट नहीं कर सका। केंद्रीय अधिकारी इसलिए असंतुष्ट थे कि सत्ता उनके हाथ से खिसक गयी थी और औद्योगिक इकाइयों के मैनेजर इसलिए असंतुष्ट थे कि उनकी जिम्मेवारी एसोसिएशन के कर्त्ताधर्त्ताओं को सौंपी जा रही थी। इस तरह सत्ता त्रिशंकु की तरह बीच में लटक गयी। इसका नतीजा सिर्फ अराजकता ही हो सकता था और वही हुआ।

इस माहौल में आर्थिक सुधारों का तीसरी घुंटी पिलाने की कोशिश हुई कोसिजिन सुधार–1979 के रूप में। इसमें मंत्रालयों की भूमिका बढ़ा दी गयी। राजकीय बजट में हर मंत्रालय का योगदान सुनिश्चित किया गया चाहे वे पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य पूरा करें या नहीं करें। साथ ही इसमें औद्योगिक इकाइयों की ज्यादा स्वायतता देने पर जोर दिया गया और नये–नये तरीकों से मंत्रालयों के अधिकार बढ़ाये गये। तीसरे कदम के रूप में श्रम की उतपादकता बढ़ाने पर जोर दिया गया। जाहिर है कि इस सुधार प्रक्रिया में अराजकता को मिटाकर केंद्रीभूत योजना और कारखाना स्तर की स्वायतता के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश की गयी थी। कोसिजिन के पद से हटने के बाद उसके उत्तराधिकारी निकोलाई तिखनोमोव ने इन सुधारों के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया और इसे ठंढे बस्ते में डाल दिया गया।

जिस समय सोवियत अर्थव्यवस्था मंदी और व्यवस्थागत उठापटक के दौर में थी, उस समय भी वहां प्रति व्यक्ति आय में गिरावट नहीं आयी थी, उल्टे वह 1.9 प्रतिशत की शानदार दर से बढ़ी थी। उस समय सोवियत अर्थव्यवस्था प्राकृतिक संसाधनों (मसलन तेल, गैस) की बिक्री पर निर्भर होने लगी थी। ये संसाधन अपने संघीय स्रोतों से भी उपलब्ध होते थे और बाहरी निर्भरशील देशों के स्रोतों से भी। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि सोवियत नेता पूरी तरह पूंजीवादी हूनर में माहिर हो गये थे। इराक से प्राप्त तेल तथा ईरान और अफगानिस्तान से सस्ते दर पर प्राप्त गैस को वे यूरोप और पूर्वी यूरोप के समाजवादी गणराज्यों में बेचते थे। इस आर्थिक आधार को किसी औद्योगिक देश के लिए मजबूत आधार के रूप में नहीं देखा जा सकता। तभी सोवियत अर्थव्यवस्था में लड़खड़ाहट के संकेत मिलने लगे थे।

इसमें एक नया तत्व देखा जाना चाहिए जो पूंजीवादी विचारकों को नजर नहीं आयेगा। वह है उत्पीड़ित, निर्भरशील देशों की लूट के बदौलत अपने देश के मजदूरों को सुविधा देने का तत्व। ब्रिटेन के मामले में कार्ल मार्क्स ने इस प्रवृति को 1857–58 में ही देख लिया था। लेनिन ने इस सूत्र को यूरोप के मजदूरों पर लागू किया और अब 1965–70 से यह बात सोवियत संघ के मजदूरों पर भी लागू होने लगी थी। वहां के मजदूर अब 1930–40 के दशक के मजदूर नहीं रह गये थे; उनके चरित्र में दूसरे देशों की जनता की लूट के माल पर सुख भोगने का चारित्रिक बदलाव आ गया था।

पूंजीवादी विचारक यह भी मानते हैं कि सैन्य साजो–सामान पर बढ़ते खर्च ने सोवियत अर्थव्यवस्था को खोखला कर दिया था। जिस तरह वर्ष 1965 सोवियत संघ में पूंजीवादी सुधारों के इतिहास में टर्निंग प्वाइंट बन गया है, उसी तरह सैन्य सुदृढ़ीकरण के मामले में भी इस वर्ष महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। सैन्य महाशक्ति बनने की प्रक्रिया लगभग इसी समय शुरू हुई और 1970 का दशक आते–आते सोवियत संघ न्यूक्लियर हथियारों के मामले में अमेरिका के स्तर पर पहुंच गया था। उस समय तक सोवियत नेता इस निष्कर्ष पर पहुंच गये थे कि विश्वयुद्ध अनिवार्यतः न्यूक्लियर हथियारों से नहीं लड़ा जायेगा और पारंपरिक हथियार इसमें निर्णायक भूमिका निभायेंगे। अमेरिका के साथ अपना सैन्य संतुलन बनाये रखने के मामले में ब्रेझनेव की सोच हिटलर की तरह थी। हिटलर सोचता था कि पहले यूरोप दखल कर वह सोवियत संघ से टकरायेगा। ब्रेझनेव मानता था कि अपनी ताकत के बल पर वह यूरोप को दखल करेगा और तब अमेरिका का मुकाबला कर लेगा। संभवतः यही कारण था कि 1970 के दशक में सैन्य खर्च में तेजी से वृद्धि हुई। पहले से 40 प्रतिशत ज्यादा।

ब्रेझनेव का शासन काल वार्सा पैक्ट के देशों में सैन्य हस्तक्षेप के लिए भी बदनाम रहा। इस समझौता में शामिल देशों के बीच सहमति के आधार पर निर्णय लिया गया था कि किसी सदस्य देश में आंतरिक विद्रोह पैदा होने की स्थिति में वार्सा पैक्ट देशों की संयुक्त सेना हस्तक्षेप कर सकती है। इस नीति को ब्रेझनेव डॉक्ट्रिन के रूप में जाना जाता है। इसी के तहत चेकोस्लोवाकिया और अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप हुआ, लेकिन 1981 में पोलैंड में सॉलिडरिटी आंदोलन के दमन के लिए सेना नहीं भेजी जा सकी। उसके बाद से ही ऐसा माना जाने लगा कि सोवियत साम्राज्य कमजोर इन्फ्रास्ट्रक्चर पर खड़ा है और यहीं ब्रेझनेव डॉक्ट्रिन का अंत हो गया। ब्रेझनेव की मृत्यु के फलस्वरूप आंद्रोपोव ने सत्ता संभालने के बाद अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप को गलत करार दिया, लेकिन सेना की वापसी की दिशा में कोई कदम ठोस उसने नहीं उठाया।

ब्रेझनेव के बाद सत्ता शीर्ष तक पहुंचने का आंद्रोपोव का रास्ता काफी आसान हो गया था। लंबे समय तक ब्रेझनेव का सैद्धांतिक सलाहकार मिखाईल सुस्लोव पार्टी सचिवालय में दूसरे स्थान का दावेदार बना रहा। स्तालिन के दिनों में भी पार्टी के पद सोपान में उसका काफी महत्वपूर्ण स्थान था। गिरगिट की तरह रंग बदलने में वह ख्रुश्चोव का सच्चा अनुयायी था। अनवर होजा के संस्मरण के अनुसार स्तालिन के खिलाफ ख्रुश्चोव के कुख्यात गोपनीय भाषण का लेखक वही था, तो अन्य स्रोतों से पता चलता है कि ख्रुश्चोव को अपदस्थ करने के अभियान में भी उसकी भूमिका अग्रणी थी। ब्रेझनेव के शासनकाल में पार्टी के सैद्धांतिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने की जिम्मेवारी अगर सुस्लोव की थी, तो केजीबी के प्रमुख की हैसियत से शासन चलाने की जिम्मेवारी आंद्रोपोव की। उस समय के बारे में यहां तक आरोप लगता है कि कम्युनिस्ट पार्टी का शासन केजीबी के शासन में तब्दील हो गया था।

सुस्लोव की मृत्यु के बाद उसका रास्ता साफ हो गया। सत्ता में आने के बाद उसने पहली बार स्वीकार किया कि सोवियत अर्थव्यवस्था मंदी की चपेट में है तथा वैज्ञानिक प्रगति में बाधा पैदा हो गयी है। इससे पूरी दुनिया में संदेश गया कि महाबली की बुनियाद खोखली है। सच्चे मार्क्सवादियों के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चोव और उसके अनुयायियों के खिलाफ पहले ही अभियोग पत्र जारी कर दिया था कि ये महानुभाव समृद्धि और विकास के जो बड़े–बड़े दावे कर रहे हैं वे स्तालिन के दौर के संचय के परिणाम हैं, थोड़े ही दिनों में वे सब कुछ खा–पका कर बराबर कर देंगे। आंद्रोपोव ने इसी सच से पर्दा उठा दिया था। अर्थनीति के मामले में उसका नजरिया पूर्ववर्ती नेताओं से भिन्न था। वह

मैनेजरों के काम–काज में सुधार के माध्यम से अर्थव्यवस्था को दलदल से निकालना चाहता था ताकि पूंजीवाद की दिशा में अगले छलांग की जमीन तैयार हो सके। इस मामले में उसके दृष्टिकोण को इस बात से समझा जा सकता है कि ब्रेझनेव शासन के दौरान उसने गोर्बाचोव को पार्टी में महत्वपूर्ण स्थान तक पहुंचाया।

सोवियत संघ के कुछेक आंतरिक मामलों में आंद्रोपोव ने ब्रेझनेव की नीतियों के खिलाफ रूख अपनाया। खासकर बढ़ते हुए भ्रष्टाचार से निबटने के मामले में। लेकिन विदेश नीति में उसने पुरानी नीति का ही अनुसरण किया। अमेरिका के साथ उसके संबंधों में तल्खी इस तरह बढ़ी कि तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने सोवियत संघ को 'अनिष्ट साम्राज्य' (एविल इम्पायर) तक घोषित कर डाला था। अपने छोटे शासनकाल के अंतिम दिनों में उसने हथियार संग्रह की दौड़ से पीछे हटने की नीति की घोषणा कर यह इशारा कर दिया था कि सोवियत संघ की आंतरिक कमजोरी काफी गंभीर स्तर पर पहुंच गयी है। इसके बावजूद पूर्वी यूरोप के समाजवादी गणराज्यों में सोवियत प्रभुत्व को सख्त बनाये रखने के मामले में वह समझौता करने को बिल्कुल तैयार नहीं था।

चेरनेन्को पार्टी के महासचिव बनने के पहले से ही बुरी तरह बीमार था और सबके सामने यह बात साफ थी कि यह अंतरिम व्यवस्था है। साथ ही पार्टी के भीतर निजी पूंजीवाद की दिशा में रेडिकल रिफार्म चाहने वालों और दम तोड़ रहे राजकीय पूंजीवाद को बचाने का प्रयास करनेवालों के बीच अंतिम जोर अजमाईश भी। इसमें दूसरा खेमा भारी पड़ा। लेकिन सच यह है कि पार्टी महासचिव के बीमार रहने के कारण पॉलित ब्यूरो की अधिकांश बैठकों का संचालन गोर्बाचोव ही करता था। सत्ता में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होने के बावजूद आंतरिक मामलों में चेरनेन्को के तीन निर्णय काफी महत्वपूर्ण थे। उसने आंद्रोपोव के भ्रष्टाचार विरोधी अभियान और मैनेजर के स्तर पर जारी सुधार में विराम लगा दिया, आर्थिक गतिविधियों में ट्रेड यूनियनों की भूमिका पर ज्यादा जोर दिया और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन को ज्यादा महत्व दिया। इस क्रम में उल्लेखनीय है कि सेना के मद में खर्च बढ़ाने का आग्रह करने वाले चीफ आफ आर्मी स्टाफ को निकाल बाहर करने में भी उसने देर नहीं की। विदेश नीति में उसने चीन और अमेरिका दोनों के साथ संबंध सुधारने के प्रयास किये। चीन के साथ उसने नये सिरे से व्यापारिक समझौता किया और अमेरिका के साथ हथियारों पर नियंत्रण संबंधी समझौते किये। ये सोवियत संघ में राजकीय पूंजीवाद के अस्तित्व के अंतिम दिन थे।

चेरनेन्को की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की कमान गोर्बाचोव के हाथों में गयी और उसने वह सब कुछ किया जिसकी प्रतीक्षा अमेरिका, यूरोप और समस्त

पूंजीवादी जगत को थी। पार्टी की सत्ताइसवी कांग्रेस में उसने 'ग्लास्नोस्त' (खुलापन) और 'पेरेस्त्रोइका' (पुनर्गठन) की नीति का शंखनाद किया। इन दोनों कार्यक्रमों के कारण वह दुनिया भर में जाना गया। लेकिन इनके साथ ही उसने दो और सूत्र निरूपित किये : 'देमोक्रेतिजात्सिया' (जनवादीकरण) और 'उस्कोतेनिया' (आर्थिक विकास में तेजी)। इन सारे प्रयासों के बावजूद वह सोवियत संघ को संकट से उबार नहीं सका। पूंजीवादी स्रोतों से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार भी सोवियत संघ की आर्थिक समृद्धि घटती चली गयी और लोगों का जीवन दुभर होता चला गया।

जिस समय सत्ता उसके हाथ में आयी थी उसके अगले वर्ष (1986) में सोवियत संघ के सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर 4.1 प्रतिशत थी, लेकिन वर्ष 1990 व 1991 में वह रफ्तार गिरकर ऋणात्मक क्रमशः (–12) और (–13) प्रतिशत हो गयी। कुछेक विशेषज्ञों का मानना है कि वह सोवियत संघ के राजकीय पूंजीवाद की नियोजित अर्थव्यवस्था में नयी जान फूंकना चाहता था, बाजार अर्थव्यवस्था की ओर लौटना नहीं। 1985 में पूर्वी यूरोपीय समाजवादी गणराज्यों के सचिवों और आर्थिक मामलों के सचिवों के सम्मेलन में उसके संबोधन से कम से कम ऐसा ही संकेत मिलता है। उसने एक तरह की चेतावनी भरे लहजे में कहा था कि सिर्फ जीवन रक्षक दवा खोजना काफी नहीं है, हमें उस जहाज के बारे में सोचना पड़ेगा जिसमें हम सब बैठे हैं और वह जहाज है समाजवाद। जाहिर है, यह उन्मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था की ओर लौटने की बढ़ती आकांक्षा के खिलाफ गंभीर चेतावनी थी। लेकिन सोवियत राजकीय पूंजीवाद का आधार इतना जर्जर हो चुका था कि वह बाजार अर्थव्यवस्था की तरफ गोर्बाचोवी प्रवाह को बर्दाश्त नहीं कर सका।

यह सब कैसे हुआ ? पार्टी की सत्ताइसवीं कांग्रेस तक इसकी तस्वीर मोटे तौर पर ही सामने आयी थी। इसके बारीक पहलुओं से धीरे–धीरे पर्दा उठता रहा। गोर्बाचोव के अनुसार पेरेस्त्रोइका में कई बातें एक साथ समाहित थीं, जैसे – जनवाद (निश्चय ही उसका मतलब पूंजीवादी जनवाद से था), ज्यादा खुलापन, आलोचना–आत्मालोचना आदि। 1987 की पहली केंद्रीय कमिटी की बैठक में इन सुधारों की प्रक्रिया थोड़ी साफ हो पायी। इसमें तीन बातें शामिल थीं :

- चुनावों में अन्य पूंजीवादी पार्टियों के उम्मीदवारों को खड़ा होने की छूट
- गैर पार्टी लोगों को सरकारी पदों पर जाने का अधिकार
- और सहकारी समितियों का विस्तार

इस प्रक्रिया को सुचारू ढंग से लागू करने के लिए जरूरी था कि राजनीतिक परिस्थितियां इसके अनुकूल बनायी जायें। इस क्रम में वर्ष 1988 में 'ग्लास्नोस्त' के

कार्यक्रम को जमीन पर उतारने का काम शुरू हुआ। इसके तहत अभिव्यक्ति के अधिकार को व्यापक बनाया गया, प्रेस की आजादी बढ़ा दी गयी और राजनीतिक बंदियों को जेलों से रिहा किया गया। 'ग्लास्नोस्त' लागू करने के पीछे उसके दो लक्ष्य थे, पार्टी के भीतर सुधार विरोधियों पर दबाव बनाना और सोवियत जनता को अपने इर्द–गिर्द मजबूती से इकट्ठा करना।

अपनी नीति के मूल चरित्र का खुलासा करते हुए उसने स्वीकार किया था कि उदारीकरण की उसकी नीति चेकोस्लोवाकिया के अलेक्जेंडर दुबेक के 'मानवीय छवि के साथ समाजवाद' के नारे से मिलती–जुलती है और बहुत हद तक उससे प्रेरित भी है। जब उससे किसी पत्रकार ने पूछा कि आपके कार्यक्रम और दुबेक के कार्यक्रम में क्या फर्क है : उसका उत्तर था, उन्नीस साल। निजी पूंजीवादी संबंधों की स्थापना की दिशा में छलांग लगाने की जिस स्थिति में चेकोस्लोवाकिया 1968 में था, उस अवस्था में सोवियत संघ 1987–88 में आ सका। इस विकास ने ब्रेझनेव डॉक्ट्रिन का निषेध कर दिया था। तब ब्रेझनेव ने जिस चेकोस्लोवाकिया के कदम पर रोक लगा दिया था, गोर्बाचोव अब उसे प्रोत्साहित कर रहा था ग्लास्नोस्त और पेरेस्त्रोइका के माध्यम से।

इसी वर्ष उसने आर्थिक क्षेत्र में नये–नये प्रयोग शुरू किये। इसमें सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रयोग था सहकारी आधार पर आर्थिक गतिविधियों की शुरूआत। पहले छोटे–छोटे कारोबारों से इसकी शुरूआत हुई और बाद में तो राष्ट्रीय स्तर के उद्योगों में भी सरकारी और निजी पूंजी के मेल–जोल से उद्यम स्थापना की शुरूआत हो गयी। विदेश व्यापार में भी निजी पूंजी की छूट दी जाने लगी। इतना ही नहीं, नवस्थापित इन सहकारी उद्योगों को विदेशी पूंजी आकर्षित करने के लिए उत्साहित किया जाने लगा। लेनिन की नयी आर्थिक के साथ जिस समानता को जबरन कायम करने की कोशिश ब्रेझनेव के जमाने से शुरू हुई थी, उसे पूंजीवाद के पैदा होने की ठोस और मजबूत जमीन अब मिली। भ्रष्टाचार के बदौलत राजकीय उद्यमों को लूट–खसोटकर जो संपत्ति अर्जित की गयी थी, उसे पूंजी में तब्दील होने का पूरा अवसर मिलने लगा। इसी वर्ष गोर्बाचोव ने पार्टी सम्मेलन में एक प्रस्ताव पेश किया जिसका मकसद था कि सरकारी मशीनरी पर पार्टी का नियंत्रण घटा दिया जाय। इसे व्यवहार में उतारने के लिए गोर्बाचोव ने सुप्रीम सोवियत की संरचना में बदलाव कर दिया। उसने अध्यक्षीय शासन व्यवस्था के रूप में नयी कार्यपालिका तथा 'कांग्रेस ऑफ पीपुल्स डीपुटीज' के नाम से नयी विधायिका की व्यवस्था की। कांग्रेस आफ पीपुल्स डीपुटीज का चुनाव अप्रैल 1989 में हुआ। पूंजीवादी जनतंत्र के पैटर्न पर।

इसके बाद 15 मार्च 1990 को गोर्बाचोव सोवियत संघ का पहला राष्ट्रपति चुना गया। इस बीच यह व्यवस्था की गयी कि सुप्रीम सोवियत का निर्वाचन पीपुल्स डीपुटीज के कांग्रेस द्वारा किया जायेगा। इस तरह का पहला चुनाव 25 मई 1990 को हुआ जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के कई उम्मीदवार हार गये और बोरिस येल्त्सिन इसमें चुना गया जिसने सोवियत विरोधी विद्रोह का नेतृत्व किया। नयी व्यवस्था में पहली उलझन तब आयी जब गोर्बाचोव ने उपराष्ट्रपति का मनोनयन करने का प्रयास किया। अंततः उसने आल यूनियन सेंट्रल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के गेनादी–यानायेव को इस पद के लिए चुना। यह उसकी मजबूरी का चुनाव था और तीसरा विकल्प था। अन्य दो विकल्प थे तत्कालीन विदेश मंत्री शेवर्ननाद्जे और कज्जाक नेता नुरसुल्तान नजरबायेव। लेकिन इन दोनों ने यह पद संभालने से इनकार कर दिया। दरअसल यानायेव महोदय गोर्बाचोव द्वारा जारी सुधार प्रक्रिया के विरोधी थे जिन्होंने बाद में असफल विद्रोह का नेतृत्व भी किया था। इनकी बहाली के खिलाफ विदेश मंत्री शेवर्ननाद्जे ने अपने पद से इस्तीफा तक दे दिया था। कांग्रेस ने भी इस चुनाव का शुरू में अनुमोदन नहीं किया, लेकिन गोर्बाचोव के अपने विकल्प पर अड़े रहने के कारण उसे अनुमोदन करना पड़ा। सत्ता के गलियारे में उपजी इस तनातनी से पार्टी के भीतर निजी पूंजी और राजकीय पूंजी के पक्षधरों के बीच शक्ति संतुलन का अनुमान लग जाता है कि पहला विस्तार की अवस्था में है और दूसरा संकुचन की।

गोर्बाचोव जिस हद तक अपनी घरेलू नीति में राजकीय पूंजीवाद को समेटकर निजी पूंजीवाद को प्रश्रय देने के प्रति प्रतिबद्ध दिख रहा था उसी हद तक सोवियत साम्राज्य को समेट कर अमेरिकी व यूरोपीय साम्राज्य के एकछत्र प्रभुत्व के लिए जमीन खाली करने के प्रति भी प्रतिबद्ध था। यह बात उसकी विदेश नीति से खुलकर सामने आ जाती है। इसे पूरा करने के लिए अपनी विदेश नीति को उसने तीन स्तंभ दिये :

- अमेरिका व यूरोप के साथ तनाव की नीति का खात्मा
- पूर्वी यूरोपीय देशों में ब्रेझनेव ड्रॉक्ट्रिन का अंत व कॉमेकन तथा वार्सा पैक्ट जैसे समझौतों का अंत
- और अफगानिस्तान से सेना की वापसी।

पूंजीवादी जगत में अपनी नेकनीयति साबित करने के लिए उसने सबसे पहले 8 अप्रैल 1985 को यूरोप में एस एस–20 की तैनाती को मुल्तवी करने की घोषणा की। यह 1976–88 तक यूरोप में तैनात रहा। यह तनाव के उत्कर्ष का समय था। उसी साल सितंबर में उसने सोवियत संघ और अमेरिका में आणविक हथियारों में

कटौती संबंधी समझोते का प्रस्ताव दिया। 01 जनवरी 1986 को उसने यूरोप में मध्यम दूरी के आणविक हथियारों को खत्म करने की घोषणा की। यह सोवियत संघ की ओर से अब तक की सबसे बड़ी घोषणा थी। इसमें वर्ष 2000 तक सभी आणविक हथियारों को रद्द करने की राजनीतिक घोषणा भी शामिल थी। लेकिन सारी दुनिया को आश्चर्य हुआ कि गोर्बाचोव और रीगन ने (11 अक्तूबर, 1986) वार्ता में अनुमान से ज्यादा तेजी दिखाई। यूरोप से मिसाइल हटाने का निर्णय तो लिया ही गया, आनेवाले दस वर्षों में मध्यम दूरी की आणविक मिसाइलों की संख्या घटाकर सौ करने का निर्णय भी लिया गया। अगले ही साल जुलाई में जब गोर्बाचोव ने इन मिसाइलों को नष्ट करने की घोषणा कर डाली तो दोनों राष्ट्रपतियों के बीच मध्यम दूरी मिसाइल समझौता संपन्न हुआ।

इसकी अगली कड़ी में गोर्बाचोव ने ब्रेझनेव डॉक्ट्रिन के अंत की घोषणा करते हुए पूर्वी यूरोपीय समाजवादी गणराज्यों को सोवियत प्रभाव से मुक्त करने की घोषणा की। मजाकिया लहजे में इसे कैलिफोर्निया के फिल्मी कलाकार सनात्रा के नाम पर 'सनात्रा डॉक्ट्रिन' के रूप में याद किया जाने लगा। अपनी इस घोषणा के पहले उसने 'कॉमन यूरोपीयन होम' की अवधारणा पेश की थी। इसका मतलब था ऐसा यूरोप बनाना जहां कोई सैन्य ब्लॉक न हो, जहां हथियारों का जखीरा जमाकर तनाव की स्थिति न पैदा की जाय।

ऊपर से उसकी यह अवधारणा 1981 की ब्रेझनेवी अवधारणा से मेल खाती है। लेकिन दोनों के उद्देश्य एक दूसरे के विपरीत थे। ब्रेझनेव यूरोप और अमेरिका के बीच भेद पैदा कर उसे अपने खेमे में मिलाना चाहता था जबकि गोर्बाचोव इस अभियान में अमेरिका को भी शामिल कर अमेरिका–यूरोप के साम्राज्यवादी खेमे में मिलना चाहता था। लेकिन ये दोनों समान रूप से लेनिनीय अवधारणा के खिलाफ थे कि साम्राज्यवादी और समाजवादी देशों की कोई स्थायी खेमेबंदी नहीं हो सकती।

अपनी अवधारणा को पुष्ट करते हुए 6 जुलाई 1989 को स्ट्रॉसबर्ग (फ्रांस) में कौंसिल ऑफ यूरोप को संबोधित करते हुए उसने कहा था कि कुछ देशों में सामाजिक स्थिति अतीत में बदली है, वह भविष्य में भी बदल सकती है और यह बदलाव वहां की जनता की मर्जी से होगा, किसी बाहरी देश के हस्तक्षेप से नहीं। एक महीना पहले पोलैंड में चुनाव हुए थे और वहां की कम्युनिस्ट सरकार अपदस्थ हो गयी थी। ब्रेझनेव डॉक्ट्रिन के अंत की घोषणा के बाद वर्ष 1989 पूर्वी यूरोप में उथल--पुथल का वर्ष बना रहा। कई देशों में जनविद्रोह हुए और कम्युनिस्ट नामधारी सत्ताएं लड़खड़ाकर गिर गयीं।

इन सबमें सबसे चर्चित रहा बर्लिन की दीवाल का गिरना और रोमानिया के

शासक निकोलाई चाउसेस्की का जनविद्रोह के दमन की कार्रवाई। 17 दिसंबर 1989 को पुलिस और सेना ने विद्रोहियों पर गोली चलायी। विद्रोह अन्य शहरों में भी फैल गया। 21 दिसंबर को उसने फिर दमन का आदेश दिया जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये। अगले दिन राजधानी बुखारेस्ट से भागने के क्रम में सेना ने उसे गिरफ्तार कर लिया। अन्य जगहों पर इतने खूनखराबा की नौबत नहीं आयी। चेकोस्लोवाकिया में विद्रोह शुरू होते ही प्राग के वसंत विद्रोह–1968 के नेता अलेकजेंडर दुसेक दो दशकों के बाद सतह पर आये। पूर्वी यूरोप के जनविद्रोह के फलस्वरूप रंग–बिरंगी सरकारें अस्तित्व में आयीं। पोलैंड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया में गैर–कम्युनिस्ट नामधारी सरकारें बनीं तथा बुल्गारिया और रोमानिया में सुधारवादी कम्युनिस्ट सत्ता में आये। लेकिन इन सभी देशों में दक्षिणपंथी पूंजीवादी पार्टियों के लिए संसद में आने का मैदान साफ हो गया।

इस कहानी का अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय था अफगानिस्तान। 1988 में उसने अफगानिस्तान से फौज वापस बुलाने का निर्णय लिया और अगले साल तक यह कार्रवाई पूरी कर ली गयी। उसके इन कदमों का उद्देश्य अमेरिकी–यूरोपीय साम्राज्य के लिए एकछत्र और एकीकृत बाजार तैयार करना था और वह पूरा हो गया था। लेनिन के नेतृत्व में संपन्न अक्तूबर क्रांति से साम्राज्यवाद के सामने बाजार का जो संकट पैदा हुआ था वह दूर हो गया। साथ ही ब्रेझनेव के नेतृत्व में साम्राज्यवादी प्रतियोगिता की जो चुनौती खड़ी हो गयी थी, वह भी खत्म हो गयी। लगता है, गोर्बाचोव एकीकृत साम्राज्यवादी व्यवस्था में दोयम दर्जा स्वीकार करने का मन बना चुका था। यही कारण है कि 1988 में उसे ऑटो दान मेडल और 19990 में नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

इस पूरी प्रक्रिया में गोर्बाचोव की स्थिति सोवियत संघ में डांवाडोल हो चुकी थी। सुधार के अनवरत प्रयासों के बावजूद अर्थस्थिति बद से बदतर होती जा रही थी। 1980 के दशक के अंत में खाद्य पदार्थों की भारी कमी हो गयी थी, राजकीय घाटा 1985 में शून्य था जो 1990 में 109 अरब रूबल हो गया था, सोना का भंडार इसी अवधि में 2000 टन से घटकर महज 200 टन रह गया था और बाहरी कर्ज शून्य से बढ़कर 120 अरब डालर तक पहुंच गया था। पूंजीवादी विचारक उपर्युक्त खाद्य संकट की तुलना 1918–20 के गृहयुद्ध से करते हैं। लेकिन दोनों में अंतर था। तब की सर्वहारा सत्ता संचित भंडारों को जब्त कर रही थी और वितरण में मोर्चा के जवानों और मेहनतकशों को प्राथमिकता दे रही थी, लेकिन अब की राजकीय पूंजीवाद से निजी पूंजीवाद में संक्रमणशील सरकार उल्टी दिशा में चल रही थी। अब वहां रातों–रात करोड़पति पैदा होते जा रहे थे। इन सबके

फलस्वरूप विद्रोह गणराज्यों से लेकर रूस के विभिन्न क्षेत्रों में फैलता जा रहा था। जंगल की आग की तरह फैलती इन घटनाओं पर एक सरसरी नजर डाल लेना काफी होगा :

◆ अप्रैल 1988 में एस्टोनिया, मई 1989 में लिथुआनिया और जुलाई 1989 में लात्विया ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया।

◆ जून में उज्बेकिस्तान और जनवरी 1990 में अजरबैजान में दंगे भड़क गये।

◆ आर्मिनिया ने निर्णय लिया कि संघ की केन्द्रीय संस्थाओं के कानूनों को लागू नहीं करेगा। येल्त्सिन ने मई 1990 में रूसी कानूनों को संघीय कानूनों पर प्राथमिकता देने की घोषणा कर दी।

दमन की कोशिशों के बावजूद विद्रोह का प्रसार होता गया। इससे निबटने के लिए सुप्रीम सोवियत ने गोर्बाचोव को राज्यादेश जारी करने का अधिकार दे दिया। इस बीच रूस की राजनीति साफ साफ तीन खेमों में बंट गयी थी। एक तरफ सुधारवादी नेताओं का समूह था जो गोर्बाचोव के सुधारों की धीमी प्रक्रिया से असंतुष्ट था, दूसरी तरफ राजकीय पूंजीवादियों का खेमा था जो सुधार की प्रक्रिया को अपेक्षाकृत धीमा रखना चाहता था और इन दोनों के बीच गोर्बाचोव अपनी स्थिति जन समर्थन से सुदृढ़ करना चाहता था।

1990 के अंत तक तेज सुधार चाहनेवालों ने 'डेमरस्सिया' नामक गठबंधन का निर्माण किया और गोर्बाचोव ने स्वतंत्र सोवियत गणराज्य के निर्माण के लिए समझौते का प्रस्ताव देना शुरू किया। मध्य एशियाई गणराज्य इसके तहत संघ के साथ आने को तैयार थे, लेकिन रूसी राष्ट्रवादी गठबंधन के नेता इसके विरोध में खड़े हुए। इससे लगभग तय हो गया कि संघ चलनेवाला नहीं है। दूसरी ओर पार्टी के पॉलित ब्यूरो के नेता नया प्लॉट रचने की तैयारी में थे। इसे 'अगस्त राज्य विद्रोह' के नाम से जाना जाता है। 19–20–21 अगस्त को गोर्बाचोव को क्रीमिया में उसके दाचा में नजरबंद कर दिया गया और घोषणा की गयी कि वे बीमार हैं। इसमें ब्यूरो के आठ सदस्य शामिल थे। लेकिन येल्त्सिन के नेतृत्व में इस षड्यंत्र को नाकाम कर दिया गया और इसके बाद ही वह रूस के जननायक के रूप में विख्यात हो गया। 24 अगस्त को गोर्बाचोव ने पार्टी के महासचिव पद से इस्तीफा दे दिया और पार्टी की केंद्रीय कमिटि भंग कर दी गयी। पॉलित ब्यूरो के कई सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। इसके साथ ही सुप्रीम सोवियत ने पार्टी की सभी गतिविधियों पर रोक लगा दी। इसके साथ ही खुश्चोव के नेतृत्व में स्थापित राजकीय पूंजीवाद की सत्ता खत्म हो गयी।

***

व्यक्ति एवं शब्द परिचय

1. **लेनिन, व्लादिमिर इल्यीच : (22 अप्रैल 1870–21 जनवरी 1924)** रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक। बोल्शेविक घड़े के संस्थापक एवं सिद्धांतकार, 1912 में मेंशेविको से विलगाव और रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की स्थापना। रूसी क्रांति और समाजवाद के मुख्य शिल्पी।
2. **स्तालिन जॉसेफ विसारिओनोविच : (21 दिसम्बर 1879–5 मार्च 1953)** 1903 से रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के बोल्शेविक धड़े के सदस्य। रूसी क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका। लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धांतकार, नेता और समाजवाद के मुख्य शिल्पी।
3. **फुल्टन स्पीच : (5 मार्च 1946)** वेस्टमिन्स्टर कॉलेज फुल्टन की ओर से डॉक्टरेट की मानक उपाधि समारोह में पूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल का भाषण। कम्युनिस्ट आंदोलन के तेज प्रसार के खिलाफ साम्राज्यवादी हस्तक्षेप (खासकर अमेरिकी हस्तक्षेप) का आह्वान। शीतयुद्ध के दौर की शुरूआत। इसे आयरन कर्टेन स्पीच भी कहते
4. **ट्रूमैन डॉक्ट्रीन : (1947)** तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति हैरी एस. ट्रूमैन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत। कम्युनिस्ट क्रांति को रोकने के घोषित उद्देश्य के साथ दुनिया भर में अमेरिकी हस्तक्षेप की नीति की शुरूआत।
5. **वोज्नेसिंस्की निकोलाई : (18 नवम्बर 1903–1 अक्टूबर 1950)** दुसरे विश्व युद्ध के दौर में सोवियत संघ की स्टेट प्लानिंग कमिटी के चेयरमैन, 10 मार्च 1941 से 15 मार्च 1946 तक कॉउंसिल ऑफ पीपुल्स कमिसार के उपाध्यक्ष। बाद के दिनों में पूंजीवादी नीति के पैराकार तथा लेनिनग्राद षडयंत्र के दोषी। इसके लिए इन्हें मृत्यु दंड दिया गया था।
6. **ख्रुश्चोव निकीता : (1896–1971)** 1939 से 1964 तक सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमिटी के सदस्य। स्तालिन की मृत्यु के बाद पार्टी और सरकार के सर्वोच्च पद पर आसीन। पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्तालिन निंदा अभियान का प्रवर्तक। सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का मुख्य शिल्पी। 1964 में पार्टी के सभी पदों से हटा दिये गये।
7. **ब्रेझनेव लियोनिद : (1906–1982)** खुश्चोव का उत्तराधिकारी, पार्टी का महासचिव। सोवियत संघ में राजकीय पूंजीवाद का सुदृढ़ीकरण। सामाजिक साम्राज्यवादी नीति के अनिवार्य तत्व के रूप में ब्रेझनेव डॉक्ट्रीन की घोषणा।
8. **कोसिजिन एलेक्सी : (1904–1980)** 1964 से 1980 तक रूस के प्रधानमंत्री। ब्रेझनेव शासनकाल में अर्थनीति के मुख्य शिल्पी। स्तालिन शासन काल में भी कई महत्वपूर्ण पदों पर। 1953 में पालित ब्यूरो से हटाये गये थे।

इस शृंखला की चौथी व अंतिम कड़ी में

अगली कड़ी इस शृंखला की अंतिम कड़ी होगी। साथ ही, सबसे महत्वपूर्ण भी। अब तक रूसी क्रांति की जय-पराजय की व्याख्या की गयी है, लेकिन मामला उससे सबक सीखने, उन सीखों को व्यवहार में उतारने और भावी क्रांति की राह में पसरे अंधेरे को दूर कर उसे प्रकाशमान करने का है। रूसी क्रांति ने साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के युग में मार्क्सवाद से जुड़े जिन उलझनों को सुलझा दिया था, उसके पराभव से वे फिर अस्तित्व में आ गयी हैं। वैसे तो उलझनें असंख्य हैं, लेकिन इनमें दो प्रमुख हैं। लेनिन की यह प्रस्थापना संदेह के घेरे में आ गयी कि समाज के विकास की स्थिति चाहे जो हो, मौका मिलने पर सर्वहारा को सत्ता पर कब्जा कर लेना चाहिए, पूंजीवादी विकास को पूरा करने का काम सर्वहारा नेतृत्व में होगा। दूसरी बात यह कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद की नयी कार्यपद्धति से उपजी परिस्थिति में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुसार क्रांतिकारी रणनीति क्या हो। इन दोनों मुख्य सवालों को हाथ में लेते ही कई अन्य उलझे सवाल सामने आ जायेंगे जिन्हें छोड़कर आगे बढ़ पाना असंभव होगा।

‘मजदूर वर्ग की मुक्ति स्वयं मजदूर वर्ग का कार्य होना चाहिए’

– मार्क्स–एंगेल्स

भारत का कम्युनिस्ट आंदोलन और रूसी क्रांति के सबक
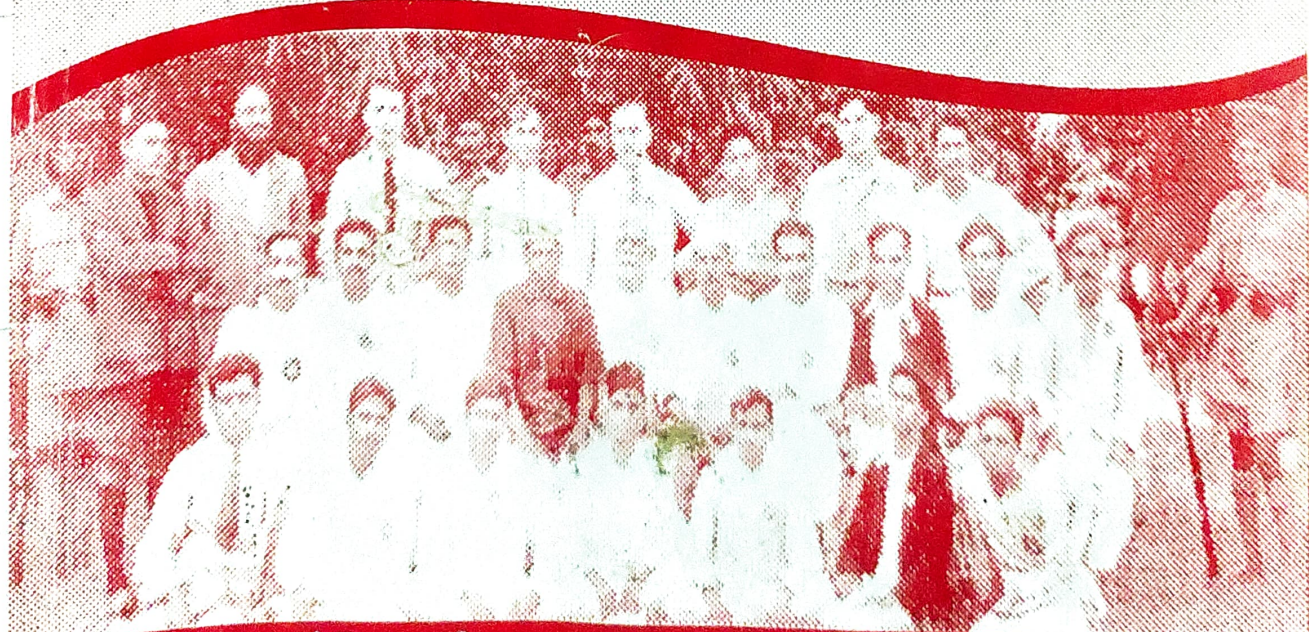
‘रूसी क्रांति के सौ साल’ शृंखला की चौथी व अंतिम कड़ी

भारत का कम्युनिस्ट आंदोलन

रूसी क्रांति के सबक

'रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की
चौथी व अंतिम कड़ी

डॉ० राम कवीन्द्र

-: प्रकाशक :-
नवजनवादी लोकमंच
(नजलोम)

प्रथम संस्करण - **जुलाई, 2018**

प्रकाशक :
नवजनवादी लोक मंच
(नजलोम)

सम्पर्क :
बी. के. शर्मा (एडवोकेट)
11, हलधर महतो कॉलोनी
रोड नं० 17, जवाहर नगर
पो०-आजाद नगर, मानगो
जमशेदपुर-832110

मुद्रक :
अनिता प्रिंटर्स
काशीडीह, साकची,
जमशेदपुर-831001

कम्पोजिंग एण्ड लेआउट :
डी०के० इडूकेयर एण्ड रेप्रोग्राफिक्स,
डुप्लेक्स नं०-4, रोड नं०-9,
शिव सिंह बगान एरिया,
एग्रिको, जमशेदपुर-831009

आवरण पृष्ठ :
मेरठ षड्यंत्र केस के नायक

सहयोग राशि 50/-

प्राक्कथन

I

रूसी क्रांति के सबक से आम तौर पर समझा जाने लगा है, इसकी पराजय के सबक, जबकि इसकी जीत और हार से जुड़ी एक–एक घटना और उसकी प्रक्रिया में सीखने की अनगिनत संभावनाएं मौजूद हैं। ऐसी धारणा बनने के पीछे एक–एक कर समाजवादी देशों का पतन और पूंजीवादी/निम्नपूंजीवादी विचारकों का दुष्प्रचार सबसे बड़े कारक हैं। वित्तीय पूंजी के इन चाकरों ने इसकी पराजय के बारे में झूठ का इतना गहरा धुंद पैदा किया कि उपलब्धियों का पहाड़ जैसा सच ओझल हो गया। इनके झूठ के दो आधार थे। उन्होंने समाजवाद के भितरघातियों को उसके निष्पादक के रूप में पेश किया और सच्चे नायकों को खलनायक के रूप में। साथ ही, उन्होंने सर्वहारा अधिनायकत्व की वर्गीय अंतर्वस्तु को गायब कर पूंजीवादी जनवाद की श्रेष्ठता साबित करने की कोशिश की।

इस क्रम में मार्क्स–एंगेल्स की शिक्षा को तोड़–मरोड़कर उसे उदारवादी पूंजीवादी विचार के रूप में पेश करने की कोशिश की गयी। वे दोनों विचारक हमेशा कहा करते थे कि सर्वहारा अपनी सत्ता का उपयोग धीरे–धीरे पूंजीपतियों से उत्पादन के साधन छीन लेने में करेगा और आरंभ में यह काम सत्ता के निरंकुश उपयोग के बिना पूरा नहीं होगा। पूंजीपतियों से धीरे–धीरे उत्पादन के साधनों को छीन लेने के लिए सत्ता का निरंकुश उपयोग – यही है सर्वहारा का अधिनायकत्व। उनके इस अंश को विलुप्त कर सिर्फ यह प्रचारित किया गया कि सर्वहारा अधिनायकत्व पूंजीवादी जनवाद की सीमाओं को भी लांघ जाता है। यह सर्वहारा अधिनायकत्व की उच्चतर मंजिल का सच है जिसे निचली मंजिल की प्रक्रियाओं को पूरा किये बिना हासिल नहीं किया जा सकता। मार्क्सवाद को उदार पूंजीवाद के स्तर तक गिराने में संशोधनवादी और पूंजीवादी विचारक एक साथ नजर आते हैं।

इस भूमिका का निर्वाह वे त्रिशंकु बनकर नहीं कर रहे थे। उनके झूठ का तात्कालिक आधार था पूंजीवादी कल्याणकारी राज्य जिसे सर्वहारा अधिनायकत्व के दबाव में स्वीकार किया गया था। साम्राज्यवादी बुर्जुवा ने कल्याणकारी राज्य के मुखौटे में अपना आदमखोर चेहरा थोड़ी देर के लिए छुपा लिया था। लेनिन और स्तालिन ने इन बदलावों को चिन्हित भी किया था। स्तालिन ने तो यहां तक कहा था कि बुर्जुवा डर रहा है कि सोवियत संघ के मजदूरों की छूत की बिमारी कहीं उसके देश के मजदूरों को न लग जाय, इसीलिए वह सुधारवादी कदम उठा रहा है। यह एक प्रकार की चेतावनी थी कि उन देशों के मजदूरों को ये सुविधाएं तभी

तक मिलेंगी, जब तक समाजवाद का भय वहां के पूंजीपतियों के सर पर मंडरा रहा है। उनका आकलन भविष्यवाणी की तरह सच साबित हुआ। जिस दिन सोवियत संघ से समाजवाद का भूत उतर गया (समाजवाद तो 1956–60 के बीच मर गया था) उसी दिन से कल्याणकारी राज्य का मुखौटा चिथड़े–चिथड़े होने लगा और उसके आदमखोर चेहरे पर विषैले खूंखार दांत दिखाई पड़ने लगे, उसी दिन से झूठ के बादल छंटने लगे और सच का सूरज फिर से निकलने लगा।

प्रतिकूल परिस्थिति पैदा होने की सारी जिम्मेवारी वर्ग दुश्मनों और ढुलमुल तत्वों पर डालकर हमलोग दोषमुक्त नहीं हो सकते। दरअसल 1956 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी पर संशोधनवादियों (पूंजीवाद के राहियों) का कब्जा हो जाने के बाद विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में तहस–नहस की स्थिति पैदा हो गयी थी और साम्राज्यवाद को इससे काफी सुकुन मिला था। इस प्रभाव को ठीक–ठीक समझने में क्रांतिकारी खेमे ने काफी देर कर दी। इस संदर्भ में लगभग सौ साल पहले (1857–59) इंग्लैंड के मजदूर आंदोलन में आये भटकाव, उसके ख्याति प्राप्त नेता अर्नेस्ट जोन्स की पतनशील भूमिका और इसके प्रभाव पर मार्क्स की टिप्पणी गौर करने लायक है। मार्क्स ने इसे मजदूर वर्ग के साथ विश्वासघात घोषित करते हुए जॉसेफ वेडमेयर के नाम पत्र (1 फरवरी 1859) में लिखा कि वह (अर्नेस्ट जॉन्स) बर्बाद हो चुका है, और चार्टिस्ट पार्टी को भारी क्षति पहुंची है। निस्संदेह, गलती सुधार ली जायेगी, लेकिन अनुकूल मौका हाथ से निकल गया है। उस सेना की स्थिति की कल्पना करो जिसका जनरल ऐन युद्ध के मौके पर दुश्मन से हाथ मिला ले। सर्वहारा नेता के इस वर्गद्रोह के फलस्वरूप इंग्लैंड के मजदूर वर्ग को विश्व सर्वहारा क्रांति का अगुआ बनने का जो मौका इतिहास ने दिया था, उसे उसने गंवा दिया।

सोवियत संघ के नेताओं की गद्दारी का प्रभाव इससे कई गुना ज्यादा घातक साबित हुआ। आज तक विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन इस प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका है। कार्ल मार्क्स की विलक्षण प्रतिभा का परिचय इस बात से मिलता है कि 1857 में भटकाव शुरू होते ही उन्होंने सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों को सचेत करना शुरू कर दिया कि इंग्लैण्ड के मजदूर नेता बुर्जुवा प्रभाव में आ गये हैं और वे अपने देश के पूंजीपति वर्ग के साथ खड़े हैं। लेकिन इस बार का क्रांतिकारी खेमा (चीनी कम्युनिस्टों का) सोवियत संशोधनवाद की परिघटना को काफी देर से समझा, पूरी साफगोई के साथ नहीं समझ सका और उसके भीतर भी पूंजीवाद के राहियों की पैठ इतनी गहरी थी कि दो दशक बीतते–बीतते वह भी संशोधनवाद के सामने दम तोड़ गया।

II

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद की कार्यपद्धति में आये संक्रमण के दौर में विश्व समाजवादी खेमा भी अक्षुण्ण नहीं रहा था। कमिंटर्न पहले ही भंग हो चुका था, कमिंफर्म की स्थापना हुई थी लेकिन वह उतना प्रभावकारी नहीं था, युगोस्लाविया उस खेमे से बाहर निकलकर साम्राज्यवाद का दलाल बन चुका था तथा सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर उठा–पटक चल रहा था। गद्दारों का खेमा सर उठा रहा था, लेकिन सफल नहीं हो पा रहा था। स्तालिन की मृत्यु के बाद पूंजीवाद के राहियों का पलड़ा भारी हुआ, वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का दौर शुरू हुआ, ब्रेझनेव के शासनकाल में वह सामाजिक साम्राज्यवाद में तब्दील हो गया और उसके प्रभाव में चीन और अल्बानिया को छोड़कर सारा समाजवादी खेमा ध्वस्त हो गया। इस बीच सोवियत संघ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच वर्ष 1963 में एक बहस चली जो इतिहास में 'महान विवाद' के रूप में दर्ज है।

इन्हीं परिस्थितियों में भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में टूट–फूट की प्रक्रिया शुरू हुई। 1964 में पहली टूट हुई और माकपा का जन्म हुआ। फिर माकपा के भीतर से 1967 में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का विस्फोट हुआ जिसने 1969 में नयी राजनीतिक पार्टी सीपीआई (एम.एल) को जन्म दिया। 1964 की टूट के विपरीत 1967 के विद्रोह और 1969 में नयी पार्टी की स्थापना ने अंतरराष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर लिया। वैचारिक स्रोत बनी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी।

नये और पुराने उपनिवेशवाद का विवाद नीतिगत बहस के रूप में पहली बार 'महान विवाद' में सामने आया। उसके बाद यह ऑल इंडिया को–ऑर्डिनेशन कमिटी ऑफ कम्युनिस्ट रिवोल्युशनरीज (एआईसीसीसीआर) के दस्तावेजों में आया। तब यह जरूरी था कि उस दौर के सभी ज्वलंत प्रश्नों के हल ढूंढ़ लिये जाते। उस समय के ज्वलंत प्रश्न थे : स्तालिन पर ख्रुश्चोवी हमले के बाद मार्क्सवाद की संरचना और स्वरूप में क्या बदलाव आया, इसमें स्तालिन के योगदान का मूल्यांकन कैसे होगा ? नव उपनिवेशवाद के दौर में साम्राज्यवाद की कार्यपद्धति में आये बदलावों ने भारतीय समाज को कैसे प्रभावित किया, वर्गीय संबंधों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा और क्या इस नये दौर में भी सामंतवाद तथा सामंती नौकरशाही ही साम्राज्यवाद के मुख्य स्तंभ हैं जैसा कि पुराने उपनिवेशवाद के दौर में था ? इन सवालों के सटीक जवाब खोज लेने के बाद ही यह तय हो सकता था कि भारतीय क्रांति की रणनीति व कार्यनीति क्या होगी।

एआईसीसीसीआर के दस्तावेजों में पहले सवाल का जवाब बड़े साफ शब्दों में

दिया गया : माओ विचारधारा आज का मार्क्सवाद–लेनिनवाद है। यह सांस्कृतिक क्रांति का दौर था और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नौवीं कांग्रेस के निर्णयों की गुंज पूरी दुनिया के क्रांतिकारी खेमे में सुनाई पड़ रही थी। निस्संदेह, यहां भी उसी सूत्र को स्वीकार कर लिया गया था। लेकिन अन्य दो मामलों में स्थिति दुविधाजनक रही। इससे 1925 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना काल के वैचारिक संकट का दृश्य उपस्थित हो रहा था, लेकिन ठीक उसी रूप में नहीं।

इन दोनों मामलों को तय करना चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की तात्कालिक अनिवार्यता नहीं थी, लेकिन भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी उनकी अनदेखी कर ज्यादा समय तक नहीं चल सकते थे। और वही हुआ भी। मतभेद और फूट की शुरूआत तो पार्टी निर्माण के दौर में ही हो चुकी थी, लेकिन पार्टी के भीतर विधिवत टूट की शुरूआत पार्टी की आठवीं कांग्रेस के एक साल बाद हो गयी।

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस के बाद वैचारिक उलझन और बढ़ गयी जब उस पार्टी ने अपनी नौवीं कांग्रेस के बहुतेरे मूल्यांकन बदल दिये। इस समय तक सांस्कृतिक क्रांति का अंत सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के बीच समझौता के रूप में हो चुका था। नौवीं कांग्रेस में पूंजीवाद के राही के रूप में चिन्हित देंग की दसवीं कांग्रेस में फिर से ताजपोशी हो गयी थी। माओ की मृत्यु के बाद चीन में भी रूस की कहानी दोहरा दी गयी और यहीं से हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में वैचारिक संकट का दौर शुरू हो गया जिसकी अभिव्यक्ति टूट–फूट में हो रही है। चाहे जो हो, यह आंदोलन भी वांछित परिणाम दिये बगैर बिखर गया। यह आंदोलन के लिए बहुत बड़ा झटका साबित हुआ जिससे हम अभी तक उबर नहीं सके हैं।

इस स्थिति तक पहुंचाने में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में पूंजीवाद के राहियों की जीत और वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना ने अहम भूमिका निभायी। जिस तरह रूसी क्रांति की जीत के बाद बनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद संशोधनवादी बन गयी। उसी तरह चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में बनी सीपीआई (एम.एल.) भी टुकड़ों में बंटते जाने के बावजूद भारतीय क्रांति की सही राह नहीं खोज पायी। अब तो लगता है, भटकाव ने स्थायी रूप धारण कर लिया है। इस स्थिति को बदलने के लिए रूसी क्रांति के अनुभव के आलोक में खामियों और गलतियों के विश्लेषण की कोशिश ही हमारा उद्देश्य है।

III

1980 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादी हो जाने के बाद विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष की नीति ने दम तोड़ दिया

और साम्राज्यवाद से मुकम्मल मेल-मिलाप की जमीन तैयार होने लगी। इस दौर में ऐसी छवि उभरी कि साम्राज्यवाद अपराजेय है और समाजवाद क्षणभंगुर। लेकिन 1991 के बाद (खासकर इक्कीसवीं सदी में) साम्राज्यवाद के चौतरफा संकट उभरने से यह समझ में आने लगा है कि उसकी संरचना दुर्योधन की काया की तरह है, जिसका सारा शरीर भले ही वज्र बन गया हो, लेकिन कमर कच्ची है, वह भीम का एक प्रहार भी नहीं झेल सकता। लेकिन साम्राज्यवाद चाहे जितना खोखला हो, दुनिया का मजदूर वर्ग भीमकाय नहीं बना है, वह समाजवाद पर निर्णायक प्रहार की स्थिति में नहीं है। इस स्थिति में आज का सबसे जरूरी कार्यभार है कि मार्क्सवाद- लेनिनवाद को आज की ठोस परिस्थिति की जरूरतों के अनुसार विकसित कर उसे जनमानस में पिरो दिया जाय।

इस अर्थ में रूसी क्रांति की जय और पराजय दोनों के सबक अत्यंत प्रासंगिक हैं। संकट के इस मोड़ पर रूसी क्रांति के सौ वर्षों के इतिहास का सबसे बड़ा सबक यह समझना है कि किसी भी देश में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की भौतिक परिस्थितियां कैसी होती हैं और उसमें काम करने का मार्क्सवादी तरीका क्या हो सकता है। खासकर वैसे समाज में जहां इस दिशा में प्रयास हुआ हो और सारी संरचना पूंजीवाद की सेवा में लग गयी हो या बिखर गयी हो।

मार्क्सवाद सामाजिक विकास का वैज्ञानिक सिद्धांत है और ठोस परिस्थिति का ठोस विश्लेषण उसकी आत्मा है। यह सर्वमान्य तथ्य है। लेकिन विरले लोग ही इसका सही उपयोग कर पाते हैं और यही कारण है कि विरले लोग ही क्रांति को जीत की मंजिल तक पहुंचाने में सफल हो पाते हैं या क्रांतिकारियों को समझाने में सफल हो पाते हैं कि तत्कालीन परिस्थिति में समाज का शक्ति संतुलन क्रांति के अनुकूल नहीं है और उसमें मजदूर वर्ग को अपनी भूमिका का निर्धारण कैसे करना चाहिए। ऐसा कर वे समाज के गर्भ में पल रही क्रांति के भ्रुण को बाहरी खतरों से बचाते हैं और उसे सुरक्षित ढंग से भावी पीढ़ी के हाथों में सुपुर्द कर अपने क्रांतिकारी दायित्व का निर्वाह करते हैं। विश्व सर्वहारा के प्रथम सिद्धांतकार मार्क्स-एंगेल्स ऐसे ही विचारक थे। उनके नेतृत्व में किसी देश में सर्वहारा क्रांति विजयी नहीं हुई, लेकिन उनके सैद्धांतिक प्रभाव के बिना एक भी क्रांति संपन्न नहीं हुई। उनके इसी योगदान ने दोनों को युगों-युगों तक जिंदा रहने का आधार तैयार कर दिया है।

ठोस परिस्थिति का ठोस विश्लेषण कर रक्षात्मक नीति का नमूना हम एंगेल्स के नाम मार्क्स के पत्र (8 अक्तूबर 1858) में देखते हैं। इन दोनों के कार्यकाल में पूंजीवादी विकास और सर्वहारा क्रांति का केंद्र यूरोप था जिससे पूंजीपति वर्ग

भयभीत था। यह वस्तुगत परिस्थिति का एक पक्ष था। लेकिन दूसरी तरफ दुनिया के विशाल भूखंड में पूंजीवादी संबंधों का विस्तार हो रहा था और वह उसे जीवन दान दे रहा था। इस जीवनदायी स्रोत का उल्लेख करते हुए मार्क्स लिखते हैं :

'विश्व बाजार की स्थापना, कम से कम बाहरी स्वरूप के तौर पर और उस पर आधारित उत्पादन पूंजीवादी समाज का विशिष्ट कार्यभार है। कैलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया के औपनिवेशिकरण, तथा चीन और जापान के (बाजार) खुल जाने से यह काम पूरा हो गया लगता है।' इस प्रक्रिया के परिणाम पर नजर डालते हुए वे आगे लिखते हैं : 'हमारे लिए कठिन प्रश्न यह है : इस उपमहाद्वीप में क्रांति तुरंत संभव है और वह शीघ्र ही समाजवादी चरित्र अख्तियार कर लेगी। इस बात पर ध्यान देने से कि दुनिया के बड़े भू–भाग में पूंजीवादी समाज की गति उत्थान की ओर है, छोटे से कोने में क्रांति का कुचल दिया जाना क्या निश्चित नहीं है ?'

बीसवीं सदी आते–आते परिस्थिति बदल गयी। औपनिवेशिकरण की प्रक्रिया पूरी हो गयी और यूरोप क्रांति के केंद्र से अवसरवाद के गढ़ में तब्दील हो गया। मार्क्स ने यूरोप में क्रांति के विस्फोट की जिस संभावना का जिक्र किया था, यूरोप का सर्वहारा उस अवसर को गंवा चुका था। साथ ही दूसरा बदलाव यह आया कि उपनिवेशों के नये सिरे से बंटवारे के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच विश्वयुद्ध अनिवार्य हो गया। इन बदलावों का ठोस विश्लेषण करते हुए लेनिन ने निष्कर्ष निकाला कि अकेला एक देश में भी क्रांति विजयी हो सकती है और वह उसी देश में विजयी होगी जो साम्राज्यवाद की सबसे कमजोर कड़ी साबित होगा। यह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रांति के युग का निष्कर्ष था, जो मार्क्स के निष्कर्ष से सर्वथा भिन्न था।

मार्क्सवादी पद्धति का उपयोग कर दो भिन्न परिस्थितियों से निकले इन दोनों निष्कर्षों की सीख के आलोक में हम विचार करें कि हम कहां खड़े हैं ? खासकर भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के संदर्भ में। इस सवाल का जवाब भविष्य के आंदोलन की दिशा तय करने के लिहाज से बहुत प्रासंगिक है। साथ ही नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के पचासवें साल में भी यह उतना ही महत्वपूर्ण है। क्रांतिकारी आंदोलन का अत्यंत दुखद व चिंताजनक पक्ष यह है कि नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के गर्भ से उत्पन्न पार्टी कई टुकड़ों में बंटी हुई है, उनमें एकता की संभावना क्षीण हो गयी है और यह तब हो रहा है जब एकतावादियों की भरमार है। एकता और टूट का लंबा अनुभव यह साबित करता है कि अवसरवाद फूट का सबसे बड़ा कारण है।

क्रांतिकारी आंदोलन में टूट–फूट और प्रतिक्रियावादियों के आक्रामक तेवर का

हवाला देकर एक बार फिर यह समझाने की कोशिश हो रही है कि सभी रंग–ढ़ंग के कम्युनिस्ट नामधारी संगठनों को किसी न किसी स्तर पर एकजुट हो जाना चाहिए। इस तरह के अपीलकर्त्ता चाहें या न चाहें, लेकिन उनकी अपील का संदेश जाता है मानों प्रतिक्रियावाद की विजय इस टूट–फूट के कारण हो गयी। यह नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के राजनीतिक औचित्य पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर देता है। लेकिन वे इससे बेपरवाह हैं।

नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के ऐतिहासिक महत्व को टुकड़ों में देखने की आदत पड़ गयी है। एक धारा हथियारबंद संघर्ष को इसका केंद्रीय योगदान मानती है तो दूसरी धारा भूमि संघर्ष को। इस बीच एक नयी प्रवृति चल पड़ी है, वर्ग संघर्ष को पृष्ठभूमि में धकेलकर पहचानों के संघर्ष को अहमियत देने की। इन सबमें एक समानता है कि वे नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह से निकली संशोधनवाद विरोधी आवाज को अहमियत नहीं दे पाते।

इस समझ के दबाव में सीपीआई (एम.एल.) के कई ग्रुपों ने यह नीति स्वीकार कर ली कि अगर वर्ग संघर्ष पृष्ठभूमि से चला गया हो, तो जातीय संघर्ष प्रमुख बन जाता है। साथ ही यह कहा जाने लगा कि जाति ही वर्ग है और जाति संघर्ष को वर्ग संघर्ष का पर्याय मानना फैशन जैसा हो गया। यह वर्ग संघर्ष से इनकार कर मजदूर वर्ग को पूंजीपति वर्ग के सामने निहत्था करने जैसा है। इस परिघटना ने एक तरफ मार्क्स के विश्लेषण को सही साबित किया, तो दूसरी तरफ बीसवीं सदी में कम्युनिस्ट (उस समय सामाजिक जनवादी) आंदोलन में व्याप्त अवसरवाद और साम्राज्यवाद के अंतर्संबंध पर लेनिन की थीसिस की पुष्टि कर दी कि साम्राज्यवाद और मजदूर वर्ग की राजनीति में व्याप्त अवसरवाद एक दूसरे से जुड़े होते हैं।

यह है वैचारिक–राजनैतिक दलदल जिसमें क्रांतिकारी फंस गये हैं। यह कैसे हुआ और इससे बाहर निकलने का रास्ता क्या है ? इन सवालों का जवाब खोजकर ही रूसी क्रांति की जय–पराजय से सबक सीखने का दावा किया जा सकता है। 'रूसी क्रांति के सौ साल' के विश्लेषण के माध्यम से हमने आज के ऐसे ही सवालों के जवाब खोजने की कोशिश की है।

– डॉ० राम कवीन्द्र

आभार

'रूसी क्रांति के सौ साल' शृंखला की अंतिम कड़ी के रूप में इस पुस्तिका के प्रकाशन में मेरी निजी परेशानियों के कारण थोड़ा विलम्ब हुआ। पहली से लेकर तीसरी कड़ी तक के प्रकाशन और वितरण का राजनीतिक अनुभव अत्यंत उत्साहवर्द्धक रहा है। जिस समय हमलोग इसके प्रकाशन का निर्णय ले रहे थे, इस काम के हर पड़ाव (लेखन, प्रकाशन, वितरण आदि) को लेकर कई तरह की आशंकाएँ मन में उठ रही थीं। लेकिन इन तीन वर्षों में हमारे संगठन तथा सीपीआई (एम.एल.) धारा के अन्य कई ग्रुपों के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की ओर से अप्रत्याशित सहयोग व समर्थन मिला। हमारे संगठन के जो साथी इस निर्णय में शरीक थे, उनकी भूमिका प्रशंसनीय तो है, लेकिन आश्चर्यजनक नहीं। अन्य साथियों का सहयोग निश्चय ही प्रशंसनीय भी है और काफी उत्साहवर्धक भी। हम इन सब के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

कुछ ऐसे साथी हैं जिनकी भूमिका अत्यंत उल्लेखनीय रही है। अर्जुन प्रसाद सिंह (दिल्ली) तथा अरूणांशु बनर्जी (रांची) ने प्रकाशन के पूर्व रचनाओं में अपना अमूल्य सुझाव देकर हमें कृतार्थ किया है। अर्जुन प्रसाद सिंह ने तो पहले भाग की भूमिका में जिस तरह से उत्साह बढ़ाया उसके लिए हम विशेष रूप से उनके आभारी हैं। उसी तरह सियाशरण शर्मा (जमशेदपुर) का योगदान भी अत्यंत उल्लेखनीय है। उन्हीं के प्रयास का नतीजा है कि अब तक तीन भागों का बंगला अनुवाद फेसबुक में जारी हो चुका है। इन तीनों साथियों के प्रति विशेष आभार। अन्त में, हम तकनीकी सहयोग के लिए इन सभी भागों के कम्पोजिटर और प्रिंटर के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग के बिना यह शृंखला पाठकों के हाथ में नहीं पहुंच पाती। सर्वोपरि हम पाठकों के प्रति आभारी हैं, क्योंकि उनके उत्साहवर्धन के बिना एक कदम बढ़ना भी मुश्किल था। आशा है, आगे भी सबका सहयोग मिलता रहेगा और इस माध्यम से एकजुटता की दिशा में हम आगे बढ़ते रहेंगे।

— **लेखक**

अध्याय–1

भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की भौतिक परिस्थितियां

किसी भी देश में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए तीन तत्वों की जरूरत पड़ती है : औद्योगिक मजदूरों का विकास, मार्क्सवादी– लेनिनवादी सिद्धांतों का प्रचार–प्रसार तथा सर्वहारा के (राजनीतिक शक्ति के रूप में) उदय के पूर्व के क्रांतिकारी संघर्ष की विरासत यानी पूंजीपति वर्ग के संघर्ष की विरासत। ये तीनों कारक किसी देश में जितने समृद्ध होते हैं और उनके बीच क्रांतिकारी समन्वय जितना सटीक होता है, उस देश की कम्युनिस्ट पार्टी उतनी ही मजबूत होती है। इन तत्वों के आपसी संबंध की स्पष्ट समझ हासिल करना और उसे निरंतर अद्यतन बनाते रहना हर दौर के मार्क्सवादी विचारक का कर्तव्य होता है। उपर्युक्त बातों का पहला बिंदु बिल्कुल स्पष्ट है। स्वयं सिद्ध की तरह। इसलिए इसकी व्याख्या में ऊर्जा खर्च करने की जरूरत नहीं है। लेकिन मामले को गहराई से समझने के लिए अन्य दोनों के महत्व और अंततः तीनों के आपसी संबंधों की व्याख्या जरूरी है।

पहले हम इस पक्ष पर विचार करें कि मजदूरों के बीच मार्क्सवादी चिंतन (वह भी अद्यतन विकसित मार्क्सवाद) का प्रचार–प्रसार क्यों जरूरी है और कितना जरूरी है। यह परिचर्चा हमारे आंदोलन के लिए नयी बात नहीं है, वह किसी न किसी रूप में हमेशा बरकरार रही है। मजदूर वर्ग के आदि विचारक कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में बेबाकी के साथ एलान कर दिया था कि कम्युनिस्ट पार्टी मजदूर वर्ग की पार्टी होती है और मजदूरों को वर्ग के रूप में संगठित करने तथा सत्ता तक पहुंचाने के क्रम में सैद्धांतिक ज्ञान से लैस कर संघर्ष के मैदान में उतारना जरूरी होता है।

मजदूर वर्ग की राजनीतिक कमान इन दोनों विचारकों के हाथ में आने के पहले अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन का नारा हुआ करता था – 'सभी मनुष्य भाई–भाई हैं'। लेकिन इस बात का श्रेय इन लोगों को जाता है कि 'घोषणापत्र' में उद्घोष हुआ, 'दुनिया के मजदूरों एक हो।' यह मजदूर वर्ग की विचारधारा के क्षेत्र में बहुत बड़ा बदलाव था, वैचारिक क्रांति का विस्फोट था। जीवनपर्यंत ये दोनों विचारक इस प्रस्थापना पर डटे रहे कि क्रांतिकारी सिद्धांत और व्यवहार एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं, एक दूसरे के पूरक हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा

सकता। दूसरी ओर निम्नपूंजीवादी विचारकों की टोली उनके खिलाफ भिड़ी रही और इनके प्रभाव में मजदूर आबादी का बड़ा हिस्सा क्रांति के नाम पर आतंकवाद या अराजकतावाद का बंदी बना रहा।

इन दोनों विचारकों ने 'घोषणापत्र' में सिद्धांत और व्यवहार के द्वंद्वात्मक संबंध को दो प्रश्नों के इर्द–गिर्द निरूपित कर दिया। उनका पहला स्पष्टीकरण था कि कम्युनिस्ट पार्टी दूसरी मजदूर पार्टियों से किस लिहाज से अलग होती है और दूसरा यह कि कम्युनिस्ट (कार्यकर्त्ता) अन्य दलों (के कार्यकर्त्ताओं) से किस मायने में श्रेष्ठ होते हैं ? पहले बिंदु पर वे कहते हैं : 'विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्ष में वे (कम्युनिस्ट) राष्ट्रीयता से सर्वथा निरपेक्षतः समस्त सर्वहारा के सामान्य हितों को इंगित करते और सामने लाते हैं।' मार्क्स–एंगेल्स के इस विचार को हम 'दुनिया के मजदूरों एक हो' या सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद का प्रस्थान बिंदु मान सकते हैं। इसी सिलसिले में वे कम्युनिस्टों का दूसरा पक्ष उजागर करते हैं : 'बुर्जुवा वर्ग के खिलाफ मजदूर वर्ग के संघर्ष को जिन मंजिलों से होकर गुजरना होता है, उनमें वे हमेशा और हर कहीं समूचे तौर पर आंदोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।' यहां उनका संकेत बिल्कुल साफ है कि कम्युनिस्टों को दीर्घकालिक लक्ष्यों को पाने के लिए जरूरत पड़ने पर तात्कालिक उपलब्धियों का त्याग भी करने की हिम्मत दिखानी चाहिए। जीवनपर्यंत वे दोनों अपने इस राजनीतिक मूल्य पर टिके रहे।

कम्युनिस्टों की श्रेष्ठता के आधार की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था 'कम्युनिस्ट, एक ओर, व्यवहार में हर देश की मजदूर पार्टियों के सबसे आगे बढ़े हुए जुज होते हैं, ऐसा जुज, जो और सभी को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है, दूसरी ओर सैद्धांतिक दृष्टि से उन्हें सर्वहारा के विशाल जनसमुदाय पर सर्वहारा आंदोलन के आगे बढ़ने के रास्ते, उसकी अवस्थाओं और उसके अंतिम सामान्य परिणामों की सुस्पष्ट समझ रखने की श्रेष्ठता प्राप्त है।' यह उद्धरण कितनी सफाई के साथ समझा देता है कि क्रांतिकारी संघर्ष के दिशा निर्धारण के लिए क्रांतिकारी सिद्धांत की समझ निहायत जरूरी है।

मार्क्स–एंगेल्स के इस सूत्र को आत्मसात करना हमारे देश (वस्तुतः पूरे विश्व) के कम्युनिस्ट आंदोलन की सबसे बड़ी जरूरत है। इन दोनों विचारकों के समकालीन लोग, यहां तक कि जर्मन सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी के बड़े–बड़े नेता भी इस संबंध को जीवंत रूप में आत्मसात नहीं कर पा रहे थे और उनके दिशा निर्देशों की अवहेलना कर देते थे या कहें, समझ के अभाव में उनसे हो जाती थी। वे तात्कालिक लाभ के लालच में दीर्घकालिक लक्ष्य को ओझल कर देते

थे, कभी–कभी तो क्षति भी पहुंचा देते थे। यह परिस्थिति इसलिए भी पैदा हुई कि पेरिस कम्यून की पराजय तथा प्रथम इंटरनेशनल के भंग होने के बाद निम्नपूंजीवादी विचारधारा पर मार्क्सवाद की जीत हो गयी थी, लेकिन इन विचारों के अवशेष के साथ कई लोगों ने मार्क्सवादी खेमे में शरण ले ली और बाद में यहां वे संशोधनवाद के वाहक बन गये। इस धारा के पहले प्रतिनिधि एडुअर्ड बर्न्सटीन थे।

रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी के इतिहास में अर्थवादियों से वैचारिक संघर्ष चलाते हुए लेनिन ने 'क्या करें' में एंगेल्स की अत्यंत महत्वपूर्ण उक्ति उद्धृत की थीः क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना कोई क्रांति संभव नहीं है। इस सिद्धांत को निरंतर विकसित करने की जरूरत पर बल देते हुए वे कहा करते थे कि क्रांति का नेतृत्व वही पार्टी कर सकती है जो सबसे उन्नत सिद्धांतों से निर्देशित होती है। मार्क्स–एंगेल्स की तरह लेनिन भी सिद्धांत और व्यवहार के बीच द्वंद्वात्मक संबंध के कायल थे। उनकी समझ की अभिव्यक्ति इस बात में होती है कि मजदूर वर्ग की राजनीतिक पार्टी के संगठन का स्वरूप क्या हो तथा पार्टी की सदस्यता के मापदंड क्या तय हों ? यह विवाद रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी में संशोधनवाद बनाम मार्क्सवाद के निर्धारण का एक आधार भी बना।

मेंशेविक इस विचार के प्रतिनिधि बनकर उभरे कि मार्क्सवाद से सहमति जतानेवाला हर बुद्धिजीवी तथा मजदूरों की हड़ताल के समर्थन में खड़ा हर बुद्धिजीवी कार्यकर्त्ता पार्टी का सदस्य बन सकता है। इसमें ऐसी कोई नीति नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि मार्क्सवाद का सूत्र जपनेवाला बुद्धिजीवी राजनीतिक व्यवहार में खरा उतरता है या नहीं और हड़ताल के समर्थन में खड़ा कार्यकर्त्ता मार्क्सवाद पर अमल करता है या नहीं।

इन सवालों का जवाब बोल्शेविकों की नीति में मिलता है। उनका मानना था कि रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी का सदस्य बनने के लिए तीन शर्त्तें पूरी होनी चाहिए : मार्क्सवाद में विश्वास रखना, पार्टी के किसी जनसंगठन में तथा उसके अनुशासन में सक्रिय रहना तथा अपनी आमदनी के अनुसार एक निर्धारित राशि पार्टी कोष में नियमित देना। पार्टी में अनुशासन के नियम जनवादी भी थे और केंद्रीयता के साथ उनमें कठोरता भी थी। इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर व्यवहार करते हुए बोल्शेविक लेनिन के नेतृत्व में क्रांति का प्रतीक बनकर उभरे।

रूस में पार्टी निर्माण के दौर में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें' में लेनिन ने आतंकवाद, अर्थवाद और मार्क्सवाद के बीच अंतर तथा ट्रेड यूनियन और पार्टी संगठन के अंतर्संबंध पर गहराई के साथ प्रकाश डाला था। हमारे देश के कम्युनिस्ट आंदोलन में इस पुस्तक को गहराई के साथ समझकर व्यवहार में

उतारने की कोशिश नहीं हुई या कभी–कभार हुई भी तो अत्यंत अधूरे ढंग से। इसके फलस्वरूप ट्रेड यूनियन व किसान संगठन तथा पार्टी के बीच जीवंत क्रांतिकारी संबंध कायम नहीं हो सका। इसलिए इस पुस्तक की उपयोगिता आज हमारे लिए अतीत के किसी भी समय से ज्यादा बढ़ गयी है। यह है मजदूर जनता के बीच मार्क्सवादी दर्शन के प्रचार–प्रसार के महत्व का एक पक्ष।

पूंजीवादी और निम्नपूंजीवादी विचारक अगर यह नहीं समझ पाते तो बात समझ में आती है और हमारे आंदोलन के लिए कोई गंभीर खतरा नहीं है, लेकिन मार्क्सवादी नहीं समझ पाते तो वे आंदोलन में भितरघात के शाश्वत स्रोत बन जाते हैं। कार्यकर्त्ताओं की पिछड़ी चेतना इसका मुख्य स्रोत होती है। चीनी क्रांति कें मुख्य शिल्पी माओत्से तुंग कहा करते थे कि कई लोग कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तो बन जाते हैं, अनुशासन के नाम पर नेतृत्व के निर्णयों को लागू करते हैं, अच्छे व विश्वसनीय कैडर का खिताब भी पा लेते हैं लेकिन मार्क्सवाद समझ नहीं पाते। वे मूलतः उस पुरानी चेतना से जकड़े रहते हैं जो उन्हें शासक वर्ग से तथा समाज की पुरातन चिंतन परंपरा से विरासत में मिली होती है। ऐसे लोग ख्याति अर्जित कर लेने के बावजूद पार्टी के भीतर निम्नपूंजीवाद के प्रतिनिधि बने रहते हैं और भविष्य में गलती से गद्दारी कर पार्टी को रसातल में पहुंचाने का साधन बन जाते हैं। क्रांति का सफल नेतृत्व करनेवाली रूस और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियां भी इस प्रक्रिया से नहीं बच पायी थीं। रूस की पार्टी में बार–बार किया जाने वाला बड़े पैमाने पर निष्कासन तथा चीन की सांस्कृतिक क्रांति ऐसे ही तत्वों से मुक्त होने के उपाय थे।

अब हम इसके दूसरे पक्ष – मजदूरों के राजनीतिकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर विचार करें। इस दौरान हम कम्युनिस्ट पार्टी को अतीत से मिली विरासत का महत्व समझ पायेंगे। इसकी शुरूआत हम फिर 'घोषणा पत्र' में मार्क्स–एंगेल्स की व्याख्या से करेंगे। इन दोनों विचारकों ने बड़े साफ शब्दों में कहा था कि औद्योगिक मजदूर पूंजीवाद की संतान हैं, ऐसी संतान जो उसकी मौत का कारण बनती है। इस आधार पर आसानी से समझा जा सकता है कि हर देश के मजदूर पर उसके पूंजीवादी संबंधों का प्रभाव जन्मजात रूप से पड़ता है। इस संबंध को प्रभावित करनेवाला दूसरा कारक होता है औद्योगिक मजदूर बनने के पहले उस व्यक्ति की वर्गीय स्थिति। पूंजीवाद के दौर में उत्पादन के विशिष्ट साधन पैदा हो जाने के कारण विशिष्ट कौशल का कोई मूल्य नहीं रह जाता, मजदूर आबादी के सभी हिस्सों से भरती किये जाने लगते हैं और निश्चय ही वे अपने पूर्व वर्ग चरित्र के साथ नयी जमात में शामिल होते हैं। इस जन्मजात प्रक्रिया को समझने के बाद

संघर्ष के मैदान में इस प्रभाव को देखने समझने की कोशिश की जाय। जिस तरह मजदूर पूंजीवादी उत्पादन संबंध की उपज होते हैं, उसी तरह राजनीतिक संघर्ष की पहली घुंटी भी वे पूंजीपति वर्ग के लिए लड़कर ही पीते हैं। इस संघर्ष के महत्व को उजागर करते हुए मार्क्स–एंगेल्स 'घोषणापत्र' में लिखते हैं :

'इस मंजिल में सर्वहारा अपने शत्रुओं (पूंजीपतियों) से नहीं, बल्कि अपने शत्रुओं के शत्रुओं से निरंकुश राजतंत्र के अवशेषों, भूस्वामियों, गैर औद्योगिक बुर्जुवाओं, निम्नबुर्जुवाओं से लड़ता है। इस प्रकार समस्त ऐतिहासिक गतिविधि बुर्जुवा वर्ग के हाथों में संक्रेंद्रित रहती है, इस प्रकार हासिल की गयी हर जीत बुर्जुवा वर्ग की जीत होती है।' इस पूरी मंजिल में मजदूर सिर्फ पूंजीपति वर्ग के सिपाही की भूमिका निभाते हैं और इससे गुजरे बगैर वे अगली मंजिल में प्रवेश कर ही नहीं सकते। मार्क्स–एंगेल्स इससे भी आगे बढ़ते हैं :

'पुराने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच टकराव कुल मिलाकर सर्वहारा के विकास की प्रक्रिया को अनेक रूपों में बढ़ावा ही देते हैं। बुर्जुवा वर्ग अपने को लगातार लड़ाई में फंसा पाता है। पहले अभिजात वर्ग के विरूद्ध, बाद में स्वयं बुर्जुआ वर्ग के उन अंशकों के विरूद्ध जिनके हित उद्योग की प्रगति के प्रतिकूल हो जाते हैं और विदेशों के बुर्जुवा वर्ग के विरूद्ध तो निरंतर। इन तमाम लड़ाइयों में वह अपने को सर्वहारा की तरफ मुड़ने, उससे मदद मांगने और इस प्रकार उसे राजनीतिक रंगमंच में खींचने के लिए मजबूर पाता है। अतः बुर्जुआ वर्ग स्वयं ही सर्वहारा को सामान्य तथा राजनीतिक शिक्षा के अपने तत्व प्रदान करता है, अर्थात सर्वहारा, को बुर्जुवा वर्ग से लड़ने के हथियार मुहैय्या करता है।'

इस संघर्ष में पूंजीपति वर्ग मजदूरों को पूंजीवादी राजनीति की शिक्षा ही दे सकता है। यही कारण है कि मजदूर नैसर्गिक रूप से निम्नपूंजीवादी प्रकृतियों की ओर आकृष्ट होते हैं और सर्वहारा की शिक्षा–दीक्षा के लिए उन्हें सचेतन प्रयास करना पड़ता है। इसी से पैदा होता है मजदूर वर्ग के भीतर सैद्धांतिक काम का महत्व।

जब पूंजीवादी व्यवस्था का आंतरिक संकट शुरू होता है और उसके फलस्वरूप मजदूरों का संकट भी शुरू हो जाता है तब उनका अपना संगठन (ट्रेड यूनियन) अस्तित्व में आता है जो पूंजीपति वर्ग से टकराने का पहला हथियार होता है। लेकिन यह संघर्ष भी पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ नहीं जाता, उसके झंडे पर पूंजीवाद का नाश नहीं लिखा रहता। उल्टे, इस व्यवस्था के अंदर ही वह अपने अस्तित्व की बेहतर शर्त्तों के लिए संघर्ष करता है। इसी संघर्ष के क्रम में उसके भीतर वर्गीय एकता और पूंजीपति वर्ग के विरूद्ध राजनीतिक संघर्ष के तत्व पैदा

होते हैं। इसके साथ ही समाज में क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों का समूह भी पैदा होता है जो उन तत्वों को तार्किक परिणति तक पहुंचाता है।

इस विकास क्रम में कई बार ऐसी परिस्थितियां भी पैदा होती हैं जब क्रांतिकारी बुद्धिजीवी विचारधारा की खोज में लगे रहते हैं और मजदूर उससे बेगाना रहते हैं। यह सामान्यतया इतिहास का संक्रमण काल होता है। पूंजीपति और सर्वहारा के संघर्ष में 1860–1900 की अवधि ऐसा ही संक्रमण काल थी। औद्योगिक पूंजीवाद से वित्तीय पूंजीवाद में संक्रमण काल। आज एक बार फिर हम ऐसे ही संक्रमण काल से गुजर रहे हैं और आंदोलन में व्याप्त दुविधा और टूट–फूट संक्रमण की प्रक्रिया पर विचारकों में व्याप्त मतभेद का प्रतिफल है।

ऊपर हमने औद्योगिक मजदूरों की उत्पत्ति और उनकी राजनीतिक शिक्षा–दीक्षा की जिस प्रक्रिया का जिक्र किया है, उसके हर मोड़ पर मजदूर पूंजीवादी रीति–नीति से प्रभावित होते हैं और इन प्रभावों को नष्ट करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी में मार्क्सवादी शिक्षा–दीक्षा का निरंतर प्रयास होते रहना चाहिए। जिस दिन यह प्रक्रिया रूक जाती है या मार्क्सवाद के नाम पर सड़े–गले बासी विचार परोसे जाने लगते हैं, उसी दिन से पार्टी की मौत की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण और विकास के लिए तीन अनिवार्य तत्वों के इस विश्लेषण के बाद अब हम भारत की ठोस परिस्थिति और उसमें पूंजीवादी पार्टी व कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण व विकास की अवस्थाओं की चर्चा करें।

इतिहास के इस कुरूप सच को हम नहीं झुठला सकते कि भारत में पूंजीवादी विकास ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देख–रेख में और उसकी जरूरत के अनुसार हुआ। इसकी छाप इस देश के पूंजीवादी विकास की हर मंजिल पर देखी जा सकती है। कार्ल मार्क्स ने इस प्रभाव की तस्वीर इन शब्दों में पेश की : '(ब्रिटिश) अभिजात वर्ग भारत को जीतना चाहता था, थैलीशाह उसे लूटना चाहते थे और उद्योगपति अपने सस्ते माल से उसके बाजारों को पाट देना चाहते थे। पर अब स्थिति एकदम उलट गयी है। उद्योगपतियों को अब पता चल गया है कि भारत को उत्पादक देश में परिवर्तित करना उनके लिए आवश्यक है' (भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम)।

इस सोच के तहत भारत का औद्योगिकरण शुरू हुआ कि इसका लाभ मुख्यतः ब्रिटिश पूंजीवाद को मिलता रहेगा। जो भारत पहले उसका कृषि उपनिवेश था और उसका बाजार ब्रिटिश उद्योगों में तैयार उपभोक्ता सामग्रियों से पटा रहता था, अब औद्योगिक उपनिवेश रहेगा और वहां मशीनों का निर्यात कर अंग्रेज पूंजीपति मालामाल होते रहेंगे। फिर भी, मार्क्स को उम्मीद थी कि विकास की यह

दिशा और गति भारत की मुक्ति का मजबूत आधार तैयार करेगी। इसके लिए उन्होंने दो शर्तें रखी थीं – ब्रिटेन में औद्योगिक सर्वहारा शासक वर्ग बन जाय या भारत के लोग अंग्रेजों के जुए को पूरी तरह उतार फेंक कर उत्पादक शक्तियों पर अपना नियंत्रण कायम कर लें। इन में कोई मुकम्मल ढंग से शर्त्त पूरी नहीं हुई। भारत साम्राज्यवाद के जुए को आंशिक रूप से ही उतार सका।

मार्क्स जिस समय इस प्रभाव का विश्लेषण कर रहे थे, वह औद्योगिक पूंजीवाद का वर्चस्व काल था। लेकिन तुरंत बाद साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार में बदलाव की प्रक्रिया शुरू होने वाली थी। औद्योगिक पूंजी की जगह वित्तीय पूंजी के वर्चस्व की मंजिल में संक्रमण का दौर शुरू होनेवाला था। इस दौर में वित्तीय पूंजी की गति के नियम के आधार पर साम्राज्यवादी देशों के मजदूरों में व्याप्त अवसरवाद और उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों पर क्रांतिकारी प्रभाव की व्याख्या लेनिन ने की और इस तरह मार्क्सवाद में नया अध्याय जोड़कर उसे मुकम्मल बनाया। इस विकास यात्रा में उन्होंने इन देशों के नवोदित पूंजीपतियों के चरित्र की व्याख्या की जो मार्क्स की व्याख्या से भिन्न थी।

हम देख चुके हैं कि 'घोषणापत्र' में पूंजीपति वर्ग के बारे में कहा गया है कि वह 'विदेशों के पूंजीपतियों के विरूद्ध तो निरंतर संघर्ष' की स्थिति में रहता है। लेकिन उत्पीड़ित देशों के पूंजीपतियों के बारे में लेनिन का कहना था कि 'उत्पीड़ित देशों का पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन करता है और साथ ही प्रायः यहां तक कि अधिकांश मामलों में, साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग का ही साथ देता है, अर्थात सभी क्रांतिकारी आंदोलनों और क्रांतिकारी वर्गों के खिलाफ उनके साथ मिल जाता है।' विदेशी पूंजीपतियों के खिलाफ 'निरंतर संघर्ष में रहना' और 'क्रांतिकारी वर्गों के खिलाफ उनके साथ मिल जाना' – ये दोनों रूझान दो किस्म के पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बुनियादी अंतर स्पष्ट कर देते हैं। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में यहां के पूंजीपतियों ने अपने आचरण से लेनिन के विश्लेषण की पुष्टि की है। फिर भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी लेनिन के इस विश्लेषण को आत्मसात कर उसे धरातल पर उतारने में विफल रही।

इस भटकाव और अन्य परिस्थितिजन्य कारणों से भारत का स्वतंत्रता संघर्ष पूंजीपति वर्ग के हाथों में बना रहा जिसका चरित्र साम्राज्यवादपरस्त (दलाल) था। इसी के नेतृत्व में 15 अगस्त, 1947 को साम्राजयवाद विरोधी संघर्ष का दूसरा दौर समाप्त हो गया। पहला दौर देशभक्त सामंतों के नेतृत्व में लड़ा गया था जो 1857 में पराजित हो गया था। इस बार ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने साम्राज्यवादी पूंजी (खासकर ब्रिटिश पूंजी) के हितों की रक्षा तथा उसके विश्वस्त सहयोगी

राजे–रजवाड़ों और जमींदारों की सुरक्षा की गारंटी लेते हुए ब्रिटिश संसद में पारित बिल के आधार पर भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमिनियन स्टेट के निर्माण की घोषणा की। यह था भारत की आजादी का राजनीतिक व वैधानिक स्टेटस। लेकिन भारतीय पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों ने इसे मुकम्मल आजादी घोषित कर महिमामंडित किया। इतिहासकारों ने समग्र विश्व की राजनीतिक व सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण करने के बजाय इसका सारा श्रेय साबरमती के संत पर निरूपित कर दिया। किसी राष्ट्रीय संघर्ष का इस हद तक मिथ्याकरण यूरोप के इतिहास में देखने को नहीं मिलेगा।

दरअसल, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन के विश्व प्रभुत्व का झंडा धूल धूसरित हो गया था और उसकी जगह अमेरिकी प्रभुत्व का झंडा लहराने लगा था। इस नये प्रभु को पुराने उपनिवेशवाद का बदनाम चेहरा पसंद नहीं था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ की प्रतिष्ठा कई गुना बढ़ गयी थी, पूर्वी यूरोप सहित चीन तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के कई देशों में लाल परचम लहराने लगा था। चीन ने तो उत्पीड़ित देशों के सर्वहारा के सामने क्रांति की नयी मिसाल ही पेश कर दी थी। इन सबके दबाव में साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों में नयी कार्यपद्धति अपनायी और हमारे देश के पूंजीपतियों ने इस बदली परिस्थिति में उसकी परोक्ष अधीनता में काम करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारत का साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष पहली मंजिल पार कर दूसरी मंजिल में प्रवेश कर कम्युनिस्ट आंदोलन में बहस का नया मुद्दा बन गया।

इस संदर्भ में हम रूस के मजदूर वर्ग की पार्टी के निर्माण की परिस्थिति पर गौर करें। इस श्रृंखला की पहली कड़ी में उल्लेख किया जा चुका है कि

- रूस यूरोप का विलक्षण देश था, जहां मजदूर वर्ग की पार्टी पहले बनी और पूंजीपति वर्ग की पार्टी बाद में। फिर भी, निम्नपूंजीवादी क्रांतिकारी संघर्ष की विरासत उनके साथ थी।
- रूसी क्रांतिकारियों (नरोदवादी) ने यूरोप के किसी देश की तुलना में मार्क्सवाद का सबसे गहन अध्ययन और विवेचन किया था।
- इस प्रक्रिया में जरूरत पड़ने पर उन्हें मार्क्स–एंगेल्स का दिशा निर्देश भी उपलब्ध हो जाया करता था। यह तस्वीर का एक पक्ष था। इस आंदोलन का दूसरा पक्ष मार्क्सवाद को खारिज करने पर उतारू था। इस वैचारिक संघर्ष के बीच रूस का पहला मार्क्सवादी समूह इनके बीच से पैदा हुआ जिसने मार्क्सवाद को स्थापित करने और नरोदवाद को खारिज करने के लिए एड़ी–चोटी का प्रयास किया। इसके बावजूद पार्टी की स्थापना में लगभग दो दशक लगे।

इन सभी मामलों में भारत की स्थिति उल्टी रही है :– भारत एशिया का ऐसा उपनिवेश था जिसपर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पकड़ सबसे मजबूत थी। यह इस क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का केंद्र था।

● यहां ऐसे औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का उदय हो चुका था जिसके हित वाणिज्यिक पूंजीवाद के दौर से ही साम्राजयवादी हितों के साथ जुड़े हुए थे और जो बड़े ही शातिराना ढंग से जनता की स्वतंत्रता की आकांक्षा को ब्रिटिश हितों के अधीन कर देता था। पहले विश्वयुद्ध की पूर्व वेला में जब गदर पार्टी के योद्धा ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ युद्ध का उद्घोष कर मौत को गले लगा रहे थे वहीं गांधी ब्रिटिश सेना में भर्त्ती होने की अपील देश के नौजवानों से कर रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्य के सबसे मुखर विरोधी बाल गंगाधर तिलक भी युद्ध की घड़ी में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पक्ष में खड़े हो गये थे। देश के मजदूरों को राजनीति के भंवर में खींचने का श्रेय इन्हीं नेताओं को जाता था और यहां के मजदूरों पर इस समझौता परस्त राजनीति का रंग चढ़ चुका था।

● इसलिए मजदूर वर्ग के प्रतिनिधियों की सबसे बड़ी जिम्मेवारी यह बनती थी कि मजदूरों को इस राजनीतिक प्रभाव से मुक्त करें। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से कुछ तो गांधीवाद से गहरे ढंग से प्रभावित थे। पार्टी की बुनियाद में बैठी यह कमजोरी राजनीतिक विकास के हर मोड़ पर उसकी गतिविधियों को प्रभावित करती रही।

● आतंकवादी धारा से भगत सिंह के नेतृत्व में निकला हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की स्थिति इससे भिन्न थी, लेकिन उनकी कार्रवाइयों को जनसमर्थन नहीं मिलने के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए उनको कुचल देना आसान हो गया था।

इन तथ्यों का हवाला देकर हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि पार्टी का बनना गलत था या इसने स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभायी जैसा कि निम्नपूंजीवादी विचारक निकाला करते हैं। इसका विस्तृत विश्लेषण हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

***

अध्याय–2

पार्टी निर्माण की प्रक्रिया में

हमारे देश के मजदूर वर्ग को कम्युनिस्ट पार्टी बनाने का अवसर दो बार मिला – पहला, 1920 के दशक में और दूसरा 1960 के दशक में। पहले दौर में पार्टी की नींव पड़ रही थी, लेकिन दूसरे दौर में संशोधनवाद का मलबा साफ कर क्रांतिकारी पार्टी का निर्माण करना था। दूसरे दौर की खुबियों–खामियों की चर्चा बाद में। पहले दौर की पार्टी (26 दिस. 1925) सीधे तौर पर रूसी क्रांति की संतान थी। अगर वह क्रांति जीत के मुकाम तक नहीं पहुंची होती, तो यह पार्टी भी नहीं बनी होती। लेकिन यह छाप सिर्फ स्वरूप तक सिमट कर रह गयी, उसकी अंतर्वस्तु की गहराई में नहीं उतर सकी। यह कमजोरी भारत में ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्नशील सभी धाराओं में मौजूद थी।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम पर रूसी क्रांति का प्रभाव इतना व्यापक था कि इसमें शामिल कोई धारा उससे अछूती नहीं रही। भारत के ब्रिटिशपरस्त बड़े पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों में जवाहर लाल नेहरू अकेला व्यक्ति थे जो सोवियत संघ की समाजवादी नीतियों के पक्ष में बोलते थे। कहा जाता है कि उनका समाजवादी मॉडल उसी से प्रभावित था, लेकिन चूंकि उसकी उपलब्धियों के चकाचौंध में अंधा होकर वे उसकी प्रक्रिया को समझ नहीं पाये, इसलिए उनके सारे शब्द लफ्फाजी बनकर रह गये। सुभाष चंद्र बोस तो 'समाजवाद' शब्द की जाप के बावजूद हिटलर से हाथ मिलाकर सोवियत संघ के खिलाफ लड़ते नजर आये। साहित्य व संस्कृति के अंतरराष्ट्रीय स्तंभ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसकी प्रशंसा मुक्त कंठ से की, उसकी प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला, लेकिन वे भी भारत में कम्युनिज्म के पक्ष में संघर्ष करते नजर नहीं आये। ये सब अहिंसावादी थे, अहिंसा के पुजारी। इस व्रत की रक्षा के लिए स्वतंत्रता का परित्याग भी कर सकते थे।

दूसरी धारा अहिंसा से जकड़ी हुई नहीं थी। ये लोग किसी भी मार्ग का सहारा लेकर अंग्रेजों को भगाने को इच्छुक थे। इनमें से कुछ लोग मास्को जाकर लेनिन से मिले भी। ऐसे लोगों में विभिन्न विचारधाराओं और राजनीतिक खेमों के प्रतिनिधि शामिल थे, लेकिन इन सबमें साझी बात यह थी कि उन्हें यकीन था कि रूस ब्रिटेन के खिलाफ मुक्ति संघर्ष में भारत की जनता का विश्वसनीय सहयोगी और मित्र है। इन लोगों में इतिहासकार अयोध्या सिंह (भारत का मुक्ति संग्राम) के अनुसार पहला नाम सर्वइस्लामावाद से प्रभावित अब्दुल जब्बार खैरी और अब्दुल सत्तार खैरी का आता है जिन्हें 23 नवंबर 1918 को पहले भारतीय की हैसियत से

लेनिन से मिलने का गौरव प्राप्त हुआ था। लेकिन अयोध्या सिंह के अनुसार ही वे किसी संगठन या संस्था के प्रतिनिधि नहीं थे।

दरअसल प्रतिनिधि की हैसियत से सबसे पहले मिलने का श्रेय महेन्द्र प्रताप और उनके साथियों को जाता है। इस प्रतिनिधिमंडल में ब्रिटिश राज के खिलाफ संघर्ष की प्रतिबद्धता से ओतप्रोत विभिन्न धाराओं के लोग शामिल थे। इनकी विविधता का नमूना कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है। इस प्रतिनिधिमंडल के नेता, महेन्द्र प्रताप देश छोड़ने के पहले कांग्रेस में थे और वे अफगानिस्तान की राजधानी काबुल में स्थित निर्वासित सरकार के राष्ट्रपति थे। इसके दूसरे सबसे महत्वपूर्ण नेता एम० बरकतुल्ला सेंट फ्रांसिस्को में गदर पार्टी से जुड़े थे और वे उपर्युक्त निर्वासित सरकार के प्रधानमंत्री थे। इसके तीसरे नेता मो० रब सर्वइस्लामवाद से प्रभावित थे। इसके अन्य व्यक्ति थे : मंडयम प्रतिवादी भयंकर तिरूमल आचार्य, दिलीप सिंह गिल और बरकतुल्ला का नौकर।

लेनिन के साथ इनकी मुलाकात की सबसे दिलचस्प घटना यह है कि महेन्द्र प्रताप ने अपनी पुस्तक 'प्रेम धर्म' लेनिन को भेंट की। उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि लेनिन वह पुस्तक एक दिन पहले ही मंगाकर पढ़ चुके थे और इसपर उनकी टिप्पणी थी कि आपके विचार टॉल्सटाय से मिलते जुलते हैं, रूसी क्रांति में जिनके विचारों का कोई खास योगदान नहीं रहा था, इसलिए आप भारत में वर्ग संघर्ष का प्रचार कीजिए। ये थे मास्को का दौरा करनेवाले गैर कम्युनिस्ट नेता जिनका उद्देश्य भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करना नहीं था। इससे अलग इनका उद्देश्य था हथियारबंद संघर्ष का प्रशिक्षण और सहयोग लेकर भारत में ब्रिटिश राज के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष की शुरूआत करना। इस उद्देश्य से कई लोगों ने ताशकंद मिलिट्री स्कूल में प्रशिक्षण भी लिया, लेकिन वे इस दिशा में कदम नहीं बढ़ा सके, क्योंकि इन्हें रास्ते में ही गिरफ्तार कर लिया गया और इनपर मुकदमा चला जिसे पेशावर षड्यंत्र केस के रूप में जाना जाता है।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी बनाने का पहला प्रयास रूस में ही हुआ था। इतिहासकार अयोध्या सिंह ने तथ्यों का हवाला देते हुए 'भारत का मुक्ति संग्राम' में उल्लेख किया है कि 17 अक्तूबर 1920 को कमिंटर्न के निर्णय के आधार पर पार्टी की स्थापना की गयी जिसमें निम्नलिखित सदस्य शामिल थे – एम.एन. राय, एलविन ट्रेंट राय (एम. एन. राय की पत्नी), ए. एन. मुखर्जी, रोजा फिटिंगोफ, मोहम्मद अली (अहमद हसन), मो० शफीक सिद्दिकी और आचार्य एम. प्रतिवादी भयंकर। शफीक इस कमिटी के सचिव चुने गये थे, लेकिन इस संगठन के सैद्धांतिक नेता एम. एन. राय थे।

राय भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के सबसे विवादास्पद नेता रहे हैं। प्रारंभिक दौर में उनका कद इतना बड़ा हो गया था कि उनके समर्थक उन्हें लेनिन के समानांतर होने का भ्रम पालने लगे थे। इस तरह की स्थिति पैदा करने में उनकी भी भूमिका थी। लेकिन सच्चाई के उजागर होने में ज्यादा देर नहीं लगी। लेनिन (और उनके अनुयायी स्तालिन) जहां जीवन के अंतिम क्षण तक विश्व सर्वहारा के पथ प्रदर्शक और सिद्धांतकार बने रहे, वहीं एम. एन. राय बीच में ही उस राह से भटक गये और सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा का परित्याग कर पहले कांग्रेस समर्थक और अंत में रेडिकल ह्यूमनिस्ट (क्रांतिकारी मानवतावादी) बन गये। निस्संदेह यह पूंजीवादी अवधारणा है। कमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में लेनिन की कोलोनियल थीसिस पर अपनी पूरक थीसिस में उन्होंने प्रस्थापना दी थी कि उपनिवेशों/उर्द्धउपनिवेशों में राष्ट्रवादी पूंजीपतियों की क्रांतिकारी भूमिका नहीं हो सकती। भारत में कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन और जनता पर उसके प्रभाव को लेकर एम.एन. राय की समझ इस प्रकार थी : 'भारत का जनसमुदाय राष्ट्रवादी भावना की छूत का शिकार नहीं हुआ है। उनकी दिलचस्पी सिर्फ सामाजिक आर्थिक प्रकृति के सवालों में ही है।'

अपने इस विश्लेषण से वे निम्न निष्कर्ष पर पहुंचते हैं : 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' को भारत में सिर्फ कम्युनिस्ट आंदोलन खड़ा करने और उसे विकसित करने में मदद करनी चाहिए और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को सिर्फ व्यापक जनसमुदाय को उनके वर्ग हितों के लिए संगठित करने की फिक्र करनी चाहिए।'

इसके विपरीत लेनिन की राय थी कि भारतीय कम्युनिस्टों को अपना अलग अस्तित्व बरकरार रखते हुए उदारवादी पूंजीवादी संघर्ष का समर्थन करना चाहिए। (भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, खंड–1 – 1917–39 सीपीआई (एम.एल.) की प्रस्तुति)

कमिंटर्न से निष्कासन के बाद जब वे भारत लौटे तो उन्होंने उसी कांग्रेस के साथ काम शुरू किया जिसने अपनी जीवन यात्रा (1885 से प्रथम विश्वयुद्ध तक) ब्रिटिश साम्राज्य की कठपुतली के रूप में शुरू की थी और बाद में (प्रथम विश्वयुद्ध के बाद) दलाल की मंजिल तक पहुंच सकी थी। इस प्रकार दोनों ही मामलों (वैचारिक और राजनीतिक) में उन्होंने अपना पक्ष बदल दिया, बिल्कुल विपरीत अवस्था में पहुंच गये। यह कैसे हुआ ?

उनकी इस विकास यात्रा को समझने के लिए उनके राजनीतिक जीवन के उतार–चढ़ाव पर नजर डालनी होगी। इनकी राजनीतिक यात्रा जुझारू संगठन 'अनुशीलन' से शुरू हुई थी। इस संगठन के कार्यभार थे : ब्रिटिश दासता के

खिलाफ राष्ट्रवाद का प्रचार, हथियार संग्रह का प्रयास, अंग्रेज अफसरों पर हमला, संगठन का खर्च जुटाने के लिए राजनैतिक डकैतियां और विदेशों से धन संग्रह का प्रयास। राजनीतिक कार्यकलापों में जन भागीदारी का महत्व उन्हें न्यूयार्क में समझ में आया, जब वे कई अमेरिकी समाजवादी नेताओं और विचारकों तथा भारतीय नेता लाला लाजपत राय के संपर्क में आये। उनके जीवनी लेखक वी.बी. कार्निक ने इस बदलाव का बड़ा दिलचस्प विवरण दिया है। शुरू में उन्होंने इसका (मार्क्सवाद का) अध्ययन इस विचार का खंडन करने के लिए शुरू किया था, लेकिन बाद में उन्हें पता चला कि वे तो उसके प्रभाव में आ चुके हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित होकर वे मेक्सिको आये जहां उनका परिचय बोल्शेविक नेता माइकेल बारोदिन से हुआ। उसके बाद ही उन्होंने वहां की समाजवादी पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी का रूप दिया और उसके पहले महासचिव होने का गौरव प्राप्त किया। उसी पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से वे कमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में आये और लेनिन की कोलोनियल थीसिस में सुझाव देकर अंतरराष्ट्रीय नेता की ख्याति पा सके।

अब हम लौटते हैं, भारत की भूमि पर कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की ओर। हमारे देश के कम्युनिस्ट आंदोलन में इस बात पर गहरा मतभेद है कि कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कब हुई – 1920 में या 1925 में। लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों पर गौर करें तो बात यहीं टिकेगी कि यह काम 26 दिसंबर 1925 को हुआ। 1920 में जिस पार्टी केंद्र के निर्माण की घोषणा हुई थी, उसके नेताओं का (विचारक या नेता के रूप में) कोई आधार नहीं था और न ही विभिन्न शहरों में गठित स्थानीय ग्रुपों के नेताओं ने उन्हें अपने नेता के रूप में स्वीकार किया था। दूसरी बात यह कि कमिंटर्न के इतिहास में भी 1925 के संगठन को कानूनी कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में मान्यता दी गयी थी : 'कानूनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की उद्घाटन कांग्रेस दिसंबर 1925 में हुई और कोरिया की कम्युनिस्ट पार्टी की अप्रैल 1925 में। (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का संक्षिप्त इतिहास, प्रगति प्रकाशन : 1978 हिन्दी संस्करण, पृ. 330)।

यहां 'कानूनी' विशेषण जोड़ने का मतलब क्या है ? संभवतः यह कि इस पार्टी के समग्र क्रांतिकारी चरित्र पर कमिंटर्न को यकीन नहीं था और उनका शक भी निराधार नहीं था। उन्हें लगा था कि जो ब्रिटिश सरकार मास्को से संपर्क साधने के अपराध में ही लोगों को गिरफ्तार कर लेती है, उसकी नाक के नीचे खुले पांडाल में कम्युनिस्ट पार्टी का निर्विघ्न अधिवेशन कैसे संपन्न हुआ! उन्नीसवीं सदी के यूरोप में भी प्रतिक्रियावादी अभिजातों से लेकर ''क्रांतिकारी'' पूंजीपतियों तक ने मजदूर वर्ग पर समान रूप से दमनकारी रूख अपनाया था। दरअसल,

ब्रिटिश सत्ता इस बिंदु पर आश्वस्त थी कि इस सम्मेलन के आयोजक न तो रूस के संपर्क में हैं और न ही उनसे संपर्क साधने का इरादा रखते हैं। उसका इस तरह आश्वस्त रहना निराधार भी नहीं था।

इस सम्मेलन के आयोजक सत्यभक्त इसी विश्वास के कायल थे। उन्होंने कानुपर षड्यंत्र केस में संसद में अपने बचाव में ब्रिटिश सरकार के इस तर्क पर यकीन कर लिया था कि उसने उनपर मुकदमा इसलिए नहीं चलाया है कि वे कम्युनिज्म में विश्वास करते हैं, बल्कि इसलिए कि ये लोग ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने की साजिश रच रहे थे। उस समय ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार थी और ब्रिटेन, फ्रांस सहित कई देशों के मजदूर संगठनों ने इस केस में पैसे भेजकर सहयोग किया था। ऐसे ही मजदूर संगठनों के प्रभाव में लेबर पार्टी के सांसद अर्ल विंटरटन के सवाल पर सरकार ने उक्त जवाब दिया था।

यह सरकार को चकमा देने की सत्यभक्त की कार्यनीति नहीं थी, बल्कि सचमुच वे ऐसी कम्युनिस्ट पार्टी चाहते थे जो कमिंटर्न से कोई संबंध नहीं रखने की नीति पर चले। सरकार की नेकनीयति पर उन्हें विश्वास संभवतः इसलिए होने लगा था कि कानपुर षड्यंत्र केस में उन्हें अभियुक्त बनाया गया था, प्राथमिक जांच में इनपर मुकदमा चलाने का निर्णय भी हुआ, लेकिन अंतिम अभियोग पत्र से इन्हें मुक्त कर दिया गया। लेकिन इस सम्मेलन में सब कुछ हो गया उनकी इच्छा के विपरीत। पार्टी की केंद्रीय कमिटी में ऐसे लोगों का दबदबा बन गया जो कमिंटर्न से संबंध बनाये रखने को इच्छुक थे। इसी निर्णय के विरोधस्वरूप सत्यभक्त ने थोड़े ही दिनों के बाद पार्टी छोड़ दी थी और 1926 में 'राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था जो थोड़े ही दिनों के बाद राजनीतिक पटल से गायब हो गयी।

कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की तारीख के मामले में उभरे विवाद पर थोड़ी चर्चा जरूरी है। यह विवाद ज्यादा तल्खी के साथ 1964 के बाद उभरा जब पार्टी भाकपा और माकपा नाम से दो धड़ों में बंट गयी। उसी समय 'डांगे का पत्र' भी दोनों धड़ों के बीच तीखे विवाद का कारण बना था। बात चाहे जो हो, लेकिन इस तरह के विवाद से भविष्य में कम्युनिस्ट आंदोलन के अध्येताओं के सामने दुविधा की स्थिति तो पैदा होगी ही, उनकी धारणा यह भी बनेगी कि इस आंदोलन के नेता कितने छिछले थे जो वर्तमान के मुद्दों पर राजनीतिक मतभेद उभरने से इतिहास बदलने के लिए प्रयत्नशील हो जाते थे। इस मतभेद का असर इतिहास लेखन पर भी साफ दिखाई पड़ता है। अयोध्या सिंह ने अपनी उक्त पुस्तक में वायसराय के नाम डांगे और नलिनी गुप्ता के पत्र पर काफी जोर दिया है तथा इस

बात को ज्यादा प्रामाणिक ठहराने की कोशिश की है कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना 1920 में ताशकंद में हो चुकी थी।

उनकी इस कोशिश के विपरीत भाकपा (मा–ले), लिबरेशन की देखरेख में प्रकाशित पुस्तक 'भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, (खंड एक – 1917–39)' में इससे भिन्न स्थिति अपनायी गयी है। इस पुस्तक में मुजफ्फर अहमद की 1969 में प्रकाशित पुस्तक 'मैं और सीपीआई' का हवाला दिया गया है। इसमें कहा गया है कि लेखक ने कानपुर सम्मेलन को 'तमाशा' करार देते हुए ताशकंद में पार्टी स्थापना को ही स्थापना दिवस मान लेने की घोषणा कर डाली है। इसके बाद ही इतिहास का विवाद शुरू हुआ। इसी पुस्तक में पार्टी विभाजन के पहले मुजफ्फर अहमद की दूसरी पुस्तक 'समकालेर कथा' में दिये गये तथ्य का उद्धरण दिया गया है जिसमें उसे तमाशा नहीं कहा गया है और बताया गया है कि उस समय कमिंटर्न से संबद्ध किये जाने का आवेदन क्यों नहीं दिया गया : 'चूंकि पार्टी सदस्यों ने सदस्यता की संख्या पर्याप्त नहीं समझी, इसलिए उन्होंने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध किये जाने का आवेदन नहीं भेजा।' इसके आगे संतोष जाहिर करने की भाषा में वे लिखते हैं : 'मगर जो हो, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने सीपीआइ को अपना अंग माना था'। जाहिर है, यह अंदाज 'तमाशा' मानने जैसा नहीं है।

इस बहस को यहीं छोड़कर अब हम मुख्य विषय – रूसी क्रांति के सबक – की ओर बढ़ते हैं और इसके लिए जरूरी है कि इस पार्टी के संस्थापकों की वैचारिक और राजनैतिक कमजोरियों की ओर ध्यान दिया जाय। यह काम दो कारणों से जरूरी है। पहला कारण है कि पार्टी अपनी इन कमजोरियों से पूरी तरह उबर नहीं पायी। अपने सर्वोत्तम दिनों में भी नहीं। दूसरा कारण है कि (आजकल) हताशा की बिमारी से त्रस्त मनोरोगियों का सबसे बड़ा जुमला है कि रूस की पार्टी ने बीस सालों में क्रांति संपन्न कर ली, चीन की पार्टी को अट्ठाइस साल लगे, हमारे देश में नब्बे वर्षों में भी कुछ नहीं हुआ। भावी पीढ़ियों के मन में वे जहर घोल देते हैं कि भारत में न कुछ हुआ और न कुछ हो सकता है। जनता के बीच संघर्ष की मजबूत जमीन तैयार करने के लिए जरूरी है कि इन मनोविकारों को दूर किया जाय।

किसी कम्युनिस्ट पार्टी का सर्वहारा चरित्र उसके तीन लक्षणों से निर्धारित होता है : सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयतावाद, सर्वहारा अधिनायकत्व और पूंजीवादी संपत्ति संबंधों का नाश। उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों में तीसरे की शुरूआत साम्राज्यवाद के नाश के एजेंडे से होती है। हम देख चुके हैं कि स्थापना समारोह के मुख्य आयोजक सत्यभक्त एलानिया तौर पर सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के कट्टर विरोधी थे। उनके राजनीतिक जीवन की शुरूआत गांधीवादी राजनीति से

हुई थी। गांधी आश्रम में ही वे चकनलाल से सत्यभक्त बने थे। 1922 में सविनय अवज्ञा आंदोलन की अचानक वापसी के बाद इनका मोहभंग हुआ और वे आतंकवाद की राह पर चल पड़े। बाद में कम्युनिस्ट साहित्य से प्रभावित हुए और अधकचरी समझ के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के काम में जुड़ गये। उनकी सैद्धांतिक समझ पर प्रकाश डालने के लिए अयोध्या सिंह अपनी पुस्तक में स्थापना सम्मेलन से पहले प्रकाशित उनके पर्चे से उद्धृत करते हैं –

'श्रमजीवियों का कर्तव्य है कि वे खुलकर अपने को संगठित करें और राजनीतिक आंदोलनों में पूरी तरह हिस्सा लें। इस तरह वे सब छोटी–बड़ी कौंसिलों, बोर्डों, म्युनिसपल्टियों तथा अन्य संस्थाओं पर, जो आज देश पर शासन कर रही हैं, कब्जा करने में समर्थ होंगे।... 'भारतीय साम्यवादी दल उन सब अन्य पार्टियों पर, जो धनियों या पूंजीपतियों के साथ खुला या गुप्त संबंध रखती हैं, कब्जा करने या उनको अपने में मिला लेने को पूरी तरह कटिबद्ध है।' (पृ. 522)

इस उद्देश्य की तुलना रूसी क्रांति के लक्ष्य व उद्देश्य से कर लीजिए, साफ हो जायेगा कि रूसी क्रांति के प्रभाव में पार्टी बनानेवाले लोग उस क्रांति को किस हद तक समझ पा रहे थे।

सत्यभक्त के विचार समझने के बाद अब हम एम. सिंगारवेलु के अध्यक्षीय भाषण पर गौर करें। उन्होंने बड़ी साफगोई के साथ कहा कि 'हम रूसी बोल्शेविक नहीं हैं और बोल्शेविज्म की भारत में दरकार भी नहीं है।' अपनी बात को और साफ करते हुए वे आगे कहते हैं : 'हमारे और विश्व कम्युनिस्टों के बीच कोई फर्क नहीं है, किंतु हमारे और बोल्शेविकों के बीच फर्क है।' इस घोषणा के उद्देश्य का खुलासा उनकी इस बात से होती है :

'उम्मीद है कि हमारी स्थिति की यह व्याख्या हमारी पार्टी, हमारे उद्देश्यों और हमारे तरीकों के बारे में प्रचलित उल्टी सीधी आशंकाओं को दूर कर देगी'।

इस सच को कोई नकार नहीं सकता कि उन दिनों पूरी दुनिया के कम्युनिस्टों के बीच बोल्शेविज्म कम्युनिज्म का पर्याय बन चुका था, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की विडंबना थी कि वह बोल्शेविज्म से भिन्न राह अपनाने की घोषणा कर रही थी।

अपने कम्युनिस्ट आदर्श में पूंजी के प्रभुत्व के खात्मे की बात तो वे करते हैं, लेकिन उसका तरीका वर्ग संघर्ष नहीं, वर्ग समन्वय अपनाते हैं। इस मामले में उनके विचार गौर करने लायक हैं : 'हमें उम्मीद है कि हम मजदूरों और किसानों की एकता के जरिए, उन्हें समझाने–बुझाने के जरिए, प्रचार के जरिए और देश के अन्य राजनीतिक संगठनों के सहयोग से यह सब हासिल कर लेंगे।' जाहिर है,

बोल्शेविकों ने यह कार्यपद्धति नहीं अपनायी थी। इस मामले में यह पार्टी सचमुच बोल्शेविकों से भिन्न रास्ता अख्तियार करने का मन बना रही थी।

इस कड़ी में सम्मेलन की स्वागत समिति के अध्यक्ष हसरत मोहानी का भाषण भी उतना ही दिलचस्प है। इतिहासकार अयोध्या सिंह के अनुसार उनका भाषण प्रतिक्रियावादी था क्योंकि इसमें इस्लाम को साम्यवाद से बड़ा बताया गया था।

एस. ए. डांगे इस सम्मेलन में मौजूद नहीं थे, लेकिन उनका बम्बई ग्रुप इसमें जोश–खरोश के साथ भाग ले रहा था। वे शुरू से अंत तक कम्युनिस्ट आंदोलन में अत्यंत विवादास्पद बने रहे थे। इसका मुख्य कारणं कुख्यात 'डांगे पत्र' है, लेकिन हम यहां इसकी चर्चा नहीं करेंगे। हमलोग केंद्रित रहेंगे उनकी वैचारिक कमजोरी पर। ऊपर हम जिस वर्ग समन्वय की बात कर चुके हैं, उसका वैचारिक स्रोत इन नेताओं पर पूंजीवाद और सबसे बढ़कर गांधीवाद का प्रभाव था। इन नेताओं के बीच डांगे ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने गांधी और लेनिन के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके बीच समन्वय का आधार खोजने की कोशिश की थी। इस अध्ययन की सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वह दोनों के उद्देश्यों को साझा मानता है और इसका विवरण इन शब्दों में देता है : 'मौजूदा सामाजिक बुराइयों, खास तौर से गरीबों की दुख–तकलीफों की समाप्ति और निरंकुशता का खात्मा।' (स्रोत : भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, खंड–1, सीपीआई (एम–एल) लिबरेशन की प्रस्तुति)। आम आदमी की ऐसी समझ क्षम्य हो सकती है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सिद्धांतकार की नहीं।

यह कम्युनिस्ट आंदोलन के खिलाफ अपराध है, क्योंकि गांधी अहिंसा के मुखौटे में साम्राज्यवाद की सेवा करते थे और लेनिन साम्राज्यवाद के कट्टर दुश्मन और मजदूर वर्ग व उपनिवेशों की उत्पीड़ित जनता के परम हितैषी के रूप में स्थापित हो चुके थे। इस तरह की सैद्धांतिक कमजोरी के साथ भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हो रहा था।

इससे अलग एक दूसरी कोशिश भी चल रही थी जिसके केंद्र थे शहीदे आजम भगत सिंह। यह नौजवान महज 23–24 साल की उम्र में भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में मील का पत्थर बनकर शहीद हो गया। पूंजीवादी इतिहासकारों की कलम की स्याही स्वतंत्रता संग्राम में इस धारा के योगदान को स्वीकार करते समय सूख जाती है। कम्युनिस्ट विचारक भी उभरते मार्क्सवादी चिंतक के रूप में उनके योगदान को कोई खास तरजीह नहीं देते। यहां तक कि शहीदे आजम की जेल नोट बुक की भूमिका में उनके सहयोगी शिव वर्मा ने भी इस धारा को टेरो–कम्युनिज्म के रूप में ही चित्रित किया है। जो भी हो, इनके विलक्षण

योगदान दो थे : पहला योगदान था कि उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम की निम्नपूंजीवादी जुझारू धारा को मार्क्सवाद की ओर मोड़ दिया था और दूसरा यह कि भारतीय पूंजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के परस्पर हितों की बढ़ती एकता और इस आधार पर दोनों के बीच राष्ट्र विरोधी – जनविरोधी अटूट गठजोड़ की प्रबल संभावना को शुरूआती मंजिल में ही देख लिया था। उनके इस विश्लेषण में भारत के पूंजीपति और ब्रिटिश पूंजीपतियों के बीच गठजोड़ समानता के आधार पर नहीं, बल्कि दास–स्वामी संबंध के आधार पर हो रहा था। यह बात उस समय के कम्युनिस्ट तो नहीं ही समझ पाये थे, आज के नक्सलवादी ग्रुपों के लिए इस मर्म को समझना आसमान के तारे तोड़ने जैसा कठिन काम हो गया है।

इस प्रकार हमारे देश की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की प्रक्रिया में दो धाराएं आजू–बाजू काम कर रही थीं। एक धारा जन आंदोलन के गर्भ से पैदा हो रही थी, दूसरी जुझारू संघर्ष (आतंकवाद) से। पहली धारा के रोम–रोम में गांधीवादी दर्शन का प्रभाव था तो दूसरे पर आतंकवाद का गहरा असर था। दोनों के बीच संघर्ष व समन्वय स्थापित करने की गुंजाईश थी, लेकिन यह संभव नहीं हो सका। ऐसा इसलिए हुआ कि वैचारिक दूरी के साथ साथ आंदोलन को पर्याप्त समय भी नहीं मिला। बाद के दिनों में इस धारा के कई नेता कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए, बड़े–बड़े ओहदों तक पहुंचे और इसी में रच–बस गये।

हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (शचीन्द्रनाथ सान्याल के नेतृत्व में 1923 में अंत में गठित) के भीतर वैचारिक संघर्ष की आवस्था पर ध्यान दें तो इसकी गहराई खुलकर सामने आ जाती है। इस क्रम में शिव वर्मा ने स्थिति का खुलासा किया है। शचीन्द्र नाथ सान्याल का मानना था कि भारतीय मुक्ति संघर्ष का अगुआ मध्यवर्गीय नौजवान होंगे और मजदूर–किसान उसकी सेना का निर्माण करेंगे, जबकि भगत सिंह इस समझ के कायल हो गये थे कि इसका अगुआ मजदूर वर्ग होगा, इसलिए मजदूरों व किसानों के बीच सघन राजनीतिक काम पर जोर देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शचीन्द्र नाथ सान्याल को यह सिद्धांत भी नहीं पच पा रहा था कि सत्ता मजदूर वर्ग के हाथ में जानी चाहिए, तभी देश का कल्याण हो सकेगा जबकि भगत सिंह इस बात के कायल हो चुके थे। भगत सिंह की जेल नोट बुक इस बात की साक्षी है कि वे क्रांतिकारी दर्शन और उसके विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए कितना आतुर थे। भगत सिंह को अपने संगठन में कितना प्रतिरोध झेलना पड़ा था, इसका अंदाजा 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' में उनकी टिप्पणी से लगाया जा सकता है – 'कभी–कभी तो मुझे भी डर लगा कि एक दिन मैं भी कहीं अपने कार्यक्रम की व्यर्थता के बारे में आश्वस्त न हो जाऊं।'

पूंजीवादी विचारकों के साथ भी वे क्रांतिकारी सिद्धांत के सवाल पर गंभीर बहस करते नजर आते हैं। उनकी बहस हिंसा अहिंसा के औचित्य से लेकर क्रांति में हिंसा के सदुपयोग व दुरूपयोग तथा क्रांति की निरंतरता (इंकलाब जिंदाबाद का मतलब) के प्रश्न तक केंद्रित होती है। यहां उनके विचारों के विस्तृत विवरण में जाने की गुंजाईश नहीं है। फिर भी हम 'इंकलाब जिंदाबाद क्या है' से कुछ अंश जरूर उद्धृत करना चाहेंगे : 'क्रांति का अर्थ अनिवार्य रूप से सशस्त्र आंदोलन नहीं होता। बम और पिस्तौल कभी–कभी क्रांति को सफल बनाने के साधन मात्र हो सकते हैं। इसमें भी संदेह नहीं है कि कुछ आंदोलन में बम और पिस्तौल एक महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होते हैं, परंतु केवल इसी कारण से बम और पिस्तौल क्रांति के पर्यायवाची शब्द नहीं हो जाते। विद्रोह को क्रांति नहीं कहा जा सकता, यद्यपि हो सकता है कि विद्रोह का अंतिम परिणाम क्रांति हो।'

यह छोटा सा उद्धरण अत्यंत सारगर्भित है जिसमें क्रांति के शांतिपूर्ण विकास की प्रक्रिया और हरवे–हथियार के साथ अचानक विस्फोट, विद्रोह और क्रांति के बीच द्वंद्वात्मक संबंध तथा प्रक्रिया और परिणाम के अंतर्संबंध का अत्यंत बारीक खुलासा होता है। दोनों कार्रवाइयां लगभग एक ही कालखंड में चल रही थीं, लेकिन जनांदोलन की धारा के नेताओं के आलेखों में हम इस तरह की दार्शनिक गहराई का अभाव पाते हैं। दूसरी धारा का सच है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इसे अंकुरण की अवस्था में ही कुचल डाला।

यह काम इसलिए भी आसान हो गया था कि हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपलब्लिक एसोसिएशन के पास सैद्धांतिक रूप से परिपक्व नेताओं का समूह नहीं था और जनाधार का अभाव था। इसके विपरीत दूसरी धारा के लोग बुर्जुवा पार्टी के साथ संयुक्त कार्रवाई करने और उसके भीतर राजनीतिक काम करने के नाम पर कुछेक आपवादिक अवसरों को छोड़कर पूंजीवादी विचारधारा (सबसे महत्वपूर्ण गांधीवाद) के सामने समर्पण करते नजर आये। यह तात्कालिक लाभ तो दे सका लेकिन दीर्घकालिक उद्देश्य में घातक सिद्ध हुआ और अंततः मार्क्सवादी जुमला का जाप करते हुए आंदोलन पूंजीवादी दलदल में धंस गया।

इस स्थिति और रूस में मजदूर वर्ग की पार्टी और प्रक्रिया की तुलना भर कर लें तो दोनों का अंतर सामने आ जायेगा। रूस में पार्टी की स्थापना 1898 में हुई लेकिन एक संगठित पार्टी के रूप में उसने अपना काम 1903 में दूसरी कांग्रेस के बाद ही शुरू किया। पार्टी निर्माण के पहले रूसी मजदूर वर्ग के पास जारशाही के विरोध में जुझारू क्रांतिकारी संघर्ष की समृद्ध परंपरा थी जिसे वहां के नौजवानों ने अपना खून बहाकर सुदृढ़ बनाया था। बाद में इस विरासत को मार्क्सवाद का

दिशा निर्देश भी प्राप्त होने लगा था। रूस के ये क्रांतिकारी ही उस धरती पर मार्क्सवाद के पहले वाहक बने थे। भले ही उन्होंने इसे अपने दिशा–निर्देशक के रूप में पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था, लेकिन इस पर सर्वाधिक गंभीर बहस रूस के इन्हीं क्रांतिकारियों के बीच चला था।

इसके परिणामस्वरूप ज्यार्जी प्लेखानोव के नेतृत्व में रूस में मार्क्सवाद के प्रथम प्रचारक इन्हीं नरोदवादियों के बीच से निकले और इन लोगों ने क्रांतिकारी सिद्धांत के रूप में आतंकवाद की निरर्थकता पर निर्मम प्रहार किया। यह बहस 1880 के दशक में चली थी जब जार पर हमले के बाद राजकीय दमन के फलस्वरूप नरोदवाद के विघटन का दौर शुरू हुआ। उसी समय कानूनी मार्क्सवादियों की एक धारा पैदा हुई थी जिसके प्रवर्तकों ने आगे चलकर रूस की पूंजीवादी जनवादी पार्टी (कैडेट) को जन्म दिया। रूसी मार्क्सवादियों ने इन दोनों धाराओं से वैचारिक संघर्ष चलाकर अपनी पार्टी का आधार तैयार किया था।

रूस इस अर्थ में यूरोप का विलक्षण देश था जहां पूंजीपति वर्ग की पार्टी बनने के पहले मजदूर वर्ग की पार्टी बन चुकी थी; वहां तबतक मजदूर वर्ग को पूंजीवादी राजनीतिक परंपरा में जकड़कर रखनेवाली कोई संसद नहीं थी। इस संस्था का बीज रूप (दुमा) अस्तित्व में आया तबतक मजदूर वर्ग क्रांतिकारी शिक्षा–दीक्षा में प्रौढ़ हो चुका था, किसानों के बीच जनवादी संघर्ष की अंगड़ाई पैदा होने लगी थी। इसी चेतना का प्रभाव था कि 1917 में जनता का विश्वास खो चुकी केरेंस्की सरकार ने जब संसद का प्रस्ताव लाया तो वह प्रस्ताव सर्वहारा क्रांति की आंधी में उड़ गया।

भारत की स्थिति सर्वथा विपरीत थी। यहां मजदूर वर्ग ने राजनीतिक अखाड़े में प्रवेश किया तो उसके उस्ताद के रूप में पूंजीवादी लोग मिले जिनकी प्रवृति ब्रिटिश सत्ता से संघर्ष से ज्यादा सहयोग की थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उसे गांधीवाद की वैचारिक विरासत और लाला लाजपत राय से लेकर नेहरू जैसा नेता मिला। ऊपर हम संस्थापक नेताओं की जिस वैचारिक कमजोरी का जिक्र कर चुके हैं, उसका प्रभाव मजदूर–किसान जनता पर उससे ज्यादा ही था, कम तो कतई नहीं। इसलिए जबतक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन हावी रहा, पार्टी की यह कमजोरी सुषुप्तावस्था में पड़ी रही, जब उसका प्रभाव घट गया, वह प्रभावशाली हो गयी और जैसे ही उसका प्रभाव नष्ट हो गया, वही कमजोरी जानलेवा साबित हो गयी।

***

अध्याय–3

कमिंटर्न की नीतियों का प्रभाव

पिछले अध्याय में भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के समय नेताओं की वैचारिक कमजोरी का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। इसका उद्देश्य आंदोलन में संशोधनवादी भटकाव की वैचारिक जड़ों का पता लगाना है। लेकिन उस कमजोरी का हवाला देकर पूरे आंदोलन की उपलब्धियों को नकार देना भारी भूल होगी। प्रकृति विज्ञान की तरह समाज विज्ञान की गति भी द्वंद्वात्मक होती है जिसके अनुसार किसी वस्तु का स्वरूप हर पल बदलता रहता है। एक ही पल में वह उस रूप में होती भी है और नहीं भी होती है। इस नियम के अनुसार उसमें दोनों ही लक्षण प्रबल थे। कमिंटर्न की नीतियों के प्रभाव में उन कमजोरियों से निजात पाने की क्षमता मौजूद थी, तो यह संभावना भी थी कि विपरीत परिस्थिति में भरभराकर गिर जाये।

उस समय भारतीय कम्युनिस्टों के सामने दो बड़ी चुनौतियां थीं : अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के संदर्भ में भारतीय क्रांति की सही समझ हासिल करना और उसे व्यवहार में उतारने के लिए क्रांतिकारी वर्गों का समुचित समन्वय तैयार कर तदनुसार क्रांतिकारी रणनीति और कार्यनीति तैयार करना।

उस समय कमिंटर्न की छठी कांग्रेस (1928) ने दुनिया के अलग–अलग देशों के विकास की मंजिल को ध्यान में रखते हुए उनके लिए अलग–अलग कार्यभार निर्धारित किये थे। इसके बाद संबद्ध देश की कम्युनिस्ट पार्टी की जिम्मेवारी बनती थी कि अपने देश की ठोस परिस्थिति के अनुसार उनका चयन करें तथा रणनीति व कार्यनीति तय करें। कमिंटर्न की यह कांग्रेस साम्राज्यवाद की संक्रमणकालीन अवस्था में हो रही थी। अस्थायी स्थायित्व का दौर खत्म हो रहा था तथा संकट की परिस्थिति दस्तक देने लगी थी। कांग्रेस ने इसकी आहट को समझा और आनेवाले फासिज्म के खतरों से निबटने के लिए पूंजीवादी देशों के मजदूरों को तथा उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों की मुक्तिकामी जनता को तैयार होने का आह्वान किया जिसका प्रभाव भारत के स्वतंत्रता संग्राम पर भी पड़ा।

विकास की मंजिल के आधार पर दुनिया के सभी देशों को तीन श्रेणियों में बांटा गया था : उन्नत पूंजीवादी देश (अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी आदि) जहां उत्पादक शक्तियों का भरपूर विकास हो चुका है, उत्पादन अतिकेंद्रित है, छोटे पैमाने के उत्पादन नगण्य हो गये हैं तथा पूंजीवादी तनतंत्र की व्यवस्था लंबे समय से स्थापित है। ऐसे देशों में सर्वहारा क्रांति का कार्यभार प्रत्यक्षतः सर्वहारा

अधिनायकत्व की स्थापना है।

पूंजीवाद के मध्यम विकास वाले देश (स्पेन, पोलैंड, हंगरी, बाल्कन क्षेत्र आदि)। ऐसे देशों में कृषि में सामंती संबंधों के बहुतेरे अवशेष मौजूद रहते हैं, इन देशों में कुछ हद तक समाजवादी निर्माण की परिस्थितियां मौजूद रहती हैं, लेकिन वहां पूंजीवादी सुधार की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई रहती है। ऐसे देशों में सर्वहारा सत्ता के अधीन पूंजीवादी सुधार की प्रक्रिया पूरा करने के बाद ही समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया शुरू होगी।

इन दोनों तरह के देशों के क्रांतिकारी कार्यभार पर विस्तृत विवरण इस चर्चा के दायरे से बाहर का मामला है। लेकिन इतनी चर्चा जरूरी थी ताकि उत्पीड़ित देशों की क्रांति के अंतरराष्ट्रीय संदर्भ को बेहतर ढंग से समझा जा सके। अब उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों (उत्पीड़ित देशों) की क्रांति की परिस्थितियों और रणनीति पर विस्तृत चर्चा करेंगे। इस लिहाज से ऐसे देशों को दो श्रेणियों में बांटा गया था : भारत व चीन जैसे उपनिवेश और अर्द्धउपनिवेश तथा अर्जेंटिना और ब्राजील जैसे निर्भरशील देश जहां उद्योग बिल्कुल प्रारंभिक या थोड़े विकसित स्थिति में थे, लेकिन अधिकांश मामलों में जो स्वतंत्र ढंग से समाजवाद की नींव रखने के लिए पर्याप्त नहीं थे, जहां अर्थव्यवस्था से लेकर राजनीति तक में सामंती संबंध मजबूती से पैठ बनाये हुए थे। इन देशों में बड़े उद्योग, यातायात के बड़े–बड़े साधन, वित्तीय संस्थान विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथों में केंद्रित थे। ऐसे देशों में दोहरा कार्यभार की सलाह कमिंटर्न ने दी थी – सामंतवाद के खिलाफ संघर्ष जिसकी मुख्य शक्ति किसान होंगे और साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष। जिन देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष पर कम्युनिस्ट पार्टी की पकड़ मजबूत है, वे देश पूंजीवादी राष्ट्रवादी कार्यभार पूरा कर निरंतर प्रक्रिया में सर्वहारा अधिनायकत्व की दिशा में कदम बढ़ा सकते थे जैसा कि चीन में हुआ। इस प्रक्रिया में क्रांति को कई मंजिलों से गुजरना पड़ सकता है।

कमिंटर्न ने ऐसे अधिकांश देशों में समाजवाद के विकास के बारे में एक मार्के की बात कही थी जिसका महत्व 1960 के दशक में साफ–साफ दिखाई पड़ने लगा। उसने कहा था कि ऐसे अधिकांश देशों में समाजवाद की सफलता तभी संभव है जब सर्वहारा अधिनायकत्व वाले किसी देश का प्रत्यक्ष सहयोग व समर्थन मिले। इस प्रस्थापना के अनुसार सोवियत संघ में पूंजीवाद का दौर शुरू होते ही चीन के समाजवाद पर खतरा के बादल मंडराने लगे थे।

कमिंटर्न की छठी कांग्रेस (1928) की नजर में उपनिवेश / अर्द्धउपनिवेश समूह के देशों में दूसरा संवर्ग उन अफ्रीकी देशों का था जहां समाज प्राचीन जनजातीय

अवस्था में था तथा राष्ट्रीय पूंजीवाद का विकास भी नहीं हुआ था, जहां सर्वहारा अपनी राजनीतिक उपस्थिति दर्ज नहीं करा सका था। वैसे देशों में साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति का नेतृत्व जनता के हाथों में जाना था और राज्य का स्वरूप जनता का अधिनायकत्व बनना था। ऐसे देशों की क्रांतियां भी पूंजीवादी विकास की पीड़ा से गुजरे बगैर समाजवाद की मंजिल में जा सकती थीं बशर्ते कि उन्हें समाजवादी देशों का प्रत्यक्ष सहयोग और समर्थन प्राप्त होता। .

इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए कमिंटर्न ने सभी उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों के लिए निम्नलिखित आम कार्यभार निर्धारित किये थे :

1. विदेशी साम्राज्यवाद, सामंतवाद और सामंती नौकरशाही की सत्ता को उखाड़ फेंकना।
2. सोवियत की बुनियाद पर मजदूरों–किसानों के जनवादी अधिनायकत्व कायम करना।
3. पूर्ण राष्ट्रीय आजादी और राष्ट्रीय अखंडता।
4. राज्य के कर्जों का खात्मा।
5. साम्राज्यवादियों के स्वामित्व वाले बड़े प्रतिष्ठानों (उद्योगों, बैंकों, यातायात) का राष्ट्रीयकरण।
6. जमींदारों व धार्मिक प्रतिष्ठानों की जमीन की जब्ती। सारी जमीन का राष्ट्रीयकरण।
7. 8 घंटे का श्रम दिवस।
8. क्रांतिकारी मजदूरों और किसानों की सेना का निर्माण।

कमिंटर्न के ये कार्यभार सभी उपनिवेशों, अर्द्धउपनिवेशों और निर्भरशील देशों के लिए तैयार किये गये थे, लेकिन उसका कौन सा भाग किस देश में, किस अनुपात में लागू होगा और उसको लागू करने का तरीका क्या होगा, ये सारी बातें वहां की खास परिस्थितियों के आधार पर तय होनी थीं और इसी काम में उस देश की कम्युनिस्ट पार्टी की क्षमता व योग्यता तय होनी थी। वैसी रणनीति व कार्यनीति तय करने के मापदंड लेनिन ने कोलोनियल थीसिस में तय किये थे कि उपनिवेशों–अर्द्धउपनिवेशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को स्वतंत्रता संग्राम में अपने देश में पूंजीपति वर्ग का हमेशा **सशर्त्त समर्थन** करना चाहिए। वह शर्त थी कि मजदूरों–किसानों के बीच राजनीतिक कार्यकलापों के संचालन में वे किसी तरह की बाधा नहीं डालेंगे।

पूंजीपतियों के ढुलमुल चरित्र को उजागर करते हुए उन्होंने खुलासा किया कि एक तरफ वे जनता के साथ खड़े होते हैं और दूसरी तरफ साम्राज्यवादी

पूंजीपतियों से सुलह–समझौता की साजिश रचते हैं और समझौता के बाद की स्थिति में जनता का साथ छोड़ देते हैं। समझौता में उनकी हिस्सेदारी जितनी बड़ी और पक्की होती जाती है उनका विश्वासघात उतना ही बड़ा और घातक होता जाता है।

इतिहासकार अयोध्या सिंह तथा भाकपा–माकपा की धारा के अन्य इतिहासकारों और आर्थिक विश्लेषकों ने भारत के बड़े पूंजीपतियों को राष्ट्रीय (राष्ट्रवादी) पूंजीपति के रूप में पेश किया है और नक्सलवादी धारा ने दलाल के रूप में। इसके बावजूद लेनिनवादी सोच के आधार पर इनके दृष्टिकोण का खंडन नहीं किया गया। मुझे लगता है कि नक्सलवाद में भटकाव का यह एक महत्वपूर्ण कारण है। इस मामले का विस्तृत विश्लेषण विशेष आर्थिक व ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन व जांच–पड़ताल की मांग करता है। फिलहाल हम सर्वहारा क्रांति के संदर्भ में भारत और चीन के पूंजीपतियों के आचरण का तुलनात्मक अध्ययन कर इस अंतर को समझने की कोशिश करेंगे। पिछले अध्याय में रूस की स्थिति का जिक्र हम कर चुके हैं जहां पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक स्थिति काफी कमजोर थी। 1880 के पहले जारशाही के खिलाफ क्रांति का ध्वजवाहक निम्नपूंजीपति वर्ग था जिसके हाथों से मजदूर वर्ग ने वह झंडा छीन लिया था।

चीन में पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का लंबा इतिहास (1840–1911) रहा है जिसके सबसे बड़े नायक डा० सनयात सेन थे। 1911 में वहां साम्राज्यवाद–सामंतवाद विरोधी पूंजीवादी क्रांति विजयी तो हुई, लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद सत्ता साम्राज्यवादपरस्त शक्तियों के हाथों में चली गयी। तब सनयात सेन ने बिना लाग–लपेट के स्वीकार किया था कि क्रांति पराजित हो गयी।

पहले विश्वयुद्ध के बाद (चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के बाद) वहां के साम्राज्यवाद–सामंतवाद विरोधी संघर्ष में गुणात्मक बदलाव आया – मजदूर वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बीच क्रांतिकारी सहयोग के रूप में। इसके विपरीत भारत के साम्राज्यवाद विरोधी पूंजीवादी संघर्ष का इतिहास अत्यंत खोखला है। राजे–रजवाड़ों और सामंतों के नेतृत्व में 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद बड़े पूंजीपतियों के नेतृत्व में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह की एक भी घटना नहीं है। इस प्रकार इस निष्कर्ष को संक्षेप में हम इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं कि चीनी पूंजीपति वर्ग ने अपने सर्वहारा को साम्राज्यवाद–सामंतवाद विरोधी संघर्ष की विरासत भेंट की थी लेकिन भारतीय पूंजीपति वर्ग ने समझौतापरस्ती की विरासत छोड़ी थी, अहिंसा के आवरण में जनता को सदा–सर्वदा के लिए निहत्था बनाये रखने की साजिश रच डाली थी। लाल–बाल–पाल के नेतृत्व में छोटे अंतराल के

लिए ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ हुंकार भरनेवाली आवाज पैदा हुई थी, जो पंजाब, बंबई और बंगाल में तो प्रभावी थी लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर नहीं। 1920 के बाद तो वह अहिंसावादी धारा में विलीन हो गयी।

हमारे देश की पूंजीवादी राजनीति के इस चरित्र को ध्यान में रखते हुए ही वर्ष 1928 के आस–पास की परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। हम पिछले अध्याय में कम्युनिस्ट पार्टी की जिन जन्मजात कमजोरियों की चर्चा कर चुके हैं उनके बावजूद परिस्थितिजन्य शक्तियों के प्रभाव में उनमें यह क्षमता पैदा होने लगी थी कि अपनी कमजोरियों पर विजय पाना है और इसका स्रोत तमाम आंतरिक कठिनाइयों के बावजूद कमिंटर्न से जुड़ने की उनकी इच्छा में निहित था। इसके अनुरूप ही भारतीय कम्युनिस्ट नेताओं के साथ सहयोग के लिए कमिंटर्न के निर्देश पर ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े तीन मजदूर नेता फिलिप स्प्राट, ब्रेडले और हचिंसन भारत आये थे। ब्रिटिश उपनिवेश होने के कारण इस माध्यम से काम करना कमिंटर्न के लिए अपेक्षाकृत आसान था। लेकिन पूंजीवादी विचारक इस घटना का विवरण ऐसे देते हैं मानो कमिंटर्न खुद उपनिवेशवादी था।

एशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को विजय की मंजिल तक पहुंचाने के उद्देश्य से कमिंटर्न की नजर में चीन और भारत अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र थे। इसलिए इन दोनों देशों में आंदोलन के विकास व विस्तार पर उसकी पैनी नजर हमेशा बनी रहती थी। उस समय तो परिस्थिति खास थी। कमिंटर्न का विश्लेषण था कि विश्व पूंजीवाद के अस्थायी स्थायित्व का दौर समाप्त होनेवाला है, मंदी आनेवाली है और फासिज्म तथा विश्वयुद्ध का खतरा मंडरा रहा है। इन खतरों का सामना करने के लिए उसने सबसे ज्यादा मजदूर वर्ग पर तथा उपनिवेशों में मजदूर–किसान गठबंधन पर निर्भर रहने की नीति अपनायी थी। इसी परिप्रेक्ष्य में उसने मजदूरों को ट्रेड यूनियन में संगठित करने और उनके भीतर वर्गीय चेतना पैदा करने के उद्देश्य से ब्रिटिश नेताओं को भारत भेजा था।

इसका असर भी पड़ा। भारत के ब्रिटिश व्यापारियों ने उन लोगों के खिलाफ शिकायती पत्र लिखकर लेबर पार्टी की मैकडोनॉल्ड सरकार की नींद हराम कर दी थी। एक पत्र का नमूना इस प्रकार है। भारत सचिव ने 4 सितंबर 1928 को वायसराय को कलकत्ता के एक व्यवसायी के पत्र की प्रति भेजी जिसमें लिखा था कि : 'इस वक्त यहां के माहौल में बड़ी सरगरमी है और गोलमाल की संभावना है, हमलोगों में असुरक्षा की गहरी भावना है और दूसरी तरफ उन लोगों (कम्युनिस्टों) में उदंडतापूर्ण धृष्टता है।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह)। मेरठ षड्यंत्र कम्युनिस्टों की इसी 'उदंडतापूर्ण धृष्टता' को कुचलने के प्रयासों में एक था।

इसके अतिरिक्त तीन अन्य कदम थे : पब्लिक सेफ्टी एक्ट, ट्रेड डिसप्यूट एक्ट और हिबटले कमीशन।

विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के निर्विवाद नेता लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी से लेकर कमिंटर्न तक में नेतृत्व के लिए उठा पटक का दौर शुरू हो चुका था। कमिंटर्न की छठी कांग्रेस वाम अवसरवाद की पराजय, इसके नेता व विचारक त्रॉत्स्की के निष्कासन और स्तालिन के निर्विवाद नेता के रूप में उभरने का साक्षी बन रही थी। इस निष्कासन के थोड़े ही दिनों के बाद कमिंटर्न में भारत के प्रतिनिधि एम० एन० राय का भी निष्कासन हुआ था जिसका प्रभाव भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर पड़ा। कमिंटर्न की सक्रियता और सावधानी के फलस्वरूप उस समय यह प्रभाव कम पड़ा था, लेकिन आज का कम्युनिस्ट आंदोलन उसके प्रभाव में ज्यादा है। इस प्रभाव की व्याख्या हम आगे करेंगे, पहले यह देखा जाये कि भारत के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के बारे में राय की थीसिस क्या थी, क्योंकि कमिंटर्न के साथ उनके विवाद में उपनिवेशों का सवाल केंद्रीय सवाल था। उनका आरोप था कि कमिंटर्न की छठी कांग्रेस इस बिंदु पर लेनिन की प्रस्थापनाओं से भटक गयी है। इसका सीधा मतलब था कि स्तालिन लेनिन की नीतियों से भटक गये हैं। यही आरोप त्रॉत्स्की से लेकर बुखारिन तक का था, और श्री राय इसी दायरे में भटक रहे थे।

उपनिवेशों के मुक्ति संग्राम के संदर्भ में इस भटकाव की अभिव्यक्ति अनौपनिवेशिकरण (decolonisation) के सिद्धांत के बैनर में हो रही थी। इसके सिद्धांतकार थे ब्रिटिश कम्युनिस्ट सिद्धांतकार रजनी पामदत्त, एम.एन. राय और जर्मनी के राथबोन। हम यहां एम. एन. राय के विचारों पर केंद्रित रहेंगे। इस क्रम में यह देख लेना बेहतर होगा कि कमिंटर्न की चौथी कांग्रेस में एम.एन. राय ने क्या क्या विचार व्यक्ति किये थे। सबसे महत्वपूर्ण बात तो उनकी मान्यता थी कि इन देशों में (यानी पूर्वी देशों में) कोई देश ऐसा नहीं है जिसका पूंजीपति वर्ग इतना विकसित है कि उसके पास साम्राज्यवादी पूंजीपति की जगह लेने की क्षमता और साम्राज्यवाद के हट जाने की स्थिति में कानून व्यवस्था सुरक्षित रखने का आत्मविश्वास हो। उनकी दूसरी उल्लेखनीय बात थी कि उन्होंने उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों के पूंजीपति वर्ग को दो हिस्सों में बांटा था : 'ऊपरी स्तर, जो कि औद्योगिक रूप से विकसित था और जिसके पास साम्राज्यवादी पूंजी से जुड़ी बड़ी औद्योगिक व्यापारिक मिल्कियत थी, इसे (साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को) अपने फैलाव के लिए खतरनाक पाया, लिहाजा वह साम्राज्यवादियों के साथ चला गया और क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय बाधा बन गया। दूसरे हिस्से के पास

अपनी कमजोर सामाजिक पृष्ठभूमि के चलते ऐसा निश्चय और साहस ही नहीं था कि वह खुद को इस बड़े क्रांतिकारी आंदोलन के शीर्ष पर प्रतिष्ठित करे।

इन देशों के औद्योगिक विकास की बुनियादी कमजोरी पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था : 'ये देश जब औद्योगिक रूप से विकास करेंगे तो इन्हें मशीनरी की अवश्य जरूरत पड़ेगी जिन्हें वे खुद नहीं बना सकते और इसलिए जहां शायद कुछ खास देशों में औद्योगिक बाजार सीमित और संकुचित हो सकता है, वहां जहां तक मशीनरी का सवाल है, इस लिहाज से बढ़ेगा ही।' कितना सुंदर और सटीक विश्लेषण किया था उन्होंने। लेकिन हम देखेंगे कि छठी कांग्रेस में सारा कुछ कैसे गुड़–गोबर कर दिया। कमिंटर्न की छठी कांग्रेस में 'उपनिवेशों में क्रांतिकारी आंदोलन' विषय पर रिपोर्ट कुसीनेन ने पेश की थी। उसका मुख्य अंश सीपीआई(एम.एल.) की प्रस्तुति 'भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन – खंड–I) में दिया गया है। इसमें कुसीनेन ने श्री राय की दूसरी और छठी कांग्रेस की थीसिसों के अंश उद्धृत किये हैं। इन उद्धरणों से साफ है कि सात–आठ वर्षों में उनकी स्थिति उलट गयी थी।

दूसरी कांग्रेस में उनकी समझ थी कि 'साम्राज्यवाद ने पूर्वी देशों के सामाजिक आर्थिक विकास की गति रोक दी है तथा उन्हें विकास की उस मंजिल तक पहुंचने से रोक दिया है जहां तक यूरोप और अमेरिका पहुंचा है।' लेकिन एक दशक से भी छोटे अंतराल (1920–28) में ही उनके विचार बिल्कुल विपरीत ध्रुव पर पहुंच गये और अनौपनिवेशिकरण के सिद्धांत के प्रभाव में उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि युद्धोत्तर साम्राज्यवादी नीति के तहत 'भारत एक पिछड़े खेतिहर औपनिवेशिक जागीर से एक आधुनिक औद्योगिक देश बन जायेगा।' इतना ही नहीं उन्हें इसमें साम्राज्यवाद के 'विनाश के भ्रुण' तक दिखाई पड़ने लगे थे। ध्यान देने की बात है कि एम.एन. राय ने अनौपनिवेशिकरण की नीति को उचित ठहराने के लिए प्रथम विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति में बदलाव का हवाला दिया था, लेकिन वे भूल गये कि कमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस भी विश्वयुद्ध के बाद हो रही थी और उसमें उन्होंने ऐसी कोई चर्चा नहीं की थी।

संभवतः उनके और पामदत्त के दिमाग में यह बात ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उस प्रचार से घुसी थी जिसमें कहा गया था कि उसके अधीन भारत ने इतनी तरक्की कर ली है कि औद्योगिक विकास के मामले में वह दुनिया का आठवां देश बन गया है। लेनिन ने साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों के लिए अपनायी गयी नीति में स्पष्ट कर दिया था उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों में इस तरह का औद्योगिक विकास उन्हें 'वित्तीय नागपाश' में जकड़ लेगा। वित्तीय नागपाश का मतलब क्या

होता है ?

इसकी स्पष्ट जानकारी छठी कांग्रेस की व्याख्या से मिलती है। साम्राज्यवादी देशों और औपनिवेशिक देशों में पूंजीवादी विकास में मूलभूत अंतर पर उसका कथन था : प्रत्येक साम्राज्यवादी देश में पूंजीवादी शोषण उत्पादक शक्तियों का विकास करते हुए हुआ है। बहरहाल, पूंजीवादी शोषण के विशिष्ट औपनिवेशिक रूप चाहे वे ब्रिटिश, फ्रेंच, या किसी अन्य देश के पूंजीपति वर्ग द्वारा संचालित हो रहे हों, अंतिम विश्लेषण में उपनिवेशों की उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक हैं। इस बाधा का आधार क्या है ? दोनों पूंजीपतियों के बीच पराश्रयी (दाता और याचक का) संबंध। शासक साम्राज्यवाद औपनिवेशिक शोषक के बतौर अपनी कार्यवाही में उपनिवेश के साथ प्राथमिक तौर पर पराश्रयी, अपने आर्थिक सुंड से खून चूसने वालों के बतौर जुड़ा हुआ है।

इस लेनिनवादी व्याख्या के विपरीत एम.एन. राय यह देखने लगे कि भारत लाक्षणिक उपनिवेश से बदलकर आस्ट्रेलिया या कनाडा की तरह डोमिनियन स्टेट में तब्दील हो जायेगा और उसकी स्वतंत्रता का सवाल महज एक औपचारिक प्रश्न बनकर रह जायेगा। इसके बावजूद वे अपने–आप को लेनिन का सच्चा अनुयायी कहते थे और कमिंटर्न पर उनकी नीतियों से भटकने का आरोप लगाते थे। तथ्यों के इस आईने में देखने से साफ हो जाता है कि लेनिन की नीतियों से कौन भटका था, छठी कांग्रेस या एम.एन. राय ?

इस बहस की नींव कमिंटर्न की पांचवीं कांग्रेस (1925) में ही पड़ गयी थी। इसी साल 'पूर्व के जनगण के विश्वविद्यालय, मास्को' में उन देशों के जनगण के राजनीतिक कार्यभार को निर्धारित करते हुए अपने भाषण में स्तालिन ने इन देशों के पूंजीपति वर्ग को दो खेमों में बंटने की स्थिति का जिक्र करते हुए कार्यभार स्पष्ट किया था कि औपनिवेशिक और मातहत देशों में, जहां पूंजीवाद अच्छा–खासा विकसित हुआ है, क्रांतिकारी आंदोलन के कार्यभार इस प्रकार हैं :–

● मजदूरों के सर्वश्रेष्ठ तथ्वों को कम्युनिज्म के पक्ष में जीत लाना और स्वतंत्र कम्युनिस्ट पार्टियों का निर्माण करना।

● बड़े पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवादियों के गठजोड़ की काट के बतौर मजदूरों, किसानों और क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों का एक राष्ट्रवादी क्रांतिकारी संश्रय स्थापित करना।

● यह सुनिश्चित करना कि क्रांतिकारी संश्रय का नेतृत्व सर्वहारा के हाथ में रहे।

● शहरी और देहाती निम्न पूंजीपति वर्ग को सुधारवादी देशी पूंजीपति वर्ग के प्रभाव से मुक्त करना।

● राष्ट्रीय मुक्तिकामी आंदोलन का विकसित देशों के सर्वहारा आंदोलन से जुड़ाव सुनिश्चित करना। (भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, खंड–I सीपीआई, एम. एल. लिबरेशन पृ०–262)।

भारत में औद्योगिक विकास अपेक्षाकृत ज्यादा हुआ था। चीन से ज्यादा। और इस कारणवश यहां मजदूरों की संख्या अपेक्षाकृत ज्यादा थी। इसलिए नैसर्गिक रूप से यह कार्यभार यहां के कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए ज्यादा सटीक था। स्तालिन का यह विश्लेषण चीन और भारत में घट रही घटनाओं पर आधारित था। छठी कांग्रेस तक ये घटनायें सतह पर प्रकट होकर उनके विश्लेषण के सही होने की पुष्टि कर चुकी थी। भारत के बारे में उन्होंने देख लिया था कि 'भारत में पहले महान साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन (1919–22) का अंत राष्ट्रीय क्रांति के साथ पूंजीपति वर्ग की गद्दारी में हुआ। इसका मुख्य कारण था, किसान आंदोलन के बढ़ते ज्वार और देशी नियोजकों के विरूद्ध हड़तालों का भय।' 1927 में इससे भी स्पष्ट तस्वीर चीन की उभरती है जहां क्वोमिंतांग के प्रतिक्रियावादी खेमे ने च्यांग काई शेक के नेतृत्व में कम्युनिस्टों से नाता तोड़कर साम्राज्यवादियों के साथ दोस्ती कर ली थी। ऐसी ही घटनाओं ने इस कांग्रेस को निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया कि साम्राज्यवाद विरोधी जनवादी आंदोलन में सर्वहारा के नेतृत्व का प्रश्न अब फौरी प्रश्न बन गया है। (भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन खंड–I, सीपीआई–एमएल, लिबरेशन)।

एम.एन. राय के जीवनी लेखक वी.बी. कार्मिक ने कमिंटर्न के साथ उनके मतभेदों का उल्लेख किया है जिसमें यह सफाई दी गयी है कि एम.एन. राय ने पूंजीपतियों के अनौपनिवेशिकरण की बात की थी, मजदूरों व किसानों की नहीं। यह तर्क देते समय वे भूल गये कि पूंजीपति वर्ग का अनौपनिवेशिकरण का एजेंडा ही पूंजीवादी जनवादी क्रांति का मुख्य एजेंडा होता है और भारत की सर्वहारा क्रांति के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करता है।

उन्होंने छठी कांग्रेस के एक दशक के बाद (1938 में) प्रकाशित श्री राय की रचना 'आवर डिफरेंसेज' का उद्धरण दिया है : 'औपनिवेशिक दमन–उत्पीड़न से ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज की दिशा में भारतीय पूंजीपतियों की क्रमिक प्रगति हो रही है। इसलिए क्रांति के जोखिम भरे रास्ते पर चलना उनके लिए जरूरी नहीं है। दूसरे शब्दों में, उनकी आर्थिक व राजनीतिक हैसियत का प्रगतिशील अनौपनिवेशिकरण भारतीय पूंजीपति वर्ग को क्रांति से विमुख कर देता है और निकट भविष्य में जब उनका वर्ग और आगे बढ़ चुका होगा, तब यह उन्हें पूरी तरह प्रतिक्रांतिकारी बना देगा।' (पृ. 53)

बड़ा दिलचस्प उद्धरण है यह जो एम. एन. राय के बौद्धिक दिवालियापन को उजागर कर देता है। जिस समय इन पंक्तियों को लिख रहे थे, उस समय वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में काम कर रहे थे। झेंप से बचने के लिए वे मार्क्सवादी की तरह तर्क नहीं करते कि भारत में पूंजीपतियों की पार्टी कौन है, उनके नेतागण कौन हैं ? वे इस सवाल से भी कतरा जाते हैं कि निकट भविष्य में उनके अनौपनिवेशिकरण को अंजाम देने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से सौदेबाजी कौन करेगा ? इस सवाल का जवाब ढूंढ़कर वे खुद परेशानी में पड़ जाते कि जो पार्टी भविष्य में प्रतिक्रांतिकारी बननेवाली है उसकी सेवा में अपना बहुमूल्य समय क्यों दे रहे हैं ! आज हमारे समाज में (और आंदोलन में भी) घोषित, अघोषित रायपंथियों की भरमार है और ऐसे सवाल उनके सामने मुँह बाये खड़े हैं।

इस तरह की वैचारिक उलझन के साथ जब वे 1930 के अंत में भारत लौटे तो उन्होंने कम्युनिस्ट आंदोलन के सामने संकट की स्थिति पैदा कर दी। सारे बड़े नेता मेरठ षड्यंत्र केस में जेल में बंद थे जिससे नेतृत्व का संकट पैदा हो गया था। भारत लौटकर उन्होंने दो काम किये – 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' के नाम से अपना संगठन खड़ा करने की कोशिश की और कांग्रेस के भीतर घुसकर उस प्लेटफार्म को क्रांति के लिए उपयोग में लाने की वकालत की। अपनी राजनीतिक सोच को सही साबित करने के लिए उन्होंने यहां की कम्युनिस्ट पार्टी पर वाम संकीर्णतावादी भटकाव का आरोप लगाया। यही आरोप उन्होंने कमिंटर्न पर भी लगाया था। लेकिन कमिंटर्न का रसूख इतना ज्यादा था कि वे बिल्कुल हल्के साबित हुए और अपने अनुयायियों को भी अपनी नयी नीति के कायल नहीं कर सके।

❋❋❋

अध्याय–4

ब्रिटिश राज का दमन और पूंजीवादी नेताओं का ढुलमुल चरित्र

अब विचारणीय विषय है कि कम्युनिस्टों के खिलाफ ब्रिटिश साजिश में भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों की भूमिका क्या थी ? केंद्रीय असेंबली में इन लोगों ने इन दमनकारी कानूनों का विरोध किया था। उन्होंने भाँप लिया था कि सरकार पब्लिक सेफ्टी बिल को विदेशी कम्युनिस्टों को भारत आने से रोकने के लिए लाने का दावा कर रही है, लेकिन उसके निशाने पर भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के नेता आये बिना नहीं रहेंगे। पूर्ण स्वराज और समाजवाद की बात करने वालों पर इसकी गाज गिर सकती है। इसलिए पब्लिक सेफ्टी बिल का विरोध करते हुए लाला लाजपत राय ने कहा था : 'यह वस्तुतः खुद भारतीयों के खिलाफ, राष्ट्रवादियों और मजदूरपंथियों के खिलाफ है।' इस तरह के व्यापक विरोध के फलस्वरूप यह बिल विधानसभा में गिर गया। इसी बीच 20 मार्च 1929 को सारे बड़े कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। उनपर मेरठ षड्यंत्र केस की तैयारी चल रही थी।

उस समय ब्रिटिश सरकार को चेताते हुए मोतीलाल नेहरू ने पूछा था कि क्या विचारों को रोकने के लिए आप कांटेदार तार लगा सकते हैं, कृत्रिम दीवारें खड़ी कर सकते हैं ? अपने ही सवालों के जवाब में उन्होंने कहा था कि वे दिन लद गये जब आप ऐसा कर सकते थे। सबसे महत्वपूर्ण था कि कम्युनिस्टों के बारे में उन्होंने बड़े अच्छे विचार व्यक्त किये थे : 'वे लोग जिनसे मेरा परिचय हुआ है मतों के, निस्संदेह दृढ़ मतों के आदमी हैं लेकिन वे ऐसे आदमी हैं जिनमें दृढ़ विश्वास का साहस है।'

इतने उत्तम विचार व्यक्त करनेवाले नेताओं का समूह व्यवहार की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। इतिहासकार अयोध्या सिंह ने मुजफ्फर अहमद के हवाले से 'भारत का मुक्ति संग्राम' में उल्लेख किया है कि जब सब अभियुक्त दौरा अदालत के सुपुर्द किये जानेवाले थे, जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस नेताओं का बड़ा शर्मनाक प्रस्ताव लेकर अभियुक्तों के पास आये थे। उन्होंने कहला भेजा था कि भावी सविनय अवज्ञा आंदोलन की वजह से कांग्रेस उनके मुकदमों पर अब ध्यान नहीं दे सकेगी। अतः दौरा अदालत में मुकदमा शुरू होते ही सब अभियुक्त अपराध

स्वीकार कर लें। इससे उन्हें हल्की सजा देकर मुकदमा जल्द समाप्त कर दिया जायेगा। सभी अभियुक्तों ने इसे अस्वीकार कर दिया था।

याद करने की बात है कि जवाहर लाल नेहरू एआइटीयूसी के झरिया अधिवेशन (दिसंबर 1928) में उसके अध्यक्ष चुने गये थे और यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि इस कार्रवाई की आंच उनतक पहुंच सकती है। इस संगठन के उपाध्यक्ष मुजफ्फर अहमद और सहायक सचिव डांगे गिरफ्तार हो चुके थे। अंग्रेजों ने मान लिया था कि जवाहरलाल नेहरू के जोशीले शब्द 'साम्राज्यवाद का नाश करना' 'राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी कामनवेल्थ' और 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी विश्व संघ' की स्थापना जैसी घोषणायें महज शब्दजाल हैं। इसलिए अपने दमन की धार उन्होंने पूरी तरह कम्युनिस्टों के खिलाफ केंद्रित कर दी थी। जवाहरलाल नेहरू दलाल पूंजीवाद के लाक्षणिक प्रतिनिधि थे जो जरूरत के अनुसार एक ही झटके में क्रांतिकारी जुमला से प्रतिक्रांतिकारी व्यवहार में रंग बदलने में माहिर थे। अयोध्या सिंह जैसे इतिहासकारों ने उनका चित्रण राष्ट्रीय पूंजीपति के प्रतिनिधि के तौर पर किया है जो लेनिनवादी विश्लेषण से मेल नहीं खाता।

अयोध्या सिंह खुद इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि इन अभियुक्तों की मदद में कांग्रेस के नेतृत्व में गठित मेरठ डिफेंस कमिटी भंग हो गयी थी और सहयोग के लिए इन्हें खास तौर पर ब्रिटेन व अन्य देशों के मजदूरों पर निर्भर करना पड़ा था। दुनिया भर के मजदूरों और उनके पक्ष में खड़े बुद्धिजीवियों के दबाव में इस केस में सजा कम कर दी गयी। इन अभियुक्तों के पक्ष में अपील करनेवालों में उस समय के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आईंस्टीन का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उन्होंने ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडोनॉल्ड को पत्र लिखकर अपील की थी कि इन अभियुक्तों पर से केस हटा लिया जाय। इन तथ्यों के आधार पर कैसे कहा जा सकता है कि कांग्रेस के नेता ब्रिटिशपरस्त नहीं होकर सनयात सेन की तरह सुसंगत साम्राज्यवाद विरोधी और राष्ट्रीय पूंजीवाद के प्रतिनिधि थे? इनके असहयोग के बावजूद इस केस के अभियुक्त तीन–चार वर्षों में ही मुक्त हो गये, तो इसलिए कि सर्वहारा अंतर्राष्ट्रयतावाद यहां मूर्त रूप धारण कर इनके पक्ष में खड़ा था।

इसका प्रभाव इनके आत्मविश्वास पर पड़ा। पार्टी के स्थापना सम्मेलन के पहले जो डांगे गांधी और लेनिन का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे थे, वे न्यायालय में वक्तव्य देते समय मार्क्सवाद में रंगे नजर आये। इस रंग को परखने के लिए उनके वक्तव्य का अंश उद्धृत करना बेहतर होगा : 'भारत के कम्युनिस्टों का तात्कालिक लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना है।' यह गांधीवाद से विच्छेद का सूचक है। इससे ज्यादा सारगर्भित बयान मुजफ्फर अहमद का था :

'हमारी पार्टी कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की नीति, सिद्धांत और कार्यक्रम में पूरा विश्वास करती है और उनका प्रचार अवस्थानुसार जितनी अच्छी तरह किया जा सकता है, करती है। वे (मजदूर–किसान) राज्य के वर्तमान रूप को चूर–चूर कर देंगे और उसके स्थान पर वास्तविक जनसत्ता के यंत्र – सोवियत पर आधारित मजदूरों किसानों का गणतंत्र स्थापित करेंगे।'

गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी ने भारतीय जनता की लूट–खसोट के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ही कठघरे में खड़ा कर दिया। 'मैं सवाल करता हूँ कि सामाजिक अपराधी कौन है, खून के प्यासे साम्राज्यवादी जिन्होंने सारे महादेशों में विध्वंस लीला की, जिन्होंने खून और आतंक का राज कायम किया, जिन्होंने इन महादेशों के करोड़ों श्रमजीवियों को बेहद गरीबी और, असहनीय दासता में ला पटका है और जो वहां के जन गण को सामूहिक तौर पर नेस्तानाबूद करने की धमकी दे रहे हैं या कम्युनिस्ट अपराधी हैं जो सारी दुनिया के श्रमजीवी जनगण की क्रांतिकारी शक्तियों को गोलबंद करने और उसे निर्दय दमन और पाशविक शोषण पर आधारित इस अभागी व्यवस्था के विरूद्ध झोंक देने पर, उसे ध्वंस कर देने पर तथा उसकी जगह नयी व्यवस्था की रचना करने पर तथा इस तरह मानव समाज और उसकी सभ्यता को महाविनाश से, जिसकी तरफ वह निस्संदेह बढ़ रहा है, बचाने पर तुले हैं ? इस मुकदमे के सामाजिक अपराधियों के सरकारी प्रतिनिधि अभियोग पक्ष की कुर्सियों पर बैठे हैं।' (भारत का मुक्ति संग्राम)

मेरठ कोर्ट ने इन अभियुक्तों को कठोर और लंबे कारावास (काला पानी) की सजा सुनायी थी। लेकिन इलाहाबाद हाईकोर्ट में अपील के बाद यह सजा कम हो गयी। कई लोग बरी कर दिये गये और मुख्य नेताओं की सजा घटाकर तीन साल, दो साल या एक साल कर दी गयी। परिणामस्वरूप सभी (3 अगस्त 1933 को) मुक्त कर दिये गये। उसके बाद पार्टी का पुनर्गठन हुआ और उसमें नवजीवन का संचार हुआ। पार्टी के पुनर्गठन का मामला सिर्फ इस हद तक था कि सभी नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के बाद अलग–अलग प्रांतों के संगठन क्षेत्रीय दायरे में सिमट गये थे, इसलिए पहला काम इन्हें फिर से एक–दूसरे से जोड़ देना था और यह काम अपेक्षाकृत आसान था। इससे बड़ा दूसरा काम था, बदलती विश्व परिस्थिति के अनुसार संगठन की कार्यपद्धति और आंदोलन की दिशा में बदलाव। इस बदलाव का केंद्र कमिंटर्न था।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थिति बहुत मजबूत नहीं थी। पहली पंक्ति के नेताओं की गिरफ्तारी के फलस्वरूप स्थानीय दायरों में कार्यरत ग्रुपों के बीच कलकत्ता ग्रुप ने कमिंटर्न को पत्र लिखकर आग्रह किया था कि दिशा निर्देश के

लिए पत्र जारी किया जाय। संभवतः इसी आग्रह पर दो पत्र आये थे – तीन पार्टियों (ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और चीन) का साझा पत्र (मई 1932) तथा चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का पत्र (जुलाई 1933)। पहले पत्र में तीन पार्टियों की ओर से प्रस्तावित दो सुझावों को हम यहां उद्धृत करेंगे। उनका पहला सुझाव था कि 'वर्तमान में पूंजीवादी राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके वाम हिस्से बोस, कंडालकर, राय आदि को स्वतंत्रता संघर्ष के गद्दार के रूप में बेनकाब करके विश्वासघाती पूंजीवादी प्रभाव से सर्वहारा को मुक्त किया जा सकता है और उसे एक सक्रिय राजनीतिक शक्ति से जनांदोलन के बल पर नेतृत्वकारी शक्ति में बदला जा सकता है। ऐसा तभी किया जा सकता है जब कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय सुधारवादियों के खिलाफ समझौता विहीन संघर्षों के आधार पर स्वतंत्रता संघर्ष में सर्वाधिक सक्रियता पूर्वक और ओजपूर्ण ढ़ंग से शिरकत करे।'

एम. एन. राय के संकीर्णतावाद और अतिक्रांतिकारिता के आरोप का खंडन करते हुए पत्र कहता है कि 'कम्युनिस्टों के खिलाफ संकीर्णता का यह आरोप वस्तुतः उन्हें राष्ट्रीय सुधारवाद के प्रति उनके बोल्शेविक गैर समझौतावाद, शोषण की साम्राज्यवादी–सामंती व्यवस्था के प्रति उनकी घृणा, साम्राज्यवादी शासन को क्रांतिकारी ढंग से उखाड़ फेंकने की खातिर मेहनतकश जनसमुदाय को दृढ़ता पूर्वक और निरंतर तैयार और गोलबंद करने के लिए उनको दोषी ठहराना है।' इससे कम्युनिस्ट पार्टी के पुनर्गठन के दौर में उभरी वैचारिक राजनीतिक बहस की एक झांकी मिल जाती है।

इस झांकी के दूसरे पक्ष की चर्चा भी उतना ही प्रासंगिक है। इसमें भारत में साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के संगठन की बुनियादी कमजोरी उजागर होती है और यही कमजोरी ऐतिहासिक विरासत के रूप में मजदूर आंदोलन को भी प्रभावित करती है। भारतीय कम्युनिस्टों के नाम अपने पत्र में चीनी कम्युनिस्टों ने कई सुझाव दिये थे जिनमें दो खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। पहले सुझाव का संबंध भारत के घरेलू पूंजीपतियों की जन्मजात कमजोरी से है जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसपर चीनी कम्युनिस्टों के विचार इस प्रकार थे :

'भारत में पूंजीपति वर्ग की कमजोर स्थिति के कारण सभी शक्तियों को लेकर बनने वाले राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा की कार्यनीति साम्राज्यवाद विरोधी कृषि क्रांति की प्रारंभिक मंजिलों में लागू नहीं की जा सकती। भारत में तो केवल मजदूरों और निम्न पूंजीपति वर्गों के बुनियादी जनसमुदाय के क्रांतिकारी खेमे के निर्माण की नीति का ही सवाल पैदा होता है। निश्चय ही इसका मतलब जनसमुदाय का खेमा है, महज नेताओं का तालमेल नहीं है। ... बोल्शेविक नीति का सार है कम्युनिस्ट

पार्टी के स्वतंत्र वर्ग चरित्र को सुरक्षित रखना और उसे मजबूत बनाना, निम्न पूंजीवादी समुद्र में विलीन हो जाने से बचना, जनसमुदाय के ऊपर पूंजीवादी प्रभावों को नष्ट कर देना, और साथ ही मजदूरों, किसानों और शहरी निम्न–पूंजीपतियों का संयुक्त मोर्चा बनाना, स्वाधीनता, जमीन और आजादी के लिए चलनेवाले आंदोलन पर नेतृत्व के लिए संघर्ष चलाते हुए हर किस्म की अस्थायी सहयोगी शक्तियों का उपयोग करना।'

संयुक्त मोर्चा की राजनीति में इस तरह के बारीक संतुलन का ध्यान रखना निहायत जरूरी है अन्यथा किसी भी क्षण मेंशेविक गड्ढे में गिरने का खतरा हर समय मंडराता रहेगा। इसके लिए जरूरी है कि अपने देश व समाज की ठोस परिस्थिति के सुक्ष्म अध्ययन में पार्टी सक्षम हो। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इस काम में बेहद कमजोर साबित हो रही थी। दूसरे देश की बेमेल परिस्थिति का नकल से बचने की लिहाज से चीन कम्युनिष्टों की यह सलाह बेहद महत्वपूर्ण है :

'आपके देश की परिस्थितियां, बढ़ते क्रांतिकारी उभार के बावजूद अब भी हमारे देश की परिस्थितियों से मेल नहीं खा रही हैं। आपको क्रांतिकारी आंदोलन की व्यापकता और गहराई का, वर्ग शक्तियों के विभेदीकरण के स्तर का, कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति और प्रभाव का सही आकलन अवश्य ही प्रस्तुत करना चाहिए ताकि इस आधार पर आपलोग कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठी विश्व कांग्रेस के निर्णयों की रोशीन में अपने ठोस कार्यनीतिक कार्यभारों के बारे में निर्णय ले सकें।' (भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, खंड–1)

ये दिशा निर्देश भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन को विस्तार देने और वर्गीय राजनीति की गुणवत्ता बरकरार रखने की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण थे। लेकिन देश की तत्कालीन परिस्थिति में इन्हें ठीक ढंग से लागू कर देना चुनौती भरा काम था।

सभी बिखरे ग्रुपों को इकट्ठा कर अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाने जैसे कार्यभार को पूरा करने के लिए दिसंबर 1933 में कलकत्ता में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें अस्थायी केंद्रीय कमिटी का गठन हुआ जिसके महासचिव गंगाधर अधिकारी चुने गये। इसमें बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब और बम्बई के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन ने एक महत्वपूर्ण दस्तावेज पारित किया था जो कमिंटर्न की पत्रिका 'इन्प्रेकर) (20 जुलाई 1934) में प्रकाशित हुआ था। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं :– साम्राज्यवाद व क्रांति के बारे में विभिन्न वर्गों का रूख :– 'राजाओं एवं जमींदारों को अपनी संपत्ति रखने का अधिकार है, उन्हें किसानों व अपनी प्रजा के शोषण के अधिकार हैं। लिहाजा वे लगभग सबके सब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पक्ष में हैं। उनके परजीवी अस्तित्व की

यह स्थिति ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के प्रभुत्व से जुड़ी है। अतः ये वर्ग भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सर्वाधिक स्थिर व भरोसेमंद संश्रयकारी है।'

भारतीय पूंजीवाद के ढुलमुल चरित्र के आर्थिक आधार का विश्लेषण उन्होंने इन शब्दों में किया था – 'देश के शोषण में महत्वपूर्ण हिस्सा पाने की भारतीय पूंजीपति वर्ग की आकांक्षा इसकी साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका का आधार है। दूसरी तरफ पूंजीपति वर्ग के बतौर इसकी भूमिकाएं और बड़े भूस्वामियों व महाजनों के हितों के साथ इसके घनिष्ठ संबंध स्वतंत्रता के लिए क्रांतिकारी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को असंगठित करने व इसमें तोड़–फोड़ करनेवाली इसकी प्रतिक्रांतिकारी ताकत के आधार हैं।'

यह विलक्षण विश्लेषण है। लेकिन इससे जुड़ी एक बात उनकी नजर से ओझल हो गयी है। भारतीय पूंजीपति की उत्पत्ति ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पूंजी और प्रौद्योगिकी के सहारे हुई है और यह उसके प्रतिक्रियावादी चरित्र का सबसे बड़ा आधार है।

कांग्रेस के भीतर की खेमेबंदी पर इस दस्तावेज ने इस तरह टिप्पणी की थी : 'यह कहना गलत है कि कांग्रेस के भीतर का नेतृत्व निम्नपूंजीवादी है अथवा यह कि 1930–31 की अवधि के दौरान निम्नपूंजीवादियों के हाथों में चला गया था। ये गलत धारणाएं रायवादी किस्म के "वाम" सुधारवाद की ओर अथवा कांग्रेस एवं रायवादियों की आलोचना के अवसरवादी सुर के नजदीक चली जाती हैं।' गांधीवाद के बारे में दस्तावेज कहता है : 'गांधीवाद निम्नपूंजीवादी दर्शन नहीं है। यह राष्ट्रवादी पूंजीपति वर्ग की क्रांति विरोधी विचारधारा है तथा यह उसके कार्यक्रम व कार्यनीतियों के आधार का निर्माण करता है।'

इस दस्तावेज के अनुसार कांग्रेस का वामपंथी खेमा मजदूर आंदोलन के भीतर प्रेक्षण चौकी (भेदिये) का काम करता है। 'अगर गांधीवाद को पूंजीवादी कांग्रेस खेमे का दक्षिण पक्ष माना जा सकता है, तो "वाम" सुधारवाद को उसी खेमे का वामपंथी पक्ष अवश्य माना जाना चाहिए।' इस खेमे के सबसे मुखर प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू थे। मजदूर वर्ग के भीतर एम. एन. राय की विश्वसनीयता नेहरू से कई गुना ज्यादा थी और इसका उपयोग क्रांतिकारी खेमे को भीतर से तोड़ने के लिए करने लगे थे। इस दृष्टि से वे इस प्रचार में लगे थे कि प्रतिक्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग ने कांग्रेस छोड़ दी है और निम्न पूंजीपति वर्ग उसपर कब्जा जमा चुका है।

निम्नपूंजीपति और किसान ही आबादी का वह हिस्सा होते हैं जो क्रांति/ प्रतिक्रांति के बीच जीत–हार का फैसला करते हैं। लेकिन इतिहास में इन्होंने कभी

स्वतंत्र भूमिका नहीं निभायी है। इस आधार पर दस्तावेज का निष्कर्ष था कि यह वर्ग 'राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के दुमछल्ले' में बदलेगा या 'क्रांतिकारी मजदूर वर्ग के प्रभाव के तहत क्रांतिकारी साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे' में शामिल हो जायेगा। किसान समुदाय के बीच से क्रांति के आधार की पहचान उन्होंने इन शब्दों में की थी : 'किसान समुदाय की विशाल बहुसंख्या उन गरीब व मध्यम किसानों की है जो मजदूर नहीं लगाते हैं। इस निम्न तबके के हित बड़े जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों आदि के हितों के सीधे तौर पर विरोधी हैं। किसान समुदाय का यही वह हिस्सा है जो क्रांतिकारी ऊर्जा का विशाल भंडार है।'

जाहिर है कि भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष और क्रांति में विभिन्न वर्गों की भूमिका का यह सुंदर और सटीक विश्लेषण कमिंटर्न के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम था। लेकिन मजदूर वर्ग की भूमिका तय करने में पार्टी किसी न किसी रूप में नियतिवाद से प्रभावित दिखाई पड़ती है। उनका दस्तावेज मानता है कि 'मजदूर वर्ग सर्वाधिक दृढ़ क्रांतिकारी वर्ग है... साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी संघर्ष में उसका प्रभुत्व स्थापित होना नियत है।' लेकिन अगली ही पंक्ति में हम इसके विपरीत वक्तव्य पाते हैं 'मजदूर वर्ग की इस नियति को स्वतःस्फूर्त रूप से या अपने–आप प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसके लिए सर्वहारा को सर्वाधिक अगुवा व वर्ग सचेत तत्वों की ओर सचेतन प्रयास की जरूरत है।'

दूसरी बात यह स्थापित करती है कि किसी समाज में न तो क्रांति नियत होती है और न किसी संघर्ष में मजदूर वर्ग का नेतृत्व नियत होता है। इसका होना या न होना उस समाज की ऐतिहासिक और तात्कालिक विकास की अंतःक्रिया की अत्यंत जटिल प्रक्रिया से निर्धारित होता है और ये प्रक्रियाएं अदृश्य धागों से एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। अगर ऐसा नहीं होता, तो क्रांति बच्चों का खेल बनकर रह जाती। आगे के विवरण में हम देखेंगे कि 'नियत' मानने की यह कमजोरी जो यहां छोटी बात प्रतीत होती है, मजदूर वर्ग के राजनीतिक आंदोलन पर कितना गहरा प्रभाव डालती है।

अब हम उस बुनियादी कमजोरी की ओर ध्यान दें जिसके कारण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी अपने क्रांतिकारी दायित्व का निर्वाह नहीं कर पायी। इस संदर्भ में यह भी देख लेना होगा कि तत्कालीन नेतागण रूसी क्रांति से सीखने का दावा शब्दों में चाहे जितना कर रहे थे, उन्हें व्यवहार में उतार पाने की सांगठनिक क्षमता का विकास वे नहीं कर पाये थे। इसके पीछे सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि पार्टी के पास भारतीय क्रांति की अलग–अलग मंजिलों के कार्यक्रम स्पष्ट नहीं थे। रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बोल्शेविक, मेंशेविक

खेमेबंदी के बाद बोल्शेविकों के पास रूसी क्रांति का एक मुकम्मल कार्यक्रम मौजूद था। वे यह भी समझते थे कि उनकी क्रांति यूरोप की क्रांति से भिन्न राह अपनायेगी और वह विश्व सर्वहारा को राह दिखायेगी। उन्हें अपनी क्रांति की दो मंजिलों और उनके बीच अंतर्संबंध की स्पष्ट समझ थी। इतना ही नहीं राजनीतिक विकास की हर मंजिल पर रूस की खास परिस्थिति में मार्क्सवाद की सैद्धांतिक व्याख्या से लेकर तदनुरूप रणनीतिक व कार्यनीतिक बदलाव की व्याख्या से कार्यकर्त्ताओं को अवगत कराने का काम नेतृत्व ने बखूवी संभाला था।

इसके विपरीत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के पास सिद्धांत और राजनीति के नाम पर कमिंटर्न कुछ धरोहर से प्राप्त दिशा निर्देश थे। वे दिशा निर्देश भारत की धरती पर व्यवहार में कैसे उतारे जायेंगे, इसकी स्पष्ट समझ नहीं थी। उदाहरण के तौर पर देखें तो वे यह समझते थे कि खुला और गुप्त दोनों का समन्वय जरूरी है, वे यह भी समझते थे कि पार्टी के अलग अस्तित्व और कांग्रेस प्लेटफार्म के उपयोग की दोहरी नीति जरूरी है, लेकिन ये नीतियां लागू कैसे होंगी, उसके लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता कैसे तैयार होंगे आदि जैसे मामले कम से कम 1933 तक नहीं तय हो पा रहे थे। यह कमजोरी सिद्धांत को व्यवहार में बदलने की राह में सबसे बड़ा रोड़ा बन रही थी।

अध्याय—5

फासीवाद का उदय

1930 के दशक का उतरार्द्ध भारतीय राजनीति में ऐसे बदलाव का दस्तक देने लगा था जिसका दूरगामी जनविरोधी प्रभाव तय था। यह बदलाव 1920 के दशक से उत्पन्न जन उभार का परिणाम था। उस उभार से भयभीत ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग की दुरभिसंधि का परिणाम। जैसा कि हम देख चुके हैं इन दोनों के बीच इस तरह के समझौते की नींव पहले विश्वयुद्ध के दौरान पड़ चुकी थी। इसके तहत भारतीय पूंजीपतियों की नीति बन गयी थी – जनमुक्ति और राष्ट्रमुक्ति की आकांक्षा को अपने नेतृत्व में आगे बढ़ाओ, ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर नये–नये सुधारों के लिए दबाव बनाओ और जरूरत के अनुसार उसके साथ जनविरोधी और राष्ट्रविरोधी समझौता के लिए तैयार रहो। लेकिन रूसी क्रांति की विजय ने जन संघर्षों को नयी ऊँचाई पर पहुंचा दिया, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों की आग में घी का काम किया और उपनिवेशों/अर्द्ध–उपनिवेशों के लोग साम्राज्यवादपरस्त पूंजीवादी शक्तियों से मुक्त होने के लिए कसमसाने लगे।

इसका प्रभाव हमारे देश पर भी पड़ा। 1920–22 के बीच सविनय अवज्ञा आंदोलन में जनता की भूमिका और उसके साथ विश्वासघात का नमूना हम देख चुके हैं। अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति का दबाव, उभरते जनसंघर्षों का भय और दलालों के विश्वासघात के इनाम के रूप में ब्रिटिश सरकार अगले सुधार की दिशा में कदम उठाने को तैयार हो गयी थी। साइमन कमीशन का गठन इसी दिशा में कदम था, लेकिन इसमें वह भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने के लिए तैयार नहीं थी। उल्टे, तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स बर्केनहेड ने भारतीयों के सामने चुनौती पेश की थी कि वे एक संविधान तैयार करें जिसमें भारत की विशाल जनता की आम सहमति पर्याप्त रूप से निहित हो। (इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस; द इवोल्यूशन ऑफ द कंस्टीच्यूशन : बिपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी)

इस चुनौती को स्वीकार कर कांग्रेस ने सभी दलों की बैठक (फरवरी–मार्च 1928) बुलायी थी जिसमें मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक कमिटी गठित की गयी थी। इसने भारतीय स्वतंत्रता की रूप रेखा और भावी संविधान का एक खाका तैयार किया था जिसे 'नेहरू रिपोर्ट' के रूप में जाना जाता है। यह रिपोर्ट सर्वमान्य नहीं हो सकी। यहां तक कि कांग्रेस में भी दो खेमे उभरे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस जैसे युवा नेता इस रिपोर्ट में प्रस्तावित डोमिनियन स्टेटस को अस्वीकार कर पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत कर रहे थे जबकि गांधी को

यह प्रस्ताव मान्य था। इस खींचतान का पहला पड़ाव बना कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन (दिसम्बर 1929) जहां उसने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित किया और उसकी प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन की घोषणा की।

गांधी अपनी सोच पर अडिग थे कि 'पूर्ण स्वतंत्रता' के प्रस्ताव की हवा अंततः निकाल देनी है। संभाष चंद्र बोस अपने प्रस्ताव पर अड़े हुए थे और नेहरू समझौता परस्त रूख अख्तियार कर रहे थे। गांधी नेहरू की इस कमजोरी को अच्छी तरह समझते थे। इसीलिए इस कांग्रेस में अध्यक्ष चुने जाने के बावजूद अपनी ओर से उन्होंने यह कमान जवाहरलाल को सौंप दी थी। इसके पीछे उन्होंने जो तर्क दिये थे उनसे नेहरू की ताकत और कमजोरी दोनों सामने आ जाती है : 'देश प्रेम में कोई भी आदमी उनसे बढ़कर नहीं हो सकता, वह वीर और गरम मिजाज के हैं और इस वक्त ये गुण बहुत जरूरी हैं। ..... वह इतने विनयी और व्यावहारिक हैं कि वह सीमा को पार न करेंगे। उनके हाथों में राष्ट्र पूरी तरह सुरक्षित है।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह, इंडिया टुडे : रजनी पाम दत्त से उद्धृत)।

गांधी के 'इस वक्त' की विशेषता थी कि पूर्ण स्वतंत्रता की आकांक्षा लोगों के बीच तेजी से फैल रही थी और कांग्रेस नेहरू की छवि दिखाकर ही इस आकांक्षा का प्रतिनिधित्व कर सकती थी और 'सीमा को पार न कर' सकने की कमजोरी का फायदा उठाकर वह उन्हीं के हाथों से इस आग पर पानी डलवा सकती थी। यहां यह उल्लेख जरूरी है कि पूर्ण स्वतंत्रता की जन–चेतना पैदा करने में कांग्रेस की भूमिका नहीं के बराबर थी। यह कम्युनिस्टों और अन्य क्रांतिकारियों के प्रभाव से पैदा हुई थी। इन संगठनों की कमजोरी थी कि इस सच को समझते हुए भी वे इस दुरभिसंधि के खिलाफ व्यापक चेतना व जनांदोलन खड़ा करने की स्थिति में नहीं थे। कम्युनिस्ट आंदोलन में इसके दो कारणों – वैचारिक कमजोरी और ब्रिटिश सरकार के दमन की चर्चा हम कर चुके हैं। अब विचारणीय विषय यह है कि इस बदलती परिस्थिति के अनुसार अगले मोर्चे की तैयारी के लिए कम्युनिस्ट पार्टी क्या कर रही थी और अपने एजेंडे पर कांग्रेस कैसे कदम बढ़ा रही थी।

इस दशक की शुरूआत पूर्ण स्वराज के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन के आह्वान के साथ हुई थी। इसका देशव्यापी असर पड़ा, तिरंगा पूर्ण स्वतंत्रता का प्रतीक बन गया और उसे फहराने का अभियान पूरे देश में फैल गया। इसी बीच चटगांव, पेशावर और शोलापुर की घटनाओं से अंग्रेजों के कान खड़े हुए और कांग्रेसियों के माथे पर चिंता की लकीरें उभरने लगीं। इन विद्रोहों की प्रकृति अलग–अलग थी, लेकिन तीनों की दिशा ब्रिटिश राज के विरूद्ध थी और लक्ष्य था– भारत में ब्रिटिश राज का पूर्ण नाश। (चटगांव अब बांग्लादेश) में सूर्यसेन के

नेतृत्व में राष्ट्रवादी सैन्य विद्रोहियों ने ब्रिटिश प्रशासन को खदेड़ दिया था, पेशावर में गढ़वाली सैनिकों ने आंदोलनकारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था और शोलापुर के मजदूरों ने ब्रिटिश प्रशासन को खदेड़कर अपना शासन कायम कर लिया था जिसे शोलापुर कम्यून के रूप में जाना जाता है। इन विद्रोहों पर कांग्रेस के आहवान का प्रभाव था, लेकिन वे उसकी सीमा का पूरी तरह उल्लंघन कर चुके थे। इन विद्रोहों का विस्फोट अप्रैल–मई 1930 में हुआ था। इतिहास में दर्ज ये विद्रोह नमूने भर हैं, छोटे–बड़े ऐसे विद्रोहों का देशव्यापी सिलसिला चल पड़ा था। ऐसे ही आंदोलनों और विद्रोहों के दबाव में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने कांग्रेस तथा अन्य समर्थकों के साथ ब्रिटिश राज की छत्रछाया में भारतीय पूंजीवाद के प्रतिनिधियों के हाथों सत्ता सौंपने के लिए समझौता वार्ता का प्रस्ताव दिया जिसे गोलमेज कांफ्रेंस के रूप में जाना गया।

पहला गोलमेज सम्मेलन 12 नवंबर 1930 को आरंभ हुआ था। इसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं था लेकिन ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने डोमिनियन स्टेटस के बारे में कुछ गोलमटोल संकेत दिये थे। गांधी–इरविन पैक्ट इसी के आधार पर हुआ था। यह लाहौर कांग्रेस में पारित पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव की पीठ में छुरा भोंकने जैसा काम था। कराची कांग्रेस (1931) में इस पैक्ट को पारित कर लाहौर कांग्रेस के पूर्ण स्वतंत्रता प्रस्ताव को इतिहास के तहखाने में डाल दिया गया। कांग्रेस के आंदोलन की दिशा बदल गयी। ब्रिटिश राज को एक तरफ कम्युनिस्ट क्रांति का भय था तो दूसरी तरफ फासीवाद का।

हालांकि उस समय तक ब्रिटिश साम्राज्यवादी हिटलर के पक्ष में थे, लेकिन टकराव की आशंका उन्हें औपनिवेशिक नीति में ढील देने के लिए मजबूर कर रही थी। दूसरा गोलमेज सम्मेलन सितंबर 1931 में हुआ जिसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से महात्मा गांधी तथा भारतीय बड़े पूंजीपतियों की हैसियत से घनश्याम दास बिड़ला ने भाग लिया था। बाकी कई लोग थे जिनका विस्तृत विवरण यहां न तो संभव है और न जरूरी। इस सम्मेलन में पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव की छाती में अंतिम कील ठोंक दी गयी और यहीं से ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन भारतीयों की शासन व्यवस्था की नीति खुलकर सामने आयी जिसकी छाप 15 अगस्त 1947 के सत्ता हस्तांतरण पर साफ–साफ दिखाई पड़ती है।

कांग्रेस पार्टी ने इस जरूरत के अनुसार अपने को ढालना शुरू कर दिया था। इसमें सबसे ज्यादा बदलाव जवाहरलाल नेहरू में आया था। गांधी शुरू से लेकर अंत तक पूरी तरह स्पष्ट थे कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहकर ही स्वराज की मांग करनी चाहिए। इस प्रकार ब्रिटिश नीति में बदलाव से उनकी

स्थिति मजबूत हो रही थी। दूसरी तरफ सुभाषचंद्र बोस की नजर में फासिज्म की विश्व विजय की स्थिति को सुदृढ़ करते हुए इस संघर्ष को आगे बढ़ाया जाना चाहिए था। इस मोड़ पर लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रता के लिए कंधा से कंधा मिलाकर लड़नेवाले बोस और नेहरू अलग–अलग खड़े नजर आये। अपनी नयी नीति का औचित्य साबित करने के लिए नेहरू के तर्क इस प्रकार थे :

'हमने जब भारत की आजादी की बात की, तो वह अलगाव की स्थिति में नहीं थी। हमलोग, शायद अन्य देशों की तुलना में ज्यादा, महसूस करते थे कि पुराने किस्म की पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता के दिन लद गये और विश्व सहयोग का नया युग शुरू होना चाहिए। अतः हमलोगों ने बार–बार स्पष्ट किया कि किसी अंतर्राष्ट्रीय ढांचे में, अन्य देशों की साझेदारी में, हमलोग आजादी को सीमित करने के लिए पूरी तरह सहमत हैं।' (डिस्कवरी आफ इंडिया 1988 सं० अनुवाद हमारा)

'विश्व सहयोग का नया दौर' जैसे जुमले की आड़ में नये किस्म की अर्द्ध गुलामी को छुपाने की कोशिश हो रही थी। उस समय तक नेहरू कॉमन वेल्थ में शामिल होने को तैयार नहीं थे, लेकिन 1947 आते–आते एक कदम और पीछे हटे और "आजाद" भारत उसमें शामिल हो गया।

1936 में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में जवाहरलाल नेहरू के भाषण का यह अंश कांग्रेस के लिए मुखौटा था : 'दुनिया और भारत की समस्याओं के समाधान की मुख्य कुंजी समाजवाद में निहित है और जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं अस्पष्ट मानवतावाद के अंदाज में ऐसा नहीं करता, बल्कि वैज्ञानिक, आर्थिक अर्थ में करता हूँ।' अपने सपनों के समाजवाद का अंतिम लक्ष्य वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं : 'इसका मतलब है नयी सभ्यता, वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से मौलिक रूप से भिन्न।' इसके लिए वे सामाजिक–आर्थिक संबंधों से लेकर राजनीति तक में मौलिक बदलावों की घोषणा करते हैं, यह जानते हुए कि कार्यसमिति उसके कार्यान्वयन की अनुमति नहीं देगी।

यह कांग्रेस का मुखौटा था जो त्रिपुरी कांग्रेस (1939) में सुभाषचंद्र बोस के कांग्रेस अध्यक्ष बनने के बाद फट गया। बोस हरिपुरा कांग्रेस (1938) में भी अध्यक्ष रहे थे। तब इस बार इस मुखौटे से इतनी चुभन क्यों होने लगी ? इसलिए कि अब विश्वयुद्ध के कदमों की आहट सुनाई पड़ने लगी थी और कांग्रेस आलाकमान नहीं चाहता था कि इस संकट की घड़ी में दिखावा के लिए भी ऐसे लोग सर्वोच्च पद पर बने रहें। इसलिए वामपंथी इस बात पर खुश हो सकते हैं कि कम्युनिस्ट आंदोलन के स्वर्णिम काल में कांग्रेस के भीतर उनकी पैठ इतनी मजबूत हो गयी थी कि गांधी की इच्छा के विपरीत उन्होंने अपनी मर्जी का अध्यक्ष चुन लिया था,

लेकिन उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि यह मजबूती पानी पर लकीर की तरह थी।

तब यह हुआ कैसे कि कांग्रेस में निर्वाचित अध्यक्ष को हटना पड़ गया, वह भी तब जब कांग्रेस पार्टी के नियमानुसार कार्यसमिति का चुनाव नहीं होता था, बल्कि अध्यक्ष उसका गठन करता था। दरअसल सुभाषचंद्र बोस का सबसे बड़ा अपराध था कि उन्होंने गांधी की इच्छा के सामने समर्पण नहीं किया, उनके उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया से टकराव कर भी जीत गये। इस अनहोनी से कांग्रेस में खलबली मच गयी जिसकी अनुगुंज कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव की इन पंक्तियों में सुनायी पड़ती है : 'उस संकटमय हालत को मद्देनजर रखकर कि ऐसे संकट के दौरान सिर्फ गांधीजी ही कांग्रेस और देश का नेतृत्व कर विजय प्राप्त करा सकते हैं, कमेटी यह जरूरी समझती है कि कांग्रेस की कार्यकारिणी को उनका शंकाहीन विश्वास प्राप्त हो और अध्यक्ष से अनुरोध करती है कि वह गांधीजी की इच्छानुसार वर्किंग कमेटी गठित करें।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह, पट्टाभि सीतारमैय्या की पुस्तक 'द हिस्ट्री आफ द नेशनल कांग्रेस' से उद्धृत)। यह प्रस्ताव पास हुआ और कई कांग्रेस सोशलिस्टों और वामपंथी राष्ट्रवादियों ने इसके पक्ष में वोट दिये थे। यह 'अनुरोध' वस्तुतः आदेश और इस बात के लिए दबाव था कि सुभाष बोस गांधी भक्त वर्किंग कमिटी की कठपुतली बनकर काम करें या अध्यक्ष पद से इस्तीफा दें। उन्होंने कठपुतली बनना स्वीकार न कर वर्किंग कमिटी के कलकत्ता अधिवेशन (अप्रैल 1939) में अपने पद से इस्तीफा दे दिया और राजेन्द्र प्रसाद कांग्रेस अध्यक्ष चुने गये।

उस समय जवाहरलाल नेहरू क्या कर रहे थे ? हम देख चुके हैं कि लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रता के बारे में व्यक्त अपने विचारों से वे पीछे हट चुके थे और अब सीमित स्वतंत्रता या ब्रिटिश साम्राज्यवाद (या समग्र साम्राज्यवाद) के अधीन स्वतंत्रता में यकीन करने लगे थे। इस बदलाव के तहत राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर उनके और सुभाष बोस के विचारों में अंतर आ गये थे। अंतरराष्ट्रीय गोलबंदी के क्रम में वे विश्व जनवाद के रक्षक आंग्ल–अमेरिकी खेमे के साथ थे, जबकि सुभाष बोस फासिस्ट ताकतों के पक्ष में। इस विवाद पर नेहरू की अभिव्यक्ति यह है : 'कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य लोगों और उनके दृष्टिकोण में भारी अंतर था। विदेशी और अंदरूनी दोनों मामलों में। इससे 1939 के प्रारंभ में टूट की स्थिति पैदा हुई। उसके बाद वे कांग्रेस की नीतियों पर खुला हमला बोलने लगे और अगस्त 1939 में कांग्रेस कर्यकारिणी ने अपने पूर्व अध्यक्ष के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई का असाधारण कदम उठाया।' (डिस्कवरी ऑफ इंडिया)। नेहरू कांग्रेस के दक्षिणपंथी केंद्र के साथ समझौता कर चुके थे;

सुभाषचंद्र बोस पूरी दृढ़ता के साथ फासिस्ट खेमे की ओर कदम बढ़ा चुके थे; साम्राज्यवाद विरोधी जनमोर्चा विश्वयुद्ध की आहट से ही चरमराने लगा था और कम्युनिस्ट अकेला पड़ने लगे थे।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व इस कमजोरी को क्यों नहीं समझ पाया जबकि उसके पास इसे समझने के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों साक्ष्य मौजूद थे। पहला प्रत्यक्ष साक्ष्य था मेरठ षड्यंत्र केस में नेहरू का सुझाव कि कम्युनिस्ट नेता अपनी गलती स्वीकार कर लें। दूसरा (अप्रत्यक्ष) साक्ष्य था, 'साम्राज्यवाद विरोधी लीग' से उनका निष्कासन। लीग को ऐसा क्यों करना पड़ा, इसका उल्लेख नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में किया है : '1931 में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज हो गयी और उसने मुझे निकाल बाहर किया, या ठीक—ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराज होने का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी' (पृ० 207)। 'साम्राज्यवाद विरोधी लीग' कम्युनिस्ट संगठन नहीं थी, फिर भी एक आचरण से वह उनका समझौतापरस्त चरित्र समझ गयी, लेकिन हमारे देश के कम्युनिस्ट नहीं समझ पाये ! यही सवाल सुभाषचंद्र बोस के मामले में भी पूछा जा सकता है क्योंकि उनके फासिस्ट चरित्र के खिलाफ जब आवाज उठी, उस समय तक डोर हाथ से छुट चुकी थी।

त्रिपुरी कांग्रेस में कम्युनिस्ट—सोशलिस्ट गठजोड़ सुभाष बोस को फिर अध्यक्ष बनाये जाने के खिलाफ खड़ा हुआ। लेकिन इसके पीछे उनका तर्क आत्मघाती था – 'संयुक्त राष्ट्रीय नेतृत्व के तहत संयुक्त संघर्ष, संघर्ष की विजय की एकदम गारंटी है, इसलिए इन तमाम नारों व नीतियों को, जो दक्षिण और वाम के बीच मौजूदा विभाजन को बढ़ाने और स्थायी बनाने को प्रवृत हैं... जो दक्षिणपंथियों को कांग्रेस के भीतर उनके नेतृत्व के पद से निकाल बाहर करने की मांग करते हैं, विघटनकारी करार देना होगा।' (भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन)। बोल्शेविक कार्यनीति के अनुसार यहां प्रश्न उठना लाजिमी था कि यह नीति अगर विघटनकारी थी तो किसके लिए ? कांग्रेस के लिए या कम्युनिस्टों के लिए ? ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जनसंघर्ष में कम्युनिस्टों का नेतृत्व कायम करने के लिए यह बहस जरूरी थी। साथ ही कांग्रेस के ऊपर ब्रिटिश समर्थक दक्षिणपंथी नेतृत्व का अंधकार छंटना भी कम्युनिस्टों तथा सभी जनवादी शक्तियों के लिए फायदेमंद था। लेकिन यह बात कम्युनिस्ट नेतृत्व के जेहन में नहीं आ

पायी थी। यह गांधीवाद के सामने समर्पण की आत्मघाती नीति थी। इसके पीछे का तर्क तत्कालीन महासचिव के लेख 'वाम एकता कहां खड़ी है ?' की इन पंक्तियों में मिलता है : 'आज सिर्फ कांग्रेस ही साम्राज्यवाद के खिलाफ जनसंघर्ष का उपकरण हो सकती है। कांग्रेस को तोड़ना आत्महत्या करने एवं साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष का परित्याग कर देने के समान है।' (वही)।

इन पंक्तियों की तुलना रूसी क्रांति के इतिहास में बोल्शेविक–मेंशेविक विवाद से कर लीजिए। इस विवाद में मेंशेविक इस समझ के कायल थे कि रूस की क्रांति अपने मूल चरित्र में पूंजीवादी जनवादी है, इसलिए इसमें नेतृत्वकारी भूमिका पूंजीपति वर्ग की होगी और मजदूर वर्ग की भूमिका सहयोगी होगी। इससे वे निष्कर्ष निकालते थे कि मजदूर वर्ग को ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे पूंजीपति डर जायें। इसके विपरीत बोल्शेविक नीति थी कि साम्राज्यवाद के युग में रूसी पूंजीपति क्रांति को मुकम्मल नेतृत्व देने की स्थिति में नहीं हैं, इसलिए मजदूर वर्ग को यह झंडा उनसे छीन लेना चाहिए। क्रांति अपने पूंजीवादी जनवादी कार्यभार पूरा कर समाजवाद की दिशा में बढ़ जायेगी। इससे साफ हो जाता है कि इस 'स्वर्णिम काल' की रणनीति बोल्शेविक नहीं मेंशेविक बुनियाद पर खड़ी थी।

जिस समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व में जन–एकता के विकास के लिए अपना सबकुछ न्योछावर करने की मेंशेविक नीति का अनुसरण कर रही थी उसी समय कांग्रेसी, कांग्रेस सोशलिस्ट और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में नवगठित फारवार्ड ब्लाक अपने–अपने राजनीतिक स्वार्थ में कम्युनिस्टों की जड़ खोदने की तैयारी कर रहे थे। कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने जून 1939 में यह प्रस्ताव एआईसीसी में पेश किया कि कोई भी कांग्रेस जन राज्य कमिटी की इजाजत के बिना किसान आंदोलन या किसी भी जन सत्याग्रह में भाग नहीं लेंगे। उसी समय यह भी विधान बना कि प्रांतीय सरकारों पर कांग्रेस प्रदेश कमिटी का नियंत्रण नहीं होगा। वे सीधे केंद्रीय पार्लियामेंटरी कौंसिल के अधीन होंगी।

सुभाष बोस ने भी यह प्रस्ताव रखा कि सभी वामपंथी फारवार्ड ब्लाक में शामिल हो जायें। जाहिर सी बात है कि ऐसा न तो कम्युनिस्ट कर सकते थे और न सोशलिस्ट। उल्टे हो यह रहा था कि सोशलिस्ट कम्युनिस्टों के साथ एकता भंग कर उनके खिलाफ प्रचार में कूद पड़े थे। इस खेमे के अगुआ के मीनू मसानी, राम मनोहर लोहिया, अशोक मेहता और अच्यूत पटवर्द्धन ने दोनों पार्टियों की संयुक्त कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया था। उनका आरोप था कि कम्युनिस्ट उनकी पार्टी में षड्यंत्र कर रहे हैं और संयुक्त आंदोलन में कम्युनिस्ट प्रवेश ज्यादा हो जाने से राष्ट्रीय आंदोलन के विस्तार में बाधा हो रही है। लेकिन जिस समय यह

घटना घट रही थी, उससे इस आशंका को बल मिलता है कि कांग्रेस और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टियों की कार्रवाई सुनियोजित थी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों तथा देश के बड़े पूंजीपतियों की सुविधानुसार संचालित हो रही थी।

कांग्रेस अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने के बाद सुभाष बोस फारवार्ड ब्लाक की स्थापना की दिशा में भिड़ गये। जून 1939 में उसका पहला सम्मेलन बम्बई में उसी वक्त हुआ जब वहां कांग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक हो रही थी। वे इसका अध्यक्ष चुने गये। उनकी मंशा इसे रेडिकलों और साम्राज्यवाद विरोधियों का मंच बनाने की थी। उनके इस कदम का मीनू मसानी जैसे नेताओं ने स्वागत किया, लेकिन कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टी के साझा बयान में इसे वामपंथी शक्तियों में फूट का खतरा बताया गया। इस बयान में यह भी प्रस्ताव रखा गया कि नया वामपंथी सम्मेलन बुलाया जाय और फारवार्ड ब्लाक, कम्युनिस्ट पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी को मिलाकर नयी लेफ्ट कोआपरेशन कमिटी बनायी जाय। इन तीनों सहित रेडिकल कांग्रेस मेंस लीग (एम.एन. राय) और आल इंडिया किसान सभा के प्रतिनिधियों को लेकर लेफ्ट कौंसोलिडेशन कमिटी का गठन किया गया।

इस कमिटी ने जून 1939 के कांग्रेस महासमिति के फैसलों की आलोचना की। साथ ही उसने आरोप लगाया कि प्रदेशों में कांग्रेसी सरकारों के गठन के बाद से कांग्रेस वर्किंग कमिटी और ये सरकारें जनांदोलन का विरोध करने लगी हैं। बात सिर्फ बयान तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसका प्रतिवाद करने और वाम एकीकरण कमिटी की अपील को व्यापक बनाने के उद्देश्य से 9 जुलाई को सभा और प्रदर्शन किया गया जो दक्षिणपंथी सोशलिस्टों और रायपंथियों के विरोध के बावजूद सफल रहा। संभवतः इसी दबाव में मीनू मसानी और उनके साथियों ने सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी से इस्तीफा दिया था। यह साम्राज्यवाद विरोधी जनमोर्चा की टूट की दिशा में पहला और सबसे महत्वपूर्ण कदम था।

दूसरे विश्वयुद्ध का पदचाप सुनते ही कांग्रेस अपने असली रंग में आ गयी थी, "समाजवादी नेहरू" दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादियों के खोल में घुस गये थे। कम्युनिस्ट धोखा खा गये। यह इसलिए संभव हो सका कि ये लोग पहले विश्वयुद्ध में कांग्रेस की भूमिका भूल गये थे कि नरम दल से लेकर गरम दल के नेताओं तक ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया था। उसके खिलाफ गदर पार्टी व अन्य जुझारू संगठनों का संघर्ष ही राष्ट्रवादी संघर्ष कहलाने का हकदार था जिसे बड़े पूंजीपतियों का समर्थन नहीं मिल रहा था।

कहानी यहीं खत्म नहीं होती। सुभाषचंद्र बोस का फासीवाद समर्थक जनविरोधी चेहरा अभी सामने आना बाकी था। इस युद्ध के शुरूआती दौर में

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस सोशलिस्ट और फारवार्ड ब्लाक का गठबंधन जारी रहा, क्योंकि तीनों की सोच में समानता थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बर्बादी भारत की मुकम्मल आजादी की पहली शर्त है। इसलिए उनकी नीति में बुनियादी समानता थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के संकट की घड़ी में उसके खिलाफ संघर्ष के सारे मोर्चे खोल दिये जायें। इन संगठनों ने कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के प्रस्ताव को अपनी नीति का प्रस्थान बिंदु बनाया था : 'भारत ऐसे साम्राज्यवादी युद्ध में साझीदार नहीं बन सकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्वार्थ में अपनी जनशक्ति और साधनों के दुरूपयोग की इजाजत नहीं दे सकता। अगर भारत को इस युद्ध में शामिल करने की कोशिश की गयी तो इसका मुकाबला किया जायेगा।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह)।

अब सवाल था कि यह 'मुकाबला' कैसे होगा ? ठीक इसी बिंदु पर मतभेद उभर रहे थे। कांग्रेस समझौतावादी रूख अख्तियार करने के मूड में थी। गांधी का व्यक्तिगत विचार तो इस प्रतिक्रिया में उजागर होता है कि 'भारत की पूरी और बिना शर्त हमदर्दी इंग्लैंड और फ्रांस के प्रति होनी चाहिए' (स्रोतः वही)। लेकिन आज की परिस्थिति पहले युद्ध की स्थिति से काफी बदल गयी थी। लगभग पच्चीस वर्षों के संघर्ष में तपकर देश की जनता आजादी के लिए बेचैन हो रही थी। ऐसी स्थिति में वह 'बिना शर्त समर्थन' की बात स्वीकार नहीं कर सकती थी और इसी बेचैनी को शांत करने के लिए कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद ने ब्रिटिश साम्राज्य की आलोचना करते हुए 1940 में कहा था 'ब्रिटेन चित्त और पट दोनों नहीं ले सकता। यह नहीं हो सकता कि एक तरफ वह दावा करे कि उसका युद्ध जनतंत्र और स्वतंत्रता के लिए है और दूसरी तरफ भारत को आत्मनिर्णय का अधिकार और स्वतंत्रता देने से इनकार करे।' (स्रोतः वही)। यह वक्तव्य अपने–आप में स्पष्ट है, लेकिन सिर्फ शब्दों में, भावी कार्यक्रम के दिशा निर्धारण में उल्टा हो रहा था।

इस मामले में उनकी नीति थी, कुछ भी हो जाय, लेकिन अंग्रेजों के खिलाफ जनांदोलन नहीं हो। गांधी जन सत्याग्रह जैसे कार्यक्रमों का भी विरोध कर रहे थे। उनका मानना था कि 'बड़े पैमाने पर सत्याग्रह की कोई भी संभावना तब तक नहीं, जब तक कांग्रेस पूर्ण अनुशासन नहीं दिखाती और अहिंसा तथा सत्य के प्रति अब तक जितना सम्मान दिखाया है उससे ज्यादा सम्मान नहीं दिखाती।' इस तरह का कठोर अनुशासन थोपने के पीछे उनकी मंशा थी, 'अगर मैं मित्र राष्ट्रों की मदद नहीं कर सकता, तो उनके सर्वनाश की कामना भी नहीं करता।' कांग्रेस के सामने उहापोह की अवस्था थी। वह अंग्रेजों से सौदा करना चाहती थी, लेकिन उन्हें

परेशान किये बिना।

इस अर्थ में वे भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग के सच्चे राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप में काम कर रहे थे। वे (पूंजीपति) यह तो चाहते थे कि आजादी की दिशा में कोई समझौता हो, लेकिन उन्हें यह गवारा नहीं था कि इस युद्ध के कारण कमाई का जो "सुअवसर" प्राप्त हुआ है उसमें एक कौड़ी का भी नुकसान हो। वे ब्रिटिश सत्ता के साथ असहयोग की नीति खुलेआम नहीं अपना सकते थे क्योंकि फौजी सामान के ठेके लेकर और लड़ाई का सामान ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को सप्लाई कर भारी मुनाफा बटोर रहे थे। कपड़ा उद्योग से लेकर आयरन एण्ड स्टील और रसायन उद्योग तक इस दौड़ में शामिल थे। बहुतेरे "देशभक्त" और खद्दरधारी व्यापारी फौज को रसद सप्लाई कर मालामाल हो रहे थे और यह काम वे देश की बड़ी आबादी की भुखमरी की कीमत पर कर रहे थे। यहां तक कि गांधीवादी खादी आश्रम भी कपड़ा, कंबल आदि सप्लाई कर अपनी पूंजी बढ़ा रहे थे और बहती गंगा में हाथ धोने का मौका नहीं गंवाना चाहते थे। कांग्रेस की गांधीवादी राजनीति इसी अर्थनीतिक बुनियाद पर 'भारत भाग्य विधाता' बनने का दावा कर रही थी और कम्युनिस्ट पार्टी इसे ही राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का मुख्य केंद्र मानकर देश को आजाद करने के मंसुबे पाल रही थी।

इसके आलोक में दूसरे (गैरमार्क्सवादी) समाजवादी नेता सुभाषचंद्र बोस का आकलन भी जरूरी है। विश्वयुद्ध शुरू होने के बाद कांग्रेस का पहला महाधिवेशन रामगढ़ (20–22 मार्च 1940) में हुआ और मौलाना अबुल कलाम आजाद उसके अध्यक्ष बनाये गये। गांधी इस युद्ध में भारत की भागीदारी के खिलाफ थे, उन्हें लगता था कि आजादी मिले या न मिले इस हिंसात्मक गतिविधि में शरीक नहीं हुआ जा सकता। इसके विपरीत कलाम का मत था कि आजादी पाने की शर्त पर मित्र राष्ट्रों का साथ दिया जा सकता हैं। इसके बावजूद गांधी को विश्वास था कि श्री कलाम कांग्रेस धारा के मध्यमार्गी हैं और इस दुविधा की घड़ी में वाम और दक्षिण के बीच पुल का काम कर सकते हैं। दिलचस्प है कि इस कांग्रेस में अध्यक्ष पद की दावेदारी एम.एन. राय ने भी की थी, लेकिन चुनाव में बुरी तरह हार गये थे।

इस कांग्रेस की दूसरी दिलचस्प बात थी कि इसके समानांतर सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में 'समझौता विरोधी सम्मेलन' चल रहा था। इसके निशने पर कांग्रेस का नेतृत्व था क्योंकि कांग्रेस की भूमिका को लेकर लोगों में आशंका और अविश्वास पैदा हो रहा था कि वे अंग्रेजों के साथ समझौता कर रहे हैं, हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव से पीछे हट रहे हैं तथा ब्रिटिश शासकों के खिलाफ आंदोलन करना नहीं चाहते। इस परिस्थिति के दबाव में कांग्रेस को गरमजोशी के वे शब्द दोहराने पड़े

जिन्हें व्यवहार में उतारने के मामले में वह या तो अनिच्छुक थी या विभाजित। और इस विभाजन में अनिच्छुक लोगों का पलड़ा भारी था। उस प्रस्ताव की मूल भावना इन शब्दों में व्यक्त होती है :

'कांग्रेस एक बार फिर घोषणा करती है कि हिन्दुस्तान की जनता पूर्ण स्वतंत्रता से कम कोई भी चीज स्वीकार नहीं करेगी। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता साम्राज्यवाद की परिधि में नहीं रह सकती और डोमिनियन दर्जा या साम्राज्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत कोई भी दूसरा दर्जा हिंदुस्तान पर बिल्कुल लागू नहीं हो सकता। वह एक महान राष्ट्र की गरिमा के अनुकूल नहीं है और ऐसा करने से हिन्दुस्तान ब्रिटिश नीति और उसकी आर्थिक संरचना द्वारा कई प्रकार से बंध जायेगा। भारत की जनता स्वयं उचित ढ़ंग से अपना संविधान बना सकती है और वह तय कर सकती है कि दूसरे देशों के साथ उसके संबंध क्या हो। यह सब कुछ वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी हुई संविधान सभा के माध्यम से किया जा सकता है।' (आजादी की कहानी : अबुल कलाम आजाद)

गरमजोशी भरे इन शब्दों को कार्यरूप देने में सबसे बड़ी बाधा खुद गांधी और उनके कट्टर अनुयायी थे। तीन चार महीने बीतते–बीतते कांग्रेस कार्यसमिति की स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। गांधी का अहिंसा धर्म और देश की आजादी की शर्त पर युद्ध में ब्रिटिशपक्षीय भूमिका एक दूसरे के खिलाफ खड़े हो गये। स्थिति यह पैदा हो गयी कि कांग्रेस कार्यसमिति के अनेक सदस्यों ने समिति से त्यागपत्र देने की पेशकश कर दी। जुलाई 1940 में राजेन्द्र प्रसाद ने कलाम को पत्र लिखा :

'हम युद्ध के बारे में गांधीजी के विचारों में विश्वास रखते हैं और हम चाहते हैं कि कांग्रेस उनका अनुसरण करे। चूंकि आपके विचार भिन्न है और पूना में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने आपका समर्थन किया था इसलिए हमें संदेह है कि हम कार्यसमिति का सदस्य बने रह सकेंगे।' (स्रोत : वही)

इस पत्र में जवाहरलाल नेहरू और राज गोपालाचारी को छोड़ सभी सदस्यों के हस्ताक्षर थे। त्याग पत्र अमली जामा नहीं पहन सका तो सिर्फ इसलिए कि ब्रिटिश सरकार आजादी की दिशा में कोई प्रस्ताव सुनने को तैयार नहीं हुई और इसलिए युद्ध में भारत की भागीदारी का समर्थन और अहिंसा धर्म के नष्ट होने का सवाल नहीं उठा। जनमानस का बाहरी दबाव और कांग्रेस की अंदरूनी खींचतान की स्थिति में पार्टी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन की घोषणा की। इसमें पहला सत्याग्रही होने का गौरव विनोबा भावे को मिला और दूसरा जवाहरलाल नेहरू को। ब्रिटिश सरकार को परेशानी भी नहीं उठानी पड़ी और कांग्रेस की प्रतिष्ठा भी बच गयी।

जिन दिनों कांग्रेस अपने अंदरूनी संकट में उलझी थी, उस समय वाम संगठनों का मोर्चा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध जन चेतना पैदा करने में जुटा था। मद्रास, बंबई, बंगाल सभी राज्यों में मजदूर व नौजवान राजनीतिक आंदोलन में बड़ी संख्या में शामिल हो रहे थे। इसी बीच सुभाषचंद्र बोस कलकत्ता में 2 जुलाई 1940 को एक आंदोलन के दौरान डिफेंस आफ इंडिया एक्ट में गिरफ्तार किये गये। नवंबर में उन्होंने सरकार को धमकी भरा पत्र लिखा कि उन्हें अविलंब बिना शर्त रिहा किया जाय अन्यथा वे अनशन शुरू कर देंगे। उन्हें 5 दिसंबर को रिहा किया गया और घर में ही निगरानी रखी जाने लगी। इसी बीच उन्होंने देश से बाहर निकलने की योजना बनायी और बंगाल और पंजाब के कम्युनिस्ट नेताओं की मदद से जनवरी 1941 को इसे अंजाम देने में सफल हो गये। भारत में बहुत दिनों तक यह पता नहीं चल पाया कि वे कहां हैं। बीच में यह भी खबर फैली कि हवाई दुर्घटना में उनकी मौत हो गयी। बाद में जब अप्रैल 1941 में बर्लिन रेडियो से उनका संबोधन प्रसारित हुआ, तो पता चला कि वे जिंदा हैं और ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध (वस्तुतः मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध) फासीवादी खेमे में शामिल हो चुके हैं। इस प्रकार युद्ध के ऐन मौके पर भारत में साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा बिखर गया और विश्व फासीवाद विरोधी मोर्चे को गंभीर आघात पहुंचा। एक बार फिर वही सवाल उठता है कि क्या उन्हें सुभाषचंद्र बोस के ढुलमुल चरित्र का पता नहीं था ?

1931 के एटक सम्मेलन में उनकी भूमिका को उजागर कर अयोध्या सिंह (भारत का मुक्ति संग्राम) ने इस सवाल का स्पष्ट जवाब दे दिया है : 'कम्युनिस्टों को आशा थी कि सुभाष रायवादियों और सुधारवादियों के विरूद्ध उनका साथ देंगे, लेकिन हुआ उल्टा। विरोध मूलतः मजदूर वर्ग की स्वाधीन राजनीतिक भूमिका को लेकर था। कम्युनिस्ट इस पर जोर देते थे जबकि सुधारवादी और रायवादी मजदूर वर्ग को कांग्रेस और बुर्जुवा वर्ग का दुमछल्ला बना देना चाहते थे। सुधारवादी, रायवादी और सुभाष वगैरह एक हो गये और कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलनेवाली बड़ी–बड़ी यूनियनों को मान्यता और प्रतिनिधित्व देने से इनकार कर दिया जबकि एम.एन. राय की छोटी–छोटी यूनियनों को प्रतिनिधित्व दिया गया।' यह विवाद अत्यंत मौलिक मुद्दे पर उभरा, लेकिन 'स्वर्णिम काल' के कम्युनिस्ट नेता बड़ी भीड़ और विशाल संगठन की चमक दमक में वर्ग संघर्ष के मूल सिद्धांत देख नहीं पा रहे थे।

***

अध्याय—6

संयुक्त मोर्चा की नीति

साम्राज्यवादी देशों के बदलते शक्ति संतुलन तथा स्वतंत्रता संग्राम के बदलते हालात में कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी भूमिका कैसे तय की, यह हमारी चर्चा का मूल विषय है। यहां पार्टी की बुनियादी कमजोरी एक बार फिर दिखाई पड़ी। इस बार कमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस के निर्णयों के पीछे इसे छुपाने की कोशिश हुई। और साफ शब्दों में कहें, तो दिमित्रोव के फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की थीसिस की आड़ में। यह प्रवृति आज भी मौजूद है, कई कम्युनिस्ट नेता आज भी इस प्रचार में लगे रहते हैं कि कमिंटर्न ने अपने वामपंथी भटकावों को सातवीं कांग्रेस में ठीक किया था। लेकिन कमिंटर्न ने मामले को इस रूप में नहीं देखा था। अपनी थीसिस पर बहस का जबाव देते हुए दिमित्रोव ने बदलती विश्व राजनीति में कमिंटर्न की कार्यनीति में बदलाव का उल्लेख किया था, ठोस परिस्थिति के ठोस विश्लेषण और तद्नुसार नीतियों में बदलाव के रूप में इसे देखा था :

'आज फासिस्ट प्रतिक्रांतिकारी मेहनतकश जनता के शोषण व उत्पीड़न की सबसे बर्बर सत्ता कायम करने की कोशिश में पूंजीवादी जनवाद पर हमला कर रहे हैं। आज अनेक पूंजीवादी देशों में मेहनतकश जनता सर्वहारा अधिनायकत्व और पूंजीवादी जनवाद के बीच चुनाव की परिस्थिति का सामना नहीं कर रही है, बल्कि वह पूंजीवादी जनवाद और फासिज्म के बीच चुनाव की मजबूरी में फंसी है। इस प्रकार, आज हमारे सामने नयी परिस्थिति मौजूद है जो पूंजीवादी स्थायित्व के दौर की परिस्थिति से भिन्न है।' (ज्यार्जी दिमित्रोव : चुनिंदा भाषण व लेख, जन्म शताब्दी खंड, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस)।

यह थी बदली हुई परिस्थिति जिसमें कमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस ने अपनी रणनीति बदली थी और पूंजीवादी जनवाद की रक्षा का आह्वान किया था। इतना ही नहीं, अपने उसी भाषण में दिमित्रोव ने इस बदलाव के अनुसार नीति को नहीं बदलने के लिए कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की आलोचना तक की थी। 'कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों, खासकर जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी, की गलती थी कि वे इन बदलावों का जायजा लेने में विफल रहे और उन्हीं नारों व रणनीतियों को दोहराते रहे, जो कुछ दिनों पहले तक सही थीं। ....' इस उद्धरण से सातवीं कांग्रेस के बारे में कमिंटर्न और दिमित्रोव की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

इसी परिस्थिति के आलोक में भारतीय कम्युनिस्टों की भूमिका का आकलन व विश्लेषण किया जाना चाहिए। उस समय भारत में जनवाद की स्थापना के लिए

जरूरी था कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से पूरी तरह मुक्त हो, अन्यथा यह विवाद उसके लिए निरर्थक था। इस प्रकार गुलाम भारत में जनवाद बनाम फासीवाद का प्रश्न परिस्थिति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करता था, क्योंकि इसके निराकरण का अधिकार भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में था ही नहीं। लेकिन परोक्षतः वह तीन बिंदुओं के इर्द-गिर्द अपना प्रभाव छोड़ता था : संभावित विश्वयुद्ध में फासीवाद की विजय से भारत पर साम्राज्यवाद का शिकंजा मजबूत होगा, विश्व समाजवाद के गढ़ सोवियत संघ की पराजय से राष्ट्रीय मुक्ति का सपना चूर-चूर हो जायेगा और फासीवाद की पराजय तथा सोवियत खेमे की जीत से साम्राज्यवाद की पकड़ अंततः कमजोर होगी। इस प्रकार स्वतंत्रता संग्राम का भविष्य अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के अधीन चला गया था।

इस स्थिति के मद्देनजर कांग्रेस में भी बहस तेज हो गयी थी। जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में इस बहस और कांग्रेस के अंदरूनी विभाजन की चर्चा की है। उनके अनुसार किसी भी देश का मुक्ति संग्राम अंतरराष्ट्रीयता की उस स्तर की समझ हासिल नहीं कर सका था जो कांग्रेस नेताओं में देखी जा रही थी। लेकिन यहां भी एक खेमा ऐसा था जो स्पेन, चीन, अवसिनिया तथा चेकोस्लोवाकिया जैसे देशों के जनवादी संघर्षों के समर्थन में जाने से कतरा रहा था। उसे लगता था कि जर्मनी, जापान और इटली जैसे शक्तिशाली देशों को क्यों नाराज किया जाय, बेहतर है कि ब्रिटेन के हर दुश्मन का उपयोग स्वतंत्रता संग्राम के पक्ष में किया जाय। उनका इशारा सुभाषचंद्र बोस की ओर है, लेकिन वे यह भी दोहराते हैं कि कांग्रेस के पक्ष में जनसमर्थन के कारण वे खुला विरोध करने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे।

कम्युनिस्ट पार्टी की दुविधा इससे कम नहीं थी। दिमित्रोव थीसिस से निकले सूत्रों में वह उलझकर रह गयी थी। अपनी वैचारिक कमजोरी के कारण पार्टी कार्यनीतिक लाईन और विचारधारा का अंतर नहीं समझ पा रही थी। उपर्युक्त थीसिस में केंद्रीय प्रश्न था कि उपनिवेशों/अर्द्धउपनिवेशों में कम्युनिस्टों को राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर अपना नेतृत्व स्थापित करने की भरपूर कोशिश करनी चाहिए, पूंजीवादी पार्टियों के साथ सहयोग का उद्देश्य व लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। उस थीसिस में एक बात साफ थी कि इन देशों में साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा में कम्युनिस्टों के काम-काज का तरीका उस देश की ठोस परिस्थिति पर निर्भर करेगा। इस विषय पर बेहतर समझ के लिए उनके शब्दों को उद्धृत करना बेहतर होगा : 'उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में साम्राज्यवाद विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चा के निर्माण में सर्वोपरि जरूरी बात है कि जनता के साम्राज्यवाद विरोधी

संघर्ष की परिस्थितियों, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की परिपक्वता की अलग–अलग मात्रा, इसमें सर्वहारा की भूमिका और जनता पर कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव की समझ हासिल की जाय।'

इस मूल प्रस्थापना के आलोक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को उनका सुझाव इस प्रकार था : 'भारत में कम्युनिस्टों को सभी साम्राज्यवाद विरोधी जन कार्रवाईयों का समर्थन करना चाहिए, उनको विस्तार देना चाहिए तथा उनमें शामिल होना चाहिए। उन कार्रवाइयों को भी नहीं छोड़ना चाहिए जो राष्ट्रीय सुधारवादी नेतृत्व में चल रही हैं। अपनी राजनीतिक–सांगठनिक स्वतंत्रता बरकरार रखते हुए उन्हें उन संगठनों के भीतर सक्रिय काम जारी रखना चाहिए जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेते हैं। यह काम उन्हें भारतीय जनता के ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी मुक्ति आंदोलन के संकल्प के साथ उन (संगठनों) में राष्ट्रीय क्रांतिकारी खेमा के गठन की प्रक्रिया को सुगम बनाते हुए करनी चाहिए।' (www.marxist.org, 7th Cong. अनुवाद हमारा)। इस उद्धरण में सुधारवादी संगठनों में कम्युनिस्टों के काम करने के उद्देश्य, तरीके और लक्ष्य बड़े साफ शब्दों में बताये गये हैं। सवाल है कि क्या कम्युनिस्ट पार्टी भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की परिस्थिति व आंदोलन की परिपक्वता की सही समझ हासिल कर अपनी ठोस भूमिका का निर्धारण कर पायी ?

इस सवाल का माकूल जबाव खोजने के पहले हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि भारत के कम्युनिस्टों ने दिमित्रोव के दिशा–निर्देश पर काम नहीं किया था। उन्होंने दत्त–ब्रेडले थीसिस के दिशा निर्देश पर काम किया था। इसके मुख्य शिल्पी रजनी पाम दत्त की सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वे भारतीय पूंजीवाद और चीनी पूंजीवाद के मौलिक अंतर को नहीं समझ पाये थे। वे नहीं समझ पाये थे कि डा० सनयात सेन के नेतृत्व में जारी पुराने तीन 'जन सिद्धांत' और कम्युनिस्टों के साथ गठबंधन के तहत तीन नये 'जन सिद्धांत' के बीच काफी अंतर था और उसका वर्गीय अंतर्य सर्वहारा के हित में था। उन्होंने सतही सादृश्य के आधार पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों के निजी हैसियत से क्वोमिंतांग के सदस्य बनने की नीति का अनुसरण करते हुए भारतीय कम्युनिस्टों को सलाह दी कि वे निजी हैसियत से कांग्रेस के सदस्य बनें और उसे सही अर्थों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी मंच में बदल डालें। यह तुलना बेमेल थी, इसलिए इससे क्रांतिकारी परिणाम न निकल सकता था और न निकला।

उनका (दत्त का) दूसरा तर्क भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अंदरूनी कलह के संदर्भ में था। उन्होंने इस तथ्य पर ज्यादा जोर दिया कि कांग्रेस में पूंजीपति वर्ग के

दक्षिणपंथी तथा वामपंथी तत्वों के बीच खींचतान पराकाष्ठा पर है। दक्षिणपंथी तत्व बड़े जमींदारों, पूंजीपतियों, सांप्रदायिक तत्वों तथा अंग्रेजों के गुलाम प्रतिनिधियों से मिलकर मजदूरों, किसानों तथा प्रगतिशील तत्वों का रास्ता रोक रहे हैं। वामपंथी तत्व उनके खिलाफ आवाज उठा रहे हैं। इससे उन्होंने बड़ा ही सतही निष्कर्ष निकाल लिया कि कम्युनिस्टों के शामिल होने से यह संतुलन बदलेगा और कांग्रेस साम्राज्यवाद विरोधी सशक्त जन मोर्चा में तब्दील हो जायेगी। यहां भी वे गलत थे और अपने "वामपंथी नायक" जवाहरलाल नेहरू का चरित्र नहीं समझ पा रहे थे।

इस थीसिस का दीर्घकालिक परिणाम जगजाहिर है। दरअसल उस समय की परिस्थिति भी रजनी पाम दत्त के विश्लेषण से मेल नहीं खाती थी। 1930–31 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में जनता के विद्रोही तेवर के साथ विश्वासघात के कारण कांग्रेस की सदस्य संख्या (अयोध्या सिंह के अनुसार) घटकर पांच लाख से नीचे चली गयी थी। इस स्थिति में इसके शातिर नेतृत्व ने जरूरी समझा कि कुछ जनोत्तेजक नारे उछाल कर जनता को आकर्षित किया जाय।

दूसरी ओर उनकी बेलगाम आकांक्षा को लगाम लगाने के लिए कांग्रेस की नीति–रीति में संशोधन भी किये गये। 1934 के संशोधन के अनुसार कांग्रेस वर्किंग कमिटी का अब चुनाव नहीं होगा, अध्यक्ष सदस्यों को मनोनीत करेगा। साथ ही, यह नियम बनाया गया कि 'जो कांग्रेस सदस्य हाथ का काता और हाथ का बुना खद्दर आदतन नहीं पहनता, जो महीने में कम से कम 500 गज अच्छा सूत नहीं कातता या उसके बदले में कांग्रेस वर्किंग कमिटी द्वारा निर्धारित हाथ का काम नहीं करता, वह कांग्रेस का पदाधिकारी न हो सकेगा।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह)। इस पाबंदी के साथ कांग्रेस का अधिवेशन (1936) लखनऊ में हुआ जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। उनके भाषण में समाजवादी तेवर के साथ साम्राज्यवाद विरोधी जन मोर्चा का आह्वान मुखरित हो रहा था। उनकी घोषणा की पूरी हवा कांग्रेस वर्किंग कमिटी के गठन के समय निकल गयी। उसमें समाजवादी विचारधारा के तीन सदस्य लिये गये और बहुमत दक्षिणपंथियों का बना रहा। इसका नतीजा हुआ कि जब अध्यक्ष ने कांग्रेस में मजदूरों, किसानों, छात्रों को संगठित रूप में शामिल करने का प्रस्तव वर्किंग कमिटी में रखा, तो बहुमत से खारिज हो गया और उसकी जगह निजी हैसियत से शामिल करने की नीति स्वीकार की गयी।

उपर्युक्त कायदा–कानूनों और प्रस्ताव की शर्त को देखने के बाद यह समझना मुश्किल नहीं रह जाता कि सनयात सेन के नेतृत्व वाले क्वोमिंतांग और कांग्रेस के

बीच कितना फर्क था ! क्वोमिंतांग के लिए साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष व विजय प्राथमिक लक्ष्य था, लेकिन कांग्रेस के लिए अहिंसा, सूत, खादी, हाथ से काम प्राथमिक था और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष बाद की बात थी। इन शर्त्तों पर कांग्रेस में शामिल होने का निर्णय न तो लेनिन की शिक्षा के अनुकूल था और न दिमित्रोव की प्रस्तावित नीति के।

इस स्थिति की स्पष्ट समझ के लिए चीन के वांग मिंग के सुझाव पर एक नजर जरूरी है। उनका मानना था कि उपनिवेशों/अर्द्ध–उपनिवेशों में मजदूरों, किसानों, निम्नपूंजीपतियों और पूंजीपतियों का एक मोर्चा होना चाहिए और कम्युनिस्टों को इसमें सामान्य जन की हैसियत से भाग लेना चाहिए। दिमित्रोव ने मंच में सर्वहारा नेतृत्व स्थापित करने के कार्यभार पर जोर दिया था जो संगठन के लेनिनवादी सिद्धांत के अनुकूल था, लेकिन वांग मिंग के प्रस्ताव में इसका लेशमात्र तक नहीं था। कमिंटर्न ने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था। बाद में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी से भी वे अलग हो गये और क्रांति विरोधी बन गये। रजनी पाम दत्त की सलाह वांग की राय से मिलती जुलती थी।

जिस समय कमिंटर्न की नीति की आड़ में दत्त अपनी नीति भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में घुसेड़ रहे थे, उस समय इस पार्टी के महासचिव पी.सी. जोशी (पुरन चंद जोशी) थे। ऐसा माना जाता है कि उनके नेतृत्व का काल 'स्वर्णिम काल' था, उस समय पार्टी खूब फली–फूली और किसान, छात्र, बुद्धिजीवी, संस्कृति सभी मोर्चा पर विकास हुआ। लेकिन यह भी सच है कि दूसरी पार्टी कांग्रेस (1948) में उनकी नीतियों की जमकर आलोचना हुई, उन्हें महासचिव पद छोड़ना पड़ा और 1950 में उनपर जवाहरलाल नेहरू का एजेंट होने का आरोप लगाकर पार्टी से निकाल दिया गया। लेकिन वे ज्यादा दिनों तक निष्कासित नहीं रहे। 1951 में वे फिर पार्टी में शामिल किये गये। 1964 में (पार्टी की सातवीं कांग्रेस) भाकपा के नीति निर्धारकों में एक बने, फिर भी उन्हें नेतृत्व में जगह नहीं मिली थी। 'स्वर्णिम काल' के इस नेता की ऐसी दुर्गति क्यों हुई ?

पी.सी. जोशी उत्तरप्रदेश (अब उत्तराखंड) के अल्मोड़ा के रहनेवाले थे और उनकी शिक्षा–दीक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुई थी। यहीं वे कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रभाव में आये। इसके पहले उनपर जवाहरलाल नेहरू के समाजवादी रूख का प्रभाव था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि नेहरू समाजवाद से प्रभावित होने का स्वांग 1927 से ही रचने लगे थे। उसी साल कमिंटर्न की देखरेख में ब्रेसेल्स (बेल्जियम) में आयोजित उत्पीड़ित देशों के साम्राज्यवाद विरोधी सम्मेलन में उन्होंने कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया था और उसकी कार्यकारिणी में चुने गये

थे। जोशी के बारे में सबसे उल्लेखनीय बात है कि भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में उन्हें सबसे कम उम्र का महासचिव (28 साल) होने का गौरव प्राप्त है। इसके पहले राजनीतिक कार्यकलापों में इनका योगदान बहुत कम था। उत्तरप्रदेश में मजदूर–किसान पार्टी (अक्तूबर 1928 में गठित) के माध्यम से सक्रिय थे और उसके महासचिव भी बने थे। उसी साल कलकत्ता (अब कोलकाता) में आयोजित इस संगठन की अखिल भारतीय कार्यकारिणी समिति में लिये गये। कानपुर के मजदूर संगठनों तथा इलाहाबाद में छात्र संगठन में उन्होंने भूमिका निभायी थी। 1929 में वे औपचारिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने। अपने इन्हीं कामों के कारण वे ब्रिटिश साम्राज्य की नजरों में आये, मेरठ षड्यंत्र केस के अभियुक्त बने और 1933 में जेल से रिहा हुए।

पार्टी नेतृत्व की सूची में आने के लिए यह उपलब्धि काफी हो सकती है, लेकिन महासचिव बनने के लिए नहीं। तब सवाल उठता है कि डांगे, मुजफ्फर अहमद, जी. अधिकारी जैसे अन्य अनुभवी नेताओं के रहते जोशी को यह जिम्मेवारी क्यों दी गयी ? इस सवाल का जवाब सुप्रकाश राय ने अपनी लेख शृंखला (1968) में देने की कोशिश की थी जो जनवरी 2010 में रेडिकल इम्प्रेशन कोलकाता की ओर से 'भारतेर कम्युनिस्ट पार्टीर इतिहासेर रूपरेखा' नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई है। उनका मानना था कि एकीकृत पार्टी की घोषणा के बावजूद पार्टी क्षेत्रीय ग्रुप मानसिकता से मुक्त नहीं हो पायी थी और जोशी इस विवाद में समझौता का बिंदु बनकर उभरे थे जिनका प्रभाव सबसे कम था। इस विशेष परिस्थिति में उनकी कमजोरी ही ताकत बन गयी थी। सुप्रकाश राय के अनुसार जोशी का समाजवाद नेहरू के निम्नपूंजीवादी मॉडल में व्यक्त होता था। उन्होंने जून 1950 में पार्टी से अपने निष्कासन के जवाब के समय स्वीकार किया था : मैं ऐसा व्यक्ति था जो बुद्धिजीवी होकर इतिहास के घटनाचक्र में कम्युनिस्ट पार्टी के उच्चतम नेतृत्व के आसन तक पहुंच गया।

तो भी उलझन बरकरार है कि घटनाचक्र के प्रवाह में शिखर पर पहुंचे (नौसिखुआ) व्यक्ति के नेतृत्व में तथाकथित 'स्वर्णिम युग' का निर्माण कैसे हुआ। इसका जवाब उस समय की परिस्थितियों में खोजा जाना चाहिए। जिस समय पी.सी. जोशी पार्टी की कमान संभाल रहे थे, वह राजनीति में हलचल का दौर था। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण, कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध, जुझारू क्रांतिकारी संगठनों में बिखराव तथा गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट–1935, इसके मुख्य लक्षण थे। कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के बीच साझी कार्रवाई की एकता इस दौर की बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। ऐसी उपलब्धि पर

आज भी वाह–वाह करने वाले लोग यह समझने की कोशिश नहीं करते कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी क्यों पैदा हुई और उसका चरित्र क्या था ?

इस बारे में इतिहासकार अयोध्या सिंह (भारत का मुक्ति संग्राम) की टिप्पणी गौर करने लायक है : '1922 में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ विश्वासघात का परिणाम स्वराज पार्टी का जन्म था और 1934 के विश्वासघात का परिणाम था कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म। स्वराज पार्टी को जन्म देनेवाले दक्षिणपंथी थे, लेकिन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को जन्म देनेवाले थे वामपंथी।' इस के वर्ग चरित्र के बारे में उनका मानना है कि 'वामपंथी राष्ट्रवादी पेट्टी बुर्जुआ वर्ग' की पार्टी थी।

दूसरी ओर उन्हीं के वर्णित तथ्यों से पता चलता है कि यह पार्टी विभिन्न किस्म के तत्वों की बेमेल खिचड़ी थी। उसके केंद्रीय नेताओं के साथ–साथ बंबई, बंगाल तथा संयुक्त प्रान्त के नेता चाहते थे कि कार्यकर्त्ता कांग्रेस की विचारधारा मानें और कम्युनिस्टों से दूर रहें, लेकिन केरल, तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश की कमिटियां वामपंथी रूझान की थीं और कम्युनिस्ट विचारधारा को सही समझती थीं। यह विभाजन मूल रूप में शुरू से मौजूद था जिसे छुपाने के लिए दक्षिणपंथी कई हथकंडे अपनाते थे : जैसे उनके झंडे लाल होते थे, 'कामरेड' संबोधन का उपयोग करते थे, 'वे विकेन्द्रीकृत समाजवाद की वकालत करते थे', विचारधारा में मार्क्सवाद स्वीकार करते थे, लेनिनवाद नहीं। दरअसल वे सामाजिक जनवाद और दूसरे इंटरनेशनल की संतान थे लेकिन उसपर पर्दा डालने के लिए भारतीय संस्करण का लेप चढ़ा लेते थे और मार्क्सवाद के मुखौटे में वे गांधीवाद का आचरण करते थे। आंदोलन के विस्तार के साथ यह खींचतान और तेज हुई तथा कम्युनिस्टों के साथ उनकी एकता टूट गयी। लेकिन इस अंतःक्रिया के प्रभाव में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कई क्षेत्रीय नेता अपने दल–बल के साथ कम्युनिस्ट पार्टी में आ गये। यह पार्टी विस्तार का पहला स्रोत था।

उस दौर में जुझारू राष्ट्रवादी संगठनों में भी बिखराव की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। इस बिखराव के कई कारण थे : ब्रिटिश सरकार के निर्मम दमन के कारण शीर्षस्थ नेताओं की गिरफ्तारी व हत्या के फलस्वरूप स्थानीय संगठनों को एकसूत्र में बांधनेवाली शक्ति का अभाव, जनांदोलन की जरूरत का अहसास, कांग्रेस के भीतर खींचतान तथा कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार में समझौता की संभावना के तहत आजादी की उम्मीद। इन विभिन्न कारकों के तहत ये आंदोलन बिखरे और उनके अलग–अलग तत्व अपनी राजनीतिक सोच के अनुसार अलग–अलग समूहों के साथ जुड़े। कुछेक नये संगठन भी खड़े हुए। इस क्रम में कई लोग, जिनमें अधिकांश हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन से जुड़े थे,

कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए। यह संगठन के विस्तार का दूसरा स्रोत था।

इस तरह कार्यकर्त्ताओं की संख्या में आयी बढ़ोतरी से जनता के बीच काम करने की अच्छी परिस्थिति पैदा हुई, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट–1935 के तहत राज्यों में चुनाव होने और कांग्रेसियों के मंत्रिमंडल गठन से उस दमघोंटु माहौल में थोड़ी राहत भी मिली। लेकिन अक्सरहां होता है कि हर विस्तार में कार्यकर्त्ताओं की जमात आती है, तो अपने साथ पुराना वर्गीय दुर्गुण भी लाती है जिसे पार्टी नेतृत्व को सुधारना पड़ता है और इसके लिए पार्टी में हमेशा वर्ग संघर्ष चलता रहता है। उस समय का पार्टी नेतृत्व सर्वहारा के राजनीतिक दृष्टिकोण से इस संघर्ष को चलाने में असमर्थ साबित हुआ। पार्टी गठन के समय जिस तरह की विजातीय कमजोरियां थीं, वे बदली हुई परिस्थिति में नये रूप में प्रकट हुईं। इस अर्थ में 'स्वर्ण काल' के चकाचौंध के पीछे अंधकार युग के बीज पड़ रहे थे।

यह बात दूसरे विश्वयुद्ध और सत्ता हस्तांतरण के दौर में साफ हो गयी। पूरी दुनिया में फासीवाद और (औपनिवेशिक देशों में) साम्राज्यवाद के विरोध में जनमोर्चा के निर्माण की अपील मुख्यतः इस युद्ध के खिलाफ कम्युनिस्टों और पूंजीवादी जनवादियों के संयुक्त संघर्ष को ध्यान में रखकर की जा रही थी। लेकिन भारत में इस मोर्चे की रीढ़ कांग्रेस पार्टी थी जो गांधी की इच्छा के विपरीत नहीं जा सकती थी; पार्टी के अध्यक्ष चाहे जो रहें, बहुमत हमेशा गांधी भक्त दक्षिणपंथियों का होता था। इस सच को जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी में इन शब्दों में स्वीकार किया है :

'वह कमिटी (1931 कांग्रेस में निर्वाचित) असल में गांधी जी की बनायी हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह मशविरे से उन्होंने इस कमिटी को नामजद किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गयी थी।'

कांग्रेस की कार्यपद्धति के लिए यह आम बात थी। नेहरू के शब्दों में ही 'कमेटी में गांधी जी की चलती थी और सब लोग नेतृत्व के लिए उन्हीं की ओर देखते थे।' यह था हर साल होने वाले कांग्रेस के महाधिवेशन के मुखौटे के पीछे का असली चेहरा। ऐसी स्थिति में साम्राज्यविरोधी सच्चे जनमोर्चा के निर्माण की स्थिति सिर्फ तब पैदा होती जब कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग अपना जनाधार इतना विशाल बना पाती कि वह कांग्रेस पर उसके सामने झुकने का दबाव बना पाती जैसा कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी कर पायी थी।

***

अध्याय–7

भारत छोड़ो आंदोलन और कम्युनिस्ट

'भारत छोड़ो आंदोलन' (9 अगस्त, 1942) स्वतंत्रता संग्राम का अत्यंत महत्वपूर्ण मोड़ है। इसका श्रेय कांग्रेस को जाता है और कम्युनिस्टों पर "गद्दार" होने का तोहमत आज तक मढ़ा जाता है। पूंजीवादी इतिहासकारों व बुद्धिजीवियों के दल ने तथ्यपरक ढंग से सच को समझने और जनता को समझाने का प्रयास तक नहीं किया। आज तो यह राजनीतिक जुमला बन गया है। तब के कट्टर अंग्रेजपरस्त सामाजिक व राजनीतिक संगठनों के उत्तराधिकारी तक इस जुमले का उपयोग कर अपनी विफलता पर पर्दा डाल देते हैं और पूंजीपति वर्ग के टुकड़खोर इतिहासकार व बुद्धिजीवी यह सवाल नहीं उठाते कि जिन पार्टियों और नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खुलकर साथ दिया था और जो पूर्ण स्वतंत्रता के नारे को टालने और (बाद में) भटकाने की जीतोड़ कोशिश करते रहे उनमें अचानक यह जोश कहां से पैदा हो गया ? वे यह भी नहीं पूछते कि उस समय खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों की दलाली करनेवाले हिंदू और इस्लामी कट्टरपंथी किस मुँह से कम्युनिस्टों पर तोहमत लगाते हैं ? आज तो यह सवाल सबसे मौजूँ हो गया है कि कट्टर हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद की आड़ में अमेरिकी हितों की रक्षा करनेवाले तथा सबको देशद्रोही घोषित करनेवाले आर.एस.एस. के दिग्गज उस समय क्या कर रहे थे, कहां खड़े थे!

ये सारे प्रश्न आज भले ही यक्ष प्रश्न बन गये हों, लेकिन अतीत में देश की मेहनतकश जनता ने इस सवाल का जवाब दे दिया था। "स्वतंत्र भारत" में संसदीय चुनावों के दौरान जब कांग्रेस की आंधी में हिंदुत्ववादी से लेकर समाजवादी तक तिनके की तरह उड़ गये थे, तब चट्टान की तरह कम्युनिस्ट ही खड़े थे। ऐसा इसलिए हो सका था कि देश के मजदूर–किसान पूरी निष्ठा के साथ उनके पक्ष में खड़े हुए। उन्होंने बेलाग घोषणा कर दी कि कम्युनिस्ट पार्टी के लिए देश के गद्दार होने का आरोप पूंजीवाद का सच है और उनका देशभक्त होना सर्वहारा का सच है। बाद के दिनों में यह सच गड्डमड्ड हो गया, क्योंकि उन कम्युनिस्टों ने सर्वहारा हित को पूंजीवादी बाजार में निलाम करना शुरू कर दिया और वह स्थान कोई अन्य नहीं ले सका।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कांग्रेस अपने जन्म काल से लेकर पहले विश्वयुद्ध तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कठपुतली बनी रही, लेकिन उसके बाद उसने दलाल बनकर समझौता और संघर्ष (जिसमें समझौता प्रमुख होता था) की

नीति अपनानी शुरू की। यह भारत के पूंजीपति वर्ग की अवस्था में आ रहे बदलाव की अभिव्यक्ति थी और इसी बिंदु पर मोहनदास करमचंद गांधी की ऐतिहासिक भूमिका उभरकर सामने आयी। इस अवधि में वे कांग्रेस के एकछत्र नेता बने रहे तथा आजादी के मसीहा के रूप में जनमानस पर छा गये। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के दौर में कांग्रेस पार्टी और उनके बीच मतभेद गहरे होने लगे थे। यहां तक कि उनके भक्तों का विश्वास भी डोलने लगा था।

कांग्रेस पार्टी इस पक्ष में थी कि अंग्रेज भारत को आजाद कर दें या युद्ध के बाद आजाद करने का आश्वासन दें तथा युद्ध के अंतराल में वायसराय की सलाहकार परिषद में भारतीयों को निर्णय लेने का अधिकार सुनिश्चित कर दें तो वे युद्ध में मित्र राष्ट्रों के पक्ष में अपनी भूमिका तय कर सकते हैं। कांग्रेस के भीतर इस बिंदु पर ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता की शर्तों को लेकर खींचतान चल रही थी। गांधी अहिंसा धर्म की रक्षा के नाम पर इस तरह के किसी समझौता के खिलाफ थे। उनका मत था कि देश आजाद हो या न हो, अहिंसा पर आंच नहीं आनी चाहिए। अचानक दोनों की सोच में बदलाव आ गया। समझौता के लिए गिड़गिड़ाने वाली तथा जनांदोलन में अवरोध खड़ा करने वाली कांग्रेस 'भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' के आह्वान पर तुल गयी। यह जोश कहां से पैदा हुआ।

7 दिसंबर 1941 को जापान ने अमेरिकी नौसैनिक अड्डा पर्ल हार्बर पर हवाई हमला किया जिसमें 2300 से ऊपर अमेरिकी मारे गये। इसके बाद अमेरिका युद्ध में प्रत्यक्ष भागीदार बन गया और एशिया–प्रशांत क्षेत्र में उसकी अभिरूचि बढ़ गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद, भारतीय पूंजीपतियों और कांग्रेस पार्टी के नेताओं को यह चिंता सताने लगी कि युद्ध भारत के करीब पहुंच गया है और कभी भी दस्तक दे सकता है। इस स्थिति में कांग्रेसी नेताओं को लगने लगा कि अमेरिकी राष्ट्रपति रूज्वेल्ट ब्रिटेन पर भारत की आजादी के लिए दबाव बना सकते हैं। चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक की भारत यात्रा से इस अनुमान को बल मिला। वह रूज्वेल्ट का दूत बनकर आया था और उसका मुख्य मकसद था कांग्रेसी नेताओं का मनोभाव समझना। इन नेताओं से बातचीत के क्रम में उसने सुझाव दिया था कि अभी डोमिनियन स्टेटस स्वीकार कर लें और बाकी समझौता के लिए युद्ध के बाद दबाव बनायें।

दूसरी तरफ सुभाषचंद्र बोस के बर्लिन से रेडियो प्रसारण के बाद भारतीय राजनीति में नयी खलबली शुरू हुई। युद्ध के शुरूआती दौर में कांग्रेस के नेता इस बात पर सहमत थे कि भारत को मित्र राष्ट्रों के खेमे में रहना चाहिए, क्योंकि वे जनतंत्र के हिमायती हैं और उनको सहयोग करना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के

लिए भी लाभदायक हो सकता है। धूरी राष्ट्रों की फासीवादी नीतियों में इस बात की कोई गुंजाईश उन्हें नहीं दिखती थी। फिर भी, इस बात पर मतभेद था कि भारत युद्ध में शरीक हो या न हो। महात्मा गांधी को छोड़कर शेष कांग्रेसी नेता अपनी शर्त्तों के साथ शरीक होने के पक्ष में थे। इस अंतरविरोध की चर्चा हम कर चुके हैं। स्थिति को भाँपते हुए गांधीजी ने अपना विरोध ढीला कर दिया था। बात तय हो गयी कि उनकी नैतिक असहमति के बावजूद कांग्रेस इस दिशा में आगे बढ़ सकती है।

क्रिप्स मिशन के दौरान यह भावना व्यक्त हो चुकी थी और कांग्रेस के नेता अपने निर्णयों की स्वायतता के आश्वासन के साथ वायसराय कौंसिल में शामिल होने को तैयार थे। इसमें उनकी दो शर्त्तें थीं – कौंसिल में भारतीय सदस्यों का बहुमत सुनिश्चित हो तथा वायसराय की हैसियत संवैधानिक प्रधान की हो, वे कौंसिल के निर्णयों को बदल न सकें। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के विवरण (आजादी की कहानी) के अनुसार शुरू में क्रिप्स इस आश्वासन के लिए तैयार थे, लेकिन बाद की वार्ता में मुकर गये और अचानक वापस लौट गये। इसकी व्याख्या के लिए कई तर्क ढूंढे गये जिनमें सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि चर्चिल रोम–रोम से उपनिवेशवादी था और देश (खासकर युद्ध नीति) की बागडोर भारतीय नेताओं के हाथ में सौंपने को तैयार नहीं था। क्रिप्स मिशन के माध्यम से उसने कांग्रेस और युद्ध के सहयोगी अमेरिका व सोवियत संघ के साथ आँख मिचौनी की कोशिश की। वह संदेश देना चाहता था कि ब्रिटेन उदार मन से वार्ता को तैयार है, लेकिन कांग्रेस सहयोग नहीं कर रही है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इस तिकड़म का जो प्रभाव पड़ा हो, भारतीय जनमानस में निराशा और आक्रोश दोनों पैदा हुए। यह भावना पनपने लगी कि इस युद्ध में ब्रिटेन की पराजय भारत के लिए वरदान साबित होगी। यह बात सच साबित हो सकती थी बशर्त्ते कि भारतीयों के पास सत्ता दखल करने और उसे चलाने की बुनियादी संरचना होती। लेकिन इसका सख्त अभाव था। फिर भी अबुल कलाम आजाद ने 'आजादी की कहानी' में इस दिशा में कदम उठाने की मंशा जाहिर की है कि 'जैसे ही जापानी सेना बंगाल पहुंचे और ब्रिटिश फौज बिहार की ओर पीछे हटने लगे, कांग्रेस को प्रवेश करके देश की बागडोर अपने हाथ में ले लेनी चाहिए।' इसके लिए वे कांग्रेसी स्वयंसेवकों पर निर्भर थे।

यह उनकी मनोकामना हो सकती थी, लेकिन इसे व्यवहार में उतारने के लिए कांग्रेस के पास न तो कोई योजना थी और न साधन। सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि गांधी इस योजना से सहमत नहीं थे। इस स्थिति में इस सोच के पीछे की मंशा

यही हो सकती थी कि जापानी जीतेंगे और अंग्रेजों की तरह भारत पर कब्जा करने के बजाय उसे थाली में सजाकर भारतीयों के सामने परोस देंगे। ऐसा सोचने वाले लोग चीन के अनुभव से सीखने को भी तैयार नहीं थे जहां अपनी गुलामी थोपने के लिए जापानी साम्राज्यवाद ने कैसा नरमेघ रचाया था। इस सोच के पीछे कम्युनिस्ट विरोधी घृणा भी काम कर रही होगी क्योंकि जापानियों के हमले का मुख्य निशाना वही थे।

जो भी हो, साम्राज्यवादपरस्त शक्तियों में भी यह विवाद उठने लगा था कि भारत किसका जुआ अपने कंधों पर उठाये – ब्रिटेन या जापान का ? इस बहस को समझने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक में अध्यक्ष के ये विचार, उल्लेखनीय हैं : 'मैंने उनलोगों की बड़ी तीखी आलोचना की जो सोचते थे कि जापान हिंदुस्तान को स्वतंत्रता दिला देगा। राष्ट्रीय स्वाभिमान की यह मांग है कि हम अपने स्वामी बदलने की बात न सोचें। अंग्रेजों से हमारे मतभेद भले ही हों परंतु हम जापानी हमले का विरोध करेंगे। हम सक्रिय या निष्क्रिय, किसी भी प्रकार जापान का स्वागत नहीं करेंगे।'

जाहिर है कि कांग्रेस में ऐसे लोग थे जो जापानियों का समर्थन करने को तैयार थे। उस समय कलकत्ता का जनमानस क्या था : 'अब अधिकांश लोग यह विश्वास करते थे कि अंग्रेज युद्ध में परास्त हो ज़ायेंगे और उनमें से कुछ जापान की जीत पर प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। अंग्रेजों के विरूद्ध कटुता इतनी बढ़ गयी थी और कभी–कभी यह इतनी प्रबल हो जाती थी कि लोग यह भी न सोच पाते थे कि यदि जापान ने हिंदुस्तान को जीत लिया तो परिणाम क्या होगा' (आजादी की कहानी)। यह कलकत्ता के जनमानस की तस्वीर हो सकती है। पूरे देश की तस्वीर इससे भिन्न थी। इस पर प्रकाश डालते हुए जवाहरलाल नेहरू ने (डिस्कवरी आफ इंडिया) में यह विवरण पेश किया : 'दरअसल जापानपक्षीय जनभावना नहीं के बराबर थी, क्योंकि कोई स्वामी बदलना नहीं चाहता था और चीनपक्षीय भावना प्रबल और व्यापक थी। लेकिन एक छोटा ग्रुप था जो अप्रत्यक्ष रूप से जापान के पक्ष में था, क्योंकि उसे लगता था कि भारत की आजादी के पक्ष में जापानी हमले का लाभ उठाया जा सकता है। वे लोग सुभाषचंद्र बोस के प्रसारण से प्रभावित थे।'

इनमें अधिकांश लोग खास तौर पर धनी–मानी लोग थे जिनके लिए सत्ता का उद्देश्य अपने को और अपनी जायदाद को बचा लेना था। इस तरह की मानसिकता वाले लोग अंग्रेजों द्वारा उनके अपने हित में पैदा किये गये थे और अब वे बदलती परिस्थिति में अपने हितों को ध्यान में रखकर मालिक बदलने का मन बना रहे थे। यूरोप में इस तरह के लोगों की बाढ़ देखी जा चुकी थी, फ्रांस और बेल्जियम जैसे

देश इस आचार–विचार के साक्षी बनकर हिटलरी बूट के नीचे रौंदे जा रहे थे। उस समय ऐसे राजनेताओं व वर्गों को 'पांचवां स्तंभवादी' कहा जाता था और ब्रिटेन तथा फ्रांस के पूर्व प्रधानमंत्री चैम्बरलेन और देदियार तक इस श्रेणी में गिने जाने लगे थे। भारत में भी उसकी पुनरावृत्ति हो रही थी।

भारत का यही वर्ग युद्ध से मालामाल हो रहा था। लेकिन अब की बदलती स्थिति में उसकी दौलत पर खतरा मंडराने लगा था। इस खतरे के सरकारी आकलन का अनुमान कलाम आजाद के इन शब्दों से लगाया जा सकता है : 'सरकार को अनुमान है कि हिंदुस्तान पर जापान का आक्रमण होगा। सरकार का कुछ ऐसा विचार लगता था कि जापान ने सारे देश पर हमला न भी किया तो वह बंगाल पर अधिकार जमाने का प्रयास अवश्य करेगा। सरकार ने पहले से ही कुछ आवश्यक सावधानियां बरत ली थीं। उसने विभिन्न स्थानों पर मुठभेड़ करने की योजना बना ली थी और अस्थायी आदेश भी तैयार कर लिये थे ताकि जापान के हमले के बाद अगर पीछे हटना आवश्यक हो जाय तो किस रास्ते से पीछे हटा जाय। सरकार ने यह भी निर्णय कर लिया था कि यदि जापान का हमला हुआ तो 'सर्वक्षारा नीति' का अनुसरण किया जाएगा। सरकार ने इस बात की तैयारी कर ली थी कि आवश्यकता पड़ने पर महत्वपूर्ण पुलों को उड़ा दिया जायेगा ताकि वे जापान के हाथ न लगने पायें। जमशेदपुर की टाटा आयरन एंड स्टील फैक्टरी नष्ट कर देने की योजनाओं का किसी तरह पता चल गया था और इस कारण उस समूचे क्षेत्र में बेचैनी और चिंता व्याप्त हो गयी थी।'

गांधी और कांग्रेस की नीति में अचानक बदलाव को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। कांग्रेस के भीतर नीतिगत संतुलन उलट गया था। जो लोग युद्ध के शुरू में ब्रिटिश सत्ता के विरोध में मुखर थे, उनकी आवाज नरम पड़ने लगी और उस समय जिनका रूख नरम था, वे ज्यादा मुखर होने लगे। कोई कुतर्की बुद्धिजीवी इस बदलाव की तुलना रूसी क्रांति में बोल्शेविकों की नीति से कर सकता है और समझा सकता है कि जिस तरह विश्वयुद्ध में फंसी पूंजीवादी सत्ता बोल्शेविकों ने उलट दी थी, उसी तरह गांधी ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ने की दिशा में प्रयत्नशील हो रहे थे। लेकिन यह तुलना निरर्थक है और कुतर्क की पराकाष्ठा है।

गांधी की इस मंशा का खुलासा कलाम आजाद की इन पंक्तियों से होती है : 'जापानी फौज अगर हिंदुस्तान में घुसी तो वह अंग्रेजों के दुश्मन की हैसियत से आयेगी, हमारा दुश्मन होकर नहीं। ...यदि अंग्रेज हिंदुस्तान छोड़कर चले जायें तो जापान हिंदुस्तान पर हमला नहीं करेगा' (आजादी की कहानी)। यह सोच 'भारत छोड़ो' आह्वान का मूल आधार थी और उस समय पनप रही थी, जब जापानी हमला

की संभावना वास्तविकता बनकर सामने खड़ी थी। जापानी फौज बर्मा पर कब्जा कर चुकी थी, वहां ब्रिटिश फौज ताश के महल की तरह बिखर चुकी थी और उसका अगला लक्ष्य असम हो सकता था। इस स्थिति में यह अंदाज लगाना मुश्किल नहीं है कि यह जापानियों के आवभगत की, पांचवें स्तंभवादियों की नीति थी।

भारतीय जनमानस के बारे में जवाहरलाल नेहरू के विश्लेषण में भी इस सच्चाई की झलक मिलती है : 'वर्तमान से गहरी नाराजगी थी और भविष्य भी उतना ही अंधकारमय लगता था। लोगों में कार्यवाही के लिए देशभक्तिपूर्ण आंदोलन का आग्रह नहीं था, हमला और सबसे बूरे भविष्य से अपनी रक्षा की सिर्फ इच्छा भर थी। थोड़े से लोग अंतरराष्ट्रीय विचारों से प्रभावित होकर आंदोलित थे' (डिस्कवरी आफ इंडिया)।

आत्मरक्षा की प्रबल इच्छा पूंजीपतियों की थी, कांग्रेस उनकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती थी और इससे सर्वाधिक प्रभावित होनेवाला विशाल जनसमूह निष्क्रिय मुद्रा में था। अपने तथ्यपरक उक्त विश्लेषण के बावजूद नेहरू ने अपने निष्कर्ष में गांधी की बदली नीति का बचाव इन शब्दों में किया : भारत में स्वेच्छाचारी व दमनकारी ब्रिटिश सत्ता के सामने निष्क्रिय समर्पण से उनका विरोध और उसको चुनौती देने के लिए कुछ करने की उनकी तीव्र आकांक्षा। ये शब्द सचमुच बड़े जानदार हैं। लेकिन अतीत का विश्लेषण उनके निष्कर्ष को उलझा देता है।

क्या ब्रिटिश राज ने स्वेच्छाचारी व दमनकारी रूप सिर्फ अगस्त 1942 में ही धारण किया था या अपने जन्मकाल से ही वह ऐसा था ? साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि भारत की जनता के सशक्त प्रतिरोध के सामने वह कभी–कभार झुकता रहा, गांधी की अहिंसा की नीति जनता के हर सशक्त प्रतिरोध का विरोध करती रही और लोगों में समर्पणवादी भावना पैदा करने के लिए उनकी नीति काफी हद तक जिम्मेवार रही। 'विरोध' और 'कुछ कर गुजरने की तीव्र आकांक्षा' की भावना पिछले पचीस वर्षों में पैदा की गयी होती तो भारत की स्थिति भी वैसी होती जैसी चीन में थी जिसकी प्रशंसा नेहरू उन दिनों मुक्त कंठ से करते थे। शब्दों में गर्मजोशी और कार्रवाई में समर्पण नेहरू की चारित्रिक विशेषता थी जिसे गांधी भली–भाँति समझते थे।

वस्तुतः गांधी का नजरिया कुछ और था। वे कहते थे कि 'अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह मांग प्रस्तुत कर देनी चाहिए कि अंग्रेज हिंदुस्तान छोड़ जायें। यदि अंग्रेज इस बात पर सहमत हों, तो हम जापानियों को चेतावनी देंगे कि वे और आगे न बढ़ें। फिर भी वे यदि आगे बढ़े तो वह हिंदुस्तान पर हमला होगा,

अंग्रेजों पर नहीं। यदि ऐसी स्थिति आये तो हमें पूरे जोरों से जापान का विरोध करना चाहिए' (आजादी की कहानी)। यह बच्चों जैसी भोली-भाली कल्पना तो हो सकती है, लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की कोई गंभीर योजना नहीं और इसी कल्पना के साथ 'भारत छोड़ो' का आह्वान हुआ था। कांग्रेस अध्यक्ष कलाम आजाद इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थे और मामला यहां तक पहुंचा कि गांधी ने उन्हें इस्तीफा देने की सलाह तक दे डाली, लेकिन पटेल के समझाने बुझाने के बाद मामला खत्म हुआ। यह थी कांग्रेस के भीतर असमंजस की स्थिति। दूसरी ओर कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' आह्वान के जवाब में ब्रिटिश राज की प्रतिक्रिया के बारे में गांधी की उम्मीद और चकित करनेवाली है।

एक तरफ वे जनता से 'करो या मरो' का आह्वान कर रहे थे और दूसरी तरफ सरकार से सदाशयता की उम्मीद लगाये बैठे थे। इसी उम्मीद के साथ महादेव देसाई ने मीरा बेन (मिस स्लेड) को इस प्रस्ताव का सही आशय समझाने के लिए वायसराय के पास दूत के रूप में भेजा। वायसराय ने मिलने से इनकार कर दिया। ब्रिटिश सरकार का रवैया साफ और सख्त था : युद्ध काल में विद्रोह का प्रस्ताव करनेवालों से कोई बात नहीं।

कम्युनिस्ट पार्टी को ब्रिटिश सरकार से ऐसे ही व्यवहार की उम्मीद थी। 14 जुलाई की वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव पर कांग्रेस के नाम खुले पत्र में कम्युनिस्ट पार्टी ने चेतावनी दी थी : 'जब आप संघर्ष आरंभ करेंगे, उस वक्त क्या होगा ? वे चुपचाप आपलोगों को और हजारों सक्रिय कार्यकर्त्ताओं को जेल में बंद कर देंगे और पाखंड के साथ घोषणा करेंगे कि भारत को फासीवादी आक्रमणकारियों से बचा सकने के लिए यह उनका दुर्भाग्यपूर्ण कर्त्तव्य है' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह, रजनी पाम दत्त, इंडिया टुडे से उद्धृत)। आज सभी जानते हैं कि यही हुआ। 8 अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में प्रस्ताव पारित होते ही कांग्रेस के सभी नेता 9 अगस्त को गिरफ्तार कर लिये गये और देश की नेतृत्वविहीन जनता ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' आंदोलन में सड़क पर उतर गयी।

महादेव देसाई मीरा बेन के माध्यम से वायसराय को क्या समझाना चाहते थे, इसका खुलासा लार्ड लिनलिथगो के नाम गांधी के पत्र (14.8.1942) से होता है। इसमें उनकी सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात थी कि वे सरकार से कांग्रेस की मांग पर निष्पक्ष जांच-पड़ताल चाहते थे, कांग्रेस ने अपनी मांग पर विचार करते समय उस हर त्रुटि को दूर कर लिया था जो उसके सामने आयी और आगे उलाहना के स्वर में कहा गया कि अगर आपने मौका दिया होता तो मैं हर कमी को दूर कर लेता। उनके पत्र में दूसरी उलाहना यह है कि सरकार को अखिल

भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा पारित प्रस्ताव के बाद उनके भाषण का प्रामाणिक प्रतिवेदन देखने तक इंतजार करना चाहिए था क्योंकि तब उन्हें (वायसराय को) पता चल जाता कि वे (गांधी) तुरंत किसी कार्रवाई की घोषणा करने वाले नहीं थे और इस अंतराल में सरकार को अपनी तैयारी का मौका मिल जाता।

पत्र की इस भावना से साफ है कि वह आहवान जनता के लिए भले ही 'करो या मरो' की अपील हो, लेकिन कांग्रेसी नेताओं के लिए अगले समझौता के लिए दबाव की कार्रवाई थी। साथ ही जापानियों के लिए संकेत भी कि अगर वे ब्रिटेन को हरा देते हैं तो भारत का पूंजीपति वर्ग और कांग्रेस उनसे भी दोस्ताना संघर्ष की नीति अपनायेंगे।

गांधी की अगली योजना का खुलासा अयोध्या सिंह (भारत का मुक्ति संग्राम) द्वारा उद्धृत रजनी पाम दत्त के इस विवरण से होता है। इसके अनुसार उनकी योजना पहले रूज्बेल्ट, च्यांगकाई शेक को पत्र लिखने की थी। इन सबके बहाने वे सरकार को दो तीन महीने का समय देनेवाले थे। इस बीच कांग्रेस कमिटियों को भेजने के लिए एक सर्कुलर तैयार किया जा रहा था, जिसका ड्राफ्ट पूरा होने के पहले ही कांग्रेस के नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे। उसमें था :

'जब तक गांधी जी तय न करें तब तक कोई भी आंदोलन शुरू न किया जाना चाहिए और न कोई अन्य काम किया जाना चाहिए। हो सकता है, वह कुछ दूसरी ही बात तय करें, तब आप बड़ी अनावश्यक गलती के लिए जिम्मेदार होंगे। तैयार हो जाओ, फौरन संगठित हो जाओ, होशियार हो जाओ लेकिन कोई भी काम मत करो।'

गांधीजी अपनी इसी घोषणा तक इंतजार करने की सलाह लिनलिथगो को दे रहे थे। उन्होंने गृह विभाग को लिखे गये पत्र (15 जुलाई 1943) में कहा : 'कांग्रेस ने कोई भी आंदोलन शुरू नहीं किया।' नेहरू, पटेल और पंत ने संयुक्त बयान (21 दिसंबर 1945) दिया कि 'कोई भी आंदोलन आल इंडिया कांग्रेस कमिटी या गांधीजी द्वारा शुरू नहीं किया गया था।' कांग्रेस के इरादे चाहे जो रहे हों, जनता सचमुच 'करो या मरो' की भावना के साथ मैदान में उतरी थी। उन्होंने किया भी और वे मरे भी। चूंकि उनके पास कोई सुनियोजित कार्यक्रम नहीं था, इसलिए उनके स्वतःस्फूर्त विद्रोह का निशाना बने रेलवे स्टेशन, रेलवे लाइन, पोस्ट आफिस, टेलीग्राम व टेलीफोन के तार। इस आंदोलन में 940 लोग पुलिस या फौज की गोली से मारे गये।

इस बीच समाजवादी धारा के दक्षिणपंथी नेताओं (जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया) ने भूमिगत आंदोलन चलाने की कोशिश की, कुछ हद तक

उन्होंने चलाया भी, लेकिन स्पष्ट नीति व दिशा की कमी के कारण वे लंबा नहीं चला सके तथा नवंबर–दिसंबर तक यह आंदोलन बिखर गया। इस आंदोलन के मुख्य केंद्र उभरे बंगाल, बिहार, युक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बंबई और दिल्ली। यह थी 'भारत छोड़ो' की कांग्रेसी नीति और नीयत। पूंजीवादी राजनीति से प्रभावित इतिहासकारों ने इसका श्रेय उस पार्टी और उसके वैसे ढुलमुल नेताओं पर आरोपित किया जो अपने वक्तव्यों, जीवनवृतों और संस्मरणों में प्रायक्षतः या परोक्षतः इस दायित्व से अपने को अलग करने की कोशिश करते दिखाई पड़ते हैं।

इस स्थिति में हम कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की समीक्षा करें। यह सच है कि 5–7 अगस्त की अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक में कम्युनिस्टों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था। इसके दो कारण थे। पहले कारण का जिक्र किया जा चुका है। जाहिर है, उसका संबंध कांग्रेस की घुटनाटेकु नीतियों और उस समय ब्रिटिश सरकार के आक्रामक रूख से था। इसका दूसरा कारण अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति की उनकी व्याख्या में था। तत्कालीन कम्युनिस्ट नेता परिस्थिति की एकांगी व्याख्या के शिकार हुए और उन्होंने विभिन्न विरोधी वर्गों के बीच संयुक्त मोर्चा के भीतर संघर्ष की नीति की पूरी तिलांजलि दे दी। उन्होंने सोवियत संघ के साथ अमेरिका और ब्रिटेन के समझौते पर ध्यान दिया होता तो यह निष्कर्ष निकल सकता था कि साम्राज्यवादी लुटेरे गठबंधन के लिए तब तैयार हुए जब स्तालिनग्राद के युद्ध से उन्हें पता चल गया कि सोवियत संघ हिटलर को परास्त करने की क्षमता रखता है।

हमारे देश की स्थिति थी कि कम्युनिस्ट पार्टी संघर्ष के मामले में कांग्रेस पर निर्भर थी और कांग्रेस अहिंसा के आवरण में जनसंघर्ष से विमुख रहना चाहती थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने पूरे युद्ध काल की अलग–अलग परिस्थितियों में अलग–अलग नीतियां अपनायी थीं। पहले दौर में जब तक जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला नहीं किया था, वे इसे दो साम्राज्यवादी खेमे के बीच युद्ध मानते हुए इसे गृहयुद्ध में बदलने की नीति की वकालत कर रहे थे। 26 जनवरी 1940 को एक घोषणा–पत्र प्रकाशित कर उन्होंने मजदूरों, किसानों और समस्त देशवासियों का आह्वान किया कि देश की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए, साम्राज्यवादी शासन खत्म कर जनवादी **गणतंत्र** की स्थापना के लिए, आठ घंटों के कार्यदिवस के लिए तथा किसानों को सामंती गुलामी से मुक्त करने के लिए संग्राम चलायें। इस आह्वान में राष्ट्रवादी और पूंजीवादी जनवादी भावना तो दिखाई पड़ती है, लेकिन मजदूर वर्गीय विशिष्टता कहीं दिखाई नहीं पड़ती।

उसी समय पार्टी ने रेलवे, डाक, ट्राम, स्टीमर आदि जैसे परिवहन क्षेत्र के

मजदूरों के नाम एक परचे में अपील की थी कि जिस तरह रूस के मजदूरों किसानों ने पहले विश्वयुद्ध में अपना राज स्थापित किया था, उसी तरह हमें भी उस दिशा में कदम बढ़ाना चाहिए। उम्मीद की गयी थी कि हम क्रांति में अवश्य सफल होंगे। इसके लिए अपील की गयी कि अंग्रेजों के इस युद्ध में एक भी आदमी न भेजें तथा क्रांति के लिए तैयार हो जायें। नीतिगत रूप से इस अपील में कुछ भी गलत नहीं था, लेकिन अपनी क्रांति को सफल बनाने के लिए, राजनीति से लेकर जनचेतना और सैन्य संगठन की जितनी बड़ी तैयारी रूस की बोल्शेविक पार्टी ने कर रखी थी, उसका सौवां भाग भी भारतीय कम्युनिस्टों के पास नहीं था।

इस कमजोरी का खुलासा छात्रों के नाम उनकी अपील में सामने आता है। इस अपील में कहा गया कि कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने संग्राम आरंभ करने से इनकार कर दिया है और हमारे ऊपर इंतजार की मुजरिमाना नीति लाद दी है। कांग्रेस सोशलिस्ट और फारवार्ड ब्लाक भी इसी तरह की इंतजार की नीति पर काम कर रहे थे। इंतजार की नीति और राष्ट्रव्यापी जनांदोलन में ठहराव का नतीजा यह हुआ कि अपनी आक्रामक अपील के कारण कम्युनिस्ट, कांग्रेस सोशलिस्ट और फारवार्ड ब्लाक के सारे बड़े नेता जेलों में डाल दिये गये जिनमें सबसे ज्यादा संख्या कम्युनिस्टों की थी। अयोध्या सिंह के विवरण के अनुसार : '12 जनवरी 1941 को केंद्रीय विधानसभा में होम मेंबर रेजीनाल्ड मेक्सवेल ने बताया कि जनवरी 1941 में 700 व्यक्ति बिना मुकदमा चलाये जेल में बंद थे। इनमें से 480 आदमी प्रायः – निरपवाद रूप से या तो जाने–माने कम्युनिस्ट थे या हिंसक जनक्रांति के कम्युनिस्ट कार्यक्रम के सक्रिय समर्थक थे।' कम्युनिस्ट पार्टी इच्छा जरूर रखती थी, लेकिन उसके पास राष्ट्रीय आह्वान के लिए ठोस तैयारी का सख्त अभाव था और वह अपनी इस कमजोरी को समझ तक नहीं पा रही थी।

22 जून 1941 को सोवियत संघ पर जर्मनी के हमले के बाद विश्वयुद्ध की परिस्थिति में महत्वपूर्ण बदलाव आया जिससे भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनका केंद्रीय नारा बन गया था – फासीवादी शक्तियों के खिलाफ सारा अभियान। इन दोनों परिस्थितियों को अलग–अलग दो खंडों में बांटने की जरूरत नहीं थी। इससे दुविधा पैदा हुई। इस तरह से बांटने का काम न तो सोवियत संघ ने किया था और न चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने और न ही कमिंटर्न ने। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी बुनियाद में ही इस सूत्र को डाल दिया था कि सोवियत संघ के साथ संश्रय उसकी अविभाज्य नीति है।

दूसरी बात, वे यह भी अच्छी तरह समझते थे कि च्यांग काई शेक सिर्फ निवेदन और अपील के आधार पर जापान विरोधी मोर्चा का निर्माण नहीं करनेवाला

है। इसलिए जनमत अपनी तरफ करने के लिए उन्होंने खुद को संघर्ष के एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में स्थापित किया जबकि भारतीय कम्युनिस्ट ऐसा नहीं कर पाये और सिर्फ रक्षात्मक लड़ाई लड़ते रहे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दो परिस्थितियों में दो नारे तय करने की नीति से जनता में दुविधा पैदा हुई और विरोधियों को इसे बढ़ाने का बड़ा मौका हाथ लग गया। सबसे बड़ी विडंबना थी कि कम्युनिस्ट ब्रिटिश विरोधी संघर्ष के केंद्र के रूप में जिस कांग्रेस पार्टी को स्थापित और महिमामंडित करते रहे, मात्र एक नीतिगत विरोध के आधार पर उन्होंने उन्हें गद्दार घोषित करने में कोई संकोच नहीं किया और कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप ने उनका साथ दिया।

अब जनमोर्चा के दूसरे मजबूत स्तंभ सुभाषचंद्र बोस के बारे में। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस में समानता थी कि दोनों समाजवाद के मुखौटे में पूंजीवाद की सेवा के प्रति प्रतिबद्ध थे। अंतर था कि नेहरू इस काम में ज्यादा शातिर और लचीला थे, जबकि सुभाष बोस अड़ियल थे। यही कारण था कि गांधी के साथ उनकी पटली नहीं बैठ पायी। लेकिन "स्वर्णिम काल" के कम्युनिस्ट नेता इन दोनों के दांवपेंच को नहीं समझ पाये थे। इतना ही नहीं उन्होंने कमिंटर्न की पूर्व चेतावनी (1933, इन्प्रेकर) को नजरअंदाज तक किया। सुभाष बोस गांधी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930) वापस लेने और गांधी–इरविन समझौते से खफा थे और 'समजवादी' नाम से नयी पार्टी की घोषणा करना चाहते थे। उनके 'समाजवादी' इरादे का पर्दाफास इन्प्रेकर ने इन शब्दों में किया था : 'बोस की पार्टी का उद्देश्य राष्ट्रीय कांग्रेस छोड़नेवाले क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों को अपने साथ समेट लेना है। उनकी पार्टी का काम क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों और मजदूरों को कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होने से रोकना, कम्युनिस्ट पार्टी के विकास में दूसरे अवरोध की भूमिका निभाना और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण को रोकना है।' इसी अंक में इन्प्रेकर ने कहा था कि 'गांधी और बोस में अंतर यह है कि बोस बेहतर शर्तों पर समझौता चाहते हैं।' (गौतम चट्टोपाध्याय : सुभाषचंद्र बोस, द इंडियन लेफ्टिस्ट्स एण्ड कम्युनिस्ट्स का परिशिष्ट डी)।

तब क्या यह मान लिया जाय कि यह निष्कर्ष कमिंटर्न के संकीर्णतावादी दृष्टिकोण का नतीजा था ? गौतम चट्टोपाध्याय के सुभाष बोस की जन्म सदी में प्रकाशित उपर्युक्त पुस्तक में दिये गये तथ्य से इसका माकूल जवाब मिल जाता है। नेहरू ने 18 दिसंबर 1933 को कहा था : 'फासिज्म और कम्युनिज्म के बीच मध्यमार्ग नहीं होता। दोनों में एक को चुनना पड़ेगा और मैं कम्युनिस्ट आदर्श के पक्ष में हूँ।' इसके जवाब में सुभाष बोस ने अपनी पुस्तक 'दी इंडियन स्ट्रगल' में

लिखा : 'नेहरू के विचार बुनियादी रूप से गलत हैं। विश्व इतिहास का अगला दौर कम्युनिज्म और फासिज्म के बीच संश्लेषण तैयार करेगा।' यह बात उस समय कही जा रही थी जब जर्मनी में नेशनल सोशलिज्म के बैनर में नाजीवाद की इमारत खड़ी हो रही थी और दूसरे विश्वयुद्ध की व्यूह रचना आकार ले रही थी। सुभाष बोस के इस 'संश्लेषण' का व्यावहारिक नतीजा देखने का मौका भी तुरंत ही मिल गया। दूसरे विश्वयुद्ध में भारत को आजाद करने का सपना संजोये जब वे हिटलर से मिलने जा रहे थे, उस समय तक यूरोप के 'पांचवें स्तंभवादियों' का सपना बिखरने लगा था। जनता को यह महसूस होने लगा था कि हिटलर का मकसद महान यूरोप का निर्माण नहीं, बल्कि नीली आँखों के नस्ल के जर्मनों का गुलाम यूरोप बनाने का है। लेकिन वे कुछ भी सीखने को तैयार नहीं थे। उन्हें तो कम्युनिज्म और फासिज्म का संश्लेषण तैयार करना था।

अब विचारणीय विषय है कि हिटलर ने उनका स्वागत कैसे किया, समकक्ष मित्र की तरह या अपने विश्व विजय अभियान में मानव संसाधन की तरह। दूसरी बात ज्यादा सच है। गौतम चट्टोपाध्याय की उपर्युक्त पुस्तक के परिशिष्ट–एच से इसकी पुष्टि होती है। इस विवरण के अनुसार : सुभाषचंद्र बोस जर्मनी में 1941 के वसंत में प्रवेश कर गये थे और 18 जनवरी 1942 को जर्मन, जापानी और इतालवी साम्राज्यवादियों के बीच दुनिया का विभाजन क्षेत्र तय हो रहा था जिसके अनुसार भारत को फासिस्ट शक्तियों के पैरों तले रौंदा जाना था। हिटलर के निर्देश–32 के अनुसार सोवियत संघ पर विजय पाने के बाद अभियान उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व होते हुए भारत की ओर मुड़ जाना था। इस योजना के अनुसार जर्मन सेना अफगानिस्तान सीमा से प्रवेश करनेवाली थी। लेकिन ये सारी योजनायें निरर्थक साबित हो गयीं क्योंकि स्तालिनग्राद जर्मनी और सभी फासिस्ट ताकतों का कब्रगाह बन गया। यह सुभाष बोस (अब नेताजी सुभाषचंद्र बोस) की औकात मापने का पहला स्केल था।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कि नेताजी का उपयोग गेबेल्स के प्रचार तंत्र के संसाधन की तरह किया गया। रेडियो पर उनके सारे प्रसारण सेंसर से गुजरने के बाद ही आते थे। यहां तक कि स्टैफर्ड क्रिप्स के नाम उनका खुला पत्र भी सेंसर हुआ था। सच यह है कि उनकी हर गतिविधि जासूसी के दायरे में रहती थी। इन सारी परिस्थितियों को लेकर नेताजी और हिटलरशाही में मतभेद भी उभरे। अगर नेताजी अपने स्टैंड पर अड़े रहते, तो उनकी भी जगह यातना शिविर में होती। इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भारत की ओर जापानी अभियान में मदद का बहाना बनाया और हिटलरी चंगुल से निकलने में कामयाब हो गये।

सबसे दिलचस्प मामला है कि उनके आने के बाद उनके द्वारा गठित 'आजाद भारत फौज' (फ्री इंडिया लिजन) का क्या हुआ ? एक वाक्य में इसका जवाब है कि धीरे–धीरे कर सभी मार डाले गये। यह था जर्मन फासिस्ट और भारतीय "देशभक्तों" के बीच संबंध का आधार और इसी आधार पर कई मार्क्सवादी हमें यह समझाने की कोशिश करते हैं कि नेताजी ब्रिटेन से भारत को आजाद करा लेने के बाद जर्मन साम्राज्यवाद को मार भगाना चाहते थे। लेकिन तथ्य यही प्रमाणित करते हैं कि उनकी यह चाहत कुछ ऐसी ही थी जैसी हिटलर की समाजवाद लाने की चाहत। वैसे भी जिस समय वे हिटलरी चंगुल से निकलकर जापानी सेना की देखरेख में आजाद हिन्द फौज का गठन कर 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा' और 'दिल्ली चलो' का आह्वान कर रहे थे, उस समय तक फासीवादी ताकतों की पराजय के संकेत मिलने लगे थे, स्तालिनग्राद से उनके पांव उखड़ने लगे थे। 1931 में उनकी कम्युनिस्ट विरोधी भूमिका, यह वक्तव्य और युद्ध के दौरान उनका आचरण यह समझने के लिए काफी थे कि उनका रूझान शुरू से ही फासीवादी था। समाजवादी जुमलों का प्रयोग वे वैसे ही करते थे जैसे हिटलर ने राष्ट्रवादी समाजवाद का किया था।

गांधी, नेहरू और बोस के बारे में तत्कालीन कम्युनिस्ट नेताओं का मूल्यांकन और इस आधार पर उनके सामने समर्पण की नीति भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सबसे मूल्यवान मोड़ पर गलत साबित हो गयी। वे एक बार फिर पूंजीवादी दुष्प्रचार के दलदल में घिरे और गिरे नजर आये। यह थी "स्वर्णिम काल" में अपनायी गयी नीतियों के आधार पर खड़े साम्राज्यवाद विरोधी मंच की असलियत जिससे साफ होता है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कमिंटर्न, सोवियत संघ तथा चीन की पार्टियों द्वारा अपनायी गयी नीति के विपरीत दलाल पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के सामने समर्पण की नीति अपना रही थी।

***

अध्याय–8

सत्ता हस्तांतरण का दौर

भारत के इतिहास (कम से कम लिखित इतिहास) के बारे में मार्क्स का कहना है कि यह बाहरी आक्रांताओं और विजेताओं का इतिहास है। स्वतंत्रता संग्राम की जय–पराजय की कहानी भी इस कथन की पुष्टि करती है। इस देश की आजादी की पृष्ठभूमि भी दूसरे विश्वयुद्ध के विजेताओं ने अमेरिकी साम्राज्यवाद की अगुआई में लिखी थी। लेकिन मध्यकालीन भारत में यह सच जिस भोंड़े रूप में दिखाई देता था, आधुनिक भारत में इसे उतने ही शातिराना ढंग से छुपाया गया। यह काम साम्राज्यवादियों और देश के पूंजीपतियों के मेल–जोल से हुआ। इसे राजनीतिक आजादी के रूप में चित्रित किया जाता है और आर्थिक आजादी के लिए प्रयास करने की झूठी प्रतिबद्धता दोहरायी जाती है।

इस मामले में जवाहरलाल नेहरू अपनी प्रख्यात पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इंडिया' में युद्ध के पहले और बाद के ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति की तुलना कर दिखाते हैं कि 1936–38 में औसतन प्रतिवर्ष उसे 866 मिलियन (1 मि० 10 = 10 लाख) पौंड की कमाई होती थी लेकिन बाद में उस पर 300 मिलियन पौंड का कर्ज चढ़ने का अनुमान अर्थशास्त्री किंस ने लगाया था। इस आर्थिक दबाव में उसपर दोहरी मार पड़ रही थी। एक तरफ उसकी जनता का जीवन स्तर गिर रहा था, तो दूसरी ओर उपनिवेशों में उसके पांव लड़खड़ाने लगे थे। सोवियत संघ में समाजवाद की आधारभूत संरचना की बर्बादी की कहानी इस शृंखला की तीसरी कड़ी में हम कह चुके हैं। विजेता देशों में अमेरिका अकेला ऐसा देश था जिसे धन–जन की क्षति नहीं के बराबर हुई थी। ऐसी स्थिति में वह पूरी दुनिया की अर्थनीति व राजनीति का विश्वकर्मा बन गया था और भविष्य में उसका नियंता बन जाना तय था, क्योंकि पूर्व का नियंता ब्रिटेन उसके आर्थिक सहयोग का मुखापेक्षी बन गया था। पुरानी दुनिया को नये स्वामी के सांचे में ढालना उसकी नियति बन गयी थी।

'ब्रिटिश उपनिवेशवादी नजरिया अब अमेरिकी नीति और विस्तारवादी रूझान में फिट नहीं बैठता है। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने निर्यात के लिए खुला बाजार चाहता है और अन्य शक्तियों द्वारा इसमें कोई पाबंदी या नियंत्रण उसे पसंद नहीं है। वे एशिया के करोड़ों लोगों के बीच औद्योगिकरण और हर जगह उच्च जीवन स्तर चाहते हैं। इसके पीछे कोई भावनात्मक कारण नहीं, बल्कि अपने अतिरिक्त उत्पाद का निष्पादन है।' (डिस्कवरी ऑफ इंडिया : जवाहरलाल नेहरू, अनुवाद हमारा)

यह स्थिति पूरी दुनिया को वाणिज्यिक उपनिवेश बना देने के उपयुक्त थी।

नेहरू इतिहास के विश्लेषक के रूप में इस सच को उजागर करते हैं, लेकिन कांग्रेसी नेता और देश के प्रधानमंत्री के रूप में इस सच पर पर्दा डालते हुए तथा देश की जनता के सामने 'प्रारब्ध से मिलन' पर गर्व करते हुए 26 जनवरी 1930 की पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिबद्धता के पूरा होने का उद्‌घोष करते हैं। इस तरह का विरोधाभास उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में शुरू से अंत तक दिखाई पड़ता है।

वस्तुतः आर्थिक आजादी और राजनीतिक आजादी के बीच कोई मोटी विभाजन रेखा नहीं होती। कोई भी देश जिस हद तक आर्थिक निर्णयों के मामलों में संप्रभुता संपन्न होता है, राजनीतिक मामलों में भी उसकी संप्रभुता उसी अनुपात में बरकरार रह पाती है। भारत की आजादी का विश्लेषण भी इसी आधार पर किया जाना चाहिए। जिस तरह चीन की जनता ने अपने देश से जापानियों को खदेड़ा और बाद में गृहयुद्ध में कमयुनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में गठित जन मोर्चा ने अमेरिकी दलालों से सत्ता छिनी, उसके उलट भारत में ब्रिटिश संसद में पारित कानून के अंतर्गत देश की सत्ता दो डोमिनियन राज्यों (भारत और पाकिस्तान) को सौंप दी गयी जिसे साम्राज्यवादी जगत में दो संप्रभुतासंपन्न स्वतंत्र देशों की उत्पत्ति के रूप में प्रचारित किया गया।

विश्व सर्वहारा खेमे में इस बदलाव को इस रूप में देखा गया कि लार्ड माउंटबेटेन भारत से भले ही चले गये, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद वहां मौजूद है। निश्चय ही अप्रत्यक्ष रूप में और अदृश्य हाथों से काम करते हुए। इन अप्रत्यक्ष हाथों का निर्धारण ब्रेटनवुड सम्मेलन में 1944 में ही हो चुका था जहां अमेरिका के विश्व प्रभुत्व की नींव पड़ रही थी। इस सम्मेलन में ब्रिटिश अर्थशास्त्री कींस ने ऐसी अंतरराष्ट्रीय मुद्रा स्थापित करने का सुझाव रखा था जिसे सभी देशों का समर्थन प्राप्त हो। जाहिर है 'सभी देशों' से उनका मतलब सभी साम्राज्यवादी देशों से था। लेकिन उस प्रस्ताव को खारिज कर अमेरिका अपनी मुद्रा 'डालर' को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा मनवाने में सफल रहा। इस सम्मेलन का दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय था अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की स्थापना। ये दोनों अमेरिका की देखरेख में नयी औपनिवेशिक व्यवस्था के मजबूत आर्थिक स्तंभ बने।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने वर्ष 1945 के आम चुनाव के घोषणा पत्र में जब घोषणा की कि 'कांग्रेस स्वतंत्र राष्ट्रों के एक विश्व बैंक की स्थापना का समर्थन करती है' तो वास्तव में वह नव उपनिवेशवाद का वही जुआ देश की जनता पर थोपने का औजार बन रही थी। भारत की तरफ से ब्रिटिश सरकार यह निर्णय पहले ही ले चुकी थी, कांग्रेस अपने घोषणापत्र में शामिल कर इसे जनता का निर्णय बनाने का काम कर रही थी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि यह चुनाव

सार्विक मताधिकार से नहीं हो रहा था। मताधिकार उन्हीं धनीमानी लोगों के पास था जो ब्रिटिश राज का सामाजिक आधार थे। केंद्रीय विधानसभा के चुनाव में महज 5% भारतीयों के पास मताधिकार था।

हम देख चुके हैं कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन को ब्रिटिश राज ने किस निर्ममता से कुचला था, इसलिए यह सवाल लाजिमी है कि जिस समय अंग्रेजों को इस युद्ध में भारतीय जनगण के सहयोग की सख्त जरूरत थी, उस समय उन्होंने समझौता के बदले दमन नीति का सहारा लिया, तो युद्धोपरांत यह समझौता कैसे संपन्न हो सका ? हमारे देश के पूंजीवादी इतिहासकारों को इस गुत्थी को सुलझाने में कोई अभिरूचि नहीं है। वे इतना बताकर संतुष्ट हो जाते हैं कि गांधी के सत्याग्रह और परमात्मा की इच्छा से अंग्रेजों का हृदय परिवर्तन हो गया और उन्होंने भारतीयों को सत्ता सौंप दी। दुनिया के पैमाने पर ब्रिटेन की दुर्दशा और अमेरिका के दबदबा की तस्वीर हम देख चुके हैं, अब यह देखा जाय कि भारत की अंदरूनी स्थिति क्या थी और कांग्रेस ब्रिटिश आकाओं के ''हृदय परिवर्तन'' के लिए क्या कर रही थी ?

सितंबर 1945 में कांग्रेस वर्किंग कमिटी की पुना बैठक में गांधी और अधिकांश सदस्यों ने राय व्यक्त की थी कि 'हमें केवल रचनात्मक काम में अपना समय लगा देना चाहिए। उनकी धारणा थी कि राजनीतिक धरातल पर कोई अधिक आशा नहीं है' (आजादी की कहानी)। मौलाना आजाद का दावा है कि वे इस विचार से असहमत थे, उनका दृढ़ विश्वास था कि 'कोई नया आंदोलन नहीं करना चाहिए अपितु आम चुनावों में भाग लेना चाहिए।' कांग्रेस ने उस समय इसी नीति का पालन किया था। इसके पीछे इनलोगों की मंशा थी कि जनता में संघर्ष की भावना को जीवित रखना चाहिए और दूसरी ओर ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे स्थिति एकदम बदल जाय। उस समय क्या जनता सचमुच इतना पस्तहिम्मत हो गयी थी कि 'संघर्ष की भावना को जीवित रखना' नेताओं का पुनीत कर्तव्य बन गया था ?

'भारत का मुक्ति संग्राम' में अयोध्या सिंह ने जनसंघर्षों का बड़ा ही शानदार विवरण पेश किया है। यह विवरण 1945 में हिंद एशिया व हिंद चीन में भारतीय सेना को भेजने, आजाद हिंद फौज के अफसरों की सजा के खिलाफ संघर्ष से शुरू होकर नौसेना विद्रोह तथा मजदूरों किसानों के अन्य संघर्षों व विद्रोहों को अपने दायरे में समेट लेता है। अंग्रेजों ने इन देशों में सेना भेजने का निर्णय जापानी सैनिकों को निरस्त्र करने के बहाने लिया था, लेकिन उनका असली मकसद था जापानियों के भागने के बाद उन क्षेत्रों में स्थापित राष्ट्रीय सरकारों को अपदस्थ कर फिर से अपना कब्जा जमाना। इसके खिलाफ भड़के जनाक्रोश का समर्थन कांग्रेस,

कम्युनिस्ट के अलावा मुस्लिम लीग ने भी किया था। लेकिन आजाद हिंद फौज के अफसरों व जवानों की सजा के खिलाफ आंदोलन ज्यादा तीव्र और व्यापक था। 22 नवंबर को इसके तीन अफसरों की सजा के खिलाफ कलकत्ता में बड़े–बड़े प्रदर्शन हुए। आवागमन के साधन रोके गये और सड़कों पर बैरिकेड खड़े किये गये।

कांग्रेस ने इस माहौल में अंग्रेजों पर दबाव बनाकर पूर्ण स्वतंत्रता की 1930 की अपनी प्रतिबद्धता को पूरा करने के बजाय समझौता में सहुलियत के लिए वफादार आंदोलन को शांत करने की नीति अपनायी। इस आंदोलन के दौरान कलकत्ता में 40 लोग मारे गये, 300 से ज्यादा घायल हुए व सैकड़ों गिरफ्तार हुए। बंबई में भी ऐसे संघर्ष हुए जिनमें 23 मारे गये और कई सौ लोग घायल हुए। मदुरै में आम जनता और पुलिस में संघर्ष हुए। दिल्ली में ब्रिटिश विरोधी प्रदर्शन कांग्रेस नेताओं के हस्तक्षेप के बाद बंद हो गये। वर्ष 1946 में भी इस तरह के संघर्षों का सिलसिला जारी रहा जिसमें कारखानों के मजदूर भी मैदान में उतरे। देश के बहुतेरे औद्योगिक केंद्र मजदूर संघर्ष के केंद्र बने। जनवरी 1946 में कलकत्ता के 25 हजार टेक्सटाइल, केमिकल और इंजीनियरिंग के मजदूर हड़ताल में शामिल हुए। बंबई में भी उस समय बंदरगाह, कारपोरेशन और तेल शोधन उद्योग सहित 16 उद्योगों के मजदूर हड़ताल में शामिल हुए। कटक और ग्वालियर में बड़ी–बड़ी हड़तालें हुई। ग्वालियर में पुलिस की गोली से 17 आदमी मारे गये और अनेक घायल हुए। फरवरी 1946 में कानपुर में बड़ी हड़ताल हुई।

ब्रिटिश विरोधी जनांदोलन की इस श्रृंखला में नौसेना विद्रोह ने क्रांति की दिशा में गुणात्मक बदलाव ला दिया था। यह पूरी सेना में वर्षों से संचित असंतोष का विस्फोट था। उनके इस असंतोष के केंद्र में मूल मांग थी कि भारतीय जवानों को वे सभी सुविधायें दी जायें जो ब्रिटिश सैनिकों को मिलती हैं तथा दोनों का दर्जा भी समान रखा जाय। यह मांग कहीं से भी अनुचित नहीं थी, लेकिन नस्लवादी ब्रिटिश सत्ता यह सुनने और इसे मानने को तैयार नहीं थी। इसके प्रतिवाद में सैनिकों ने बैरक की दीवारों पर – 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' और 'हिंदुस्तान जिंदाबाद' जैसे नारे लिख डाले। इससे बौखलाकर ब्रिटिश अफसरों ने रेडियो आपरेटर दत्त को गिरफ्तार कर लिया जिसके जवाब में बैरक के नाविकों ने हड़ताल कर दी और यह चिंगारी दावानल की तरफ फैल गयी। अगले ही दिन जहाजों के मस्तुल से यूनियन जैक उतार दिया गया और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के झंडे लहरा दिये गये।

नौसेना की पूरी वर्दी में नाविकों ने बंबई शहर में जुलूस निकाला जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के लाल झंडे भी शामिल थे।

यह हड़ताल अब युद्ध सरीखे राजनीतिक संघर्ष में तब्दील हो गयी थी। 21 फरवरी को नौसेना का राजनीतिक आंदोलन ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सशस्त्र संग्राम में बदल गया और 'कैसिल बैरक' की इतिहास में चर्चित लड़ाई शुरू हो गयी। सात घंटों के सशस्त्र संघर्ष के बाद इसका अंत युद्ध विराम संधि में हुआ। उल्लेखनीय है कि नौसेना के जवानों ने इस संघर्ष में सहयोग के लिए कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी से मदद की गुहार लगायी थी। लेकिन उन्हें समर्थन मिला सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी से।

कांग्रेस अध्यक्ष आजाद को नौसेना में जातीय (राष्ट्रीय) भेदभाव की जानकारी पहले से थी। कराची में नौसेना के अफसर उनसे मिले थे और इस आशय की शिकायत की थी। फिर भी इस विद्रोह के बारे में उन्हें लगा कि 'हिन्दुस्तान के नौसेना के अफसरों ने जो कदम उठाया है, वह ठीक नहीं है। यदि उनके प्रति जातीय भेदभाव बरता जाता है, तो यह कोई ऐसी बुराई नहीं है जिसके शिकार केवल वे ही हों, यह तो ऐसी बुराई है जो थल सेना और वायु सेना के सभी स्तरों में व्याप्त है। वे इस भेदभाव के विरोध में प्रतिवाद करने के लिए न्यायसंगत थे, परंतु इस अवसर पर सीधी कार्रवाई का सहारा लेना मुझे नादानी लगी।'

अरूणा आसफ अली इस विद्रोह के पक्ष में खड़ी थीं। उन्होंने अपने पार्टी अध्यक्ष को समझाने का प्रयास भी किया, लेकिन उनका जवाब था – 'वे बिना शर्त अपने काम पर वापस लौट जायें।' सरदार बल्लभभाई पटेल ने जब उनसे पूछा कि अगर सरकार उन्हें काम पर न लौटने दे तो हमें क्या करना चाहिए। इस पर कलाम आजाद का जवाब था – 'यदि सरकार कठिनाई पैदा करे तो हम वही करेंगे जो उचित होगा।' इन कांग्रेसियों की नजर में अब तक सरकार ने कोई कठिनाई नहीं पैदा की थी और उनके हिसाब से 'उचित' या 'अनुचित' तय करने का समय नहीं आया था। कांग्रेस के नेतागण इस तरह की बातें उस वक्त कर रहे थे, जब नाविक और मजदूर ब्रिटिश सैनिकों के हाथों मारे जा रहे थे।

मौत के इस तांडव का आँखों देखा विवरण एक ब्रिटिश अफसर के शब्दों में : 'एकाएक जरा भी चेतावनी दिये बगैर ब्रिटिश सैनिकों से भरी एक खुली लारी एलफिंस्टन रोड से होकर गुजरी। उनके पास रायफलें और एक ब्रेनगन थी। जब लोग भागकर घरों के अंदर जाने लगे और इनमें मैं भी था, सैनिकों ने गोलियों की बौछार उनकी दिशा में घुमा दी। बीस आदमी घायल हुए और चार मारे गये।' भारत का मुक्ति संग्राम – 756)। उसी ब्रिटिश अफसर ने लिखा कि डेलिजलि रोड पर ब्रिटिश सैनिकों को मजदूर बस्तियों के अंदर घुसते और अपने घरों के अंदर बैठे लोगों पर गोली चलाते उसने देखा। ब्रिटिश शासकों की क्रुरता की हद अपने

देश के नागरिकों के नाम उस अफसर के इस विवरण में मिलती है : 'बहुत से समाचार पत्रों ने आपलोगों को ''गैरजिम्मेदाराना बगावत' की बात बतायी है। लेकिन उन्होंने आपलोगों को यह नहीं बताया कि अधिकारियों ने हड़तालियों को कैसिल बैरक में जाने का हुक्म दिया, बिना खाना पानी दिये उन्हें घेरे रखा, जब भी हड़ताली पानी पीने के लिए निकलते उनपर गोली चलायी जाती थी। (वही : रजनी पाम दत्त, इंडिया टुडे से उद्धृत)।

इस तरह की अमानवीय कार्रवाई के बावजूद कांग्रेसी नेताओं के लिए 'उचित' तय करने का अवसर नहीं आया था। यही लोग थे जिन्होंने तीन–चार साल पहले अंग्रेजों को भगाने के लिए 'करो या मरो' का नारा दिया था, लेकिन आज जब जनता उसी लक्ष्य के लिए करने या मरने पर उतारू थी, तब उनके हाथ–पांव फूलने लगे थे तथा अंग्रेजों से ''शांतिपूर्ण'' समझौता के लिए ''उचित'' समय व कदम का इंतजार कर रहे थे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद इन बाहरी और भीतरी परिस्थितियों के दबाव में इस निष्कर्ष पर पहुंचने लगा था कि अब भारत पर पुराने ढंग से शासन करना संभव नहीं है और भारत की जनता भी इस निष्कर्ष पर पहुंच गयी थी कि वह पुराने ढंग से शासित नहीं होगी। शासक और शासित दोनों खेमों में मौजूद इसी तरह की उथल–पुथल की परिस्थिति को क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं और रूस की बोल्शेविक पार्टी ने अपने देश में ऐसी ही परिस्थिति का लाभ उठाकर सर्वहारा क्रांति को विजय की मंजिल तक पहुंचाया था। इस स्थिति में यह सवाल उठना लाजिमी है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इसका लाभ उठाने के बदले हाथ मलते क्यों रह गयी ? इसके जवाब की एक झलक उपर्युक्त अंग्रेज अफसर के विवरण के इस अंश में मिलती है :

'सड़क पर बहुत से आदमी थे लेकिन वे भीड़ भड़क्का न कर रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी की सलाह मानकर उनमें से कोई भी सशस्त्र न था, यहां तक कि उनके पास लाठी–डंडे या ढेले–पत्थर भी न थे' (वही)।

यह विवरण कम्युनिस्ट पार्टी की नीति पर सबसे बड़ा सवाल खड़ा कर देता है और इस आरोप की पुष्टि कर देता है कि उसके नेता लेनिन की बोल्शेविक नीति का जाप करते हुए मेंशेविक पार्टी की अवसरवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। उन्होंने मजदूरों को इस पैटर्न पर न तो प्रशिक्षित व संगठित किया था और न ही सेना के जवानों को। उल्टे, वे ब्रिटिश विरोधी संघर्ष के अखिल भारतीय केंद्र में फूट रोकने के नाम पर कांग्रेस का पिछलग्गू बनकर काम करते रहे थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के हाथों से सत्ता की बागडोर संभालने में कांग्रेस ही सबसे ज्यादा

उपर्युक्त संस्था थी और वह अंग्रेजों की पहली पसंद भी थी।

इसके बाद से लेकर 15 अगस्त 1947 तक का काल कांग्रेस और अंग्रेज शासकों के बीच सत्ता हस्तांतरण की शर्तों का निर्धारण काल था। ब्रिटिश विरोधी संघर्ष के इतिहास में जनता के बलिदान का सौदा पहली बार नहीं हो रहा था। इसकी शुरूआत प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की पराजय के तुरंत बाद 1861 के इंडियन कौंसिल एक्ट के साथ हो गयी थी। इस कानून के तहत वायसराय की कौंसिल में 6 मनोनीत गैर सरकारी सदस्य रखने का प्रावधान था जिनमें कुछ जगह भारतीयों को भी मिलनी थी। इतिहासकार अयोध्या सिंह ने इस कदम का सही विश्लेषण किया है कि 'इस शासन सुधार के जरिए ब्रिटिश शासकों ने भारतवासियों को अधिकार देने का दिखावा कर वस्तुतः अपने शासन का सामाजिक आधार बढ़ाने और मजबूत करने की कोशिश की थी।'

तब से आंदोलन से उत्पन्न परिस्थिति के दबाव में अलग–अलग सुधार किये गये थे। लोकल सेल्फ गवर्नमेंट एक्ट (1883–84), इंडियन कौंसिल एक्ट (1892), इंडियन कौंसिल एक्ट (1909), गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट या मांटेगु–चेम्सफोर्ड सुधार (1919) और गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट (1935)। 1946 में ब्रिटिश संसद में पारित कानून इस शृंखला की अंतिम कड़ी थी और मूलतः 1935 में पारित कानून का संशोधित रूप थी। इस अवधि में कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच समझौता की दो मंजिलें थीं – कैबिनेट मिशन और लार्ड माउंटबेटेन मिशन। इस पर विश्व राजनीति के भावी नियंता अमेरिकी साम्राज्यवाद की पैनी नजर थी। यह सिर्फ संयोग नहीं था कि 18 फरवरी (1946) को नौसेना की हड़ताल शुरू हुई और 19 फरवरी को प्रधानमंत्री एटली ने कैबिनेट मिशन भारत भेजने की घोषणा की।

इस मिशन के सामने तीन काम थे : ब्रिटिश भारत के निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा देशी रियासतों से वार्ता कर संविधान बनाने के तरीकों पर सहमति बनाना, संविधान सभा का निर्माण और भारतीय राजनीतिक दलों की सहमति से कार्यकारिणी परिषद का गठन। इन कदमों के माध्यम से दुनिया को यह संदेश दिया गया कि भारत के लोग अपनी इच्छा से अपने भविष्य का निर्धारण कर रहे हैं। लेकिन अंग्रेज यह सुनिश्चित कर लेना चाहते थे कि देश का विधान उनके नये व पुराने सेवकों और चाटुकारों द्वारा तैयार किया जाय जिसमें ब्रिटिश पूंजी व अन्य साम्राज्यवादियों की पूंजी की सुरक्षा की गारंटी हो तथा उसके कार्यान्वयन की बागडोर उन्हीं कठपुतलियों व दरबारियों के हाथ में रहे जो इन दो सौ वर्षों में उसका सामाजिक आधार बने रहे हैं। सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधानसभा से उनके पहले लक्ष्य की पूर्ति हो चुकी थी।

कैबिनेट मिशन को दो अन्य लक्ष्यों को हासिल करने की दिशा में कदम बढ़ाना था : राजे–रजवाड़ों के पुराने तथा दलाल व नौकरशाह पूंजीपतियों के नये आधारों के बीच सत्ता संतुलन और सांप्रदायिक समस्या का समाधान। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की संतान की तरह वजूद में आये ये दोनों मामले एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। यह अकारण नहीं था कि जिस समय जनवादी व देशभक्त लोग ब्रिटिश राज से टकराकर गोलियां खा रहे थे, उसी समय ये लोग उनके साथ सौदेबाजी कर रहे थे तथा अपना–अपना पक्ष मजबूत करने के लिए धर्म के नाम पर जनता को लड़ा रहे थे।

अपने हित से जुड़े बुनियादी मुद्दों पर नियंत्रण कायम करते हुए कैबिनेट मिशन ने भावी भारत के निर्माण के लिए केंद्र राज्य संबंध के मामले में अत्यंत उदार प्रस्ताव पेश किया था और इसकी संरचना संघीय बनाने का प्रस्ताव रखा था। संघीय संरचना के पीछे उनकी मंशा अपने पुराने सहयोगियों राजे–रजवाड़ों और उनकी सामंती नौकरशाही के अस्तित्व की गारंटी थी। इस बारे में उनका प्रस्ताव था : 'ब्रिटिश भारत और रियासतों को लेकर एक भारतीय संघ होना चाहिए। संघ के हाथ में विदेशी मामले, रक्षा और यातायात होना चाहिए। उसके हाथ में इन विषयों के लिए आवश्यक वित्त इकट्ठा करने की आवश्यक क्षमता होनी चाहिए।' रियासतों की सुरक्षा की गारंटी का दूसरा उपाय था : 'रियासतें संघ को सौंपे गये विषयों और क्षमताओं को छोड़कर बाकी सब विषय और क्षमताएं अपने हाथ में रखेंगी।' (भारत का मुक्ति संग्राम : अयोध्या सिंह) रियासतों में बरकरार सामंती सत्ता को सुरक्षा की इससे ज्यादा गारंटी नहीं दी जा सकती थी।

इसी पैटर्न पर धार्मिक अल्पसंख्यकों (खासकर मुसलमानों) की सुरक्षा व सहमति के सवाल को भी उतनी ही अहमियत दी गयी थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, केंद्र के जिम्मे सिर्फ तीन मामले – विदेश, रक्षा और संचार रहने थे। शेष सभी मामलों को राज्य प्रशासन के अधीन रहना था। राज्यों का विभाजन भी अलग–अलग तीन श्रेणियों में किया गया था। एक श्रेणी में पंजाब, सिंध, उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत और बलुचिस्तान जैसे राज्य थे और दूसरी श्रेणी में बंगाल और असम जैसे पूर्वोत्तर के राज्य थे जहां मुसलमानों का बहुमत था। ये प्रावधान मुसलमानों की स्वायतता की गारंटी के लिए लाये गये थे। शेष हिंदू बहुल प्रदेश थे।

देश के भावी संविधान के निर्माण में भी इस विभाजन की छाप दिखाई पड़ती थी। संघीय संविधान का निर्माण संघीय संविधान सभा को करना था और अलग–अलग ग्रुपों में बांटे गये राज्यों को अपनी संविधान सभा का गठन करना था। संघीय संविधान सभा में रियासतों के प्रतिनिधित्व की गारंटी की गयी थी –

389 सदस्यीय सभा में 93 राज्यों के प्रतिनिधियों की वहां की विधानसभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाना था। इसके बाद के बारीक विवरण को छोड़ देते हैं क्योंकि इन सबके बावजूद सांप्रदायिक आधार पर देश का विभाजन हुआ और ऐसा घाव दे गया जिसका मवाद हमेशा रिसता रहता है। इतना बारीक संतुलन कायम करने की हर चंद कोशिश के बाद भी कैबिनेट मिशन योजना विफल हुई और लार्ड माउंटबेटेन की विभाजन की योजना सफल हो गयी। इसमें किसकी भूमिका क्या थी ?

सबसे पहले कैबिनेट मिशन की योजना से यह समीक्षा शुरू करें। जिस समय यह मिशन आया, कांग्रेस अध्यक्ष अबुल कलाम आजाद थे, लेकिन उसी समय नेतृत्व बदलने की चर्चा शुरू हो गयी थी और जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस अध्यक्ष बनाये गये थे। इस योजना को लेकर दोनों में मतभेद थे। आजाद खुद को इस योजना के मुख्य शिल्पी मानते थे और नेहरू को इसका विध्वंसक। अपनी जीवनी में उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष पद छोड़ने और नेहरू का नाम इसके लिए प्रस्तावित करने के अपने निर्णय पर अफसोस तक व्यक्त किया है। आखिर नेहरू इस हद तक कैसे बढ़ गये जबकि गांधी इस योजना से सहमत थे। इस सवाल पर समग्र चर्चा बेहतर ढंग से तब हो पायेगी जब हम माउंटबेटेन योजना पर इन नेताओं की भूमिका का जिक्र करें। यहां यह देखा जाय कि पासा पलटा कैसे ?

7 जुलाई को बंबई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष का कार्यभार संभाला और 10 जुलाई को प्रेस कांफ्रेंस में पासा पलटते हुए घोषणा कर दी कि 'कांग्रेस करारों और बेड़ियों से मुक्त होकर संविधान सभा में आयेगी।' कैबिनेट मिशन, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की त्रिपक्षीय वार्ता के प्रति पूर्व कांग्रेस अध्यक्ष की वचनबद्धता को नकारते हुए उन्होंने कहा, 'वह मिशन आयोग में जैसा उचित समझे वैसा परिवर्तन करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझती है।' (आजादी की कहानी)।

इस घोषणा ने पृष्ठभूमि का काम किया, इसे अंजाम दिया मुस्लिम लीग ने। दरअसल इन दोनों में पैंतरेबाजी शुरू हो गयी थी कि अंग्रेजों के जाने से मची अफरातफरी के इस माहौल में सत्ता झपटने की बाजी कौन मारे और कैसे मारे। कांग्रेस शुरू में अंतरिम सरकार में शामिल होने से इनकार कर रही थी और मुस्लिम लीग उसके बिना भी सरकार बनाने को तैयार थी, लेकिन सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस को छोड़कर वायसराय सरकार गठन के लिए तैयार नहीं थे। देश के बड़े पूंजीपतियों के दबाव में कांग्रेस सरकार में शामिल हुई। यह पूर्ण स्वतंत्रता के नारे से यू टर्न का अगला कदम था। ***

अध्याय–9

आजादी की माउंटबेटेन योजना

कांग्रेस पार्टी के यू टर्न की यात्रा माउंटबेटेन योजना में पूरी हुई। भारत के अंतिम वायसराय की स्थिति अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न थी। वे यहां शासन करने नहीं, बल्कि यथाशीघ्र सत्ता हस्तांतरण का लक्ष्य पूरा करने आये थे। ऐसा पहली बार देखा गया कि भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए कांटों का ताज बन गया था। इस के लिए जिम्मेवार अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय कारकों का जिक्र हम पीछे कर चुके हैं। यहां देखेंगे कि उसे भारत से पिंड छुड़ा लेने की कितनी जल्दबाजी थी। प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली ने 20 फरवरी 1947 को संसद में घोषणा की कि भारत की सत्ता जून 1948 तक वहां के प्रतिनिधियों को सौंप दी जायेगी। उन्हें इतनी जल्दीबाजी क्यों थी ? इस सवाल का जवाब हाउस आफ कामन्स में 5 मार्च को स्टेफर्ड क्रिप्स के इन शब्दों से मिलता है :

'सरकार के सामने मूलतः दो विकल्प थे। पहला, वे यथेष्ट रूप से सैन्य सुदृढ़ीकरण के आधार पर भारत में ब्रिटिश सत्ता को मजबूत बनाने की कोशिश कर सकते थे... दूसरा विकल्प इस तथ्य को मान लेना था कि पहला विकल्प संभव नहीं है... (लेबर मंथली, मासिक पत्रिका, जुलाई 1947, https//www.marxist.org)

इस सदन में क्रिप्स लेबर पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से बोल रहे थे और उनकी आत्मस्वीकृति एटली सरकार की जल्दीबाजी की व्याख्या कर देती है। जर्जर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लेबर सरकार की उपर्युक्त घोषणा को लागू करने के लिए माउंटबेटेन को यहां भेजा गया था।

भारत की आजादी की इस अवधारणा पर दुनिया दो खेमों में बंट गयी थी। यूरोप इस योजना से प्रसन्न व उत्साह से लबरेज था क्योंकि उसकी हालत ब्रिटेन से भी ज्यादा जर्जर थी। अमेरिका के खुश होने का भरपूर कारण था क्योंकि वह भावी दुनिया में आजादी के मुखौटे में गुलामी को शाश्वत रूप देने की राजनीति का चैम्पियन बन रहा था और पूंजीवादी दुनिया उसके सांचे में ढल रही थी। सोवियत संघ के नेतृत्व में खड़ा समाजवादी खेमा इस घपलेबाजी का भंडाफोड़ कर रहा था। प्रधानमंत्री एटली की घोषणा पर सोवियत संघ के नजरिये का खुलासा करते हुए 'लेबर मंथली' के उपर्युक्त अंक में प्रकाशित विश्लेषण में झुकोव की यह टिप्पणी शामिल की गयी है : 'ब्रिटेन अमेरिका की फिलिपिंस नीति की नकल करने के लिए मजबूर हो रहा है। नाम मात्र की झूठी आजादी देने की नीति। दूसरे शब्दों में, बाहर निकल जाना ताकि (वहां) बने रहा जाय।' (स्रोत : वही)

उपनिवेशवाद के अंत की घोषणा के बाद नये स्वतंत्र देशों के भविष्य के बारे में सोवियत संघ का यह नजरिया निराधार नहीं था। सचमुच, ब्रिटेन (और अमेरिका भी) अगर भारत को आजाद करना चाहता था, तो उसे बोरिया–बिस्तर बांध के निकल जाना था। देश के भावी शासक अपनी जरूरत के अनुसार सत्ता संरचना का निर्माण कर लेते। लेकिन भावी शासक अपने वर्ग चरित्र के अनुसार इस जोखिम के लिए तैयार नहीं थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद तो अपने गवर्नर जनरल और वायसराय की देखरेख में "आजाद भारत" का संविधान बनवा लेना चाहता था ताकि देश छोड़ने के पहले उसके और अन्य साम्राज्यवादियों के हित सुरक्षित रखने की गारंटी कर ले।

यह कैबिनेट मिशन और माउंटबेटेन योजना दोनों का साझा लक्ष्य था। लेकिन दो महत्वपूर्ण बिंदुओं पर इन दोनों में मौलिक अंतर था। पहला यह कि कैबिनेट मिशन देश का विभाजन रोकने के लिए प्रयासरत दिखता था, जबकि माउंटबेटेन के मन में विभाजन की योजना शुरू से ही बैठी हुई थी और कांग्रेस व मुस्लिम लीग के बीच तनातनी ने उन्हें मनमानी करने का मौका दे दिया। दोनों के बीच अंतर का दूसरा बिंदु केंद्र–राज्य संबंध के मामले पर था। कैबिनेट मिशन भारत को संघीय गणराज्य बनाने पर जोर दे रहा था जिसमें केंद्र के पास सिर्फ – विदेश, रक्षा और संचार जैसे विभाग रहने थे और शेष सारे विषय राज्यों के अधिकार क्षेत्र में। इसमें जितनी स्वायतता मुस्लिम बहुल प्रदेशों को मिलनी थी लगभग वैसी ही स्वायतता छोटी–बड़ी रियासतों को भी मिलती। कमजोर केंद्र और मजबूत राज्य की यह अवधारणा भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग (देश के भावी सत्ता संरचना का निर्णायक घटक) को पसंद नहीं थी। माउंटबेटेन योजना में भारत और पाकिस्तान दोनों में केंद्र को इतना कम अधिकार देने का प्रस्ताव नहीं था और दोनों के भावी शासकों को इस बात का सुकून मिल रहा था कि छोटे क्षेत्र पर रही सही, मनमानी शासन का मौका तो मिल पायेगा। कैबिनेट मिशन प्लान पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहमति से नेहरू का यू टर्न इसी आकांक्षा की ओर संकेत था।

इस विभाजन की योजना की एक दूसरी विशेषता थी जो दोनों नवजात देशों में जनतंत्र का चरित्र और भविष्य के लिए आर्थिक आधार का काम करती थी। पाकिस्तान के हिस्से अधिकांशतः वैसे क्षेत्र थे, जो औद्योगिक रूप से पिछड़े और कृषि प्रधान थे, जबकि भारत में औद्योगिक रूप से विकसित लगभग सभी क्षेत्र आ गये थे। इसका मतलब था कि साम्राज्यवादपरस्ती की आकांक्षा समान होने के बावजूद दोनों देशों के शासक वर्गों के आचरण में अंतर होना लाजिमी था। यह अंतर तब से अब तक के बदलते रूपों में दिखाई पड़ रहा है।

लार्ड माउंटबेटेन 22 मार्च को दिल्ली पहुंच गये थे और 24 मार्च को उन्हें गवर्नर जनरल और वायसराय की शपथ दिलायी गयी। इन दो दिनों में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वायसराय से स्थिति पर राय विचार किया। 'फ्रीडम एट द मीड नाइट' में लेखक कालिन्स और लैपियर्स ने इस प्रसंग की चर्चा की है। इनके अनुसार माउंटबेटेन ने भारत के वायसराय से जुड़ी कई परंपराओं को तोड़ा था। पहले होता था कि बंबई में गेटवे आफ इंडिया से पुराने वायसराय का जहाज बाहर निकलता था और नये वायसराय का प्रवेश करता था। लेकिन माउंटबेटेन अपना काम शुरू करने के पहले पूर्ववर्ती वायसराय वेवेल से मिलना चाहते थे। इन लेखकों के अनुसार उन्होंने वेवेल से पूछा था, क्या हम अपना राज जारी रख सकते हैं ? वेवेल का सीधा जवाब था – नहीं। इस दबाव में उन्हें और जल्दबाजी करने का मजबूर कर दिया और जून 1948 तक का कार्यभार 15 अगस्त 1947 तक निबटा दिया गया। लगभग सौ साल (1857–1947) के अंतराल में जो लक्ष्य हासिल नहीं हो पाया था, वह दिखावे के तौर पर ही सही मात्र 6 महीने में संपन्न कर दिया गया।

भले ही देश का विभाजन मात्र 6 महीनों में पूरा हो गया था, लेकिन इसकी भारी कीमत चुकायी जा रही थी और आज तक चुकायी जा रही है। ब्रिटिश भारत में सांप्रदायिक विद्वेष व विभाजन के कई अध्याय तथा मोड़ पड़ाव हैं, लेकिन इसकी नीति में निर्णायक तेजी आयी बीसवीं सदी में – पहले विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में तथा दो विश्वयुद्धों के अंतराल में। हमारे देश के इतिहास की विशेषता है कि वह सिर्फ गांधी के महिमामंडन में पक्षपात का शिकार नहीं है, पाकिस्तान के निर्माण के लिए भी सिर्फ जिन्ना को खलनायक साबित करने के मामले में भी उसका रूख वैसा ही है। यह बात सही है कि इसकी मुख्य जिम्मेवारी से जिन्ना बच नहीं सकते, लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस पृष्ठभूमि को पैदा करने में और मुसलमान प्रतिक्रियावादियों के इस रूख को हवा देने में कट्टर हिंदुत्ववादी (हिंदू महासभा और आरएसएस) तथा नरम हिंदुत्ववादी कांग्रेसी नेताओं का हाथ कम नहीं था।

हिंदू महासभा के नेता लाला लाजपत राय ने 'ट्रिब्यून' (14 दिसंबर 1924) में हिंदू व मुस्लिम दो अलग–अलग देशों के विचार का खुलासा इन शब्दों में किया था : मेरी योजना के तहत मुसलमानों का चार मुस्लिम राज्य मिलें : पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पश्चिमी पंजाब, सिंध और पूर्वी बंगाल। भारत के किसी अन्य भाग में सघन मुस्लिम आबादी हो जो एक प्रांत के गठन के लिए पर्याप्त हो, तो उन्हें भी शामिल किया जा सकता है। लेकिन इसे साफ–साफ समझ लेना चाहिए कि यह

एकताबद्ध भारत नहीं है। इसका मतलब है मुस्लिम भारत और गैर मुस्लिम भारत में भारत का स्पष्ट विभाजन।' (दी पार्टिशन ऑफ इंडिया : ए.जी. नूरानी, http://www.frontline.in)

उनके विचारों में एकजुट भारत के निर्माण के विपरीत मुस्लिम और गैर–मुस्लिम दो राष्ट्रों की अवधारणा थी। मुस्लिम लीग के दिमाग में पाकिस्तान की अवधारणा उस समय पैदा भी नहीं हुई थी। इस शब्द को (1933) अस्तित्व में लाने का श्रेय कैम्ब्रिज में अध्ययनरत छात्र संगठन 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट' के अध्यक्ष चौधरी रहमत अली को जाता है। लेकिन 1937 तक मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग को अपने कार्यक्रम में कोई खास स्थान नहीं दिया था। इसने जोर पकड़ा 1940 में इस संगठन के लाहौर कांग्रेस से। 1937 के प्रांतीय विधानसभा चुनावों के बाद सरकार गठन में कांग्रेसी नेताओं की तिकड़मबाजी ने दोनों संप्रदायों के नेताओं द्वारा लगायी गयी आग में घी का काम किया था। माउंटबेटेन के सत्ता संभालने तक अंतरिम सरकार में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्यों के बीच खींचतान ने स्थिति को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया और लार्ड माउंटबेटेन ने अपने उद्देश्य के लिए इसका भरपूर लाभ उठाया। दो बिल्लियों की लड़ाई में बंदर ने अपना उल्लू सीधा कर लिया।

इस पूरे विवाद में गांधी की भूमिका बिल्कुल निष्प्रभावी हो गयी थी। वे किसी मंदिर की देव प्रतिमा की तरह हो गये थे जिसकी पूजा अर्चना तो सभी करते हैं, लेकिन उसका अनुसरण कोई नहीं करता। ब्रिटिश साम्राज्य की नजर में तो उनकी उपयोगिता 1942 में 'भारत छोड़ो आंदोलन' में 'करो या मरो' के आह्वान के बाद ही घट गयी थी। इस दौर की समझौता वार्ता में उनका स्थान नेहरू और पटेल ने ले लिया था। भारतीय शासक वर्गों के ये दोनों स्तंभ – उदीयमान पूंजीपति और ढहते सामंतवाद के प्रतिनिधि थे। नेहरू पहले के हितों पर जोर देते थे और पटेल बाद के। नेहरू समाजवाद की लफ्फाजी में अपना प्रतिक्रियावादी चेहरा छुपाते थे और पटेल राष्ट्रवाद के पाखंड के पीछे। उसी तरह नेहरू धर्म से अपनी दूरी का प्रदर्शन करते हुए गांधी के नरम हिंदुत्व का अनुसरण करते थे जबकि पटेल गांधी के परम अनुयायी होने की आड़ में कट्टर हिंदुत्व का। इस अर्थ में वे कांग्रेस और आरएसएस के बीच कड़ी की भूमिका निभाते थे। लेकिन दोनों में एक बात समान थी कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के सामने नतमस्तक रहने के लिए समान रूप से तत्पर थे। भारत के भावी राष्ट्र निर्माताओं का मूल्यांकन करते समय उनके इन दोष–गुणों पर ध्यान रखना चाहिए और इसी के आधार पर भारतीय शासक वर्ग के राष्ट्रवाद की समीक्षा करनी चाहिए।

उस समय के सबसे उग्र हिंदू (अंध) राष्ट्रवादी सावरकर की समीक्षा डा०

आंबेडकर की दृष्टि से करेंगे। आंबेडकर के चुनाव के पीछे सबसे बड़ा कारण यह है कि कट्टर हिंदुत्ववादियों और दलितवादियों की ओर से उनका वारिस बनने तथा मार्क्सवादियों के बड़े खेमे की ओर से मार्क्स और आंबेडकर के बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश जोर–शोर से हो रही है। अपनी पुस्तक 'दी पार्टिशन ऑफ इंडिया' में उन्होंने कांग्रेस से लेकर हिंदू महासभा के नजरिये की समीक्षा की है। उन्होंने कांग्रेस की तिकड़मबाजी का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि गोलमेज सम्मेलन में मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के हित में चौदह सूत्री मांगें पेश की थी जिसका हिंदू धर्मावलंबियों ने विरोध किया था, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उसे मान लिया था। इसके बावजूद मुस्लिम लीग पूर्ण स्वराज के पक्ष में थी। उन्हें (मुस्लिम लीग को) लग रहा था कि भावी भारत का संविधान बनाने में कांग्रेस और लीग एक दूसरे का सहयोग करेंगी। लेकिन 1937 में प्रांतीय विधानसभाओं के चुनाव के बाद सरकार गठन से लेकर हिंदू बहुल प्रदेशों में कांग्रेस की भूमिका ने उनकी आँखों से दुविधा का पर्दा हटा दिया। इसके फलस्वरूप जिस जिन्ना ने रहमत अली की बातों को दिवास्वपन बताकर मजाक उड़ाया था, वहीं उस सपने को मूर्त रूप देने में भिड़ गये।

डा० आंबेडकर की नजर में सावरकर हिंदू राष्ट्र के प्रवक्ता के रूप में जिन्ना के पूरक थे। हिंदू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन (1937) के अपने अध्यक्षीय भाषण में सावरकर की बातों को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं : 'आज भारत के बारे में एकल व समरूप राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके विपरीत भारत में हिंदू और मुस्लिम, दो राष्ट्र हैं।' यह बात जिन्ना के दो राष्ट्र के सिद्धांत से कहां भिन्न है। वस्तुतः दोनों एक ही बात कह रहे होते हैं। लेकिन दोनों के निष्कर्ष अलग–अलग हैं। सावरकर मुसलमानों को अलग राष्ट्र मानते हुए उन्हें अलग से अपना देश नहीं देना चाहते थे और न भारत में समान अधिकार देना चाहते थे। उनकी चाह ऐसे "जनतांत्रिक" भारत के निर्माण की थी जिसमें हिंदू शासक रहें और मुस्लिम अधीनस्थ। उनकी पूरी तर्क पद्धति पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए आंबेडकर यह पूछते हैं 'अगर वे हिंदू राष्ट्र के लिए राज्य की मांग करते हैं, तो मुसलमानों के राष्ट्रीय राज्य के दावे को कैसे खारिज कर सकते हैं ?' इसी बहस के क्रम में वे आगे लिखते हैं : 'श्री सावरकर शासन में मुस्लिम राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र के समान अधिकार की अनुमति नहीं देंगे। वे चाहते हैं कि हिंदू राष्ट्र का वर्चस्व रहे और मुस्लिम राष्ट्र अधीनस्थ राष्ट्र रहे। इसके अनिवार्य परिणाम का निष्कर्ष निकालते हुए डा० आंबेडकर चेतावनी देते हैं :

सावरकर द्वारा सूत्रबद्ध स्वराज की योजना मुस्लिमों पर हिंदुओं का साम्राज्य

बनायेगी... लेकिन इससे कभी भी हिंदुओं का स्थायी और शांतिपूर्ण भविष्य सुनिश्चित नहीं होगा।' इस पूरे विवरण से दो बातें बिल्कुल साफ हो जाती हैं। पहली बात यह है कि भारत के टुकड़े–टुकड़े करने की जिम्मेवारी सिर्फ जिन्ना के माथे नहीं मढ़ी जा सकती, जैसा कि हमारे देश की मुख्यधारा के इतिहासकार करते हैं और दूसरी बात यह कि किसी राष्ट्र/राष्ट्रीयता की आकांक्षा का दमन कर कोई राज्य व्यवस्था अपने देश में चैन से नहीं रह सकती। उनका दूसरा आकलन तो भविष्यवाणी की तरह सच साबित हुआ है और यह इतिहास से ज्यादा' भविष्य के लिए प्रासंगिक है।

इस विषय पर कांग्रेसी नेताओं की उठापटक की एक झलक जरूरी है। अबुल कलाम आजाद ने अपनी जीवनी 'आजादी की कहानी' में इसपर विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार माउंटबेटेन के विभाजन प्रस्ताव की आंच में पिघलने वाले पहले व्यक्ति 'लौह पुरूष' पटेल थे। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद उनके तर्क भी लगभग सावरकर जैसे हो गये थे, हालांकि निष्कर्ष अलग था।

इस बिंदु पर कांग्रेस एक बार फिर यू–टर्न ले रही थी। आजाद का कहना है कि उन्होंने अपनी बातचीत के दौरान पटेल को याद दिलाया था कि 'जिन्ना ने दो राष्ट्रों का नारा बुलंद किया है। यदि हम विभाजन स्वीकार करते हैं तो हम उनके नारे को स्वीकार करते हैं।' इस पर पटेल का जबाव था कि 'आप स्वीकार करें या न करें परंतु यह मानना होगा कि हिंदुस्तान में 'दो राष्ट्र हैं।' अगली बारी जवाहरलाल नेहरू की थी। जिस तरह उन्होंने पूर्ण स्वराज से पीछे हटना स्वीकार कर लिया था उसी तरह वे 'अखंड भारत' की नीति से भी समझौता स्वीकार करने लगे थे। कल्पना करते समय अनंत स्वप्न लोक में विचरण करना, लेकिन ऐन मौके पर चुनौतियों का सामना होने पर यथार्थ का हवाला देते हुए उसके सामने समर्पण कर जाना उनकी आदत थी। तदनुसार ही उन्होंने आजाद को सुझाव दिया : 'विभाजन आवश्यक है और यह बुद्धिमता होगी कि उस बात का विरोध न किया जाय जो होकर रहना है।' इस नियति का नियंता कौन था जिसका विरोध करने में देश के भावी प्रधानमंत्री के हाथ पांव फूलने लगे थे!

अब देखा जाय कि भावी राष्ट्रपिता इस नियति का मुकाबला करने का मन कैसे बना रहे थे। उनकी पहली प्रतिक्रिया थी – 'पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। लेकिन लार्ड माउंटबेटेन से मिलने और पटेल के साथ लंबी बातचीत (2 अप्रैल) के बाद उनके भी सुर बदल गये। उन्होंने खुलकर विभाजन का समर्थन तो नहीं किया, लेकिन विभाजन को रोकने के लिए 'करो या मरो' का आह्वान भी नहीं दोहराया। विभाजन प्रस्ताव पर उनके नरम रूख का खुलासा वायसराय के नाम

उनके पत्र (10/11 जून 1947) से होता है। इस पत्र से साफ हो जाता है कि दो महीने के अंतराल में ही देश के विभाजन के साथ आजादी के प्रश्न पर उनका नजरिया कितना बदल गया था।

3 जून (1947) को जब माउंटबेटेन ने 15 अगस्त को सत्ता हस्तांतरण की घोषणा की तो उनके स्टाफ के हाथ–पांव फूलने लगे कि इतने कम समय में इतना बड़ा काम संभव कैसे हो पायेगा। इसी पर गांधी जी का सुझाव था : 'आपके द्वारा तैयार टाईम टेबुल को लागू कर पाने का एक ही रास्ता है कि आप भविष्य का पूर्व अनुमान कर लें और अपने स्पेशल स्टाफ को कहें कि वे कैबिनेट के अनुमोदन के बिना सभी मामलों का खाका तैयार कर लें। जब समय आये तो उसका प्रतिवेदन स्वीकृति, संशोधन या अस्वीकृति के लिए संबद्ध पार्टियों के सामने रखा जाना चाहिए।' गांधी के झुकाव से साफ हो जाता है कि आजादी व विभाजन के मसलों के निर्धारण में भारतीय नेताओं की कैबिनेट की भूमिका कितनी अहम रह गयी थी। इस सिलसिले में एक और बात ध्यान देने लायक है, रियासतों की समस्या का समाधान के बारे में : 'मैं मामलों को जितना ज्यादा देख पाता हूँ मेरा विश्वास उतना ही दृढ़ होता जा रहा है कि रियासतों की समस्या कई तरह की कठिनाईयां पैदा करती है जो आपकी ओर से गंभीर और निर्भिक कदम की अपेक्षा रखती है।' ये शब्द महात्मा गांधी के हैं। पढ़ने के बाद गांधी के अनन्य शिष्यों को छोड़कर कोई भी समझ सकता है कि देश की आजादी की सारी योजना लार्ड माउंटबेटेन ने बनायी थी और कांग्रेस के नेता सिर्फ सहायक की भूमिका निभा रहे थे। गुलाम बननेवाले ही आजादी के पैरोकार बन गये थे और देश माउंटबेटेन की जयजयकार कर रहा था। यह था भारत के राष्ट्रवाद का बुनियादी चरित्र।

इस आजादी और राष्ट्रवाद का पुरस्कार जनता को भीषण सांप्रदायिक दंगा के रूप में मिला। इसकी पृष्ठभूमि की चर्चा हम कर चुके हैं, अब परिणाम पर गौर करें। आजादी की घोषणा के कुछ दिनों के बाद ही पूरे देश में हिंदू–मुस्लिम दंगों का ऐसा विस्फोट हुआ कि नये भारत भाग्य विधाताओं के पसीने छूटने लगे। इस स्थिति का विवरण 'फ्रीडम एट मिडनाइट' के लेखक द्वय कॉलिन्स और लेपियर्स ने इन शब्दों में दिया है : तीस साल के संघर्ष के बाद, बरसों तक हड़तालें करने और जन–आंदोलन चलाने के बाद, विलायती कपड़ों की इतनी होलियां जलाने के बाद और आजादी के मुश्किल से तीन ही हफ्तों बाद भारत का शासन एक बार फिर आखिरी बार और बहुत थोड़े समय के लिए ही सही, एक अंग्रेज चला रहा था (पेज 277)। लेकिन यह काम अप्रत्यक्ष रूप से हो रहा था। माउंटबेटेन को नेहरू व पटेल की छवि की ज्यादा चिंता थी और वह चाहते थे कि निर्णय माउंटबेटेन का हो

और चेहरा इन दोनों का दिखाई पड़े। लेखक द्वय के अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि देश भर में सांप्रदायिक दंगों को रोकने के लिए बनी मंत्रिमंडल की इमरजेंसी कमिटी की बैठक में प्रधानमंत्री माउंटबेटेन की दाहिनी तरफ बैठेंगे और उप–प्रधानमंत्री बायीं तरफ। उसके बाद का विवरण लेखकों के शब्दों में : 'मैं हमेशा जताऊंगा यही कि मैं आपलोगों से सलाह लेकर काम कर रहा हूँ, लेकिन मैं कुछ भी कहूँ मुझसे उसमें बहस न कीजियेगा। उसके लिए मारे पास वक्त नहीं है।' और हमारे देश के भाग्यविधाताओं ने इस स्थिति को मान लिया।

इस विवरण से साफ है कि हमारे देश के 'भाग्यविधाताओं' की औकात लार्ड माउंटबेटेन के सामने क्या हो जाती थी! इससे 'होनहार विरवा के होत चिकने पात' के तर्ज पर देश के भविष्य का अंदाजा लगा सकते थे। लेखक को जो बात थोड़े समय की सच्चाई के रूप में दिखाई पड़ रही थी, वह आगे चलकर शाश्वत रूप धारण करने वाली थी, उसका मुख्य केंद्र अमेरिका बनने वाला था और नियंत्रण की बागडोर आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक जैसी संस्थाओं के हाथ में जाने वाली थी जिनका सदस्य ब्रिटिश शासकों ने भारतीय नेताओं से विचार विमर्श के बिना ही बना दिया था।

यही स्थिति थी। लोग हिंदू–मुस्लिम के आधार पर एक दूसरे का कत्लेआम मचाने में मशगूल थे और विभिन्न शासक वर्गीय दलों के नेता तिरंगा लहराने में, भगवा लहराने में या ऐसे ही बहसों में मशगूल थे। जब हम उस समय के सांप्रदायिक संघर्ष के दृश्य पर गौर करते हैं तो लगता है कि यहां तो हिंदू–मुस्लिम गृहयुद्ध चल रहा था जिसमें प्रशासन भी भागीदार था। उस स्थिति का विवरण अयोध्या सिंह के शब्दों में : "सेना और प्रशासन के अंग्रेज अधिकारियों ने इन हंगामों को हर तरह बढ़ाने की कोशिश की। ब्रिटिश साम्राजियों के एजेंट किस तरह सांप्रदायिक दंगे लगा रहे थे, इसका एक उदाहरण पंजाब के ब्रिटिश गवर्नर सर फ्रांसिस मूडी का पाकिस्तान के गवर्नर जनरल मुहम्मद अली जिन्ना के नाम 5 सितंबर 1947 का पत्र है, 'मैं हर एक से कह रहा हूँ कि मुझे इस बात की फिकर नहीं कि सिख सरहद कैसे पार कर रहे हैं। बड़ी बात यह है कि जितनी जल्दी मुमकिन हो, उतनी जल्दी इनलोगों से छुटकारा पाया जाय।" (भारत का मुक्ति संग्राम)। सेना और प्रशासन के इस रूख की पुष्टि कॉलिन्स और लापियर के विवरण से भी होती है। वह जनसंहार इतना वीभत्स था कि 15 अगस्त 1947 को दोपहर 10 डाउन एक्सप्रेस पूरी की पूरी गाड़ी में लाशें भरी थीं, कई तो बिल्कुल क्षत–विक्षत अवस्था में।

भारत की स्थिति थोड़ी ही बेहतर थी। यहां का प्रशासन दो खेमों में बंटा हुआ

था – गृहमंत्री पटेल और प्रधानमंत्री नेहरू के बीच। लेकिन इससे भी बड़ा कारण था कि इस सांप्रदायिक घृणा के खिलाफ सेफ्टी वाल्व के रूप में गांधी मौजूद थे। सत्ता हस्तांतरण की राजनीतिक शर्तों के निर्धारण में उनकी कोई भूमिका नहीं रह गयी थी, लेकिन सरकार के प्रति सद्भावना प्रयास के लिए वे प्रतिबद्ध थे तथा जनता में उनकी साख बची हुई थी। फिर भी नहीं कहा जा सकता कि भारत में मुसलमानों के जनसंहार कम हुए। जनसंहार, विस्थापन, बलात्कार आदि का अनुमान लगा पाना अत्यंत मुश्किल है। फिर भी मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया जाता है कि दोनों तरफ से दस से बीस लाख लोग मारे गये, 1.5 करोड़ लोग विस्थापित हुए और लगभग एक लाख महिलायें बलात्कार का शिकार हो गयीं। कहा जाता है कि इस अत्याचार की तुलना में हिटलर का यातना केंद्र भी कम निर्मम साबित हुआ था। यह थी आजादी की कीमत, लेकिन जिसे आजादी की कीमत के रूप में पेश किया जा रहा था, वह वस्तुतः भारतीय पूंजीपतियों, जमींदारों और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच दुरभिसंधि की कीमत थी और आजादी की नींव में यह बात डाल दी गयी थी कि कभी ज्यादा, कभी कम ऐसी कीमत हमेशा चुकानी पड़ेगी।

भारत में इस दंगे पर अंकुश पाने में राजसत्ता की कमजोर इच्छाशक्ति भी उतनी ही जिम्मेवार थी। पाकिस्तान में सिख और हिंदू विरोधी हिंसा, लूट और आतंक का जो खेल खुलेआम चल रहा था, भारत में वह छुप–छुपाकर चल रहा था। उस समय सेना का नियंत्रण भारतीय नेताओं के हाथ में नहीं था। भारत और पाकिस्तान दोनों की सेना के कमांडर इन चीफ लार्ड माउंटबेटेन थे और नागरिक प्रशासन पूरी तरह सांप्रदायिक रंग में रंग गया था तथा गृहमंत्री कट्टर हिंदूवादियों के पक्ष में खड़े थे। लेकिन ये कट्टर हिंदूवादी कहां खड़े थे ? इस सवाल का जवाब मिलता है कॉलिन्स और लैपियर्स की पुस्तक में दी गयी 15 अगस्त 1947 को पुना की एक सभा के विवरण में। इस सभा का आयोजन किया था नाथू राम गोडसे ने। इसमें लेखक द्वय ने चार बातों का जिक्र किया है :

– पूना में फहराये गये केसरिया झंडों पर भी वही चिह्न उसी वजह से बनाया गया था जिस वजह से उसे हिटलर ने अपनाया था।

– इस झंडे के इर्द–गिर्द जो लोग जमा थे, वे सभी अर्ध–फासिस्ट राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य थे। हालांकि आज आरएसएस नाथू राम गोडसे के साथ अपने संबंधों से इनकार करता है।

– हिंदू होने के नाते वे अपने आप को आर्य विजेताओं का एकमात्र उत्तराधिकारी और इसलिए इस महाद्वीप का असली मालिक समझते थे।

– वे देश के बंटवारे के लिए गांधी को सबसे ज्यादा जिम्मेवार समझते थे।

वे आजादी के जश्न के विरोधी थे और घोषणा कर रहे थे कि : 'भारत में स्वतंत्रता की खुशी मनाने के लिए जो उत्सव मनाये जा रहे थे, जान–बूझकर जनता से इस बात को छुपाने की कोशिश में थे कि सैकड़ों हिंदुओं का कत्लेआम हो रहा है और सैकड़ों हिंदू औरतों का अपहरण करके उनके साथ बलात्कार किया जा रहा है।' और 'भारत का बंटवारा एक इतनी बड़ी विपदा है जिसने लाखों भारतवासियों को भयानक मुसीबतों का शिकार बना दिया है। यह सब कांग्रेस पार्टी और सबसे बढ़कर उसके नेता गांधी का काम है।'

यह आरएसएस और सभी कट्टर हिंदूवादियों के दृष्टिकोण का एक नमूना भर है। जगजाहिर है कि इस संगठन के सरसंघचालक एम.एस. गोलवरकर देश की जनता से अपील किया करते थे कि वे अंग्रेजों से लड़ने में अपनी शक्ति बर्बाद न करें, उसे आंतरिक दुश्मन मुसलमानों, इसाइयों और कम्युनिस्टों के खिलाफ संघर्ष के लिए सुरक्षित रखें। निजाम की अदलाबदली के इस दौर में उन्होंने मुसलमानों के खिलाफ इस संचित शक्ति का भरपूर दुरूपयोग किया। इनकी इस गतिविधि की सर्वोच्च परिणति थी गांधी की हत्या। उस व्यक्ति की हत्या जिसने सर्वधर्म समभाव की भावना के साथ हिंदू–मुस्लिम एकता बनाये रखने की भरपूर कोशिश की थी। यह बात दीगर है कि उनके कट्टर अनुयायी भी उनकी 'सर्वधर्म समभाव' की नीति के प्रति समर्पित नहीं हो पाये थे और जिस समय उनकी हत्या हुई, उन्हीं के शिष्य देश के गृहमंत्री थे। देश के माथे पर यह कलंक सदा–सदा के लिए अंकित हो गया कि यह नवजात राष्ट्र अपने राष्ट्रपिता की रक्षा तक नहीं कर सका।

***

अध्याय–10

आजाद भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन

भीषण सांप्रदायिक दंगों के बीच देश को घोषित तौर पर आजादी मिल गयी। ऐसी आजादी जिसमें दिल्ली "अहिंसा" मार्ग से प्राप्त आजादी का महोत्सव मना रही थी और पूरा देश खूनी संघर्ष की आग में झुलस रहा था; गांधी के नाम की कसमें खाकर राजनीति करनेवाले उनके शिष्य सत्ता की बिसात पर अपनी जीत की गोटी सेट करने में मशगूल थे और गांधी इन सबसे अलग कलकत्ता के हैदरी हाउस के अंधेरे कमरे में पड़े थे, मानों अतीत के पापों का पश्चाताप कर रहे हों। किसी नवजात राष्ट्र ने अपने पिता का ऐसा अलगाव शायद ही कभी देखा हो। आजादी के जश्न में मशगुल लोगों की नजर से गांधी ओझल थे और वहां लाखों कंठों से माउंटबेटेन की जय के नारे आसमान में गुंज रहे थे। लेकिन माउंटबेटेन इसके बाद की स्थिति का अनुमान लगा चुके थे। उन्होंने अपने पूर्व सेक्रेटरी जॉर्ज एबेल के माध्यम से प्रधानमंत्री एटली को संदेश भेजा था : 'जिस तरह आजादी मिली है, वह उनकी सरकार की बहुत बड़ी विजय है और उस आदमी की भी जिसे उन्होंने अंतिम वायसराय बनाने के लिए चुना था। साथ ही, उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि इस विजय पर बहुत जल्दी और बहुत खुलेआम खुशी न मनायें, क्योंकि अनिवार्य रूप से बंटवारे के फलस्वरूप भयानक खून–खराबा होने वाला है और बेहद गड़बड़ी मचने वाली है।' (कॉलिन्स और लापियर की रचना फ्रीडम एट द मिड नाइट के हिंदी अनुवाद 'बारह बजे रात के' : अनुवाद : मुनीश सक्सेना)।

विरोधाभासों का सिलसिला यहीं खत्म नहीं होता। ऐसा भी पहली बार हुआ होगा कि गुलामी से मुक्ति का दावा करनेवाले देश का शासक वर्ग सत्ता के शीर्ष पर उसी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि को सम्मानित व गौरवान्वित कर रहा हो जिसने दो सौ सालों तक उसकी जनता की छाती रौंदा था। किसी देश के इतिहास में पूंजीपति वर्ग के नेताओं द्वारा जनता के साथ विश्वासघात की कहानी नयी नहीं है, लेकिन भारत की आजादी इस परंपरा की नयी कड़ी साबित हो रही थी। भारतीय पूंजीवाद के सबसे शातिर प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू जिन्हें भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के स्वर्णिम काल में समाजवादी के खिताब से नवाजा गया था ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सामने समर्पण कर चुके थे, लौह पुरूष पटेल माउंटबेटेन के सामने नतमस्तक हो गये थे; कांग्रेस का पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव आधी–अधूरी आजादी के लिए दम तोड़ चुका था। ऐसी आजादी मिल रही थी जिसमें ब्रिटिश पूंजी के हित सुरक्षित थे, उसके पुराने स्तंभ राजे–रजवाड़ों और

सामंती जमींदारों को जनता के खिलाफ उनके अत्याचारों पर अभयदान के साथ सत्ता में हिस्सेदारी मिल रही थी और ब्रिटिश राज के भारतीय नौकरशाहों के हाथों में सत्ता की बागडोर वैसे ही बनी रही जैसे अंग्रेजों के राज में थी। सारी बातें पूर्ववत रह गयीं, सिर्फ सत्ता चलाने वालों के चेहरे बदल गये थे, उनकी चमड़ी का रंग बदल गया था।

इस आजादी के बारे में सत्ता हस्तांतरण के दोनों पक्षों की अवधारणा भी अलग–अलग थी। ब्रिटिश संसद के अनुसार ब्रिटिश भारत में दो डोमिनियन स्टेट्स बनाये जा रहे थे और इस दोनों के शासक वर्ग और उसके नेता जनता के बीच पूर्ण संप्रभु राज्य बनने की घोषणा कर रहे थे। अपनी समझौतापरस्ती छुपाने के लिए वे सब मिलकर देश की जनता को धोखा दे रहे थे। इतिहास के इस पड़ाव पर कम्युनिस्टों की भूमिका क्या थी ? स्वतंत्रता संग्राम में जिन पूंजीवादी नेताओं पर उन्होंने अपना पूरा विश्वास व्यक्त किया था, उनके इस विश्वासघात पर उनकी प्रतिक्रिया कैसे उभर रही थी और वे इस बदलते वर्ग संबंध के बारे में कौन सी नीति अपनाने की तैयारी कर रहे थे ?

आजादी के जश्न के साथ इस जनविरोधी दुरभिसंधि से जो बदलाव आ रहे थे, वे न तो नये थे और न ही अप्रत्याशित। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को इसका आभास भले नहीं रहा हो, लेकिन भगत सिंह और उनके दल ने लगभग दो दशक पहले ही इसे भांप लिया था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने आजादी के नाम पर चल रही घपलेबाजी का विरोध तो किया, लेकिन इस संदेश को जनता तक पहुंचा पाने में विफल रही। उस समय उनकी स्थिति इससे भिन्न हो भी नहीं सकती थी। इसके दो कारण थे। अतीत में कभी भी उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद के बीच उभरते मधुर संबंध, और इसके जनविरोधी चरित्र का भंडाफोड़ नहीं किया जैसा कि हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने किया था।

इसके विपरीत उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में कांग्रेस को धूरी के रूप में स्थापित करने का काम किया और कांग्रेस के इर्द–गिर्द जनता को गोलबंद करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर न तो उनकी कांग्रेस विरोधी साख बन पायी थी और न ही वे इस तरह की लचीली सांगठनिक संरचना का निर्माण कर पाये थे जो बदलती स्थिति के अनुसार तेजी से बदल जाय। इस स्थिति में 'यह आजादी झूठी है' के नारे के बावजूद वे परिस्थिति के प्रवाह में बह जाने को बाध्य थे। दूसरा कारण इससे भी ज्यादा गंभीर था और उसका प्रभाव भविष्य के आंदोलन पर पड़ने वाला था। किसी भी क्रांतिकारी पार्टी के सर्वोच्च नेतृत्वमंडल को यह महारत हर हाल में हासिल होनी

चाहिए कि वह समाज की वर्गीय संरचना, वर्गों के अंतर्संबंध के बारीक से बारीक बदलावों को समझने में दक्ष हो अन्यथा वह पार्टी सारे त्याग व बलिदान के बावजूद मार्क्सवादी होने का गौरव हासिल नहीं कर पायेगी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्वमंडल विकास के इस मोड़ पर भी विफल साबित हुआ।

यहां भारतीय शासन व्यवस्था में आ रहे बदलावों को समझने व समझाने के तीन मुख्य बिंदु थे : साम्राज्यवाद तथा भारतीय शासक वर्ग के बीच के संबंध का नया आधार, भारतीय शासक वर्गों के बीच नेतृत्व का विवाद यानी दलाल पूंजीवाद–सामंतवाद के गठबंधन में उनका अंदरूनी नेतृत्व कौन संभालेगा और इन बदलावों के आधार पर क्रांति की राजनीति, रणनीति और कार्यनीति में बदलाव। पहले दो सवालों के जवाब में झूठी आजादी का रहस्य छुपा है जिसके खुलासे से पता चलेगा कि आजाद दिखने वाला देश अर्ध गुलामी की अवस्था में कैसे फंसा है, साम्राज्यवाद की नीतियों का मुख्य निष्पादक कौन है और तीसरे सवाल के जवाब से यह तय किया जा सकता था कि इससे निबटने के उद्देश्य से जनता को संगठित कैसे किया जाय और संघर्ष की नीति क्या हो। तब से अब तक का कम्युनिस्ट आंदोलन इन्हीं सवालों के चक्रव्यूह में फंसा है। अब तो कार्यकर्त्ताओं और जनता में यह आशंका पैदा होने लगी है कि पार्टी के नेताओं ने इन सवालों के जवाब खोजने की कोशिश भी कभी की या नहीं और यह आशंका निराशा का सबसे बड़ा कारण है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस (1943) से चौथी कांग्रेस (1956) तक की परिस्थिति का अवलोकन करने से इस सवालों के जवाब खोजने में मदद मिल जाती है।

पार्टी की पहली कांग्रेस 23 मई से 01 जून तक बंबई में हुई। इसे इतिहास का संयोग ही कहा जायेगा कि जिस साल कमिंटर्न भंग करने की घोषणा हुई उसी साल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस हुई। स्वतंत्रता संग्राम के लिहाज से इस कांग्रेस की दूसरी विशेषता थी कि वह 'भारत छोड़ो' आंदोलन के तुरंत बाद हो रही थी जिसे इस संग्राम के इतिहास का महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है और इसका उपयोग कांग्रेस को देशभक्त और कम्युनिस्टों को गद्दार घोषित करने के लिए किया जाता है। लेकिन इस कांग्रेस के दस्तावेजों में इस बिंदु पर बहस की कोई चर्चा तक नहीं मिलती। ऐसा इसलिए हुआ कि उस समय कांग्रेसी नेता तक यह नहीं स्वीकार करते थे कि उन्होंने आंदोलन का आह्वान किया था।

फिर भी, इतना तो साफ हो ही गया था कि दूसरे विश्वयुद्ध के सवाल पर कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी में मतभेद था। इसलिए अपनी पहलकदमी पर इसका खुलासा लाजिमी था कि इस मतभेद का वर्ग चरित्र क्या है और इस आधार पर यह

तय करने की जरूरत थी कि अगली रणनीति क्या होगी।

इसी से मिलती-जुलती स्थिति उभरी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के मूल्यांकन में। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में उनका मूल्यांकन बिल्कुल सही था कि सोवियत संघ की जीत की शुरूआत से प्रभावित तथा कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा संगठित फासिस्ट विरोधी आंदोलन हर देश में तेजी से बढ़ रहा है। इन कम्युनिस्ट पार्टियों की अग्रणी भूमिका की सराहना भी अच्छी बात है। लेकिन इस सराहना से भी वह सवाल मजबूत हो जाता है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी अग्रणी भूमिका निभाने में कहां चूक गयी ?

इस चूक का मुख्य कारण भारतीय पूंजीपति वर्ग और कांग्रेस पार्टी के वर्ग चरित्र की गलत समझ है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि इस दौर में पार्टी इस वर्ग को राष्ट्रीय पूंजीवाद का प्रतिनिधि समझती थी तथा कांग्रेसी नेताओं में डा० सनयात सेन की छवि देखती थी। इसकी झलक क्रिप्स मिशन की विफलता के विश्लेषण में दिख जाती है। इस विफलता की पूरी जिम्मेवारी ब्रिटिश नौकरशाही पर डालकर कांग्रेस को पूरी तरह दोषमुक्त करार दिया जाता है, जबकि प्रख्यात कांग्रेसी नेता अबुल कलाम आजाद की नजर में जवाहरलाल नेहरू भी इस जिम्मेवारी से नहीं बच सकते थे। राष्ट्रीय संकट पर चर्चा के क्रम में पार्टी कांग्रेस का दस्तावेज 1942 की स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहता है : 'कांग्रेस और लीग का एकजुट होकर राष्ट्रीय रक्षा के लिए देश की जनता को जगाने में विफलता का उन्होंने (अंग्रेजों ने) भरपूर लाभ उठाया। उन्होंने असहयोग तथा संघर्ष के लिए कांग्रेस की धमकी का लाभ उठाया। उन्होंने ब्रिटिश और अमेरिकी जनता की नजर में कांग्रेसी नेताओं पर दमन को उचित ठहराया। उन्होंने ब्रिटिश और अमेरिकी जनता में कांग्रेस की छवि पांचवें स्तंभवादी जैसी पेश की जो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए नहीं, बल्कि जापानियों के साथ मोल-तोल के लिए राष्ट्रीय सरकार चाहते थे।' इसके बाद वे यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी से संकट सतह पर आ गया तथा और गहरा हो गया। एक बार फिर कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस की साम्राज्यवादपरस्ती को उजागर करने का अवसर गंवा दिया और इसका उपयोग कांग्रेसी नेताओं की छवि चमकाने के लिए किया।

उनकी आलोचना के स्वर में इसी का बोध होता है : 'हमारे देश की दो महान देशभक्त पार्टियां यह महसूस करने के बजाय कि उनका सहज और परम कर्त्तव्य राष्ट्रीय रक्षा है, इसके लिए जनता को जागृत करना है, साम्राज्यवादियों द्वारा सत्ता सौंपने का इंतजार करती रहीं।' इन पंक्तियों में इतना बोध जरूर होता है कि उनकी नजर में कांग्रेस और मुस्लिम लीग जन संघर्ष की आग से गुजरना नहीं

चाहते थे। लेकिन 'महान देशभक्त' का दर्जा इतना भारी था जिसके नीचे यह सब दब गया। यह एकता और संघर्ष की नीति नहीं, यह बिना शर्त समर्पण की नीति थी। मेंशेविक राजनीति का प्रभाव सांगठनिक नीति पर भी पड़ा। पहली कांग्रेस के संगठन संबंधी प्रस्ताव में हम इस बात पर जोर देते हुए देखते हैं कि 'जन कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण ही व्यापक जनता को संघर्ष की एकता के लिए गोलबंद करने मे सक्षम बना सकता है।' लेनिनवादी (बोल्शेविक) सिद्धांत के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी सीधे तौर पर जन–पार्टी नहीं होती, वह कैडर पार्टी होती है जिसके चारों तरफ जन संगठनों का विशाल ताना बाना होता है। ये जन संगठन दोहरी भूमिका निभाते हैं। एक तरफ वे जनता और पार्टी के बीच जीवंत संबंध बनाते हैं और दूसरी तरफ कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता तैयार करने के प्रशिक्षण केंद्र होते है। ऐसी जटिल सांगठनिक संरचना के बिना क्रांतिकारी संघर्ष का विकास असंभव है।

अब इस मामले के दूसरे पक्ष पर विचार करें। उस दौर में कम्युनिस्ट पार्टी क्या कर रही थी और उनके कामों का नतीजा क्या निकला ? निस्संदेह, पार्टी ने अपनी पूरी ताकत फासिस्ट एजेंटों का भंडाफोड़ कर आम जनता से अलग–थलग करने में लगायी थी। इस काम के महत्व को उस समय की खास परिस्थिति में समझना होगा। 'करो या मरो' का नारा देने के बाद कांग्रेस के एक भी देश स्तर के नेता दिशा–निर्देश और मूल्यांकन के लिए बाहर नहीं बचे थे। कांग्रेस सोशलिस्ट और थोड़े से कांग्रेसी बचे भी थे, तो उनके पास इतने बड़े आंदोलन के सुनियोजित संचालन का सांगठनिक ढांचा नहीं था। इस स्थिति में स्वाभाविक था कि फासिस्ट एजेंट देशभक्ति का चोला पहनकर इसमें घुस जायें। अयोध्या सिंह ने 'भारत का मुक्ति संग्राम' में उस समय की स्थिति का विवरण दिया है। कलकत्ता में कुछ लोग यहां तक बढ़–चढ़ कर बातें करते थे कि हिटलर राम, मुसोलिनी लक्ष्मण और तोजो हनुमान है, इन्हें कोई हरा नहीं सकता। ऐसे लोग आंदोलन में घुसकर तोड़–फोड़ कर रहे हों, तो आश्चर्य की बात नहीं थी। इस प्रकार यह आंदोलन पूरी तरह स्वतःस्फूर्त था और अनियंत्रित हो गया था।

इस स्थिति में कम्युनिस्ट पार्टी ने पांचवें स्तंभवादियों को अलग–थलग करने के लिहाज से उनका भंडाफोड़ अभियान अपने हाथ में लिया। इसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली जिसका मूल्यांकन दस्तावेज में इन शब्दों में किया गया: 'हमलोगों ने पांचवें स्तंभ और उसके विघटनकारी नारे का भंडाफोड़ तो किया, लेकिन राष्ट्रीय नेतृत्व की नकारात्मक व पराजयवादी नीति का खुलासा नहीं किया जिसने उन्हें पांचवें स्तंभ के चंगुल तक पहुंचा दिया।'

पांचवें स्तंभवादियों का भंडाफोड़ करते–करते वे उसकी सीमा भूल गये। पहली कांग्रेस में भविष्य के नारे और कार्यनीति तय करने में वे ब्रिटिश सेना से हाथ मिलाने की हद तक चले गये : 'युद्ध की आशंका वाले क्षेत्रों में कम्युनिस्टों को अपनी पार्टी इकाइयों और जनसंगठनों के माध्यम से भारतीय और ब्रिटिश सैन्य टुकड़ियों को आक्रामक व रक्षात्मक तैयारियों में संगठित जनसहयोग उपलब्ध कराना चाहिए।' यह नीति गलत थी। शत–प्रतिशत गलत। सोवियत संघ की जनता–सेना सहयोग की नीति का अनुसरण यहां नहीं हो सकता था। सोवियत संघ की सेना जनता की सेना थी और कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण में थीं, और वह देश और जनता की मुक्ति के लिए लड़ रही थी। इसके विपरीत ब्रिटिश सेना अपने औपनिवेशिक प्रभुत्व की रक्षा के लिए लड़ रही थी। यह अंतर युद्ध खत्म होने के तुरंत बाद नेवी में भारतीय जवानों के विद्रोह तथा उनके समर्थन में उतरे बंबई के मजदूरों के दमन से सबसे वीभत्स रूप में सामने आ गया। इस अंतर को नहीं समझ पाना कम्युनिस्ट आंदोलन को बहुत महंगा पड़ा।

भारत की आजादी के संदर्भ में कमिन्फर्म की समझ के विपरीत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इसे नकली या छदम आजादी नहीं मान पा रही थी। इसका विवरण हमें पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस की ओर से प्रकाशित पुस्तक (ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ दी सीपीआई, थ्रु पार्टी कांग्रेसेज : अनिल राजीमवाले, वर्ष 2012) में देखने को मिलता है। पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र पीपुल्स एज (3 जून 1947) में प्रकाशित हुआ था कि, '15 अगस्त को भारत का राष्ट्रध्वज वहीं लहरायेगा, जहां सदियों से यूनियन जैक लहरा रहा था। ब्रिटिश वायसराय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं को सत्ता सौंप देंगे।... शक्तिशाली राष्ट्रीय कांग्रेस, भारत का अग्रणी राष्ट्रीय संगठन, इस समारोह का नेतृत्व करेगा। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय उल्लास के दिवस में शामिल रहेगी।' 15 अगस्त 1947 का पीपुल्स एज विशेषांक के रूप में निकला। इसमें बी.टी. रणदीवे का भी लेख था। इस लेख के अनुसार 15 अगस्त सिर्फ सांकेतिक आजादी का प्रतीक नहीं था।

पार्टी की दूसरी कांग्रेस (कलकत्ता, 28 फरवरी से 6 मार्च 1948) में सारे समीकरण उलट गये। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मिलीभगत तथा उनके जनविरोधी चेहरों को उजागर किया जाने लगा। दूसरी कांग्रेस में पेश दस्तावेज के अनुसार 'साम्राज्यवाद ने भावी दुर्दिन की आशंका को भांप लिया और दोनों पूंजीवादी पार्टियों कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ समझौता शुरू कर दिया। लेकिन सिर्फ साम्राज्यवाद ही दस्तक दे रही क्रांति के खतरे से भयभीत नहीं था। राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पूंजीवादी नेतृत्व ने भी

साफ–साफ देख लिया कि जनता का संघर्ष उनके नियंत्रण से बाहर जा रहा है तथा मजदूर वर्ग और शोषित जनगण को अगले मोर्चे पर ला रहा है। इसीलिए वे समझौता को इच्छुक हुए और जुझारू जनसंघर्षों पर हमला करने लगे।'

इस विश्लेषण के क्रम में वे इस निष्कर्ष तक पहुंच गये कि कांग्रेस पार्टी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दलाल है और उसकी सेवा के लिए आजादी का बैनर खड़ा कर रही है। नयी व्याख्या के शब्द इस प्रकार थे : 'युद्ध और युद्धोत्तर काल में आजादी और जनवाद के लिए बढ़ते जन विद्रोह के फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने प्रभुत्व का स्वरूप बदलने को बाध्य हो गया। भारत छोड़ने के विकल्प के सामने यहां बने रहने के लिए सत्ता में पूंजीपतियों और जमींदारों को हिस्सेदारी दे दी। इस नयी परिस्थिति को राष्ट्रीय आजादी और राष्ट्रीय प्रगति के रूप में पेश करना साम्राज्यवादी कार्यपद्धति (डिजाइन) पर पर्दा डालना है।' पहली कांग्रेस में जो आजादी सिर्फ 'सांकेतिक' नहीं थी, वह इस कांग्रेस में साम्राज्यवादी कार्यपद्धति को छुपाने का साधन बन गयी।

इस विश्लेषण ने भारतीय पूंजीपति वर्ग की देशभक्ति तथा कम्युनिस्ट पार्टी के पुराने विश्लेषण और पुरानी रणनीति पर बुनियादी प्रश्न खड़ा कर दिया। इस स्थिति में बिल्कुल लाजिमी हो गया था कि इन दोनों प्रश्नों पर विस्तृत विश्लेषण पेश कर पिछली गलती के कारणों का पता लगाया जाता, नयी रणनीति तय की जाती और उसे लागू करने के उद्देश्य से पार्टी संगठन के स्वरूप व कार्यपद्धति में बदलाव लाया जाता। मार्क्सवादी–लेनिनवादी आलोचना का यह ककहरा है। लेकिन इन तौर तरीकों पर अमल नहीं किया गया और संभवतः इससे बचने के लिए यह विश्लेषण पेश किया गया कि यह बदलाव 15 अगस्त 1947 के बाद आया। इसके विपरीत हमने पिछले अध्यायों में यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह बदलाव 1930 में दूसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद उत्तरोत्तर आता गया। इस तथ्य को आंखों से ओझल कर देना इस कांग्रेस की सार–संग्रहवादी नीति का आधार बन गया।

इस गड़बड़झाला के बावजूद इस कांग्रेस ने कुछेक अच्छे निर्णय भी लिये, जैसे : 'अब से पूंजीवादी (जनवादी) क्रांति की यात्रा पूंजीवादी सरकार और उसकी नीतियों तथा कांग्रेस के पूंजीवादी नेतृत्व का प्रत्यक्ष विरोध की दिशा में आगे बढ़ेगी'। यह भारतीय क्रांति की रणनीति में बहुत बड़ा बदलाव था, लेकिन अगर इसका वांछित परिणाम नहीं नकिला, तो सिर्फ इसलिए कि इसके लिए सही कार्यनीति नहीं अपनायी गयी। इस आलोक में यह जरूरी है कि इस कांग्रेस की कार्यनीति में आये भटकावों की चर्चा की जाय। इस कांग्रेस पर वामपंथी भटकाव के

आरोप लगते हैं जिसके फलस्वरूप कम्युनिस्ट आंदोलन जनांदोलन से कट गया। उस समय की राजनीतिक स्थिति को समझने में तीन महत्वपूर्ण गलतियां हुई :

- भारतीय पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के नये संबंध का बुनियादी चरित्र समझने के बावजूद भारतीय जनमानस पर इसके प्रभाव का आकलन गलत ढंग से किया गया। पार्टी के नेतागण यह भूल गये कि यहां की जनता की नजर में नेहरू–पटेल की जोड़ी नायक तथा माउंटबेटेन मुक्ति दूत बन गये थे और गांधी मंदिर के गर्भ गृह में स्थापित देवता। इस छवि को ढालने में कम्युनिस्ट पार्टी ने भी मेंशेविक नीति अपनाकर बड़ी भूमिका अदा की थी। अब वह उम्मीद करती थी कि वर्षों से निर्मित छवि चुटकी बजाते ही खत्म हो जायेगी और लोग एक इशारे पर गृहयुद्ध में उतर जायेंगे। ऐसा न तो इतिहास में कभी हुआ है और न आगे होगा।

- घरेलू राजनीति में पूंजीवाद और सामंतवाद के बीच नये समीकरण का जनता पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे समझ पाने में भी पार्टी नेतृत्व विफल रहा। वे नहीं समझ पाये कि माउंटबेटेन योजना की बुनियादी शर्त रियासत के शासकों के अपराधों की पूर्ण माफी और देश की राजनीति में उन्हें सम्मानजनक साझीदारी देने की है। इन वर्गों के प्रतिनिधियों को सत्ता हस्तांतरण के साथ ही भारत की शासक वर्गीय राजनीति एक नये दौर में प्रवेश कर गयी – साम्राज्यवाद, दलाल पूंजीवाद और सामंतवाद के गठबंधन का दौर। इसने प्रतिक्रियावादी शक्तियों की दमनकारी क्षमता बढ़ा दी थी।

- तीसरी गलती थी अंतर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन के संक्रमण को नहीं समझ पाने की। यह सही बात थी कि चीन की क्रांति विजय पथ पर आगे बढ़ रही थी जिसका सीधा प्रभाव वियतनाम और कोरिया पर पड़ता था। इसका कारण था कि ये दोनों देश चीनी क्रांति के प्रभाव क्षेत्र में थे और इनके कम्युनिस्ट विद्रोहियों के पास अतीत के संघर्ष के फलस्वरूप सैन्य और जनसंगठनों के मजबूत केंद्र थे। इसके विपरीत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस पार्टी पर निर्भर थी और कांग्रेस अमेरिकी दलाल च्यांग काई शेक पर। ऐसी स्थिति में यह उम्मीद बेकार थी कि चीनी क्रांति की विजय से भारत में क्रांतिकारी विस्फोट पैदा हो जायेगा।

आज भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी जब तेलंगाना किसान विद्रोह की विफलता का विश्लेषण करते हैं तो वे नेताओं की गद्दारी तक सीमित रहकर अपना इतिश्री कर लेते हैं। लेकिन वे यह देखने का जहमत नहीं उठाते कि उस समय का जनमानस क्या था। इसकी एक झलक 'फ्रीडम एट द मिड नाईट' के लेखकों के विवरण से मिलती है। स्वतंत्रता समारोह में कितना बड़ा जनसैलाब उभरा था और माउंटबेटेन के प्रति कितना कृतज्ञ था उसकी तस्वीर निम्नलिखित अंश में मिलती है : 'भारत के

अंतिम वायसराय की बेटी ने एक ठंडी सांस लेकर अपने जूते उतारकर हाथ में ले लिये और मंच तक बीछे छुए मानव शरीरों के कालीन को रौंदती हुई आगे बढ़ी, वह जिन लोगों के ऊपर पांव रखती हुई आगे बढ़ रही थी, वे बहुत खुश होकर हंसते रहे और उसे आगे बढ़ने में मदद देते रहे, जब उसके पांव लड़खड़ाने लगते तो वे उसे संभाल लेते, कुहनी का सहारा देकर उसे आगे बढ़ा देते और उसके चमकदार एंड़ी के जूतों की ओर इशारा करके उसकी लाचारी का मजा लेते।'

इसका निहितार्थ बहुत साफ है। जनता में ब्रिटिश साम्राज्यवाद खिलाफ ऐसी घृणा नहीं थी जो क्रांतिकारी विस्फोट का रूप ले सकती थी। इस स्थिति में पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने वर्ग संबंधों में आये बदलावों की सही समझ रखने के बावजूद कार्यनीति तय करने में वामपंथी भटकाव का शिकार हो गयी। ऐसी स्थिति में जब देश की व्यापक जनता कांग्रेस और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गठबंधन पर मुग्ध थी और सांप्रदायिक विद्वेष में एक दूसरे को मारने–काटने में मशगूल थी, तब किसी छोटे इलाके में भारतीय राजसत्ता के खिलाफ विद्रोह को टिका पाना लगभग असंभव था और दूसरी कांग्रेस के नेताओं ने इसी सच को समझने में भारी गलती की थी। वे चाहते थे कि रूसी क्रांति का फरवरी और अक्तूबर का अध्याय भारत में दोहरा दें, लेकिन वे भूल गये कि इस काम को अंजाम देने के लिए जिस रणनीति का सहारा बोल्शेविकों ने लिया था, उसके ठीक विपरीत उन्होंने मेंशेविक राह अपनायी थी।

पार्टी इतना बड़ा झटका बर्दाश्त नहीं कर पायी और नेतृत्वमंडल में अफरा–तफरी मच गयी। मई–जून 1950 की केंद्रीय कमिटी की बैठक में बी.टी. रणदिवे को महासचिव पद से हटा दिया गया। अनिल राजिमवाले का दावा है कि पार्टी को इस कठोर कदम की प्रेरणा कमिनफर्म की पत्रिका के संपादकीय से मिली थी जिसमें इनके संकीर्णतावादी रूख की आलोचना की गयी थी। बात यहीं नहीं रूकी। महासचिव सहित सभी निवर्तमान पालितब्यूरो के सदस्यों (जी. अधिकारी, भवानी सेन, सोमनाथ लाहिरी व एन.के. कृष्णन) को पार्टी से निलंबित कर दिया गया। पार्टी के नये महासचिव सी. राजेश्वर राव बनाये गये। पार्टी की नीति पर महज इतना कहा गया कि भारतीय क्रांति रूसी क्रांति के रास्ते का अनुसरण नहीं करेगी जैसा कि रणदिवे लाइन कहती थी, वह चीनी क्रांति की राह का अनुसरण करेगी। इसी नीति के तहत तेलंगाना आंदोलन को भारतीय राजसत्ता के खिलाफ मोड़ देने की नीति अपनायी गयी।

निजाम की सत्ता के खिलाफ कम्युनिस्ट पार्टी और आंध्र महासभा के संयुक्त नेतृत्व में जारी जनविद्रोह सक्षम था, लेकिन भारतीय राजसत्ता की सेना से टकराने

के लिए न तो वह सक्षम था और न स्थिति परिपक्व थी। भारतीय राजसत्ता के सामने हैदराबाद के निजाम के समर्पण के बाद उसे अभयदान दिया गया, आंध्र महासभा मोर्चा से पीछे हट गयी और नेहरू–पटेल की अहिंसावादी सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ताओं के खून की ऐसी होली खेली जिसकी तुलना पेरिस कम्यून की पराजय के बाद रचाये गये जनसंहार से की जा सकती थी। पार्टी कार्यकर्त्ताओं और किसानों ने इसका वीरोचित साहस के साथ मुकाबला किया। लेकिन नेतृत्व के हाथ–पांव फूलने लगे और उनका एक शिष्टमंडल कमिन्फर्म के नेताओं से विचार–विमर्श के लिए 1950 के उत्तरार्द्ध में मास्को पहुंच गया।

इस शिष्टमंडल में अजय घोष, एस.ए. डांगे, सी. राजेश्वर राव और एम. बासवपुनैया शामिल थे। बहुचर्चित तथ्य है कि भारतीय क्रांति के बारे में इनलोगों की बातें खुलकर हुईं। कहा जाता है कि स्तालिन ने 1917 की बोल्शेविक क्रांति और चीन की क्रांति की ठोस स्थिति का विस्तृत विवरण पेश कर दिया और भारतीय नेताओं पर निर्णय लेने की जिम्मेवारी सौंप दी। स्तालिन के विवरण का प्रामाणिक दस्तावेज हमारे पास नहीं है। लेकिन कमिंटर्न की तीसरी कांग्रेस में लेनिन ने उस क्रांति की जो तस्वीर पेश की थी, वह प्रामाणिक है। उस समय वे रूस की क्रांति के बारे में उस प्रचलित गलतफहमी का खंडन कर रहे थे कि बोल्शेविक छोटी ताकत थे, लेकिन उन्होंने क्रांति को सफलता तक पहुंचा दी। लेनिन ने बताया था कि अक्तूबर क्रांति के समय नब्बे प्रतिशत मजदूर, लगभग अस्सी प्रतिशत गरीब व मध्यम किसान तथा पचास प्रतिशत सेना के जवान हमारे साथ थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की तैयारी इस तुलना में कहाँ खड़ी थी, समझना बिल्कुल आसान है।

इसके बाद पार्टी के पॉलित ब्यूरो ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें देश की संक्रमणकालीन स्थिति की चर्चा की गयी। इसमें भारतीय राजसत्ता के चरित्र के बारे में कहा गया कि : 'वह सामंती जमींदारों और बड़े एकाधिकारी वित्तपतियों के हितों की रक्षा करती है और इन दोनों के पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ काम कर रहे हैं। लेकिन क्रांति की दिशा तय करते समय दूसरा ही राग सुनने को मिला : आज हमारी असली आजादी का मतलब है कि सामंती जमींदारों की जमीन छीन ली जाय और उसे किसानों में बांट दी जाय। यह सामंतवाद विरोधी कार्यभार जैसे ही पूरा हो जायेगा, वैसे ही उसका मतलब होगा देश की आजादी, क्योंकि चीन की तरह हमारे देश में भी साम्राज्यवादी हितों का मुख्य स्तंभ सामंतवाद ही है। इसलिए चीन की तरह हमें साम्राज्यवाद और सामंतवाद से संघर्ष करना होगा। हमारी क्रांति सामंतवाद–साम्राज्यवाद विरोधी है।' (हिस्टोरिकल

एण्ड टेक्निकल डॉक्यूमेंट्स आफ दी कम्युनिस्ट मूवमेंट ऑफ इंडिया : टी. नागीरेड्डी मेमोरियल ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित)।

इस नीतिगत वक्तव्य का सबसे विरोधाभासी पक्ष है कि सिद्धांततः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अप्रत्यक्ष भूमिका तथा भारतीय नौकरशाही की उसके तथा भारत के बड़े पूंजीपतियों के प्रति पक्षधरता स्वीकार की जाती है, लेकिन व्यवहारतः संघर्ष का मुख्य पक्ष सामंतवाद विरोधी बनाये रखने पर जोर दिया जाता है। इतना ही नहीं 1951 के सम्मेलन में जहां उपर्युक्त वक्तव्य को आधिकारिक रूप दिया गया, अमेरिका के हावी होने के लक्षण भी देखे गये। इस सम्मेलन के दस्तावेज में कहा गया : 'ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की अधीनता के अतिरिक्त भारत सरकार की नीतियां हमारी अर्थव्यवस्था में, जीवन में तथा राजकाज के मामलों में अमेरिकी साम्राज्यवादियों की घुसपैठ की दिशा में ले जाती हैं। इससे अमेरिकी पूंजी की अतिरिक्त दासता का खतरा पैदा हो गया है।'

इस विश्लेषण में भारतीय शासक वर्ग की प्रतिबद्धता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अमेरिकी साम्राज्यवाद की ओर शिफ्ट करते दिखाया गया है। हमारे कई सिद्धांतकार इसे अनौपविश्वीकरण से नवऔपनिवेशीकरण की दिशा में जाते हुए दिखाने की कोशिश करते हैं। लेकिन वास्तव में यह नव–औपनिवेशीकरण के दौर में डुबते हुए सूर्य को छोड़कर उगते हुए सूर्य की ओर अग्रसर होने की दिशा में कदम था।

इसे साबित करने के लिए दस्तावेज ने नेहरू सरकार की विदेश नीति का हवाला दिया : 'भारत सरकार आक्रामकों के खिलाफ शांति के पक्ष में दृढ़तापूर्वक खड़ा होने तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को मुख्य आक्रमणकारी शक्ति के रूप में चिन्हित करने के बदले दोनों खेमों के बीच संदेहात्मक भूमिका निभा रही है और अमेरिका के साथ चोंचलेबाजी कर रही है। इस प्रकार वह शांतिकामी देशों के खिलाफ आक्रामक देशों के संघर्ष को हवा दे रही है।' (स्रोत : वही) यह विश्लेषण सही और सटीक होते हुए भी वर्गीय शक्ति संतुलन की गलत समझ के कारण निष्प्रभावी साबित हो रहा था।

1955 का प्रस्ताव और 1956 में चौथी कांग्रेस (पाल घाट) का निर्णय भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के पतन के इतिहास में मील का पत्थर बन गया। उस समय तक अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में पतन की शुरूआत हो चुकी थी। स्तालिन की मृत्यु के बाद और सोवियत संघ की सत्ता में पूंजीवाद के राही खुश्चोव और उसके सहयोगी स्थापित हो चुके थे। वहां पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का दौर शुरू हो गया था। देश के भीतर नेहरू सरकार की औद्योगिकरण की नीति लागू हो रही

थी और इसमें बुनियादी ढांचे के निर्माण का कार्यभार राज्य के जिम्मे रखा गया था जिसमें सोवियत संघ का सहयोग काफी महत्त्वपूर्ण बन गया था। इस बदलाव ने कम्युनिस्ट पार्टी को एक बार फिर यू टर्न लेने के लिए मजबूर कर दिया। अमेरिका के साथ चोंचलेबाजी करनेवाली नेहरू सरकार अब प्रगतिशील लगने लगी।

1955 के प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया कि अब भारत की विदेशनीति मुख्यतः साम्राज्यवादी युद्ध अभियान की नीति का विरोध करती है। भारत अब हर तरह के बाहरी दबाव से मुक्त स्वतंत्र नीति का अनुसरण करता है। इसी बदलाव के साथ आर.एस.एस. और जनसंघ जैसी दक्षिणपंथी अमेरिकापरस्त शक्तियों के विरोध का हवाला देकर नेहरू की नीतियों के साथ तालमेल बैठाने और उसके सामने समर्पण करने का दौर शुरू हो गया। यह स्तालिन के दौर की नीतियों को ठुकराकर ख्रुश्चोव की नीति अपनाने की शुरूआत थी।

सोवियत संघ की पार्टी की उन्नीसवीं कांग्रेस (1952) में स्तालिन ने विश्व सर्वहारा को दो चेतावनी दी थी। पहला, पूंजीपति देश की आजादी को सर्वोपरि समझता था, अब इस नीति का लेश मात्र भी उसके कार्यभार में नहीं रहा, वह डॉलर के लिए आजादी बेच रहा है और उसने आजादी के संघर्ष का झंडा फेंक दिया है। दूसरा, पूंजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय संघर्ष के जिस झंडे को फेंक दिया है, उसे उठा लेना सर्वहारा वर्ग की जिम्मेवारी है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्तालिन की नीतियों को न सिर्फ खारिज किया गया, बल्कि देश और दुनिया पर उनके प्रभावों को नष्ट करने की साजिशाना हरकत शुरू हो गयी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने उसका अनुसरण शुरू कर दिया।

पार्टी महासचिव अजय घोष ने सोवियत संघ की पार्टी कांग्रेस की रिपोर्ट पेश की, स्तालिन विरोध का समर्थन किया और अपने पक्ष में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के विश्लेषण को दृष्टांत के रूप में पेश करते हुए स्तालिन के संतुलित मूल्यांकन की नीति अपनायी। लेकिन यह मूल्यांकन कितना संतुलित था, इसका जायजा वन बिहारी चक्रवर्ती ने 'स्तालिन क्वेश्चन' में इन शब्दों में किया : 'व्यक्ति पूजा की संस्कृति ने जनता और पार्टी की भूमिका को छोटा कर दिया और उनकी पहलकदमी के विकास में बाधक बन गयी। इन कार्यभारों को हाथ में लेकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवाद की महती सेवा की है।...

यह स्पष्ट है कि सोवियत जनवाद में विकृति तथा पार्टी की अंदरूनी कार्यपद्धति के उल्लंघन के लिए स्तालिन मुख्यतः जिम्मेवार हैं।'

इसके आगे : 'स्तालिन के नेतृत्व के तरीकों में जो नकारात्मक लक्षण और गंभीर दोष पैदा हुए उन्हें पूरी तरह स्वीकार करते हुए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की

केंद्रीय कमिटी मानती है कि गत 20 वर्षों में सोवियत संघ तथा विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रचंड विकास में उनकी भूमिका के एकपक्षीय मूल्यांकन ने जनता में भ्रम की स्थिति पैदा की और उन्हें दिग्भ्रमित करने में साम्यवाद के दुश्मन इसका उपयोग कर सकते हैं।'

वन बिहारी चक्रवर्ती ने यह अंश 1–11 जुलाई 1956 के केंद्रीय कमिटी के प्रस्ताव से लिया है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्तालिन के मूल्यांकन ने पूरी दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों को तीन खेमों में बांट दिया था। पहला खेमा उन ख्रुश्चोवपंथियों का बना जिन्होंने उस आलोचना को पूरी तरह स्वीकार कर लिया। दूसरा खेमा उन पार्टियों का बना जो ख्रुश्चोव के विश्लेषण को खारिज करते थे, लेकिन उनकी कुछेक सैद्धांतिक व व्यवहारिक गलतियों को स्वीकार करते थे। और तीसरा खेमा उन पार्टियों का था जिन्होंने स्तालिन के नेतृत्व को पूरी तरह सही माना था और ख्रुश्चोवपंथियों को पूरी तरह खारिज कर दिया था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पहले दो खेमों में बंट गयी। विभाजन का सिलसिला 1964 में सातवीं कांग्रेस से शुरू हुआ और भाकपा (मा–ले) के जन्म के साथ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी जो बोल्शेविज्म का जाप करते हुए मेंशेविज्म का अनुसरण कर रही थी, अब पूरी तरह पूंजीवादी खेमे में शामिल हो गयी, पूंजीपति वर्ग की वामपंथी पार्टी बन गयी।

अध्याय–11

क्रांतिकारी पार्टी का उद्‌भव, विकास और बिखराव

नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के गर्भ से उत्पन्न पार्टी सीपीआई (एम.एल) संशोधनवाद के खिलाफ क्रांति के केंद्र के रूप में उभरी थी।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पांचवीं कांग्रेस (अमृतसर, 1958) में संशोधनवाद के पक्ष में निर्णायक फैसला लिया गया था। पार्टी संविधान से सर्वहारा अधिनायकत्व की अवधारणा हटा दी गयी थी। 1953–54 में मदुरै कांग्रेस में कहा गया था कि पार्टी 'सर्वहारा अधिनायकत्व हासिल करने के उद्देश्य से मजदूर वर्ग के नेतृत्व में जनता का जनवादी अधिनायकत्व की स्थापना के लिए कृतसंकल्प है।' (ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ दी सीपीआई, अनिल राजिमवाले)। अमृतसर कांग्रेस में इस अंश को हटा दिया गया। इसके बाद शांतिपूर्ण संसदीय तरीके से सत्ता हासिल करने की नीति का मार्ग प्रशस्त हो गया। इसके साथ ही पार्टी में टूट के बीज भी पड़ गये जिसकी जमीन चौथी कांग्रेस (पालघाट, 1956) में तैयार हो गयी। जिस समय अजय घोष सोवियत संघ की पार्टी का प्रस्ताव पढ़ रहे थे, असहमति वहीं से उभरने लगी थी। 1961 में विजयवाड़ा में संपन्न छठी कांग्रेस में पार्टी में टूट की परिस्थिति परिपक्व हो गयी।

जैसा कि हम कह चुके हैं कि पार्टी के स्थापना सम्मेलन (1925) में संशोधनवाद के तत्व काफी मजबूत थे। लेकिन ध्यान देने की बात है कि उस समय के बड़े सिद्धांतकार एस.ए. डांगे कभी पार्टी के शीर्ष पद पर आसीन होने का गौरव नहीं पा सके थे। संशोधनवाद की पूर्ण विजय तथा 1962 में अजय घोष की मृत्यु के बाद पार्टी चेयरमैन और महासचिव के दो पद बनाये गये। चेयरमैन डांगे बने और महासचिव का पद इएमएस नम्बूदरीपाद को मिला। यह टूट की ओर बढ़ती पार्टी में समझौता फार्मूला था। लेकिन अनुभव बार–बार पुष्टि करता रहा है कि कम्युनिस्ट पार्टी में लौह अनुशासन वाली एकता तभी तक कायम रहती है जब तक सैद्धांतिक–राजनीतिक एकता बरकरार रहती है। जैसे ही वह गड़बड़ा जाती है, कामकाजी एकता बनने लगती है जिसकी परिणति अराजकता और अंततः टूट में होती है। यहां यही हुआ और सातवीं कांग्रेस में वह टूट गयी।

घोषित रूप से पार्टी टूटने के तीन कारण बने। नेशनल डेमोक्रेसी की डांगे की थीसिस, डांगे का ब्रिटिश सरकार को पत्र (कानपुर षडयंत्र केस के दौरान) और भारत–चीन युद्ध पर नीति। इसके साथ ही कमिंटर्न के प्रभाव में बनी पार्टी दो भाग में बंट गयी – भाकपा और माकपा। क्रांतिकारियों का बड़ा समूह संशोधनवाद के

खिलाफ संघर्ष में माकपा नेतृत्व के साथ खड़ा हुआ था, लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद उनकी नजर में साफ हो गया कि इस पार्टी का नेतृत्वमंडल डांगे विरोध की आड़ में अपना संशोधनवाद छुपा रहा था। इसमें 'महान विवाद' (सोवियत संघ व चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच विवाद) ने उत्प्रेरक का काम किया।

उस के मुख्य मुद्दे थे : उपनिवेशवाद के खात्मे के साथ साम्राज्यवाद कमजोर हो गया है या अमेरिका के नेतृत्व में शोषण–उत्पीड़न का नया तरीका अपनाकर वह ज्यादा शातिर, धूर्त और खतरनाक बन गया है।

- सर्वहारा अधिनायकत्व की जरूरत इस दौर में है या खत्म हो गयी है।
- सशस्त्र क्रांति की जरूरत है या संसदीय रास्ते से व शांतिपूर्ण तरीके से सर्वहारा सत्ता पर काबिज हो सकता है।
- स्तालिन के नेतृत्व में जो उपलब्धियां हुईं वे उन्हें मार्क्स–लेनिन के योग्य शिष्य का दर्जा देती हैं या मूर्ख, तानाशाह की (जैसा ख्रुश्चोव कहता था)।

इन मुद्दों पर बहस माकपा में उठी और अंततः टूट का कारण बन गयी। इन मुद्दों पर बहस का मुख्य केंद्र बनीं आंध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल की राज्य कमिटियां। इन दो राज्यों में उभरी राजनीतिक बहस पर ध्यान देना नयी पीढ़ी के क्रांतिकारियों के लिए जरूरी है। पश्चिम बंगाल में 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष समिति' ने 25 दिसंबर 1966 के अपने दस्तावेज में माकपा नेतृत्व पर आरोप लगाया कि वह बड़ी चालाकी से सातवीं कांग्रेस के बाद भी संशोधनवाद पर अमल कर रही है, वह क्रांतिकारी जुमलों का प्रयोग करते हुए अतिवाम राष्ट्रवादी पार्टी बनकर रह गयी है। कमिटी संपूर्ण कम्युनिस्ट आंदोलन का आकलन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंच गयी थी कि हमारी पार्टी ने जिम्मेवारी और कार्यभार का निर्वहन वैसे नहीं किया जैसे बोल्शेविक पार्टी को करना चाहिए था। वह हमेशा पूंजीवादी पार्टी की तरह काम करती रही। ऐसी स्थिति में उनकी ऐतिहासिक जिम्मेवारी बनती थी कि क्रांतिकारी पार्टी की स्थापना करें।

दूसरी ओर आंध्रप्रदेश कमिटी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। 1967 में आंध्र प्रदेश की राज्य कमिटी ने बहुमत से माकपा केंद्रीय कमिटी के दस्तावेज (मदुरै दस्तावेज) को अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़े वैचारिक प्रश्नों पर अस्वीकार कर दिया। इसके जवाब में पार्टी की केन्द्रीय कमिटी के सदस्य डी. वेंकटेश्वर राव ने एक वैकल्पिक दस्तावेज केंद्रीय कमिटी को भेजा और मांग की कि इसे पार्टी सदस्यों के बीच जारी करने की अनुमति दी जाये। लेकिन यह अनुमति नहीं मिली और पार्टी में टूट की स्थिति पैदा हो गयी।

. साम्राज्यवाद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कमजोर हो गया है, यह तत्कालीन विश्व

कम्युनिस्ट आंदोलन का सर्वमान्य सच बन गया था। लेकिन संशोधनवादियों का मानना था कि उपनिवेशवाद के खात्मे के साथ साम्राज्यवाद इतना कमजोर हो गया है कि शांतिपूर्ण ढंग से भी उसका खात्मा हो सकता है। इसके विपरीत क्रांतिकारी खेमा यह मानता था कि आज की दुनिया पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के नये दौर में चली गयी है। यह ऐसा दौर है जब विश्व समाजवाद निर्णायक स्थिति में पहुंचने जा रहा है, जब राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति व समाजवादी क्रांति आगे बढ़ रही है और जब उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद तेजी से क्षय की ओर अग्रसर हैं। दोनों के बीच समानता के तत्व यहीं खत्म हो जाते हैं। क्रांतिकारी खेमा मानता था कि 'साम्राज्यवाद ने अपनी व्यवस्था को बचाये रखने की जंग अभी छोड़ी नहीं है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में साम्राज्यवादी शक्तियां क्रांतिकारी संघर्ष को खून में डुबो देने और इस प्रकार व्यवस्था को अवश्यंभावी बर्बादी से बचाने के लिए अंतिम लड़ाई लड़ रही हैं।' ये पंक्तियां डी. वेंकटेश्वर राव के दस्तावेज से ली गयी हैं (हिस्टोरिकल एण्ड पॉलेनिकल डाक्यूमेंट्स ऑफ दी कम्युनिस्ट मूवमेंट आफ इंडिया, खंड–II)।

इस लड़ाई के लिए साम्राज्यवाद ने कौन सा हथकंडा अपनाया? इसका जवाब डी.वी. राव के ही शब्दों में : 'निस्संदेह, साम्राज्यवादी शासन प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष शासन में बदल गया है। कई देशों ने अपनी आजादी की घोषणा कर दी है। लेकिन इनमें कईयों ने साम्राज्यवाद, औपनिवेशिक नियंत्रण और दासता को पूरी तरह नहीं उतार फेंका है। वे साम्राज्यवादी लूट व हमला के शिकार हैं। इसके साथ ही वे पुराने और नये उपनिवेशवादियों के बीच रणक्षेत्र बने हैं और अन्य कई देशों में पुराने उपनिवेशवाद की जगह नये, ताकतवर और ज्यादा खतरनाक नया उपनिवेशवाद कायम हो रहा है।' नये उपनिवेशवाद की यह प्रस्थापना संशोधनवादियों और क्रांतिकारियों के बीच विभाजन रेखा बन गयी थी।

हालांकि पश्चिम बंगाल और आंध्रप्रदेश समूह संशोधनवादी नेतृत्व का विरोध अलग–अलग केंद्र के रूप में कर रहा था, फिर भी इस बिंदु पर दोनों में समानता थी और यही बाद में एकता का आधार बनी थी। नवउपनिवेशवाद के बारे में 'दी कमिटी फार स्ट्रगल अगेंस्ट रिविजनिज्म' का दस्तावेज (25.12.1966) साम्राज्यवाद के चौतरफा बढ़ते अंतरविरोधों की चर्चा करते हुए कहता है : 'इन सभी अंतरविरोधों को हल करने के क्रम में साम्राज्यवादी शक्तियों ने औपनिवेशिक शोषण को बचाये रखने और नव उपनिवेशवाद के माध्यम से तेज करने की नीति पर अमल किया।'

यह दस्तावेज अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए 1947 से ही साम्राज्यवाद

और भारतीय वित्तीय पूंजी के बीच गठबंधन को स्वीकार करता है और दावा करता है कि ये दोनों मिलकर अपने अंतरविरोधों को जनता पर थोप रहे हैं। यहां तक उनकी समझ साफ थी। इसके बावजूद वे इसके अनुकूल रणनीति और कार्यनीति तय करने में विफल रहे। विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के मूल्यांकन पर उभरी इस बहस के अतिरिक्त संशोधनवादियों और क्रांतिकारियों के बीच मतभेद का दूसरा महत्वपूर्ण बिंदु था – भारतीय पूंजीवाद का चरित्र। क्रांतिकारी इस समझ के कायल थे कि भारत का पूंजीपति वर्ग दलाल चरित्र का है। वह देश के राष्ट्रीय हितों के साथ समझौता कर साम्राज्यवाद की सेवा करता है जबकि संशोधनवादी खेमा इस विश्लेषण को नकारता था।

नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह इन क्रांतिकारियों की एकता का केंद्र बिंदु बन गया। यह विद्रोह महज स्वतःस्फूर्त किसान आंदोलन नहीं था। इसकी वैचारिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि योजनाबद्ध ढंग से तैयार की गयी थी। इस संबंध में कहा जा सकता है कि जमींदारों के खिलाफ किसानों का यह विद्रोह भावी क्रांति की समग्र योजना के अंग के रूप में जन्म ले रहा था। इस पृष्ठभूमि की तस्वीर चारू मजुमदार के आठ लेखों में उभरती है। व्यवस्थित ढंग से लिखे गये ये लेख इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि उस विद्रोह (और बाद में पार्टी निर्माण) के केंद्र और निर्विवाद नेता चारू मजुमदार थे।

उनके इन दस्तावेजों की विशेषता थी कि क्रांतिकारी पार्टी के गठन का सवाल इसके केंद्र में था। यह बात उनके पहले दस्तावेज (28 जनवरी 1965) से साफ होती है। क्रांतिकारी पार्टी की विशेषता का जिक्र करते हुए वे प्रश्न करते हैं कि क्रांतिकारी संगठन के निर्माण का मुख्य आधार क्या है ? इसके जवाब में वे स्तालिन को उद्धृत करते हुए बताते हैं :'क्रांतिकारी संगठन के निर्माण का मुख्य आधार क्रांतिकारी कैडर हैं।' तब सवाल उठता है कि क्रांतिकारी कैडर कोन है ? इसका जवाब वे इन शब्दों में देते हैं : क्रांतिकारी कैडर वह है जो अपनी पहलकदमी पर परिस्थिति का विश्लेषण कर तदनुसार नीतियां तय कर सके। वह किसी की मदद का इंतजार नहीं करे। इन पंक्तियों का सीधा अर्थ यह है कि क्रांतिकारी कैडर का मार्क्सवादी विश्लेषण में एक हद तक दक्ष होना ही चाहिए। उनका यह विश्लेषण मार्क्स–एंगेल्स के विश्लेषण से मेल खाता है जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। जाहिर है कि किसी कार्यकर्ता के स्तर का माप मार्क्सवाद की सैद्धांतिक गहराई और व्यवहार में उतारने के लिए विशाल जनमत को संगठित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। यह अच्छी शुरूआत थी। लेकिन व्यवहार के धरातल पर उतरने के साथ ही वह सैद्धांतिक प्रस्थापना खंडित होने लगी।

उनके दूसरे दस्तावेज में 1953 में विश्व ट्रेडयूनियन कांग्रेस में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के वक्तव्य का हवाला देकर यह नीति निकाली गयी कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की क्रांतियां चीनी क्रांति के पदचिह्नों का अनुसरण करेंगी। यह निष्कर्ष निकालते समय उस परिस्थिति की मौलिक विशेषताओं को ओझल कर दिया गया। आसानी से यह भुला दिया गया कि चीनी क्रांति के सफल होने में साम्राज्यवाद के गलाकाटु संघर्ष के साथ–साथ सोवियत संघ का कितना योगदान था। वर्तमान परिस्थिति में साम्राज्यवादी शक्तियों का अंदरूनी अंतरविरोध इतना तीखा नहीं रह गया था और सोवियत संघ की भूमिका उलट गयी थी। वह क्रांति को सहयोग देने के बजाय प्रतिक्रियावादी शक्तियों का मददगार बन गया था।

सोवियत संघ की यह भूमिका भी संशोधनवादियों और क्रांतिकारियों के बीच मतभेद का आधार बनी थी। सोवियत संघ ने भारत की चौथी पंचवर्षीय योजना में 600 करोड़ रूपये की मदद की पेशकश की थी। संशोधनवादियों का मानना था कि इससे समाजवाद आयेगा या जनवाद का आधार मजबूत होगा, लेकिन क्रांतिकारी मानते थे कि इस सहयोग से प्रतिक्रियावादी शक्तियां मजबूत होंगी। 1975 में आपातकाल की घोषणा ने उनके विश्लेषण की पुष्टि कर दी। यह बात चारू मजुमदार के चौथे दस्तावेज में सामने आती है। उसी दस्तावेज में दोनों परिस्थितियों का एक और अंतर खुलकर सामने आता है। उस समय राष्ट्रवाद के विकास का आधार साम्राज्यवाद का विरोध हुआ करता था। अब उसका आधार साम्राज्यवाद का समर्थन हो गया था। विश्व साम्राज्यवाद तथा भारतीय पूंजीवाद के इस बदलते संबंध और तेवर के बावजूद चीन की क्रांतिकारी रणनीति और कार्यनीति की हूबहू नकल करने की वकालत की गयी। विश्लेषण की यह पद्धति मार्क्सवाद से मेल नहीं खाती थी।

चीनी क्रांति की नकल करने में सिर्फ दो बातों का ख्याल रखा गया : क्षेत्रवार सत्ता दखल की नीति के तहत दीर्घकालीन लोकयुद्ध की योजना और गुरिल्ला युद्ध के तहत जनता के हथियारबंद संगठन की अहमियत। ये थीं चारू मजुमदार के आठ दस्तावेज की मूल बातें जिनकी छाप पार्टी के कार्यक्रम, रणनीति और कार्यनीति पर दिखाई पड़ती है।

हालांकि पार्टी निर्माण की प्रक्रिया सही थी; इसके बावजूद क्रांतिकारी परिस्थिति के गलत मूल्यांकन के प्रभाव में वह जल्दीबाजी का शिकार हो गयी। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह को क्रांति का केंद्र मानकर शंखनाद करनेवाले नेताओं के इर्द–गिर्द सभी क्रांतिकारी शक्तियों की गोलबंदी शुरू हुई और अखिल भारतीय

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी को–ऑर्डिनेशन कमिटी का गठन हुआ। यह काम भी चरणवद्ध ढंग से हुआ। 13 नवंबर 1967 को पहली घोषणा 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के क्रांतिकारियों' की ओर से की गयी जिसमें सात राज्यों के क्रांतिकारी प्रतिनिधि शामिल थे। और दूसरी घोषणा छह महीने बाद (नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की पहली वर्षगांठ के अवसर पर) 14 मई 1968 को अखिल भारतीय कोऑर्डिनेशन कमिटी के नाम से। पहली ही घोषणा में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह को पार्टी और देश के इतिहास में टर्निंग प्वाइंट माना गया और इस तरह के संघर्ष सारे देश में खड़ा करने की घोषणा की गयी। इसमें चार कार्यभार तय किये गये :

- सभी स्तरों पर जुझारू और क्रांतिकारी संघर्षों का विकास और उनके बीच समन्वय। खास तौर पर मजदूर वर्ग के नेतृत्व में नक्सलबाड़ी किस्म के किसान संघर्ष का विकास।
- अर्थवाद का मुकाबला करने और इन संघर्षों को कृषि क्रांति की दिशा में मोड़ने के लिए मजदूर वर्ग तथा अन्य मेहनतकश जनता के जुझारू व क्रांतिकारी संघर्षों का विकास।
- संशोधनवाद तथा नवसंशोधनवाद के खिलाफ समझौताविहीन संघर्ष चलाना और कामरेड माओ–त्से–तुंग के विचारों को लोकप्रिय बनाना जो इस युग का मार्क्सवाद–लेनिनवाद है तथा इस आधार पर पार्टी के भीतर और बाहर सभी क्रांतिकारी तत्वों को एकजुट करना।
- माओ–त्से–तुंग विचारधारा के आलोक में भारतीय परिस्थिति के ठोस विश्लेषण के आधार पर क्रांतिकारी कार्यक्रम और कार्यनीति तैयार करना।

दूसरी घोषणा बर्दवान प्लेनम के बाद हुई थी। इसमें कहा गया कि 'बर्दवान में नव–संशोधनवादी नेताओं ने मार्क्सवादवाद विरोधी संशोधनवादी वैचारिक नीति पर स्वीकृति की अंतिम मुहर लगा दी। ...डांगेवादी खेमे की तरह नवसंशोधनवादी भी क्रांति विरोधी खेमा में शामिल हो गये हैं और मार्क्सवाद–लेनिनवाद का जाप करते हुए कृषि क्रांति को भीतर से विखंडित करने का प्रयास कर रहे हैं। इसके साथ ही इस घोषणा में अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के मूल्यांकन में नया तत्व शामिल किया गया; भारत को साम्राज्यवादी देशों का खासकर अमेरिका और सोवियत संघ का नवउपनिवेश घोषित कर दिया गया। सुनीति कुमार घोष ने 'लिबरेशन एंथोलॉजी' के विषय प्रवेश में इस घोषणा के ऐतिहासिक महत्व को रेखांकित करते हुए यहां तक लिखा कि 'इसने (AICCCR ने) मई 1968 की घोषणा में आधुनिक संशोधनवादियों के अधीन सोवियत संघ को नव–उपनिवेशवादी बताया। संभवतः

अन्य विरादराना मार्क्सवादी–लेनिनवादी पार्टियों द्वारा ऐसा करने के पहले उसने यह काम कर दिया था।'

इसी बैठक में चुनाव बहिष्कार का प्रस्ताव पारित किया गया। इसके लिए नये युग और विकासमान क्रांतिकारी परिस्थिति का हवाला दिया गया। साथ ही यह भी अपील की गयी कि 'महज चुनाव बहिष्कार का नकारात्मक नारा हमें ज्यादा दूरी तक नहीं ले जा सकता। इसका सकारात्मक कार्यक्रम जरूरी है। बहिष्कार के इस अभियान के साथ–साथ हमें जनता को क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष में गोलबंद और संगठित करना चाहिए।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय कमिटी (AICCCR) की अगली बैठक नवंबर 1968 में हुई। इस बैठक के ठीक पहले नागी रेड्डी, डी.वी. राव, कोला वेंकैया और आंध्रप्रदेश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की राज्य कमिटी के अन्य सदस्यों ने AICCCR में शामिल होने का अपनी कमिटी का फैसला सुनाया। इस बैठक में डी.वी. राव तथा अन्य साथी शामिल हुए। लेकिन यह भी उल्लेखनीय है कि ये लोग पार्टी निर्माण की घोषणा के पहले ही इस प्रक्रिया से बाहर हो गये। आंध्रप्रदेश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की स्वतंत्र राज्य कमिटी फिर अस्तित्व में आ गयी। 8 फरवरी 1969 को पार्टी बनाने का प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव में महसूस किया गया कि नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के तर्ज पर किसान विद्रोहों के बहुतेरे केंद्र देश के कोने–कोने में बन गये हैं ज़िन्हें एक सुगठित केंद्र के अधीन संचालित किया जाना जरूरी है। उस समय वियतनाम, कम्पुचिया सहित कई अन्य देशों में क्रांतिकारी आंदोलन उभार पर थे तथा चीन में पूंजीवाद के राहियों पर सांस्कृतिक क्रांति की जीत हो गयी थी। इस आकलन के साथ यह तय किया गया कि राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन होना चाहिए। लेकिन इसी बीच कमिटी में मतभेद उभर गये।

आंध्रप्रदेश की राज्य कमिटी इस प्रक्रिया से अलग हो गयी। अखिल भारतीय को–ऑर्डिनेशन कमिटी में इस टूट के बारे में पारित प्रस्ताव में तीन कारण बताये गये थे : चीन के प्रति निष्ठा, श्रीकाकुलम किसान संघर्ष पर दृष्टिकोण तथा निर्धारित समय के भीतर नागी रेड्डी का आंध्रप्रदेश विधानसभा से इस्तीफा नहीं देना। (स्रोत : लिबरेशन एंथोलॉजी)। मूल बात है कि अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थिति तथा विचारधारा के स्तर पर मौलिक एकता होने के बावजूद क्रांति की रणनीति में गंभीर मतभेद मौजूद थे जिनके फलस्वरूप कई कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी से बाहर रह गये।

इस उथल–पुथल के बीच अखिल भारतीय कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की

कमिटी ने 22 अप्रैल 1969 (लेनि की जन्म शताब्दी) को सीपीआई (एम.एल.) के निर्माण की घोषणा की। इस घोषणा में पार्टी का वैचारिक आधार मार्क्सवाद–लेनिनवाद नहीं रखा गया, बल्कि माओत्से तुंग विचारधारा को इसका आधार घोषित किया गया। उनकी समझ थी कि माओत्से–तुंग विचारधारा में ही मार्क्सवाद–लेनिनवाद समाहित हो गया है। विचारधारा के क्षेत्र में यह अत्यंत महत्वपूर्ण बदलाव था और इसका स्रोत चीन की कम्युनिस्ट पार्टी थी। पार्टी निर्माण की घोषणा के एक साल बाद मई 1970 में पार्टी कांग्रेस संपन्न हुई और इसके साथ ही संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करने और सर्वहारा क्रांति को अग्रगति देने के उद्देश्य से क्रांतिकारी पार्टी निर्माण की प्रक्रिया पूरी तो हुई, लेकिन वह एकताबद्ध ढंग से ज्यादा दिनों तक काम नहीं कर पायी। एक साल के भीतर ही मतभेद और टूट–फूट की प्रक्रिया शुरू हो गयी।

ऐसा क्यों हुआ ? इसके कई कारण थे। सबसे पहला कारण अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति का गलत मूल्यांकन था। तीसरे विश्वयुद्ध के खतरे को काफी बढ़ा चढ़ाकर देखा गया और क्रांति की दिशा में इसका लाभ उठाने के लोभ में 1970 के दशक को मुक्ति का दशक घोषित कर दिया गया। इसके दबाव में जनांदोलन के विकास के बिना ही गुरिल्ला युद्ध की बदौलत क्रांति को आगे बढ़ाने की नीति के साथ वर्ग दुश्मन के खात्मे के नारे के तहत व्यक्तिगत हत्या की नीति अपनायी गयी। इसके फलस्वरूप आंदोलन अलग–थलग पड़ा और सरकार के लिए दमन करना ज्यादा आसान हो गया।

दूसरा पक्ष इससे भी ज्यादा खतरनाक था। सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयतावाद के नाम पर 'चीन का चेयरमैन, हमारा चेयरमैन घोषित कर दिया गया। इससे चीनी दलाल घोषित करने का शासक वर्ग का काम आसान हो गया। पार्टी को अलगाव में डालने के लिए शासक वर्ग ने दोहरी नीति अपनायी – भूमि सुधार के नारे के अंतर्गत भूमि हदबंदी कानून की घोषणा, आंशिक तौर पर उसका क्रियान्वयन और पार्टी पर निर्मम दमन। इनमें दमन का पक्ष ज्यादा महत्वपूर्ण था।

इन सबके फलस्वरूप आंदोलन में ठहराव आया, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के चकाचौंध में जो लोग इकट्ठा हुए थे, उनमें निराशा पैदा होने लगी और पार्टी की नीति और नेतृत्व पर सवाल उठने लगे। पार्टी का नेतृत्वमंडल इस गुत्थी को सुलझाने में सक्षम नहीं साबित हो रहा था और तब दिशा निर्देश की तलाश में शिष्टमंडल चीन भेजे गये। चीन की पार्टी के सुझाव अलग–अलग ढंग से प्रकाशित हो चुके हैं, जिन्हें दोहराना संभव नहीं है। लेकिन यह बात तय है कि चीन की पार्टी ने व्यक्तिगत हत्या की नीति और तथा चीन का चेयरमैन हमारा

चेयरमैन के नारे पर असहमति जतायी थी। इसके बाद तो नेतृत्व पर अविश्वास और बढ़ा।

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के दिशा निर्देश का क्या हुआ ? कुछ नेताओं का कहना है कि चारू मजुमदार ने उसे दबा दिया। लेकिन दूसरा दृष्टिकोण है कि आंदोलन जिस रफ्तार में चल रहा था, उसमें अचानक दिशा बदलना संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में वे बदलाव की दिशा में कदम बढ़ाने की तैयारी कर रहे थे, इसी बीच गिरफ्तार कर लिये गये और पुलिस हिरासत में ही उनकी मौत हो गयी। इसके बाद तो संगठन में टूट–फूट की प्रक्रिया और तेज हो गयी। सैद्धांतिक और राजनीतिक भूलों व गलतियों के लिए उनकी जितनी आलोचना की जाय, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि संशोधनवाद के खिलाफ अभियान उन्होंने छेड़ा और उनकी जो भी समझ थी उसे व्यवहार में उतारने में सारी ऊर्जा झोंक दी।

निर्माण के दौर में विश्लेषण व सूत्रीकरण की गलती क्या थी और उसकी जड़े कहां थीं ? मूल गलती थी कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की बातों को वेद वाक्य की तरह लिया गया। हमारे देश की कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व कभी भी ठोस परिस्थिति के अनुसार स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम नहीं साबित हुआ। यह सबसे बड़ा संकट था। इस दौर में तो कोई इंटरनेशनल था भी नहीं। इसके फलस्वरूप माओ विचारधारा को इस युग का मार्क्स–लेनिनवाद घोषित कर लेनिनवादी नीतियों को खारिज किया गया। इससे कार्यनीति में वामपंथी भटकाव का जन्म हुआ।

दूसरी बड़ी समस्या पैदा हुई नवउपनिवेशवाद के दौर में अमेरिकी साम्राज्यवाद की नीतियों और भारतीय समाज में उसके प्रभाव को समझने में। जिस समय क्रांतिकारी पार्टी अपने कार्यक्रम में सामंतवाद को प्रधान दुश्मन घोषित कर उसके खिलाफ सारी शक्ति लगा रही थी, उसी समय शासक वर्ग हरित क्रांति के नारे के साथ कृषि में साम्राज्यवादपरस्त पूंजीवादी संरचना बनाने का प्रयास कर रहा था। दरअसल 1947 के बाद सामंतवाद भारतीय राज्य का मुख्य नियंता कभी नहीं रहा। शुरू में जूनियर पार्टनर की हैसियत से वह राजसत्ता में शामिल था, लेकिन उत्तरोत्तर वह हाशिये पर धकेला जाता रहा। हरित क्रांति सामंती उत्पादन पद्धति पर गंभीर हमला थी। इस प्रकार कम्युनिस्ट क्रांतिकारी और साम्राज्यवाद–परस्त पूंजीपति अपने अपने तरीकों से सामंतवाद पर हमला कर रहे थे। साथ ही पूंजीपति वर्ग की सत्ता क्रांतिकारियों पर राजकीय दमन चलाकर उनकी कमर भी तोड़ रही थी।

1980 के दशक में क्रांति विरोधी एक नया पहलू जुड़ गया। माओ की मृत्यु के बाद चीन भी पूंजीवाद का राही बन गया। उसी देंग की अगुआई में जिसकी गद्दारी

की प्रवृति को माओ ने पहचान लिया था और चीन सहित सारी दुनिया की जनता को आगाह किया था। इससे साफ हो गया कि मामला सिर्फ पार्टी के भीतर पनपते पूंजीवादी रूझानों को समझने का नहीं, बल्कि समाज में उभरते नये शक्ति संतुलन को बदलने का है। चीन के पतन के साथ भारत के क्रांतिकारियों के सामने असमंजस की स्थिति पैदा हो गयी, क्योंकि अब आसमान से ज्ञान टपकने की संभावना खत्म हो गयी थी। 1990 के दशक में सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के विखंडन और चीन के पतन का दोहरा प्रभाव पड़ा। एक तरफ संशोधनवाद के पांव लड़खड़ा गये, तो दूसरी तरफ उसे नया सहारा मिल गया। इस परिस्थिति का मूल्यांकन करते हुए लगभग दो दशक पूर्व (सितंबर 2002, ध्रुवतारा, अंक 10) हमलोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे :

'विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन विध्वंस और नवनिर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। भारत का कम्युनिस्ट आंदोलन इसका अपवाद नहीं है। विनाश की यह प्रक्रिया सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी पर खुश्चोवपंथी संशोधनवादियों के कब्जे से शुरू हुई और देंग के नेतृत्व में चीन में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद पूरी हो गयी। इसके साथ ही कमिंटर्न के नेतृत्व में बनी कम्युनिस्ट पार्टी का दौर खत्म हो गया। वैचारिक संकट, राजनीतिक भटकाव, टूट–फूट और बिखराव – ये सब पुराने का अंत और नये की शुरूआत की अभिव्यक्ति हैं। कमिंटर्न की सीख को आज की जरूरत के अनुरूप विकसित कर तथा विनाश के दौर में थोपे गये नकारात्मक मूल्यों को खारिज कर ही नये दौर की शुरूआत की जा सकती है। विध्वंस और निर्माण के इसी संघर्ष में भविष्य के आंदोलन की सही दिशा स्थापित हो पायेगी।

पिछले अनुभवों ने यह साबित किया है कि विध्वंस एक बिंदु पर थम तो जरूर गया है लेकिन निर्माण की प्रक्रिया तेज रफ्तार में बढ़ नहीं पा रही है। लगता है काल की गति रूक सी गयी है और इस परिस्थिति से उबरने में लंबा समय लग सकता है। इसलिए टूट–फूट, दुविधा और अविश्वास के इस माहौल के रहते बिखरे ग्रुपों की एकता असंभव है और अगर वह जैसे–तैसे हासिल कर ली गयी तो वह अवसरवादी होगी। इसलिए क्रांतिकारियों की सबसे बड़ी जिम्मेवारी है कि वैचारिक एकता कायम करें, वर्ग संबंधों की अवस्था पर सहमति का निर्माण करें तथा इस आधार पर रणनीति और कार्यनीति पर स्पष्ट नजरिया कायम करें। एकीकृत क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण तभी संभव हो सकता है।

***

“ब्रिटिश साम्राजियों ने कम्युनिज्म का नाम निशान मिटा देने, कम्युनिस्टों को समाज–विरोधी आदि कहकर देशवासियों से उन्हें काट देने की गरज से प्रायः साढ़े चार वर्ष लंबा मुकदमा चलाया था लेकिन उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। इसके चलते कम्युनिज्म का खूब प्रचार हुआ। कम्युनिज्म और कम्युनिस्टों के बारे में लोगों की दिलचस्पी बढ़ गई। जेल के बाहर और भीतर के अनेक राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों (आतंकवादियों) पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उनमें से अनेक कम्युनिस्ट हो गए।”

– अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम

मेरठ षड्यंत्र केस (जनवरी 1929) के नायक जिनपर भारत की ब्रिटिश सरकार ने राजद्रोह का मुकदमा चलाया था। मार्च 1929 में इनकी गिरफ्तारी हुई थी।

1. फिलिप स्पाट
2. बेंजामिन फ्रांसिस ब्रेडले
3. अयोध्या प्रसाद
4. शौकत उस्मानी
5. पूरनचंद्र जोशी
6. गौरीशंकर
7. लक्ष्मण राव कदम
8. डा० विश्वनाथ चटर्जी
9. चौधरी धर्मवीर सिंह
10. धरनीकांत गोस्वामी
11. शिवनाथ बनर्जी
12. गोपाल बैसाक
13. मुजफ्फर अहमद
14. शमसुल हुदा
15. किशोरीलाल घोष
16. गोपेंद्र चक्रवर्ती
17. राधारमन मित्र
18. श्रीपाद अमृत डांगे
19. सच्चिदानंद विष्णु घाटे
20. एस० एच० झाबवाला
21. ढुंडिराज ठेंगदी
22. केशव नीलकंठ जोगलेकर
23. शांताराम सांवलाराम मीरजकर
24. रघुनाथ शिवराम निंबकर
25. डा० गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी
26. मोतीराम गजानन देसाई
27. अर्जुन आत्माराम अल्वे
28. गोविंद रामचंद्र कसले
29. सोहनसिंह जोश
30. मीर अब्दुल मजीद
31. केदारनाथ सहगल
32. एच० एल० हचिंसन
33. अमीर हैदर खां

अपराधी कौन - ब्रिटिश साम्राज्य या कम्युनिस्ट?

'मैं सवाल करता हूँ कि सामाजिक अपराधी कौन है, खून के प्यासे साम्राज्यवादी जिन्होंने सारे महादेशों में विध्वंस लीला की, जिन्होंने खून और आतंक का राज कायम किया, जिन्होंने इन महादेशों के करोड़ों श्रमजीवियों को बेहद गरीबी और, असहनीय दासता में ला पटका है और जो वहां के जन गण को सामूहिक तौर पर नेस्तानाबूद करने की धमकी दे रहे हैं या कम्युनिस्ट अपराधी हैं जो सारी दुनिया के श्रमजीवी जनगण की क्रांतिकारी शक्तियों को गोलबंद करने और उसे निर्दय दमन और पाशविक शोषण पर आधारित इस अभागी व्यवस्था के विरूद्ध झोंक देने पर, उसे ध्वंस कर देने पर तथा उसकी जगह नयी व्यवस्था की रचना करने पर तथा इस तरह मानव समाज और उसकी सभ्यता को महाविनाश से, जिसकी तरफ वह निस्संदेह बढ़ रहा है, बचाने पर तुले हैं? इस मुकदमे के सामाजिक अपराधियों के सरकारी प्रतिनिधि अभियोग पक्ष की कुर्सियों पर बैठे हैं।' (भारत का मुक्ति संग्राम)

– मेरठ षड्यंत्र केस में जी. अधिकारी का बयान